ईश्वरप्रोक्तम्

ज्ञानार्णवतन्त्रम्



सम्पादक एवं टीकाकार

मधुसूदन प्रसाद शुक्ल

नवशक्ति प्रकाशन

नवशक्ति ग्रन्थमाला—१०

ईश्वर प्रोक्तम्

ज्ञानार्णवतन्त्रम्

ज्ञानार्णवकल्लोल संवलितम् सुदर्शना टीका सहितम् च

सम्पादक एवं टीकाकार

मधुसूदन प्रसाद शुक्ल

नवशक्ति प्रकाशन

चौकाघाट, वाराणसी

प्रकाशक :
नवशक्ति प्रकाशन
जे० १३/२४ के० चौकाघाट, वाराणसी-२
दूरभाष : ०५४२-२२०२२३७, ०९९५६०१४७०४

IBSN : ८१-८७९०४-१४-३

प्रथम संस्करण : २०१२ ई.
मूल्य : ४४०/-

अक्षर विन्यास :
न्यूमाप्रॉस कम्प्यूटर्स
चौकाघाट, वाराणसी-२
मो. ०९८३८९२७०९५

मुद्रक :
प्रभा प्रेस
चौकाघाट, वाराणसी-२
दूरभाष : ०९८३८९२७०९५

Navshakti Granthmala - 10

With JNANARNAV-KALLOL and Sudrshana Hindi Commentry

JNANARṆAV-TAṆTRAM

Edited & Translated
By
Madhusudan Prasad Shukla

NAVSHAKTI PRAKASHAN
CHOUKAGHAT, VARANASI

Published By :

Navshakti Prakashan

J. 13/24 K. Choukaghat, Varanasi

Phone : 0542-2202237, 09956014704

IBSN : 81-87904-14-3

First Edition : 2012

Price : 440/-

Composed By :

Numaproce Computers

Choukaghat, Varanasi-2

Mobile : 09838927095

Printed By :

Prabha Press

Choukaghat, Varanasi-2

Phone : 09838927095

विषयानुक्रमणिका

●



परम-गुरु पूज्यपाद श्री 'भर्तृहर्यानन्द नाथ' (गुप्तावतार बाबा श्री) के चरण-कमलों में सादर-समर्पित

ज्ञानार्णव-कल्लोल

वन्दे गुरुपदद्वन्द्वमवाङ्मानस गोचरम्
रक्तशुक्ल प्रभामिश्रमतर्क्यं त्रैपुरमहः ॥
श्रीविद्यां परिपूर्ण मेरुशिखरे बिन्दुत्रिकोण स्थिताम्
वागीशादि समस्तभूतजननीं मञ्चेशिवाकारके ॥
कामाक्षीं करुणारसार्णवमयीं कामेश्वराङ्कस्थिताम् ।
कान्तां चिन्मयकामपीठनिलयां श्रीब्रह्मविद्यां भजे ॥

सम्पूर्ण मानव जाति के लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण के लिये सदार्द्रचित्त भगवान् शिव ने स्वयं ही गुरु एवं शिष्य पद पर प्रतिष्ठित होकर जिस तन्त्र-शास्त्र का उपदेश दिया है[१], यह 'ज्ञानार्णव नित्या तन्त्र' उसी शास्त्र का एक आकर ग्रन्थ है । आर्ष वाङ्मय में 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है । एक शास्त्र के रूप में यह समादृत और प्रतिष्ठित है, परन्तु विडम्बना यह है कि जन-सामान्य ही नहीं अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखें लोग भी 'तन्त्र' के तत्त्व-रूप, उसके लक्ष्य एवं उद्देश्य तथा उसके सिद्धान्तात्मक एवं क्रियात्मक पक्ष की वास्तविकता से वाकिफ नहीं है । उनकी दृष्टि में तन्त्र-शास्त्र वशीकरण आदि षट्कर्मों विशेषकर अभिचार-कर्मों एवं प्रयोगों की शिक्षा देने वाला शास्त्र है । वे भारत की तन्त्र-विद्या को अफ्रीकी और यूरोपीय देशों के ब्लैक-मैजिक (Black-Magic) का पर्याय समझते हैं । तन्त्र-शास्त्र के प्रति उनकी यह अवधारणा सर्वथा भ्रान्त और सतही है । अत: 'ज्ञानार्णव' में अवगाहन करने के पूर्व इस दिव्य-शास्त्र के तत्त्व-रूप को हृदयंगम कर लेना सामयिक भी है, और सन्दर्भ सापेक्ष भी ।

तन्त्र और आगम—लोक और शास्त्र में तन्त्र के नाम से प्रतिष्ठा प्राप्त यह 'शास्त्र' 'बहु-आयामी है । आगम-निगम-यामल आदि उसके ही भेद हैं । विस्तार-अर्थक 'तन्' धातु के साथ 'सर्व धातुभ्यो: ष्ट्रन्' इस सूत्र से 'ष्ट्रन' प्रत्यय लगाने पर 'तन्त्र' शब्द निष्पन्न होता है । 'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन' इति तन्त्रम् । इसका अर्थ है ज्ञान का विस्तार करने वाला शास्त्र । तन्त्र की इस परिभाषा को और अधिक स्पष्ट करते हुए 'कामिकागम' में कहा गया है कि यह शास्त्र तत्त्व और मन्त्र सहित विपुल अर्थों का विस्तार अर्थात् विस्तृत व्याख्या करके साधक ही रक्षा करता है—

---

१. गुरु-शिष्य पदे स्थित्वा, स्वयमेव भगवान् शिव: ।
प्रश्नोत्तर परै: वाक्यै:, तन्त्रम् समवातारयत् ॥ 'कुमारी-तन्त्र'

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्व मन्त्र समन्वितान्
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

यह तन्त्र-शास्त्र किसी मनुष्य की रचना नहीं अपितु भगवान् शिव का कृपा-प्रसाद है जो उन्होंने वेदों का अर्थ ग्रहण करने में असमर्थ और/अथवा वेदों का अध्ययन करने के अधिकार से वञ्चित जनों की मुक्ति के लिये प्रदान किया हैं—

निखिल वेदार्थानभिज्ञानां, तत्र नाधिकारिणाञ्च
मुक्त्युपायं निखिलवेदसाराम्नाय विद्यां प्रणिनाय ॥

उनका यह कृपा-प्रसाद रूप उपदेश भगवान् वासुदेव के द्वारा अनुमोदित भी है, जैसा कि उसके एक अपर नाम 'आगम' की परिभाषा से स्पष्ट है—

आगतं शिव-वक्त्रेभ्योः गतं च गिरिजामुखे ।
मतं श्री वासुदेवस्य, तस्मादागम उच्यते ॥

'आगतं-गतं-मतं' इन तीनों पदों के आद्य वर्णों के संयोजन से 'आगम' शब्द बना है । 'रुद्रयामल' में दी गई उक्त परिभाषा स्पष्ट भी है और सर्व-मान्य भी । 'वाराही-तन्त्र' में 'आगम' के सात लक्षण बताये गये हैं—(१) सृष्टि, (२) प्रलय, (३) देवार्चन-विधि, (४) मन्त्र-साधन, (५) पुरश्चरण-विधान, (६) षट्कर्म साधन एवं (७) चतुर्विध-ध्यान योग का जिसमें निरूपण किया गया है, वह आगम है ।

'निर्गतं-गतं और मतम्' इन तीन पदों के आद्य-वर्णों के संयोजन से 'निगम' शब्द बना है । यह भी 'तन्त्र' का भाग है । गुरु पद पर प्रतिष्ठित होकर भगवती ने शिवजी को जो उपदेश दिया, वह 'निगम' है—

निर्गतो गिरिजावक्त्रात् गतश्च गिरीश श्रुतम् ।
मतश्च वासुदेवस्य, निगमः परिकथ्यते ॥

'वाराही तन्त्र' के अनुसार जिसमें (१) सृष्टि, (२) ज्योतिष, (३) संस्थान, (४) नित्य-कर्म उपदेश, (४) क्रम, (५) सूत्र, (६) वर्ण-भेद, (७) जाति-भेद और (८) युगधर्म-ये आठ विषय प्रतिपादित हों, वह 'यामल' है ।

आगम, निगम और यामल के इन तत्त्वों अथवा विषयों का समाहार करते हुए 'विश्वसार तन्त्र' में 'तन्त्र' का जो लक्षण बताया गया है, उसके अनुसार इस शास्त्र में समाहित विषयों की संख्या ३४ है । इसमें उपासना-काण्ड, औषधि-कल्प, ग्रह-नक्षत्र संस्थान, रसायन-शास्त्र, रसायन-सिद्धि, स्त्री-पुरुष लक्षण, राजधर्म-दानधर्म-युगधर्म, व्यवहार नीति आदि जैसे लौकिक विषय भी शामिल हैं । तन्त्र-शास्त्र की इस बहु-आयामी व्यापकता के कारण 'मत्स्य-सूक्त' में इसे सर्वश्रेष्ठ शास्त्र कहा गया है—

तथा समस्त शास्त्राणां, तन्त्रशास्त्रमनुत्तमम् ।
सर्व कामप्रदं पुण्यं, तन्त्रं वै वेदसम्मतम् ॥

यद्यपि 'मत्स्य सूक्त' में तन्त्र को वेद-सम्मत कहा गया है, तथापि ये आक्षेप लगाये जाते हैं कि तन्त्र-शास्त्र 'अवैदिक' है, वेद-वाह्य है और यह कि इसकी उत्पत्ति बुद्धोत्तर काल में हुई ।

तन्त्र की प्राचीनता और प्रामाणिकता—'महा-भारत' का लेखन निश्चयतः भगवान् बुद्ध के आविर्भाव से पूर्व हुआ है । 'महाभारत' में तान्त्रिक व्रतों का उल्लेख तथा तान्त्रिक शब्दावली तक मौजूद है । 'शान्तिपर्व' के २८४ वें अध्याय के श्लोक 'घण्टी चरु चेली मिली ब्रह्म कायिकामाग्नीनाम्' का नीलकंठी टीका में मन्त्र परक अर्थ बताया गया है—'ॐ रुद्र चेली-चेली मिली-मिली ॐ स्वाहा' ।

रामायण और तन्त्र—महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण को वेदों के बाद ऋषि प्रणीत प्रथम ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है । इसके बाल-काण्ड (सर्ग २२) में 'बला-अतिबला' दीक्षा का उल्लेख है । राक्षसों से यज्ञ की रक्षा के लिये भगवान् राम को सिद्धाश्रम ले जाते समय महर्षि विश्वामित्र ने उन्हें (भगवान् राम को) इन विद्याओं की दीक्षा दी थी । बला-अतिबला भगवती गायत्री की उप-विद्यायें है । सावित्री उपनिषद् में गायत्री के तीन पादों की व्याख्या के बाद बला-अतिबला विद्याओं का साधन विधान बताया गया है । यथा—

विनियोग—ॐ एतयोः बलातिबला विद्ययोः विराट्-पुरुष ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, 'अं' बीजं, 'मं' शक्तिः, 'उं' कीलम् । गायत्री प्रसाद द्वारा क्षुधादिनिरसने विनियोगः ।

न्यासः—प्रणव (ॐ) सहित षड्दीर्घ समन्वित कामबीज (क्लीं) से करन्यास और षडंग न्यास । यथा—ॐ क्लां नमः' इत्यादि ।

ध्यान—

अमृतकरतलाद्रौ सर्वसञ्जीवाढ्यावघहरणौ सुदक्षौ वेदसारे मयूखे ।
प्रणवमय विकारौ भाष्कराकारदेहौ सततमनुभजेऽहं बलातिबलौ ॥

मन्त्र—ॐ ह्रीं बले महादेवि ह्रीं महाबले क्लीं चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्धि प्रदे तत्सवितुर्वरदात्मके ह्रीं वरेण्यं भर्गो देवस्य वरदात्मिके अतिबले सर्वदयामूर्ते सर्वक्षुध भ्रमोपनाशिनि धीमहि धियो यो नः जाते प्रचुर्यः या प्रचोदात्मिके प्रणव शिरस्कात्मिके'

अर्चन—ॐ 'लं' इत्यादि से

इससे यह स्वयं सिद्ध है कि इस देश में भगवान् राम के अवतार से बहुत पूर्व से ही तान्त्रिक-साधनाओं का प्रचलन था।

'सावित्री-उपनिषद्' ही नहीं और भी कई उपनिषदों से तन्त्र और उपनिषदों के सम्बन्धों की पुष्टि होती है। श्री नृसिंह तापनीय 'श्री राम तापनीय' श्री गोपाल-तापनीय में क्रमशः भगवान् नृसिंह, श्री राम और श्री कृष्ण के अर्चन और मन्त्र-साधन की जो विधि बताई गई है, वह तन्त्र सम्मत है। श्री महालक्ष्मी उपनिषद् में भगवती महालक्ष्मी का साधन-विधान एवं श्रीसूक्त अनुष्ठान विधि का निरूपण है। 'त्रिपाद विभूति महानारायणोपनिषद' में (उत्तर-काण्ड अध्याय ७) में जिस 'महानारायण यन्त्र' का विधान बताया गया है, उतना विकट यन्त्र तो तन्त्र-साहित्य में भी नहीं मिलता। इनके अतिरिक्त त्रिपुरोपनिषद्, भावनोपनिषद्, कौलोपनिषद्, काली उपनिषद् आदि और भी कई उपनिषद् हैं जिनसे तन्त्र और औपनिषदिक वाङ्मय के परस्पर सम्बन्धों की पुष्टि होती है।

तन्त्र और पुराण—महाभारत और रामायण ही नहीं अपितु पुराणों में भी तन्त्र की प्राचीनता और प्रामाणिकता के उद्धारण मिलते हैं। यथा—'पदम् पुराण' में

वैदिकी-तान्त्रिकी-मिश्रः श्री विष्णोस्त्रिधा मखाः।
त्रयाणामीप्सितेनैव, विधिना हरिमर्चयेत् ॥५/९५॥

श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ११, अध्याय-२७) में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

वैदिकी तान्त्रिकी मिश्रः इति मे त्रिविधो मखाः।
त्रयाणामीप्सतेनैव विधिना माम् समर्चयेत् ॥७॥

यात्राबलि विधानञ्च, सर्ववार्षिक पर्वसु।
वैदिकी-तान्त्रिकी दीक्षा, मदीय व्रत धारणम् ॥२७॥

नारद-पुराण—नारद-पुराण के पूर्व भाग का तृतीय पाद तो पूर्णतः तन्त्राधारित है। इसमें मन्त्र-शोधन, दीक्षा-विधि, मातृका प्रभृति न्यास का विधान तन्त्र-ग्रन्थों की तरह बताया गया है। भगवान् राम, सीता, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न तथा भगवान् श्रीकृष्ण के अष्टादशाक्षर आदि मन्त्रों की जो साधन विधि बताई गई है, वह तन्त्रानुसार है। इतना ही नहीं इसके ६२वें अध्याय में देवता के आह्वान से लेकर आत्म-समर्पण तक के क्रिया-विधान में (आत्मसंस्थमजं शुद्धं......से लेकर ॐ इतः पूर्व प्राण.) वे ही अर्चन-मन्त्र बताये गये हैं जिन्हें 'प्रपञ्चसार' और 'शारदातिलक' में आगमोक्त कहा गया है।

अग्नि-पुराण—'अग्नि-पुराण' तो अपने कथ्य और स्वरूप से तान्त्रिक पुराण ही प्रतीत होता है। 'विश्वसार तन्त्र' में बताये गये 'तन्त्र' के प्रायः सभी लक्षण इसमें घटित होते हैं। त्वरिता, नव-त्वरिता, अपर-त्वरिता, कुब्जिका, गुह्य कुब्जिका, जयदुर्गा और महिष मर्दिनी के साधन-विधान का इसमें निरूपण है। इसके २५९ से २६२ तक चार-अध्यायों में क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के ३१६ मन्त्रों का विविध कामनाओं की पूर्ति के लिये तान्त्रिक-विधि से अनुष्ठान का विधान बताया गया है। १४५ वें अध्याय में 'मालिनी-न्यास' की वह दुर्लभ विधि बताई गई है, जो तन्त्र के सामान्य पद्धति ग्रन्थों में भी नहीं मिलती। स्वयं अग्नि देव द्वारा उपदिष्ट इस पुराण के १८५ वें अध्याय में 'नवमी-विधान' के अन्तर्गत छाग बलि विधान बताया गया है। यह एक ऐसा विधान है जो कतिपय तन्त्र-ग्रन्थों को छोड़कर अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त इस पुराण में कई ऐसे तान्त्रिक अनुष्ठान बताये गये हैं जो तन्त्र-ग्रन्थों में भी नहीं मिलते।

श्री 'मार्कण्डेय पुराण' और 'श्री ब्रह्माण्ड पुराण' के पुण्य-स्मरण के बिना पुराण और तन्त्र के परस्पर अन्तर्सम्बन्धों का निरूपण पूरा नहीं होता। श्री मार्कण्डेय-पुराण की श्री 'दुर्गा सप्तशती' और ब्रह्माण्ड पुराण का 'श्री ललिता सहस्रनाम स्तव' शाक्त एवं शाक्तेतर सम्प्रदायों में समान रूप से समादृत हैं।

इस विवेचना से इस आक्षेप या भ्रान्ति का पूर्णतः निरसन हो जाता है कि समस्त तन्त्र-वाङ्मय वेद-वाह्य है, अवैदिक है। स्वयं तन्त्र-ग्रन्थों में वेद और तन्त्र के 'गहन' अन्तर्सम्बन्धों को गर्व सहित स्वीकार किया गया है। 'रुद्र-यामल' में तन्त्र को अथर्ववेद की शाखा कहा गया है तो 'निरुत्तर-तन्त्र' इसे पञ्चम वेद कहता है— 'आगमः पञ्चमो वेदः, कौलास्तु पञ्चमाश्रमः'। 'मेरु-तन्त्र' में इसे वेद का ही अंग बताया गया है क्योंकि स्वयं तन्त्र-शास्त्र अपनी समस्त क्रियाओं का मूल वेद को स्वीकार करता है। 'शक्ति-संगम-तन्त्र' (काली खण्ड) में कहा गया है—

वेदमूला क्रियाः सर्वाः वेद मूला परास्मृतिः।
वेदेन रहितं यत् तु, न कुर्याद् द्विजोत्तमः॥

(८/३१)

इतना ही नहीं तन्त्र में सर्वाधिक समादृत दो मन्त्रों-(पञ्च दशाक्षरी और नवार्ण) के उद्धार वेद में ही बताये गये हैं। यही कारण है कि सनातन-धर्म के पुनरुद्धारक भगवान् शंकराचार्य 'भगवती बाला त्रिपुरा मानस पूजा स्तोत्र' में कहते हैं—

'मन्त्रांस्तान्त्रिकान् वैदिकान् परिपठन् सानन्दमत्यादरात्।
स्नानं ते परिकल्पयामि जननि! स्नेहात् त्वमङ्गी कुरु'॥

तन्त्र और धर्म-शास्त्र—वेद सनातन हैं, अपौरुषेय हैं। सृष्टि के आदि काल में तपोनिष्ठ ऋषियों ने वेदों को सुना। अतएव वेदों को 'श्रुति' कहा जाता है—श्रूयमाणात्वात् श्रुतिम्' भगवान् शिव के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण 'तन्त्र' भी अपौरुषेय है और चूँकि इसे भी तपोनिष्ठ ऋषियों ने सुना, इसलिये यह भी 'श्रुति' है, जैसा ऋषि हारीत ने स्वीकार किया है। वे कहते हैं—

'अथातः धर्मं व्याख्यास्यामः। श्रुति प्रमाणको धर्मः। श्रुतिश्च द्विविधा। वैदिकी तान्त्रिकी च।।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने धर्म-प्रवर्तक ऋषियों में हारीत की गणना की है। धर्म के सम्बन्ध में ऋषि हारीत के वचन प्रमाण हैं। इसीलिये कुल्लूक भट्ट ने 'मनु-स्मृति' की टीका में हारीत के उक्त वचन को तन्त्र के पक्ष में प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया है।

चूँकि वेद और तन्त्र दोनों ही अपौरुषेय श्रुति हैं, अतएव उनमें बिम्ब-प्रतिबिम्बवत समानता है। पूजन क्रम, न्यास, विघ्नोत्सारण, सन्ध्या-वन्दन और हवन दोनों में समान हैं। ब्रह्म या ईश्वर के सम्बन्ध में वेद की मान्यता तन्त्र में यथावत् मान्य है। वर्णाश्रम व्यवस्था को दोनों ने स्वीकार किया है। दोनों के द्वारा प्रतिपादित जीवन-जीवन दर्शन एक ही है। वेद और तन्त्र में एतत् सदृश्य अनेक समानतायें हैं, परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि तान्त्रिक श्रुति वैदिक-श्रुति की अनुगामिनी मात्र है, उसकी कोई विशिष्टता नहीं है। समाज को तन्त्र का कोई अवदान नहीं है। यथार्थ यह है कि आज सनातन धर्म का जो रूप है, यद्यपि वह वेद-मूलक है तथापि उसके ताने-बाने की संरचना तन्त्र-शास्त्र द्वारा की गई है। धर्म और समाज के प्रति उसके विशिष्ट अवदान हैं।

यथार्थ यह है कि तन्त्र-शास्त्र वेदवत् ऐसी श्रुति है जिसने कठोर वैदिक-व्यवस्था और सनातन-धर्म को युगानुरूप रूप ग्रहण करने की क्षमता प्रदान की। उसने साधना और उपासना सहित जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपने अधिकार और प्रमाण से जो व्यवस्थायें स्थापित की, वे सनातन-धर्म में सर्वतोभावेन मान्य हैं, प्रमाण स्वरूप हैं। इसकी अनेक मिसालें है। यथा—'तन्त्र-शास्त्र ने वैदिक वर्ण व्यवस्था को स्वीकार करते हुए भी स्त्रियों और उन द्विजेतर जातियों को आत्म-लाभ के लिये उपासना और साधना करने का अधिकार एवं विधान दिया, जिनके लिये वैदिक वर्ण-व्यवस्था में एतदर्थ कोई प्रावधान नहीं है। कारण यह कि तन्त्र का अवतरण ही ऐसे लोगों को आत्म-उद्धार का मार्ग बताने के लिये हुआ है।

तेनोक्तं सात्त्वतं तन्त्रं, यज्ज्ञात्वा मुक्तिभाग भवेत्।
यत्र स्त्री-शूद्र-दासानां, संस्कारो वैष्णवः स्मृताः ।।

'सात्वत' उप लक्षण है। सम्पूर्ण तान्त्रिक-वाङ्मय का यही उद्देश्य है। एतदनुसार भगवान् शिव द्वारा उपदिष्ट 'तन्त्र' या 'आगम' वह शास्त्र है, जिसके अध्ययन, मनन, निदिध्यासन एवं तदनुसार आचरण एवं साधना से मोक्ष सहित पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति होती है। इसी तथ्य को आचार्य वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्व-वैशारदी' में इस प्रकार सूत्र बद्ध किया है—

'आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयः निःश्रेयसोपायाः सः आगमः'

जिससे अभ्युदय (इह लौकिक कल्याण) और निःश्रेयस (पारमार्थिक कल्याण) के उपायों का ज्ञान होता है, वह आगम है।

वैशेषिक-दर्शन के अनुसार जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, वह 'धर्म' है। (यतोऽभ्युदय निःश्रेयस स धर्मः)। इस तरह तन्त्र-शास्त्र धर्म का ज्ञापक और प्रतिपादक शास्त्र है। यह अभ्युदय और निःश्रेयस की केवल सैद्धान्तिक चर्चा नहीं करता, अपितु उनकी प्राप्ति की व्यावहारिक विधियाँ भी सिखाता है। आज की शब्दावली में तन्त्र-शास्त्र में धर्म के सैद्धान्तिक (Pure) और अनुप्रयुक्त (Applied) दोनों ही पक्षों का अद्भुत समन्वय है।

उपासना शास्त्र—वेदों के सभी व्याख्याकार इस बात को स्वीकार करते हैं कि वेद-चतुष्टय में काण्ड-त्रय (कर्म-उपासना और ज्ञान) का प्रतिपादन है। तन्त्र भी श्रुति है और इसमें भी इन तीनों काण्डों का प्रतिपादन मिलता है। प्राप्तव्य और लक्ष्य की दृष्टि से यह तान्त्रिक श्रुति ज्ञान-काण्ड है तो क्रिया-व्यापार की दृष्टि से उपासना-काण्ड है। ब्रह्म-तत्त्व को जानकर उसे आत्मस्थ कर लेना परम लक्ष्य है और इस लक्ष्य को पाने का उपाय है—उपासना। तन्त्र-शास्त्र में इन दोनों ही धाराओं का संगम है। साथ ही इसमें इन दोनों धाराओं के साथ कर्मकाण्ड की अन्तर्धारा भी प्रवाहित है। यथार्थ यह है कि 'तन्त्र-शास्त्र' वह महानद है जिसमें आर्ष दर्शन और आर्ष-चिन्तन की सभी धारायें एकाकार हो गई हैं।

साधना-रहस्य—यदि कहा जाये कि तन्त्र का महत्व उसकी विशिष्ट साधना-विधि में निहित है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। तन्त्र-साधना के उद्देश्य एवं मर्म का निरूपण करते हुए बीसवीं सदी के सिद्ध-हस्त-तन्त्र-विद सर जान उडरफ ने लिखा है—

'तन्त्र किसी ऐसे ईश्वर का उपदेश नहीं देता जो सुदूर स्वर्ग में बैठा हुआ सारे संसार का शासन करता हो। तन्त्र की दृष्टि में साधक का शरीर ही विश्व है और उसमें

जो आत्म-शक्ति स्थित है, वही उसका आराध्य देव है। साधना द्वारा साधक इसी आत्म शक्ति का दर्शन करता है।[१]

'शक्ति एण्ड शाक्त' नामक ग्रन्थ में संग्रहीत 'भारत-धर्म' शीर्षक आलेख में तान्त्रिक-साधना विधि का रहस्योद्घाटन करते हुए उन्होंने आगे लिखा है—

'यह (तान्त्रिक) साधना-विधि न तो केवल पूजा-उपासना है, न केवल प्रार्थना और स्तवन है और न अपने इष्ट-देवता के आगे रोना-गिडगिडाना और पश्चाताप करना है। यह साधना पुरुष और प्रकृति को एक करने की क्रिया है। यह साधना शरीर के भीतर विद्यमान पुरुष-तत्त्व और मातृतत्त्व का संयोग करती है और सगुण (Attritbuted) को निर्गुण (Attritbuteless) करने का प्रयास करती है। तान्त्रिक-साधना का ध्येय 'स्वराट्' का 'विराट्' में विलय करना है। यह साधना शरीर में निहित शक्तियों को जागृत करके की जाती है। जब वह षट्-चक्र का भेदन करके कुण्डलिनी को जागृत करने में सफल हो जाता है, वह सिद्ध बन जाता है। यह महज दार्शनिक चर्चा नहीं है, केवल वाग्विलास नहीं है, अपितु इसे क्रिया रूप में करना पड़ता है। इसी से तन्त्र-शास्त्र गर्व-पूर्वक कहता है—सद्गुरु के निरीक्षण में अभ्यास करो और यदि फल-प्राप्ति का आभास न होने लगे तो छोड़ दो।[२]

---

१. The Tantra has no notion of some seperate far seeing God. It preaches no such doctrine in it as that God-the creator rules the universe from heaven. In the eyes of the Tantra, the body of sadhak is the universe, the autokrats (atma-sakti) within the body is the desired (ishta) and the 'to sought be for' (Sadhya), Deity (devata) of the sadhak. The unfolding of this power is to be brought about by self realisation (atmadarshan) which is to be achieved through Sadhana.

Sakti and Sakta (Bharat Dharma) page. 15

2. The special virtue of the Tantra lies in its mode of sadhana. It is neither mere worship (upasana) nor prayer. It is not lamenting or contrition or repentance before the Deity. It is the sadhana which is the union of purusa and prakriti; the sadhana which joins the male principle and the mother-element with in the body and strives to make the attributed attributeless.......It is the object of tantrik sadhana to merge the self Principle (svarat) in to the universal (virat). This sadhana is to be performed through the awakening of the forces within the body. A man is 'Siddha' in this sadhana when he is able to awaken kundalini and pierce six chakras. This is not mere 'philosophy' a mere attempt to ponder upon husks of words. but something which is to be done in a thourghly practical manner. The Tantra says—Begin practice under the guidance of good Guru; if you do not obtain favourable results immediatcly, you can freely give it up.

ibid-page. 12, para 2

'सद्-गुरु के निरीक्षण में अभ्यास करके देख लो'—यह बहुत ही सार-गर्भित निर्देश है। इसमें तन्त्रोपदिष्ट साधना की तीन मूलभूत शर्तों या आवश्यकताओं को रेखांकित किया गया है—(१) सद्गुरु, (२) उनका निरीक्षण और (३) साधक के द्वारा सतत अभ्यास।

गुरुकरण एवं दीक्षा—तन्त्र का स्पष्ट आदेश है कि सद्गुरु से विधिवत दीक्षा लेने के बाद ही साधना प्रारम्भ की जाये। पुस्तक में लिखे मन्त्र को पढ़कर अथवा छल से सुनकर मन्त्र-साधना करने से कोई फल तो मिलता नहीं-प्रत्यवाय अवश्य होता है। मन्त्र है देवता का अक्षर-विग्रह। यद्यपि पुस्तक में लिखा और गुरुदेव से दीक्षा में प्राप्त 'मन्त्र' का वाह्य-रूप एक समान है, वर्ण-संयोजन भी वही है, परन्तु 'तत्त्वतः' गुणात्मक रूप से दोनों में जमीन-आसमान का फर्क है। पुस्तक में लिखे मन्त्र में वर्णों का संयोजन ककहरे की किताब में बताये गये वर्ण-संयोजन की तरह शुष्क और बेजान है और दीक्षा रहित व्यक्ति आध्यात्मिक संस्कार विहीन एक ऐसा प्राणी जिसे विधिवत साधना करने का अधिकार नहीं है। इसीलिये गुरुकरण और दीक्षाग्रहण साधना की प्राथमिक और मूलभूत आवश्यकता है।

दीक्षा-संस्कार आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य का द्वितीय जन्म है और इस द्वितीय जन्म के जनक हैं—शिव स्वरूप गुरुदेव जिनकी साधना-शक्ति के अनुग्रह-मय अवदान से अनगढ़ पत्थर के समान बेडौल और चेतनाहीन शिष्य की आत्मा इष्ट-देवता के रूप में रूपायित, संस्कृत और चैतन्य होती है। इस दृष्टि से गुरुदेव शिष्य की इष्ट-देवता के जनक, प्राण-प्रतिष्ठापक और संस्कर्ता हैं। इसीलिये साधना-क्षेत्र में गुरुदेव का महत्व इष्ट-देवता के समकक्ष है। गुरुदेव के द्वारा जो मन्त्र प्रदान किया जाता है, वह वर्णों का शुष्क-संयोजित रूप नहीं अपितु उनकी साधनात्मक ऊर्जा से स्पन्दित देवता का वर्ण-विग्रह है जिसे वे शिष्य के आत्म-पीठ पर प्रतिष्ठित एवं विन्यस्त करते हैं। दीक्षा प्राप्ति के बाद शिष्य अपने गुरुदेव के निरीक्षण में 'मन्त्र' का जनन आदि संस्कार सम्पादित करके यथा-विधि पुरश्चरण करता है।

निरीक्षण—'तन्त्र-शास्त्र में साधना-परक कर्मकाण्ड का विस्तार से निरूपण किया गया है। शास्त्र ज्ञान सम्पन्न एवं अनुभव-वृद्ध गुरुदेव शिष्य साधक को उसकी क्षमता एवं शक्ति के अनुरूप साधना-पद्धति की व्यावहारिक शिक्षा देते हैं। उसकी कठिनाइयों का निवारण करते हैं। उसका साधना-क्रम निर्धारित करते हैं और लगनशील शिष्य यथा-आदेश पुरश्चरण करता जाता है। उसके एक के बाद अभिषेक होते हैं। ये सब कुछ गुरुदेव के निरीक्षण में होते हैं। उनके ही आशीर्वाद से शिष्य साधक को इष्ट देवता की अनुकम्पा रूपा सिद्धि प्राप्त होती है।

अभ्यास—किसी भी विद्या में दक्षता और सफलता के लिये 'अभ्यास' का महत्व सर्व-विदित है। साधना-क्षेत्र में तो इसका और भी महत्व है। भगवान् श्री कृष्ण ने 'अभ्यासेन तु कौन्तेय.....' कहकर साधना क्षेत्र में नियमित अभ्यास की आवश्यकता रेखांकित की है। अभ्यास के बिना साधना में यथा-वांछित सफलता नहीं मिलती।

लक्ष्य एवं मार्ग—तन्त्र-साधना का सर्वोत्तम लक्ष्य है 'स्वराट्' का विराट् में विलय। स्वराट् है आत्मा और 'विराट्' है ब्रह्म या शिव। अंश और अंशी होने के कारण आत्मा और ब्रह्म एक हैं परन्तु संसार-चक्र में भटकती हुई आत्मा अपना वास्तविक स्वरूप भूल गई है। अपने वास्तविक शिव-स्वरूप की अनुभूति ही आत्मज्ञान, आत्म-दर्शन एवं ब्रह्म ज्ञान है। साधना का सारा सरंजाम इस आत्म-ज्ञान के लिये है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये तन्त्र शास्त्र में क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित तथा विज्ञानसम्मत विधान बताया गया है।

देवता का पूजन—यथा ज्ञान और यथा-शक्ति इष्ट-देवता का पूजन साधना का अनिवार्य अंग है। विडम्बना यह है कि देवता की प्रतिमा अथवा चित्र को धूप, दीप, नैवेद्य समर्पण और आरती को पूजन की पूर्णता समझा जाने लगा है। देवता की वास्तविक पूजा से यह कोसों दूर है। पूजा की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

पूजा तु चंचलत्वेऽपि तन्मयत्वाऽप्रमत्तता

चंचल अवस्था में भी प्रमाद रहित तन्मयता का नाम पूजा है। इष्ट देवता की सेवा में आत्म-विस्मृति मय तन्मयता की भूमिका तक पहुँचने के लिये तीन सोपान हैं, तीन भूमिकायें हैं। यथा—(१) अपरा पूजा, (२) परापरा पूजा और, (३) परा पूजा।

अपरा-पूजा—यह प्रारम्भिक कोटि की पूजा है। इस पूजा में साधक अर्चन-यन्त्र की रचना करके गन्ध-धूप-दीप, नैवेद्य आदि उपचारों से पूजा-विधान रचता है। विशेष बात यह होती है कि इस स्थिति में साधक के हृदय में द्वैत भाव की प्रबलता होती है और अद्वैत भाव का अभाव रहता है, जैसा कि भास्कर राय ने लिखा है—

अद्वैतमान सामान्याभावे तु अपरा

मन्त्रों का उच्चारण करते हुए वाह्य स्थूल उपचारों से अर्चन करते-करते साधक पूजन क्रम में अग्रसर होता है। द्वैत भावना क्षीण पड़ने लगती है।

परापरा-पूजा—इस मध्यम सोपान में साधक क्षीयमाण द्वैत का पूर्ण रूपेण विलोपन का प्रयास तो करता है मगर अद्वैत अनुभूति का विशुद्ध रूप से आविर्भाव नहीं हो पाता। इस अवस्था में साधक को यह महसूस होने लगता है कि समस्त वाह्य-जगत आभ्यन्तर चिन्मय में तल्लीन होता जा रहा है—

'वाह्यान्तरे धाम्न्यद्वये चिल्लय भावनामयी परापरात्मकता'

साथ ही साधक को देवता की आन्तर पूजा में अधिक आनन्द लाने लगता है। इस आन्तर पूजा में उपचार द्रव्य बदल जाते हैं।

परा-पूजा—परा-पूजा की अवस्था में द्वैत की अनुभूति रञ्च मात्र भी शेष नहीं रहती। जहाँ जहाँ मन जाता है, वहाँ वाह्य जगत् में अथवा अन्त: जगत् में सर्वत्र इन्द्रियों के व्यापार में चैतन्य ही अभिव्यक्त होता है—

यत्र यत्र मनो याति, वाह्ये वाभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्राक्ष मार्गेण चैतन्यं व्यज्यते प्रभो:॥

इस अवस्था में जीव अपने परिछिन्न स्वरूप से ऊपर उठकर स्वयं अपरिछिन्न शिव-स्वरूप हो जाता है।

पञ्च-शुद्धियाँ—जिस तरह तन्त्रोक्त विधि में पूजा की तीन कोटियाँ हैं, वहीं देवता के अर्चन के लिये पञ्च विधि शुद्धि भी अनिवार्य है। ये हैं (१) स्थान (भूमि—शोधन (२) देह-शोधन, (३) द्रव्य शोधन, (४) देव-शुद्धि और (५) मन्त्र-शुद्धि।

कहना नहीं होगा कि मन्त्र-साधना और पुरश्चरण की यह क्रमबद्ध और सुप्रवाही विधि किसी ग्रन्थ में व्यवस्थित रूप से नहीं मिलती और न ही तन्त्र-ग्रन्थों में साधना-विधान की प्रत्येक क्रिया के पीछे निहित उद्देश्य और भावना का निरूपण है। इसका सम्यक् ज्ञान गुरुदेव से मिलता है। क्रिया-रहस्य को समझे बिना यदि कोई क्रिया सम्पादित की जाये तो उसका क्या और कितना फल मिलेगा, यह कह सकना कठिन है। अतएव साधन-विधान की प्रत्येक क्रिया के रहस्य एवं उद्देश्य से परिचित होना आवश्यक है। उदाहरण स्वरूप कुछ महत्वपूर्ण क्रियाओं पर नजर डालें।

प्राणायाम—'प्राण' के यथार्थ तत्त्व रूप को और इसके आयाम के आध्यात्मिक फलितार्थ को समझे बिना पूरक-कुम्भक और रेचक क्रम से साँस लेने और साँस छोड़ने की क्रिया को 'प्राणायाम' कहना और समझना देहात्म बुद्धि का ज्ञापक है। दण्ड-बैठक की तरह यह क्रिया भी एक कसरत है, वर्जिश है और एक कसरत की तरह 'प्राणायाम' करने से कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं हो सकता।

प्राण क्या है ? प्राण शक्ति क्या है ? इस पर प्रकाश डालते हुए 'छान्दोग्य उपनिषद' में कहा गया है—

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते।। (१/११/५)

ब्रह्म से प्राण लाभ कर सभी भूत (प्राणी) अस्तित्व में आते हैं, प्राणयुक्त होकर जीते हैं और अन्ततः उसी में विलीन हो जाते हैं । अतः प्राण शब्द 'ब्रह्म' का ज्ञापक और परिचायक है, जैसा कि सूत्र भाष्य में भी कहा गया है—**'सर्वभूतोत्पत्ति प्रलय हेतु रूपलिंगात् ब्रह्मणः एव प्राण शब्द वाच्यता'**

'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' अर्थात् संवित् यानी चेतना सर्वप्रथम 'प्राण' के रूप में रूपान्तरित हुई । शैवागम के अनुसार 'प्राण' तत्त्व चेतना का प्रथम परिणत रूप है । चेतना का ज्ञापक यह प्राण-तत्त्व सूक्ष्म एवं अभौतिक 'मन' तथा स्थूल एवं भौतिक शरीर के मध्य सम्पर्क सूत्र का कार्य करता है । मन के संवेगों को यह स्नायु मण्डल और चक्रों तक और शरीर के संवेगों को मन तक पहुँचाता है । इस तरह मन की चंचलता और इन्द्रियों की गतिशीलता का दारोमदार प्राण पर निर्भर है और इस 'प्राण-तत्त्व' का अधिष्ठान 'वायुतत्त्व' में है, अतः प्राण वायु को भी 'प्राण' कहा जाता है । यह वायु तत्त्व हमारे शरीर में दस रूपों में संचरित है । पूरक-कुम्भक एवं रेचक रूप वायु-नियन्त्रण से व्यष्टि-व्यापिनी 'प्राण शक्ति' उर्जावती एवं ऊर्जस्वनी होकर मन की चंचलता को नियन्त्रित कर आत्म चेतना को जागृत करती है । मनो-आध्यात्मिक प्रयोजन के लिये 'प्राणायाम' की यह भूमिका है ।

भूत-शुद्धि—हमारा शरीर आकाश आदि पञ्च महाभूतों से बना है । अनेकानेक कारणों से यह शरीर अशुद्ध एवं अपवित्र है । अतः इसके घटक तत्त्वों अर्थात् पञ्च महाभूतों का शोधन करके इस भौतिक शरीर में शाम्भव-शरीर की सृष्टि की जाती है ।

भूत-शुद्धि की यह क्रिया दृढ़ रूप से यह भावना करते हुए की जाती है कि देवी-कुण्डलिनी जागृत होकर चैतन्य हो गई हैं । वे सुषुम्ना पथ पर सञ्चरण शीला हैं । प्रत्येक चक्र (मूलाधार आदि चक्र) में स्थित देवता, पृथ्वी आदि तत्त्व एवं वर्णों को समाहित करते हुए वे कैलास धाम (सहस्रार) की ओर अग्रसर हैं । वहाँ पहुँचकर उन्होंने इन सभी तत्त्व समूह आदि को परम-शिव में विलीन कर दिया है और फिर स्वयं भी विलीन हो गई हैं । परम-शिव का सामरस्य लाभ कर वे ही सृष्टि उन्मुखी होकर एक-एक तत्त्व आदि का उदय करते हुए शरीर रूप ब्रह्माण्ड का निर्माण कर रही हैं । इस तरह इस भौतिक शरीर में शुद्ध परिशुद्ध एवं सूक्ष्म शाम्भव शरीर का निर्माण करके उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है ।

प्राण-प्रतिष्ठा—देव-अर्चन क्रम की क्रियाओं में प्राण-प्रतिष्ठा एक अत्यन्त महत्वपूर्ण क्रिया है । यह क्रिया इस तथ्य को रेखांकित करती है कि तन्त्रोपदिष्ट-साधना का आदर्श भगवान् कृष्ण द्वारा गीता (४/२४-२५) में बताया गया 'ब्रह्म-यज्ञ' है ।[१] अभेद-दर्शन रूप इस ब्रह्म यज्ञ में कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, क्रिया आदि सब

---

१. ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतं ।
ब्रह्मैव तेन गन्तंव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ।।

कुछ 'ब्रह्म' है। तदनुसार तन्त्रोपदिष्ट साधना में साधक की आत्मा ही उपासक है, आत्मा ही उपास्य है और आत्मा की विभूतियाँ पूजा के उपचार हैं। चूँकि यह आत्मा इष्ट देवता रूप ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है, अतएव इष्ट-देवता के अर्चन के लिये आत्मा में ही इष्ट-देवता की प्रतिष्ठा कर ली जाती है। दूसरे शब्दों में आत्मा को ही इष्टदेवता के रूप में अन्तरित कर लिया जाता है। इष्ट-देवता के रूप में आत्मा का अन्तरण अर्थात् आत्मा में इष्ट-देवता रूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा ही प्राण-प्रतिष्ठा या जीव-न्यास है। प्राण-प्रतिष्ठा की यह क्रिया अत्यन्त भाव मयी है। पद्धति ग्रन्थों में विस्तार से इसका निरूपण है। इस प्रकार देव-भाव-सम्पन्न आत्मा द्वारा विविध उपचारों से इष्ट-देवता रूप आत्मा की पूजा की जाती है। पूर्ण मनोयोग पूर्वक नित्य प्रति इस विधि से पूजन करने से देहात्म-बुद्धि, कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व आदि का मिथ्या-अभिमान टूटता है एवं आत्मा में उसकी वास्तविक शिव-स्वरूपता का विकास होता है।

मातृका-न्यास—आत्मा में इष्ट देवता की प्रतिष्ठा के बाद स्वयं में देवत्व की स्फुरणा की अभिवृद्धि (देवता-भाव सिद्धये) के लिये अन्तमार्तृका और बहिमार्तृका न्यास की क्रिया सम्पन्न की जाती है। अन्तर्मातृका-न्यास के अन्तर्गत मूलाधार आदि षट्-चक्रों में यथा विधि/क्रम/संख्या में अकारादि-क्षकारान्त मातृकाओं का न्यास किया जाता है। बहिर्मातृका न्यास के अन्तर्गत यथा अधिकार सृष्टि/स्थिति/संहार क्रम से इन मातृकाओं का शिर से लेकर पैरों की अंगुलियों तक शरीर के विभिन्न अंगों में न्यास किया जाता है। इसके बाद साधक इष्ट-देवता के कल्पोक्त न्यासों का सम्पादन करता है। अन्तर्मातृका, बहिर्मातृका एवं कल्पोक्त न्यास करने से साधक का शाम्भव-विग्रह भगवान् शिव के अक्षर-विग्रह तथा मन्त्र-विग्रह रूप इष्ट-देवता का प्रतिरूप बन जाता है।

इसके बाद वह अपने हृदय-कमल में देवता के पीठ की स्थापना करके उस पर अपने इष्ट देवता की ध्यानोक्त प्रतिमा को स्थापित करके मानस-उपचारों से अर्चन, अक्ष-माला से मन्त्र-जप तथा मानसिक हवन सम्पन्न करता है। वाह्य पूजा के लिये विशेषार्ध्य एवं श्रीपात्र आदि पात्र स्थापित करता है। देवता का ध्यान करके अपने हृदय में स्थापित देवता को श्वास-मार्ग से बाहर लाकर उसे अर्चन यन्त्र पर स्थापित करके यथा विधि यथा शक्ति अर्चन, मन्त्र जप, हवन, तर्पण आदि सम्पादित करके इष्ट-देवता को अर्चन-यन्त्र से विसर्जित करके श्वास-मार्ग से अपने हृदय में स्थापित कर लेता हैं। तन्त्रोपदिष्ट आत्मानुसन्धानी साधना का यही तत्त्व रूप है। पूजन-अर्चन-भजन-यजन-हवन-तर्पण, इज्या, सपर्या आदि इसकी अनुषांगिक एवं सम्पोषक क्रियाएं हैं।

उत्स एवं विकास—आत्म-अनुसन्धानी इस आत्म-साधना के सिद्धान्त सूत्र वेद में निहित हैं। तन्त्र-शास्त्र में इसे विधि-युक्त क्रियात्मक रूप प्रदान करके विकसित किया है। वेद में और वेदान्त में आत्मा को 'अहम्' नाम से व्यवहृत किया गया है। 'वृहदारण्यक' श्रुति कहती है—

सोऽहमिति व्याहरत् ततोऽहं नामाभवत्॥

भगवान् कृष्ण ने भी 'गीता' में कहा है।

अहमात्मा गुडाकेश, सर्वभूताशय स्थितः।
अहमादिश्च मध्यश्च, भूतानामन्तमेव॥

(१०/२०)

यह 'अहं' तत्त्व वेदों में वेद्य तथा वेदान्त आदि शास्त्रों में ज्ञेय एवं ज्ञातव्य है। इसका यथार्थ ज्ञान हो जाने पर जीव सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है—

'तस्मादहमिति ज्ञात्वा सर्व बन्धैः प्रमुच्यते'

जो इष्ट-देवता को अपनी आत्मा से भिन्न समझता है, वह पशु है, अज्ञानी है। जो यह समझता है कि यह देवता अन्य है तथा मैं उससे भिन्न अन्य हूँ, वह पशु है। इस पशु-बुद्धि के निरसन के लिये श्रुति का आदेश है—'त्वं वा अहमस्तीति भगवो देवते अहं वै त्वमसि' 'तुम मैं हूँ और मैं ही तुम हो'

भाव-त्रय और सप्त-आचार—उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि तन्त्रोपदिष्ट साधना का तत्त्व रूप पूर्णतः मनो-आध्यात्मिक है तो दूसरी ओर सभी मनुष्यों की मानसिक-क्षमता एवं आध्यात्मिक चेतना एक बराबर नहीं होती। इस वैषम्य के कारण मानव-मात्र के लिये एक ही स्तर की और एक ही कोटि की साधन-व्यवस्था न तो व्यावहारिक होगी और न वैज्ञानिक। अतएव साधकों की वैयक्तिक-क्षमता और सत्त्वादि गुणों को ध्यान में रखते हुए तन्त्र-साधना विधान में क्रमोत्तर विकास की त्रिस्तरीय 'भाव-व्यवस्था है, जिसको क्रमशः पशु-भाव, वीर-भाव और दिव्य-भाव कहा गया है।[१] वामकेश्वर तन्त्र के अनुसार—'मानसिक धर्म का नाम 'भाव' है और मन से ही इसका अभ्यास किया जाना चाहिए।[२] दूसरे शब्दों में यहाँ प्रयुक्त 'भाव' शब्द साधक के ज्ञान की विशिष्ट अवस्था का ज्ञापक है। भाव की सिद्धि ही साधना में सफलता की कुंजी है। भाव-सिद्धि के लिये सात 'आचार' है। आचार का अर्थ है शास्त्र-विहित अनुष्ठेय-कर्मों की समष्टि। भाव और आचार की महिमा और

---

१. शक्ति प्राधान्यात् भावानां त्रयाणां साधकस्य च।
दिव्य-वीर पशुनाञ्च, भावत्रयमुदाहृतम्॥ (रुद्र-यामल)

२. भावो हि मानसो धर्मः, मनसैव सदाभ्यसेत्॥

महत्ता का निरूपण करते हुए 'विश्वसार तन्त्र' में कहा गया है कि जो मनुष्य भाव-त्रय में सन्निविष्ट सातों-आचारों को जानता है, वही सकल-धर्म को जानता है। वही जीवन-मुक्त पुरुष है।[१] ये सात आचार हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इनमें से प्रथम चार (वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार और दक्षिणाचार) पशु-भाव के अन्तर्गत हैं। वामाचार और सिद्धान्ताचार वीरभाव के और कौलाचार दिव्य भाव के अन्तर्गत है।

चत्वारो देवि ! वेदाद्याः, पशु-भावे प्रतिष्ठिताः

वामाद्यस्त्रय आचाराः, वीरे-दिव्ये प्रतिष्ठिताः।

इस विकास क्रम से यह स्पष्ट है कि तन्त्रोपदिष्ट साधना-पथ में एक ही स्थान पर खड़े रहकर कदम-ताल करने की गुंजाइश नहीं है। यथा अधिकार आगे बढ़ना है और मंजिल तक पहुँचना है।

षट् कर्म और काम्य-प्रयोग—इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि तन्त्र और तान्त्रिक-साधना का चरम-लक्ष्य परम-पद की प्राप्ति है और इसे पाने के लिये उद्योग करना मानव-मात्र का कर्त्तव्य है। इसके साथ यह भी सत्य है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उद्योग करना उस समय ही सुकर होगा जब सांसारिक जीवन में सुख और शान्ति हो। इसीलिये आर्ष जीवन-दर्शन में मुक्ति के साथ अर्थ और काम को भी पुरुषार्थ चतुष्टय में शामिल किया गया है। अतः अर्थ और काम की अनदेखी और उपेक्षा नहीं की जा सकती। अर्थ और काम का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मनुष्य के लौकिक जीवन से है। लौकिक जीवन की अपनी समस्यायें हैं, अपनी आवश्यकतायें हैं। मनुष्य के वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के लिये इन समस्याओं का समाधान आवश्यक है। इसीलिये विश्व की सभी उपासना-पद्धतियों में इन समस्याओं के समाधान और लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिये साधन-विधान बताये गये हैं और आर्ष तन्त्र-शास्त्र इसका अपवाद नहीं है। तन्त्र-शास्त्र ही नहीं अपितु वेदों-विशेषकर अथर्ववेद में और कहीं कहीं पुराणों में भी ऐसे काम्य-अनुष्ठान और प्रयोग बताये गये हैं। विशेषता है तो बस इतनी कि काम्य-अनुष्ठानों और साधन-विधानों की सर्वाधिक संख्या तन्त्र-शास्त्र में है।

सहितस्य भावः साहित्यम्। मानव-जीवन की शत-सहस्र समस्याओं के लिये उतने ही साधन-विधान प्रस्तुत करके तन्त्र-साहित्य ने यह प्रतिपादित कर दिया है कि मानव-जीवन का कोई कोना उससे अछूता नहीं है। तन्त्र-ग्रन्थों में फल-वृद्धि, शस्य-

---

१. भाव-त्रय गतान् देवि ! सप्ताचारांस्तु वेत्ति यः।
स धर्मं सकलं वेत्ति, जीवन्मुक्तः न संशयः॥

वृद्धि, शस्य रक्षण जैसे सामान्य प्रयोजनों के लिये प्रयोग हैं तो महामारी और उपसर्गों की शान्ति तथा देश और समाज की रक्षा के लिये शत्रु-स्तम्भन एवं शत्रु-सेना विनाश के महा अनुष्ठान भी हैं। यह अर्थवाद नहीं है। आक्रान्ता चीनी सेना के अभियान को रोकने के लिये पिछली शताब्दि में पीताम्बरा-पीठ, दतिया (म.प्र.) में जो राष्ट्र-रक्षा अनुष्ठान किया गया था, उसकी फल श्रुति से सारा साधक समाज भली भाँति अवगत है।

यहाँ यह सवाल किया जा सकता है कि शान्ति और पुष्टिकर प्रयोग तो ठीक हैं मगर उच्चाटन-विद्वेषण-स्तम्भन जैसे आभिचारिक प्रयोगों का क्या औचित्य है ? जिस तरह घर में तवा के साथ चिमटा और गिलास के साथ चाकू का होना जरूरी है, उसी तरह दबंग-आततायी से अपनी या अपने स्वजनों की रक्षा के लिये तीक्ष्ण प्रयोग भी जरूरी हैं। यथा आवश्यकता और यथा परिस्थिति इन प्रयोगों का औचित्य है।

तन्त्र-ग्रन्थों में अभीष्ट सिद्धि के दो प्रकार बताये गये हैं। किसी भी विद्या, महाविद्या या देवता के मन्त्र को पुरश्चरण पूर्वक सिद्ध कर लेने के बाद उसी एक मन्त्र से यथा विधान अनुष्ठान करके अभीप्सित फल प्राप्त किया जा सकता है। यथा— 'तन्त्रराज तन्त्र' में भगवती ललिता की कामेश्वरी आदि नित्या विद्याओं के मन्त्र को सिद्ध करके अनेकानेक काम्य-अनुष्ठानों के प्रयोग बताये गये हैं। 'श्री दुर्गासप्तशती' और 'सौन्दर्य-लहरी' के श्लोक-मन्त्रों के प्रयोग तो विख्यात हैं। उसके साथ ही तन्त्र-ग्रन्थों में अलग-अलग प्रयोजनों या कार्य सिद्धि के लिये अलग-अलग सैकड़ों मन्त्र बताये गये हैं।

इस तरह तन्त्र-ग्रन्थों में हजारों साधन-विधानों और अनुष्ठानों की भरमार है, वहीं इन ग्रन्थों में इन प्रयोगों को हेय भी बताया गया है। तन्त्र-शास्त्र का ही कहना है कि इन काम्य-प्रयोगों को करने से देवता रुष्ट होता है और सिद्धि की हानि होती है। इसलिये श्रेयस्कर यही है कि काम्य प्रयोग नहीं किये जायें, मगर विडम्बना यह है कि हर अच्छी चीज की तरह इन साधन विधानों का दुरुपयोग होता रहा है और आज भी हो रहा है। तन्त्रोक्त साधन-विधानों के ऐसे ही दुरुपयोग ने तन्त्र के नाम को बदनाम कर दिया है।

श्री ज्ञानार्णव-नित्या-तन्त्र—तन्त्र-शास्त्र भगवान् शिव का कृपा-प्रसाद है। पूज्यपाद शंकराचार्य ने 'चतुःषष्टि तन्त्रैः' कहकर यह संकेत दिया है कि तन्त्रों की संख्या ६४ है मगर उन्होंने इन ६४ तन्त्रों के नहीं बताये हैं।

चतुः षष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनम्।
स्थितस्तत्तत्सिद्धि प्रसव परतन्त्रैः पशुपतिः ॥

पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिल पुरुषार्थैक घटना।
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिम्॥

व्याख्याकारों के अनुसार 'सौन्दर्य लहरी' के इस ३१वें श्लोक का आशय यह है कि विभिन्न सिद्धियों और पुरुषार्थों की प्राप्ति और विविध मनोरथों की पूर्ति के लिये भगवान् शिव ने ६४ तन्त्रों का प्रकाशन करने के बाद भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के स्वतन्त्र 'तन्त्र को प्रकट किया जो अकेले ही समस्त ऐहिक और पारमार्थिक सिद्धियाँ प्रदान करने वाला है। आचार्यपाद ने इस ६५वें स्वतन्त्र तन्त्र के नाम का उल्लेख नहीं किया है मगर 'सौन्दर्य-लहरी' के व्याख्याकारों ने अपने-अपने ढंग से इस 'स्वतन्त्र' ६५ वें तन्त्र की शिनाख्त करने की कोशिश की है। इन व्याख्याकारों ने एतदर्थ 'वामकेश्वर-तन्त्र' के उन १० श्लोकों को आधार बनाया है जिनमें इन ६४ तन्त्रों के नाम बताये गये हैं, मगर भिन्न-भिन्न टीकाओं में उद्धृत इन श्लोकों में पाठ-भेद भी है और इनके निर्वचन में अन्तर भी है। यथा—

लक्ष्मीधरा टीका में इन श्लोकों को उद्धृत करके इन ६४ तन्त्रों के स्पष्ट रूप से अलग-अलग नाम बताये गये हैं। आचार्य लक्ष्मीधर के अनुसार इन ६४ तन्त्रों में ८ तन्त्र (चन्द्र कला आदि) श्री विद्या के प्रतिपादक हैं परन्तु इनमें 'ज्ञानार्णव' नहीं है। 'अरुणामोदिनी' टीका में 'वामकेश्वर तन्त्र' के इन्हीं श्लोकों को उद्धृत तो किया गया है मगर 'लक्ष्मीधरा' के समान इन तन्त्रों के नाम स्पष्ट रूप से नहीं बताये गये हैं। कविराज-शर्मा कृत 'आनन्द लहरी' नामक टीका में 'वामकेश्वर-तन्त्र' के अनुसार जिन ६४ तन्त्र ग्रन्थों के नाम बताये गये हैं उनमें 'ज्ञानार्णव' का उल्लेख हैं। 'आनन्द लहरी' नामक इस टीका में उक्त श्लोक के 'अखिल पुरुषार्थैक घटना ते स्वतन्त्र तन्त्रम्' की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

'अखिलानां सर्वेषामपि पुरुषार्थानां धर्मार्थकाममोक्षाणां एका मुख्या या घटना निर्मितिः तत्र स्वतन्त्रं अन्यनिरपेक्षं ज्ञानार्णवादि रूपं कादि मते प्रसिद्धं स्वतन्त्राख्यं तन्त्रं वा क्षिति तलं अवातीरत् अवतारयामास'

'नित्याषोडशिकार्णव' 'वामकेश्वर तन्त्र' का पूर्व भाग है। इस पर श्री भास्कर-राय की 'सेतुबन्ध' व्याख्या प्रसिद्ध हैं। 'नित्या' के प्रथम विश्राम में तन्त्रों का नाम बताने वाले १० (१३ से २२) श्लोक हैं। इन्हीं श्लोकों को 'लक्ष्मीधरा' आदि टीकाओं में उद्धृत किया गया है, परन्तु इनमें बहुत पाठ-भेद हैं। इन टीकाओं में यथा उद्धृत श्लोकों में (पूर्व पश्चिम दक्षं के बाद) 'नित्या' के २१वें श्लोक की यह पंक्ति नहीं है—

'तन्त्रं वैशेषिकं ज्ञानं वीरावलि तथा परम्'

श्री भास्करराय ने इस श्लोक की व्याख्या में 'ज्ञानम्' को 'ज्ञानार्णव तन्त्र' कहा है—'ज्ञानमिति ज्ञानार्णव पदेन प्रसिद्धम्'। यद्यपि श्री भास्कर-राय ने 'वामकेश्वर-तन्त्र' को श्रीविद्या का प्रतिपादक ६५वाँ स्वतन्त्र-तन्त्र माना है, परन्तु इसके साथ उन्होंने यह भी लिखा है—'ज्ञानार्णव परं स्वतन्त्र पदमिति-गौरीकान्तः। अन्ये तु तन्त्रराज-तन्त्रमेव पञ्चषष्ठितम्।' यद्यपि श्री भास्कर-राय ने 'वामेकश्वर-तन्त्र' को ६५वाँ स्वतन्त्र माना है, परन्तु 'नित्याषोडशिकार्णव' की अपनी व्याख्या में उन्होंने जिस ग्रन्थ से सर्वाधिक (लगभग १२५) प्रमाण दिये हैं—वह 'ज्ञानार्णव-तन्त्र' है।

इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि तन्त्रविदों का एक बड़ा समूह श्री 'ज्ञानार्णव तन्त्र' को श्रीविद्या का प्रतिपादक ६५वाँ स्वतन्त्र तन्त्र मानने का पक्षधर रहा है। अन्य तन्त्र-ग्रन्थों, जिनमें ६४ तन्त्रों की नामसूची दी गई है, उनमें 'ज्ञानार्णव' का सादर उल्लेख है।

पटल और श्लोक-संख्या—श्री ईश्वर प्रोक्त 'ज्ञानार्णव-तन्त्र' की व्याख्या सहित यह प्रस्तुति आनन्द-आश्रम, पुणे द्वारा ग्रन्थांक संख्या ६९ के रूप में प्रकाशित संस्करण पर आधारित है। इसमें २६ पटल और १७११ (एक हजार सात सौ ग्यारह) श्लोक हैं। प्रथम पटल में मातृका पीठ रूपिणी त्रिपुरा का स्वरूप निरूपण, द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ एवं पञ्चम पटल में प्रातःकृत्य, भूत-शुद्धि, प्राणायाम, प्राण प्रतिष्ठा, मातृका आदि न्यास पूर्वक श्री बाला-त्रिपुर सुन्दरी की यजन-विधि और षष्टम् सप्तम एवं अष्टम तथा नवम पटलों में क्रमशः पूर्व-दक्षिण-पश्चिम एवं उत्तर सिंहासन-विद्याओं का उद्धार और उनकी अर्चन-विधि का निरूपण किया गया है।

दशम पटल में कर-शुद्धि विद्या, चतुरासन विद्या, मेरु-मन्त्र सहित श्री चक्र का उद्धार, षडध्व निरूपण, एकादश पटल में पञ्चदशाक्षरी विद्या, द्वादश पटल में श्री महात्रिपुर सुन्दरी के द्वादश भेदों और त्रयोदश पटल में षोडशी महाविद्या का उद्धार और महिमा निरूपण है। चतुर्दश पटल में कलश स्थापना, पात्रासादन एवं श्रीविद्या न्यास-विधान, पञ्चदश पटल में नित्या-विद्याओं का उद्धार, षोडशतम पटल में अन्तर्याग एवं बलिदानान्त पूजा, सप्तदशतम पटल में जप-माला के भेद, पुरश्चरण एवं काम्य-प्रयोग विधान, अष्टादशतम पटल में नव-रत्न पूजन विधान, एकोनविंशतम पटल में वाग्भव आदि कूट त्रय का साधन-विधान, विंशतितम पटल में कुण्ड लक्षण, कूर्म-चक्र होम-विधि और विविध द्रव्यों से हवन के फल का निरूपण है।

एकविंशतितम (२१) पटल में ज्ञान होम विधि, द्वाविंशतितम (२२) पटल में कुमारी पूजन और (कर्म) दूती-याग विधान, त्रयोविंशतितम पटल में ज्ञान-दूती

याग विधान, चतुर्विंशतितम (२४) पटल में दीक्षा विधि, पञ्चविंशति पटल में पवित्रारोपण और षड्विंशतितम (२६ वें) पटल में दमनरोपण विधान का निरूपण किया गया है।

अन्य-पाण्डुलिपियाँ—आनन्द-आश्रम के अतिरिक्त अन्य प्रतिष्ठित पुस्तकालयों और संग्रहकर्ताओं के पास उपलब्ध कतिपय महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियों का विवरण पूज्यपाद गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित 'तान्त्रिक-साहित्य' (पृष्ठ २२३-२३४) में दिया गया है। इस विवरण में ग्रन्थ की पटल संख्या, श्लोक संख्या और प्रतिपादित विषयों का भी संक्षिप्त उल्लेख है।

श्री ज्ञानार्णव-तन्त्र के प्रस्तुत संस्करण और उपर्युक्त पाण्डुलिपियों का तुलनात्मक अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि कई ऐसे विषय हैं जो प्रस्तुत संस्करण में नहीं है। यथा—इण्डिया आफिस लाइब्रेरी की पाण्डुलिपि (संख्या २५२) में उपलब्ध द्वितीय याग ज्ञान, द्वितीय याग-दीक्षा। तंजौर राजमहल पुस्तकालय में उपलब्ध २० पटलों वाली पाण्डुलिपि में विवेचित मांसादि उपहार सम्बन्धी विषय। गवर्नमेन्ट ओरियन्टल मैनुस्क्रिप्ट लायब्रेरी, चेन्नई (मद्रास) की पाण्डुलिपि में उपलब्ध गुरु-वन्दन आदि स्तवन। इन पाण्डुलिपियों में श्लोकों की संख्या भी दो हजार से अधिक बताई गई है। इन पंक्तियों के लेखक के पास 'सप्तशती प्रयोग प्रकार' नामक एक प्राचीन ग्रन्थ की पाण्डुलिपि (फोटोकापी) उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में श्री 'दुर्गा सप्तशती' की मन्त्र-संख्या एवं मन्त्र-विभाग के सम्बन्ध में कात्यायनी तन्त्र के मत के साथ 'ज्ञानार्णव के मत का उल्लेख है।

इस विवरण के परिप्रेक्ष्य में यह दावा नहीं किया जा सकता कि 'ज्ञानार्णव' की यह प्रस्तुति सम्पूर्ण है, नातिशेष है।

'तान्त्रिक-साहित्य' में आगे बताया गया है कि वाराणसी निवासी काशीनाथ भट्ट के पुत्र जयराम भट्ट ने 'ज्ञानार्णव-तन्त्र' की 'गूढ़ार्थादर्श' नामक टीका लिखी है जिसका विवरण 'एशियाटिक सोसायटी आफ-बंगाल' की 'डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट (संख्या ५८१६) में दिया गया है। यह टीका अभी तक प्रकाशित नहीं है।

श्री ज्ञानार्णव नित्या-तन्त्र एक ऐसा आकर ग्रन्थ है जिसे परवर्ती तन्त्र-मनीषियों, आचार्यों और निबन्धकारों ने समवेत रूप से प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है।

श्रीविद्यार्णव, वृहत् तन्त्रसार, शाक्तानन्द तरंगिणी, शक्ति-रत्नाकर, तारा भक्तिसुधार्णव, तन्त्र-दीपिनी, मन्त्र-रत्नावली, ललितार्चन-दीपिका, सर्वोल्लास तन्त्र, आगम कल्प लता, पुरश्चर्यार्णव, प्राण तोषिणी तन्त्र, मन्त्र-महार्णव आदि संग्रह-ग्रन्थों में 'ज्ञानार्णव' के उद्धरण प्रचुरता से मिलते हैं।

श्रीविद्या का प्रतिपादक श्री ज्ञानार्णव-तन्त्र एक ऐसा अनुपम ग्रन्थ है जिसमें भगवती त्रिपुरा के तीनों रूपों-बाला, भैरवी और सुन्दरी के साधन-विधान का सुप्रवाही रूप से निरूपण किया गया है। श्री ललिता महात्रिपुरसुन्दरी ही श्रीविद्या हैं और 'श्रीचक्र' उनका अर्चन विग्रह है। श्रीविद्या और श्रीयन्त्र एक दूसरे के पर्याय हैं।

यन्त्र, मन्त्र और देवता—स्त्री देवता के मन्त्र को विद्या कहते हैं। अतः श्री विद्या का अर्थ है—भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का मन्त्र। मन्त्र-यन्त्र और देवता के परस्पर सम्बन्धों का उद्घाटन करते हुए तन्त्रान्तर में कहा गया है—

'वाचक और वाच्य की तरह मन्त्र और देवता में अभेद है। मन्त्र वाचक है और देवता वाच्य है। मन्त्र देवता का विग्रह है और 'यन्त्र' मन्त्रमय होता है। अतः यन्त्र और देवता का सम्बन्ध देह और आत्मा के समान हैं।[१]

इसीलिये यन्त्रार्चन के बिना देवता प्रसन्न नहीं होता। श्रद्धा और विश्वास पूर्वक पूजन किये जाने से देव-विग्रह रूप 'यन्त्र' काम-क्रोध आदि दोषों से उत्पन्न सभी दुःखों से साधक की रक्षा करता है।[२]

श्रीविद्या और श्रीयन्त्र का साम्य बताते हुए श्री ज्ञानार्णव तन्त्र में कहा गया है कि श्रीयन्त्र और श्रीविद्या का उद्भव स्रोत्र एक ही है। दोनों की उत्पत्ति 'नवाक्षरी' मेरु-मन्त्र से हुई है। दशम पटल में 'मेरु-मन्त्र' का उद्धार बताया गया है। तदनुसार भूमि (ल) शिव (ह) चन्द्र (स) माया (ई) शक्ति (ए) कृष्णाध्व (र) मादन (क) अर्धचन्द्र

---

१. वाच्य वाचक भेदेन, अभेदं मन्त्र देवतयोः।
देवता वाच्यः इत्युक्तो, मन्त्रोहि वाचकः स्मृतः॥
यन्त्र मन्त्रमयं प्रोक्तं, मन्त्रात्मा देवतैव हि।
देहात्मनोः यथा भेदो, यन्त्र देवतयोः तथा॥

२. आदौ लिखेत् यन्त्रराजं, देवतायाश्च विग्रहः।
काम क्रोधादि दोषोत्थ, सर्व दुःख नियन्त्रणान्॥
यन्त्रमित्याहुरेतस्मिन् देवः प्रीणति पूजितः।
विना यन्त्रेण पूजायां, देवता न प्रसीदति॥

(अनुस्वार) और बिन्दु (.) इन ९ अक्षरों से मेरु-मन्त्र बना है। इन्ही ९ (नौ) अक्षरों के उलट-फेर से त्रिपुरा के सभी मन्त्र बनते हैं। उनमें इन ९ अक्षरों के अतिरिक्त कोई अन्य वर्ण नहीं हैं। जिस मेरु-मन्त्र से श्रीविद्या के मन्त्रों का उद्भव हुआ है, उसी मेरु मन्त्र से श्री चक्र का भी आविर्भाव हुआ है। 'श्री चक्रं तु वरारोहे श्रीविद्यार्णव सम्भवम्' (१०/३०) और 'श्रीचक्रमपि देवेशि ! मेरु रूपं न संशयः'। श्रीविद्या और श्रीचक्र का उत्स एक ही होने के कारण दोनों में तादात्म्य और साम्य है; जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट होता है—

मेरु वर्ण	श्री यन्त्र
'ल' कार (पृथ्वी बीज)	भूपुर
'स' कार (चन्द्र बीज)	षोडश दल कमल
'ह' कार (शिव बीज)	अष्टदल कमल
'ई' कार (महामाया)	चतुर्दशार
'ए' कार (शक्ति)	बहिर्दशार
'र' कार (अग्निबीज)	अन्तर्दशार
'क' कार (मादन)	अष्टार
अर्ध चन्द्र	त्रिकोण
बिन्दु	बिन्दु चक्र

'मेरु-मन्त्र' से उद्भुत श्रीचक्र ब्रह्माण्ड का पर्याय है। इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्माण्ड का आविर्भाव मातृकाओं से हुआ है, क्योंकि मेरु-मन्त्र मातृका-मय है।

तन्त्रोपदिष्ट साधना की कतिपय शर्तों का उल्लेख किया जा चुका है। एतदनुसार श्रीविद्या-साधना में सिद्धि और सफलता के लिये साधक को (१) चक्र-संकेत, (२) मन्त्र-संकेत और (३) पूजा-संकेत का सम्यक ज्ञान होना चाहिए। एतत्पूर्व परा-परापरा और अपरा पूजा का जो विवरण दिया गया है, वह पूजा संकेत है। श्रीविद्या के अक्षरों की उत्पत्ति (मूल), प्रकृति, उच्चारण और महत्त्व आदि की व्याख्या मन्त्र-संकेत हैं। 'वरिवस्या-रहस्य' में इसे भली भाँति समझाया गया है। उसमें 'श्रीविद्या' के ६ प्रकार के अर्थ बताये गये हैं। यथा—

(१) भावार्थ—'अक्षरार्थो हि भावार्थः केवलः परमेश्वरि' अर्थात् अक्षरों में अनुगत अर्थ ही भावार्थ है। देवता, मन्त्र और जगत् के अभेद का प्रतिपादन करने वाला अर्थ ही 'भावार्थ' है। (तेन अम्बा मनु जगतामभेदः एवाऽत्र भावार्थः)।

(२) सम्प्रदायार्थ—जिस प्रकार जन्य और जनक (अर्थात् कार्य और कारण) वाच्य और वाचक तथा ब्रह्म एवं जगत् में कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार विद्या और जगत में भी परस्पर कोई भेद नहीं है, यह सम्प्रदायार्थ है।[१]

(३) निगमार्थ—परम शिव पूर्णतः निष्कल हैं और दीक्षा गुरु सकल हैं—फिर भी इनमें परस्पर अभेद मानना और उनकी कृपा से अपनी आत्मा को परम शिव से अभिन्न मानना, निगमार्थ है।[२]

(४) कौलिकार्थ—माता, विद्या, चक्र, गुरुदेव और स्वयं में अभेद दर्शन 'कौलिकार्थ' है।

(५) रहस्यार्थ—कुण्डलिनी ही जगन्माता रूपिणी विद्या है—अर्थात् कुण्डलिनी, विद्या और जगन्माता—ये तीनों एक हैं और मैं स्वयं भी इनसे अभिन्न हूँ, यह समझना 'रहस्यार्थ' है।[३]

(६) महातत्त्वार्थ—परब्रह्म तत्त्वातीत है, मन, वाणी और इन्द्रियों से अगम्य है, महान् से भी महान् है, छोटे से भी छोटा है, आकाश से भी ऊँचा है, वह विश्व से अभिन्न है, चित् और आनन्द से भी अभिन्न है। ऐसे ब्रह्म से अभेद की स्थिति प्राप्त करने के लिये स्वयं को नियुक्त करना है, अहर्निश यही भावना करना 'महातत्त्वार्थ' है।[४]

मन्त्रार्थ—पञ्चदशाक्षरी कामराज विद्या में तीन कूट हैं। विद्वानों और आचार्यों का कथन है कि तीनों कूट उपनिषदों के महावाक्य 'तत्त्वमसि' के अर्थ का निरूपण करते हैं।

कूट त्रय और शक्ति त्रय—यद्यपि कामराज आदि द्वारा उपासिता विद्याओं में वर्णों की संख्या भिन्न-भिन्न है तथापि इन सभी विद्याओं (मन्त्रों) में तीन कूट हैं—(१) वाग्भव कूट, (२) कामराज कूट और (३) तार्तीय या शक्तिकूट। ये तीनों कूट

---

१. जन्य जनकयोः भेदाभावाद् वाचस्य वाचकेनापि।
ब्रह्मणि जगतो जगति च विद्याऽभेदोऽस्तु सम्प्रदायार्थः॥

२. परम-शिवे निष्कलता, तदभिन्नत्वं स्वदेशिकेन्द्रस्य।
तत्करुणातः स्वस्मिन्नपि तदभेदो निगर्भार्थः॥

३. साक्षाद् विद्यैवेषा न ततोभिन्ना जगन्माता।
अस्याः स्वाभिन्नत्वं श्रीविद्यायाः रहस्यार्थः॥

४. वागिन्द्रियैरगम्ये तत्त्वातीते महत्तरेऽणुत्तरे।
व्योम्नोऽप्युपरि स्थितिमति विश्वाभिन्ने चिदानन्दे॥
ब्रह्मणि परे नियोज्य स्वात्मा तदभेद सम्प्राप्त्यै
एषः महातत्त्वार्थः श्रीविद्यायाः शिवेनोक्ताः॥

'वरिवस्या रहस्य'

क्रमशः ज्ञान-शक्ति, क्रियाशक्ति और इच्छा शक्ति के वर्ण-विग्रह हैं। श्री 'श्रीचक्र' का त्रिकोण चक्र इच्छा-क्रिया और ज्ञान अथवा पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी स्वरूप हैं।

चक्र-सङ्केत—चक्र संकेत को समझने के पूर्व चक्र की संरचना और इसकी विशिष्टता को जान समझ लेना आवश्यक है। यह श्रीयन्त्र बिन्दु, त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदल, षोडशदल फिर वृत्त और उसके ऊपर तीन भूपुर से बना हुआ है। इसमें ४३ त्रिकोण, २८ मर्म और २४ संधियाँ हैं। जिस बिन्दु पर तीन रेखायें मिलती हैं, उसे मर्म और जहाँ दो रेखायें मिलती है, उसे 'सन्धि' कहते हैं।

इस 'श्रीयन्त्र' में ९ (नौ) चक्र या आवरण है। इन चक्रों के स्वरूप, उनकी पारिभाषिक संज्ञा, प्रत्येक आवरण या चक्र की ईश्वरी और प्रत्येक चक्र में पूज्य शक्तियों (देवताओं) की संख्या का विवरण निम्न तालिका में दिया गया है।

चक्र	चक्र का नाम	चक्रेश्वरी	पूज्य देवता
बिन्दु	सर्वानन्द मय चक्र	महात्रिपुर सुन्दरी	१
त्रिकोण	सर्वसिद्धिप्रद चक्र	त्रिपुराम्बा	३
अष्टकोण	सर्व रोगहर	त्रिपुरा सिद्धा	८
अन्तर्दशार	सर्व रक्षाकर	त्रिपुर मालिनी	१०
बहिर्दशार	सर्वार्थ साधक	त्रिपुराश्री	१०
चतुर्दशार	सर्वसौभाग्य दायक	त्रिपुरवासिनी	१४
अष्टदल	सर्वसंक्षोभण	त्रिपुर सुन्दरी	०८
षोडशदल	सर्वाशा परिपूरक	त्रिपुरेशी	१६
भूपुर	त्रैलोक्य मोहन	त्रिपुरा	२८

इस तालिका में जो नौ (९) चक्र बताये गये हैं, उनमें चार शिव चक्र और पाँच शक्ति चक्र हैं। बिन्दु चक्र, अष्ट दल कमल, षोडश दल कमल एवं भूपुर ये चार शिव-चक्र हैं। शेष-त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार, बहिर्दशार और चतुर्दशार-ये पाँच शक्ति चक्र हैं। ये शिव और शक्ति चक्र परस्पर संलिष्ट या सम्बद्ध हैं, जैसा कि 'ब्रह्माण्ड-पुराण' में कहा गया है—

त्रिकोणे वैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्ट दलाम्बुजम्।
दशारयोः षोडसारं भूगृहं भुवनास्रके॥

बिन्दुचक्र त्रिकोण के साथ, अष्टकोण (अष्टार) चक्र अष्टदल कमल के साथ, दोनों दशार षोडश दल कमल के साथ और चतुर्दशार भूपुर के साथ संश्लिष्ट या

सम्बद्ध है। इस तरह यह श्रीचक्र जगत् के माता-पिता शक्ति और शिव के संश्लिष्ट युग्मरूप का प्रतीक है।

जब हम संश्लिष्ट अथवा सम्बद्ध शब्द का प्रयोग करते हैं तो इनसे 'द्वित्व' की सूचना मिलती है, परन्तु शिव और शक्ति के साथ ऐसा नहीं है। वे वस्तुतः और मूलतः एक हैं, जैसा कि कहा गया है—'एक ज्योतिरभूद् द्विधा'। यह श्रुति वाक्य शिव और शक्ति की एकात्मकता और अभिन्नता को रेखांकित करता है। द्विधा—ये दोनों एक ही परम-सत्ता के दो भिन्न प्रवाह हैं। इस परम-सत्ता के चैतन्य भाव को शिव और गति 'प्रवाह' को शक्ति नाम से जाना जाता है। भगवान् शङ्कराचार्य का कथन है कि श्रीयन्त्र में शिव और शक्ति का **'पञ्चविध-साम्य'** है। (१) अवस्थान साम्य, (२) अधिष्ठान साम्य, (३) अनुष्ठान-साम्य, (४) रूप-साम्य और (५) नाम-साम्य। इस पञ्चविधि साम्य के कारण श्रीयन्त्र में शिव-दम्पत्ति का युगपत अर्चन किया जाता है।

चक्र का आविर्भाव—चक्र के आविर्भाव के सम्बन्ध में 'योगिनी हृदय' में कहा गया है—

यदा सा परमाशक्तिः स्वेच्छया विश्व-रूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत् तदा चक्रस्य सम्भवः॥

विश्वरूपिणी परमाशक्ति ने जब स्वेच्छा से अपनी स्फुरता को देखा, तब 'चक्र' का आविर्भाव हुआ। चक्र का अर्थ है चतुर्सृष्टि मय विश्वचक्र। आविर्भाव हुआ अर्थात् आविर्भाव की क्रिया प्रारम्भ हुई। महाशक्ति के गर्भ से विश्व का प्रकटन प्रारम्भ हुआ। यह 'श्रीचक्र' महाशक्ति के गर्भ से बह्मण्ड के क्रमिक आविर्भाव या प्रकटन की प्रक्रिया का पर्याय है। आइये, श्रीचक्र के माध्यम से इस प्रक्रिया को समझने की कोशिश करें।

बिन्दु-चक्र—मूल-त्रिकोण के मध्य में स्थित बिन्दु चक्र श्रीयन्त्र का प्रथम चक्र है। यह विश्व-रचना का प्रथम स्फुरण है, परम बीज है, मूल योनि है। इसे रक्त बिन्दु कहा जाता है मगर यह रक्त बिन्दु वस्तुतः श्वेत बिन्दु का वर्णान्तरित रूप है। यह श्वेत बिन्दु ही महाबिन्दु है।

महाबिन्दु—परावाक् मय परा संवित् रूप निष्कल ब्रह्म की तत्त्वातीत अवस्था का प्रतीक है यह महाबिन्दु। यह ब्रह्म की सर्वथा अनिर्वचनीय अवस्था है। इस अवस्था में महाशक्ति ब्रह्म में लीन रहती है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी अपने सूक्ष्म रूप में महाशक्ति ब्रह्म में लीन रहता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी अपने सूक्ष्म रूप में महाशक्ति

के साथ ब्रह्म में समाया रहता है। शिव और शक्ति की इस एकीभूत साम्यावस्था का प्रतीक यह बिन्दु तन्त्र में 'कामरूप पीठ' के नाम से प्रसिद्ध है।

यह महाबिन्दु जब अपने उद्गार में क्रीडामय होता है, शिव और शक्ति का एकीभूत साम्य भंग हो जाता है। शिव से शक्ति अलग हो जाती है। निष्कल ब्रह्म सकल ब्रह्म बन जाता है।

सृष्टि क्रिया—जब शक्ति ब्रह्म में लीन रहती है, उस समय की स्थिति को 'उन्मनी' अवस्था कहा जाता है। जब वह शिव से पृथक होकर सृष्टि-रचना करने की इच्छा करती है, तब उसकी स्थिति को 'समनी' कहते हैं। उन्मनी और समनी की सन्धि 'नाद' है। यही नाद आदि में प्रकट होता है और एक बिन्दु के रूप में अन्तरित होता है, इसी बिन्दु से सृष्टि क्रिया प्रारम्भ होती है।

'महाबिन्दु' में सत् की प्रधानता से दोनों मूल तत्त्व अर्थात् शिव और शक्ति सृष्टि रूप में रहते हैं। रज की प्रधानता के कारण 'नाद' में क्रिया रूप में रहते हैं। नाद और बिन्दु के एकीकरण में वे तम की प्रधानता के कारण विसर्ग की अवस्था को प्राप्त होते हैं। अत: महाबिन्दु (श्वेत बिन्दु) रक्त बिन्दु में और रक्त बिन्दु 'विराट्' रूप में अन्तरित होते हैं।

रक्त-बिन्दु—श्वेत बिन्दु या महाबिन्दु तत्त्वातीत अवस्था का द्योतक है तो रक्त-बिन्दु सम्पूर्ण विश्व का परम बीज है। यहीं से विश्व के विकास की क्रिया प्रारम्भ होती है। महा त्रिपुर सुन्दरी, ललिता, षोडशी, आदि सब इसी के नाम हैं। महाबिन्दु और रक्त बिन्दु में भेद या अन्तर यही है कि महाबिन्दु में देश-काल का सम्बन्ध लेश-मात्र भी नहीं होता जबकि अहं भाव विमर्श के कारण रक्त बिन्दु में ये सारे प्रपञ्च बीज रूप में आ जाते हैं। यही भाव समस्त विश्व की सृष्टि-स्थिति और प्रलय का कारण है। यही नाम-रूप की अव्याकृत अवस्था है। यही विमर्श शक्ति है। नागानन्द कहते हैं—'विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्व प्रकाशेन विश्वसंहारेण वा अकृत्रिमोऽहमिति स्फुरणम्। 'अहम्' का स्वाभाविक स्फुरण ही विमर्श शक्ति है, और शुद्ध अहन्ता (पूर्ण अहं भाव) ब्रह्म है, परन्तु विमर्श शक्ति रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित हुए विना आत्मा की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती। अत: 'अहम्' को विमर्श मय माना जाता है।

'अहम्' भाव-रूप शिव-शक्ति के 'अ'कार—'ह'कार और 'बिन्दु' ये तीन वर्ण हैं। 'अ'कार प्रकाश (शिव) स्वरूप है, 'ह'कार 'विमर्श' (शक्ति) स्वरूप और बिन्दु-बिन्दु स्वरूप है। इस बिन्दु में प्रकाश और विमर्श अर्थात् शिव और शक्ति की रहस्यमय साम्यता एवं चैतन्य का पूर्ण स्फुरण होता है। यही बिन्दु विश्व-चक्र का

केन्द्र बिन्दु है जिससे विश्व रूप चक्र का प्रसार होता है । इस बिन्दु में शिव और शक्ति का सम्यक् सामरस्य होने के कारण शिव और शक्ति दोनों ही चक्र रूप सृष्टि व्यापार के मूलाधार हैं तथापि माना यह जाता है कि यह विश्व शक्ति की अभिव्यक्ति है । 'यदा सा परमाशक्ति' कहकर 'योगिनी हृदय' में यही प्रतिपादित किया गया है । विश्व-चक्र के प्रवर्तन में शक्ति को प्रधान माने जाने का रहस्य महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जी की इस व्याख्या से समझा जा सकता है—

'वास्तव में शक्ति या विमर्श की ही अभिव्यक्ति होती है । प्रकाश में मात्र उपचार होता है । तत्त्व-मात्र शक्ति के स्वातन्त्र्योल्लास की ही विशेष अवस्था मात्र हैं । अत: शिव-तत्त्व भी तत्त्व होने के कारण शक्ति कोटि में परिगणित होता है । प्रकाश और विमर्श को एक प्रकार से 'परम-प्रकाश' का रूप भेद माना जाता है । शुद्ध प्रकाश तो अनुत्तर, विश्वोत्तीर्ण और तत्त्वातीत है । प्रकाश में ही विमर्श अन्तर्लीन रहता है । उनमें केवल अंश कल्पना की जाती है । 'वामकेश्वर तन्त्र' के अनुसार प्रकाश के चार अंश हैं—(१) अम्बिका, (२) वामा, (३) ज्येष्ठा और (४) रौद्री । इसी तरह विमर्श के भी चार अंश हैं—(१) शान्ता, (२) इच्छा, (३) ज्ञान और (४) क्रिया' ।

इस तरह विश्व-चक्र के आविर्भाव की हेतु शक्ति है और वह सृष्टि करने की इच्छा से बिन्दु के रूप में प्रकट होती है ।

त्रिकोण—त्रिकोण श्रीचक्र का द्वितीय चक्र है । शान्ता और अम्बिका की सामरस्य रूपा 'परा-वाक्' बिन्दु के रूप में इस त्रिकोण का केन्द्र है । यह त्रिकोण बिन्दु रूपा त्रैलोक्य प्रसविनी महाशक्ति का बहिर्मुखी विलास है । इस बिन्दु में (१) पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी, (२) वामा-ज्येष्ठा-रौद्री और (१) सतोगुण-रजोगुण एवं तमोगुण आदि त्रयी विद्या के सभी विषय समाविष्ट हैं । ये सभी विषय तीन-तीन रूपों से प्रकट होकर इस त्रिकोण की सृष्टि करते हैं । विभिन्न ग्रन्थों में इसका विस्तार से प्रतिपादन किया गया है । यथा—

अम्बिका से वामा-ज्येष्ठा और रौद्री का तथा शान्ता से इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का आविर्भाव होता है । इच्छा शक्ति वामा शक्ति से तादात्म्य करके पश्यन्ती वाक् रूप हो जाती है । ज्येष्ठा और ज्ञान से मध्यमा वाक् तथा रौद्री एवं क्रिया के सामरस्य से वैखरी वाक् का प्रादुर्भाव होता है । पश्यन्ती वाक् इस त्रिकोण की वाम रेखा, वैखरी दक्षिण रेखा और मध्यमा वाक् सरल-अग्र रेखा है ।

'प्रपञ्च-सार' और 'शारदा तिलक' के अनुसार यह बिन्दु काल पाकर तीन भागों में विभाजित हो जाता है जिन्हें क्रमश: (१) बिन्दु, (२) नाद और (३) बीज कहते

हैं। 'शारदा-तिलक' के अनुसार बिन्दु अर्थात् द्वितीय बिन्दु से रौद्री, नाद से ज्येष्ठा और बीज से वामा का आविर्भाव होता है। इनसे ही रुद्र-विष्णु और ब्रह्मा का आविर्भाव होता है। प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है और सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण पृथक-पृथक हो जाते हैं। ये तीनों गुण इच्छा आदि शक्तियों के परिवर्तित रूप हैं।

जब बिन्दु रूप परावाक् पश्यन्ती आदि कार्य बिन्दुओं के सृजन में प्रवृत्त होती है, तब इसे 'कारण-बिन्दु'—'अव्यक्त रव' कहा जाता है। यह 'रव' ही शब्द-ब्रह्म है, यही शब्द ब्रह्म कुण्डलिनी के रूप में देह में स्थित है—'स रवः श्रुति सम्पन्नैः शब्द ब्रह्मेति गीयते'।

'श्री चक्र रहस्य' के अनुसार—'त्रिकोण और महा बिन्दु एक महा यवनिका हैं। इस महायवनिका के भीतर सभी लोकों में और उनके भीतर की अव्यक्त आत्माओं में महत्-तत्त्व, महद्-अहंकार, मन, वशीकरण, राग-द्वेष आदि को व्याप्त कर सबमें पुनः पञ्च-तन्मात्राओं का संचार करती है। इससे विश्व और उसके भीतर की तद् तद् वस्तुएँ अपने-अपने कारण रूप में प्रत्यक्ष हो जाती हैं। काल-क्रम भी प्रारम्भ हो जाता है। प्रत्येक पक्ष की पन्द्रह नित्या-तिथियाँ नियुक्त हो जाती हैं जिनके नाम कामेश्वरी आदि नित्यायें हैं। सोलहवीं नित्या स्वयं महात्रिपुर सुन्दरी हैं। वे ही चौदह (१४) लोकों की स्वामिनी हैं, इसीलिये उन्हें राज राजेश्वरी कहा जाता हैं।'

(३) अष्टार—आठ कोणों से बना हुआ 'अष्टार' या 'सर्वरोगहर चक्र' श्री 'श्रीयन्त्र' का तृतीय चक्र है। सृष्टि विकास के क्रम में चित् और चैत्य का परस्पर सम्बन्ध जड़ और चेतन-इन दो भागों में विभक्त हो जाता है। शिव के चार तत्त्व (१) शिव तत्त्व, (३) शुद्ध विद्या तत्त्व, (३) ईश्वर तत्त्व और (४) सदा शिव तत्त्व चार-कोणों में और जीव के चार तत्त्व, (१) कला, (२) राग, (३) अविद्या और (४) कंचुक शेष चार कोणों में फैल जाते हैं। महाशक्ति वाशिनी-कामेश्वरी, मोदिनी-विमला-अरुणा-जयिनी-सर्वेश्वरी और कौलिनी-वाग्देवताओं के रूप में अष्टार के प्रत्येक त्रिकोण की अधिष्ठात्री होकर प्रतिष्ठित हो जाती है।

मातृका सृष्टि में जीव-चतुरस्र 'य' वर्ग (य-र-ल-व) और शिव चतुरस्र 'श' वर्ग (श-ष-स-ह) के रूप में आठ कोणों में प्रकाशित होते हैं।

यह अष्ट-कोण (अष्टार) क्रिया-शक्ति रूपी अग्नि-खण्ड है। यहाँ से अग्नि की धूमार्चि आदि दस कलायें विश्व-व्यापी होकर फैलती हैं। जीव और शिव का साम्य-भंग हो जाता है। द्वैतवाद का उत्स यही अष्टार है। माया-शक्ति चैतन्य की पूर्णता को भंग करके देश-काल तथा जीवन-मरण आदि द्वन्द्वों के प्रकट कर आत्माओं को

संसार चक्र में डाल देती है। सभी आत्मायें परस्पर एक दूसरे को स्वयं से भिन्न मानने लगती हैं। परा संवित् के परिवर्तन से सारा संसार (१) चित्, (२) चिति, (३) चित्त, (४) चैतन्य, (५) चेतना-कर्म, (६) इन्द्रिय-कर्म, (७) देह और (८) कला युक्त अष्ट भूमिकाओं से युक्त हो जाता है।

(४) अन्तर्दशार—'सर्व रक्षा कर' संज्ञक यह 'श्रीयन्त्र' का चतुर्थ चक्र है। इसमें १० त्रिकोण हैं। अष्टार से अग्नि की धूमार्चि आदि जो १० कलायें प्रसृत हुई थीं, वे महाशक्ति की सर्वज्ञा आदि दस (१०) शक्तियों के रूप में दस त्रिकोणों में फैल जाती हैं। ये दस त्रिकोण दस इन्द्रिय स्वरूप हैं। अष्ट भूमिका प्राप्त विश्व की स्वप्नवस्था के तन्मात्रा मय देह के अन्दर छिपे अवयवों को कर्म शील बनाने की तैयारी प्रारम्भ हो जाती हैं। यहाँ लिङ्ग-शरीर का प्रादुर्भाव होता है। इस चक्र में दस इन्द्रिय रूप 'ट' वर्ग और 'त' वर्ग के १० वर्ण स्थित हैं।

(५) बहिर्दशार—'सर्वार्थ साधक चक्र' नामक इस पाँचवें चक्र में भी दस (१०) त्रिकोण हैं। अन्तर्दशार क्रम में कामेश्वर-कामेश्वरी का जो तेज युग्म दस इन्द्रियों के रूप में प्रकशित हुआ था, वही इन इन्द्रियों के विषयों (अर्थात् पाँच तन्मात्रा और पाँच महाभूत) के रूप में दशधा विभक्त होकर प्रकाशित होता है।

विश्व-व्यापी प्रवर्तन के लिये महाशक्ति सर्व-सिद्धि प्रदा आदि १० शक्तियों के रूप में इन १० कोणों में और प्राण अपान आदि दस प्राण शक्तियों के रूप में विश्व में व्याप्त हो जाती है। जड़ और चेतन पूर्णतः पृथक् हो जाते हैं। पञ्च-तन्मात्राओं के आश्रय से जागृत चैतन्य का विलास प्रारम्भ हो जाता है।

इस चक्र के उत्तर और दक्षिण में जो चार 'मर्म' स्थल हैं, वे प्रकृति, अहंकार, बुद्धि और मन के प्रतीक हैं। दस इन्द्रियों, दस इन्द्रिय विषयों और इन चार तत्त्वों के द्वारा महाशक्ति की सूक्ष्म लीला स्थूल रूप ग्रहण करती हैं। सूर्य की तपिनी-तापिनी आदि बारह (१२) कलायें महाशक्ति की लीला को स्थूल रूप प्रदान करती हैं।

बहिर्दशार रूपी यह विभाजन विश्व का स्वप्नमय जागृत भाव है। इसे स्थिति चक्र, सौर-खण्ड और जागरात्मक प्रमाणपुर कहते हैं। इनमें स्थित 'क' वर्ग और 'च' वर्ग के १० वर्ण दस इन्द्रियों आदि और 'प' वर्ग के चार व्यंजन प्रकृति आदि बिन्दुओं के प्रतीक है।

(६) चतुर्दशार—चतुर्दश त्रिकोणों वाले इस चक्र में कामेश्वर और कामेश्वरी का तेजो-पुंज सर्व-संक्षोभिणी आदि १४ शक्तियों के रूप में विभक्त होकर पूजित होता हैं। ये शक्तियाँ दस इन्द्रियों और अन्तःकरण चतुष्टय के साथ करणों में वास करती हैं। यह चक्र 'अ' से अः तक १६ स्वर-मय है।

विश्व के सृजन के लिये ब्रह्मा की सृष्टि आदि दस कलाओं का आविर्भाव इस चक्र में होता है। चतुर्दश-भुवनात्मिका महामाया १४ त्रिकोण बिन्दुओं में विभक्त होकर पिण्डीकरण की १४ मुख्य नाडियों का संचार करती हैं। पिण्ड (शरीर) की पूर्ण क्रियाशीलता के लिये इन १४ नाडियों से बहत्तर हजार नाडियाँ शाखा-प्रशाखा के रूप में निकलती हैं।

(७) अष्ट-दल-कमल—सर्व संक्षोभण संज्ञक यह 'श्रीयन्त्र' का सप्तम चक्र है। चतुर्दशार चक्र तक अनुस्वार और विसर्ग (अं अ:) तक की पूर्ण मातृका सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ था। अष्ट दल कमल से विसर्ग का बहिर्भाव प्रारम्भ होता है। कामेश्वर-कामेश्वरी का तेजो-युग्म बुद्धि के आठ भेदों (१) वचन, (२) आदान, (३) गमन, (४) विसर्ग, (५) आनन्द, (६) हान, (७) उपेक्षा और (८) उपादान की अधिष्ठात्री अनंग-कुसुमा आदि अष्ट शक्तियों के रूप में अन्तरित हो जाता है।

(८) षोडश-दल-कमल—इस षोडश दल चक्र में आते ही महाशक्ति अपनी अनेक शक्तियों से युक्त होकर भौतिक पदार्थों का आविर्भाव करती हुई सम्पूर्ण विश्व को स्थूल रूप में परिणत कर देती है। व्यष्टि और समष्टि के शरीर त्रय (कारण-लिंग और स्थूल) का निर्माण होता है और अन्तत: जीव और शिव का साम्य पूर्ण रूप से भंग होकर सृष्टि व्यापार प्रारम्भ हो जाता है। इस चक्र में कामेश्वर और कामेश्वरी के तेजो-मिथुन की पूजा कामाकर्षिणी आदि षोडश शक्तियों के रूप में होती है। चूँकि इन शक्तियों के अर्चन से समस्त आशायें पूर्ण होती हैं, अत: इस चक्र को 'सर्वाशा परिपूरक चक्र' कहा जाता है।

(९) भूपुर—षोडश दल के बाहर तीन वृत्तों से परे चार दिशायें हें। इनकी सीमा के लिये तीन रेखाओं से युक्त भूपुर या चतुरस्र है जो चौदह लोकों की सीमा का सूचक है।

'मातृका चक्र विवेक' में भूपुर को गङ्गा और यमुना का सङ्गम रूप 'प्रयाग' कहा गया है जहाँ चित् और चैत्य रूपी दो नदियाँ मिलती हैं। इसका अर्थ यह है कि यह भूपुर जड़ और चेतन अथवा शिव और जीव दोनों की समष्टि है। ब्रह्म में लीन विश्व को साकार और स्थूल रूप में प्रस्तुत करके यहाँ महाशक्ति अपने शुद्ध प्रकाश को अन्तर्लीन कर लेती है।

भूपुर की प्रथम-द्वितीय और तृतीय रेखा पर कामेश्वर और कामेश्वरी का तेजो रूप क्रमश: अणिमा आदि १० सिद्धियों, ब्राह्मी आदि अष्ट मातृकाओं और सर्व-संक्षोभिणी आदि १० चक्रस्थ मूल-शक्तियों के रूप में अर्चित होता है।

सृष्टि-क्रम के अनुसार 'श्रीयन्त्र' के ९ चक्र बिन्दु से प्रारम्भ होकर भूपुर में समाप्त हो जाते हैं, जिनका अत्यन्त सामान्य निदर्शन पिछले पृष्ठों में किया गया है।

संहार या लय क्रम के अनुसार श्री यन्त्र के ९ चक्र (भूपुर से बिन्दु चक्र पर्यन्त) जीव की जाग्रत आदि अवस्था से लेकर मोक्ष पर्यन्त दशाओं के ज्ञापक हैं। इसके अनुसार भूपुर-जाग्रत अवस्था, षोडश दल कमल-स्वप्नावस्था, अष्टदल कमल-सुषुप्ति अवस्था, चतुर्दशार-ईश्वर-विचार, बहिर्दशार-गुरुप्राप्ति, अन्तर्दशार-श्रवण, अष्टार-मनन, त्रिकोण-निदिध्यासन और बिन्दु सविकल्प समाधि के अभिव्यञ्जक हैं।

उच्च-कोटि के साधक अपने शरीर में 'श्री चक्र' की भावना करते हैं। तदनुसार ब्रह्म-रन्ध्र में बिन्दु-चक्र की, मस्तक में त्रिकोण की, ललाट में अष्टार की, भ्रमूध्य में अन्तर्दशार की, कण्ठ में बहिर्दशार की, हृदय में चतुर्दशार की, कुक्षि में वृत्त की, नाभि में अष्ट दल कमल की, कटि में अष्टदल के बाहर वाले वृत्त की, स्वाधिष्ठान में षोडश दल कमल की, मूलाधार में षोडश दल के बाहर वाले तीन-वृत्तों की, जानु में भूपुर की प्रथम रेखा की, जंघा में द्वितीय रेखा की और पैरों में तृतीय रेखा की भावना की जाती हैं। 'योगिनी-हृदय' में कहा गया कि जो साधक यह जानता है कि यह श्रीचक्र पिण्डात्मक और ब्रह्माण्डात्मक है, वह योगीन्द्र है, शिव, विष्णु और ब्रह्मा के समान है—

त्रिपुरेशी महा-यन्त्रं, पिण्डाण्डात्मकमीश्वरि।
यो जानाति स योगीन्द्रः, शम्भुःसः हरिर्विधिः॥

तत्त्व-विवेचन—प्राचीन भारतीय दर्शन और आधुनिक-विज्ञान-दोनों की मान्यता है कि विश्व का निर्माण तत्त्वों से हुआ है। परन्तु तत्त्व की परिभाषा और उनकी संख्या के बारे में उनमें बहुत मतभेद हैं। आधुनिक-विज्ञान जिन्हें तत्त्व मानता है, भारतीय-दर्शन की दृष्टि में वे तत्त्व नहीं है। 'तत्त्व' का लक्षण-निरूपण करते हुए 'सूत-संहिता' में कहा गया है कि 'जो भी भोग्य-पदार्थ अथवा भोग के साधन अथवा भोग के निमित्त (कारण) अथवा भोक्ता प्रलय काल पर्यन्त वर्तमान् रहते हैं, वे सब तत्त्व हैं'

आप्रलयं यत्तिष्ठन्ति, सर्वेषां भोग-दायि भूतानाम्।
तत् तत्त्वमिति प्रोक्तं, न शरीर घटादि तत्त्वमतः॥

जहाँ तक तत्त्वों की संख्या का प्रश्न है, प्राचीन-ऋषियों और शास्त्रों में भी मतैक्य नहीं है। न्याय शास्त्र १६, सांख्य २५, वैशेषिक ७, अद्वैत वेदान्त १, द्वैतवादी वेदान्त २, विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्त ३ तत्त्व मानते हैं परन्तु शैव-शाक्त मान्यताओं के अनुसार तत्त्वों की संख्या ३६ है और वे (१) शिव, (२) विद्या और (३) आत्मा इन तीन वर्गों में वर्गीकृत हैं।

शिव-तत्त्व—इस वर्ग में (१) शिव, (२) शक्ति, (३) सदाशिव, (४) ईश्वर और (५) शुद्ध-विद्या ये ५ तत्त्व हैं।

विद्या-तत्त्व—इस वर्ग में (१) माया, (२) कला, (३) विद्या, (४) राग, (५) काल, (६) नियति और (७) पुरुष- ये ७ तत्त्व हैं।

आत्म-तत्त्व—इस वर्ग में कुल २४ तत्त्व हैं। इनके नाम हैं—(१) प्रकृति, (२) मन, (३) बुद्धि, (४) अहंकार, (५) श्रोत, (६) त्वक्, (७) चक्षु, (८) जिह्वा, (९) घ्राण, (१०) वाक्, (११) पाणि, (१२) पाद, (१३) पायु, (१४) उपस्थ, (१५) शब्द, (१६) स्पर्श, (१७) रूप, (१८) रस, (१९) गन्ध, (२०) आकाश, (२१) वायु, (२२) तेज, (२३) जल और (२४) पृथ्वी।

प्रकाश, चेतना, आनन्द और जड़ता आदि की मात्रा की दृष्टि से इन्हें क्रमश: शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध कहा जाता है। चूँकि शिव तत्त्व केवल प्रकाश की श्रेणियाँ हैं, सर्वथा चैतन्य एवं आनन्दमय हैं अत: इन्हें 'शुद्ध-तत्त्व' कहा जाता है।

यद्यपि विद्या तत्त्वों में किंचित जड़ता है, परन्तु वे स्थूल नहीं है, पारदर्शी हैं और प्रकाश का प्रतिबिम्ब डालने में समर्थ हैं, अत: इन्हें 'शुद्धाशुद्ध' कहा जाता है। आत्म-वर्गीय तत्त्व सर्वथा जड़ और स्थूल हैं, अत: 'अशुद्ध' हैं।

इन ३६ तत्त्वों की गणना अर्थ-सृष्टि के रूप में की जाती हैं। शाक्तों की मान्यता है कि जिस तरह 'परा-वाक्' शब्दों की जननी हैं, उसी तरह वह अर्थ रूप इन ३६ तत्त्वों की भी जननी है। इसलिये श्रीविद्या के साधक के लिये शब्द-सृष्टि के साथ अर्थ सृष्टि रूप इन तत्त्वों के उद्‌भव और विकास का भी परिज्ञान आवश्यक है।

'श्रीचक्र' निरूपण के प्रसंग में पिछले पृष्ठों में यह कहा जा चुका है कि शुद्ध प्रकाश और विमर्श रूप होने के कारण शिव और शक्ति में संकल्प विकल्प का अभाव है। अत: सृष्टि प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिये इनसे सदाशिव-ईश्वर और शुद्ध विद्या संज्ञक तीन शुद्ध तत्त्वों का आविर्भाव होता है। इसका निरूपण करते हुए सर जान वुडरफ ने लिखा है—

'शिव-तत्त्व में 'अहम्' विमर्श होता है, सदाशिव तत्त्व में 'अहमिदम्' और 'ईश्वर' तत्त्व में 'इदमहम्' विमर्श होता है। इनमें से प्रत्येक स्थल में प्रथम पद की प्रधानता होती है।[१]

---

१. In Siva tattava, there is the "I-expeerience (Aham-Vimars) In Sadasiva the "I-this" experience (Aham. Idam) and in Iswara tattva—'This i' experience (idam-aham). In each case stress in laid on the first term. Garland of latters (the Tattavas')

अहं-इदम्—शिव चेतन तो हैं मगर उन्हें अपनी चैतन्यता और अपने प्रकाश-स्वरूप का सम्यक् ज्ञान नहीं है। अपनी शक्ति रूपी दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान और परिपूर्णता का बोध होता है। यह शिव स्वरूपता ही 'अहम्' है तथा अहन्ता (I-ness) शिवस्वरूपता का ज्ञापक एवं बोधक है।

अपनी साम्य-अवस्था में चूँकि शिव और शक्ति में संकल्प और विकल्प का सर्वथा अभाव है, अत: वे केवल 'अहमस्मि' हैं, पूर्ण अहन्ता स्वरूप है, तथा उनमें इदन्ता (This-ness) का सर्वथा अभाव है। यह उनकी युगपत् तथापि अभेदावस्था है। सृष्टि के विकास-क्रम में भेदावस्था का अंकुरण जिस अवस्था से होता है वह है सदा-शिव अवस्था या तत्त्व।

'सदाशिव' तत्त्व अहम् इदम् स्वरूप है। इस तत्त्व में प्रथम पद अर्थात् 'अहम्' प्रधान है, 'इदम्' अत्यन्त गौण है। यहाँ 'इदन्ता' का परामर्श 'अहन्ता' के परामर्श से आच्छादित है। इस भूमि में 'इदन्ता' अंकुरायमाण अवस्था में हैं। सृष्टि के विकास-क्रम का प्रथम सोपान होने के कारण इसे 'सादाख्य-तत्त्व' भी कहा गया है। 'सृष्टि क्रमोपदेशादौ प्रथममुचितं तत् सादाख्य तत्त्वम्।' (ई.प्र. विमर्शिनी)

ईश्वर-तत्त्व—सदाशिव तत्त्व की अवस्था में अहम् प्रधान था, 'इदम्' गौण। ईश्वर तत्त्व की अवस्था में वही 'इदम्' विमर्श पूर्णत: अंकुरित होकर प्रस्फुटित हो जाता है। यह तत्त्व विश्व के उन्मेष का ज्ञापक है। (यस्योन्मेषादुदयो जगत: इत्यत्र ईश्वर तत्त्वमेवोन्मेष शब्देनोक्तम्)

शुद्ध-विद्या—ईश्वर दशा में जो 'इदम्' विमर्श अंकुरित और प्रस्फुटित हुआ था, शुद्ध-विद्या अवस्था में वह 'अहन्ता' के बराबर हो जाता है। इस अवस्था में यद्यपि 'अहन्ता' और 'इदन्ता' एक ही अधिकरण पर समतुल्य रहते हैं परन्तु उनमें भेद नहीं होता। 'सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेद:।' शिव और शक्ति के भेदाभेद स्तर की यह अन्तिम अवस्था है। इसके बाद भेद और द्वैत प्रारम्भ हो जाता है।

माया—माया भगवान् शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति है। यह स्वतन्त्र है। शुद्ध-विद्या और माया में अन्तर यह है कि जहाँ शुद्ध-विद्या अभेद दृष्टि की पोषिका है, वहीं माया भेद-दृष्टि की पोषिका है। शुद्ध-विद्या अवस्था में जो अहन्ता और इदन्ता एक ही अधिकरण पर समतुल्य और भेद रहित थे, उन्हें यह पृथक-पृथक कर देती है। इस अवस्था से पुरुष रूप में शिव का अवस्थान्तर प्रारम्भ होता है। 'अहं' से पुरुष और 'इदम्' से प्रकृति का उद्‌भव होता है।

पञ्च-कञ्चुक—शिव की पाँच शक्तियाँ हैं। (१) सर्व कर्तृत्व शक्ति, (२) सर्वज्ञता शक्ति, (३) नित्य तृप्तता शक्ति, (४) नित्यता शक्ति और (५) सर्व व्यापकता शक्ति। माया के प्रभाव से जब शिव की इन शक्तियों में संकोच होता है, तब उस संकुचन के फलस्वरूप क्रमशः (१) कला, (२) विद्या, (३) राग, (४) काल और (५) नियति, संज्ञक पाँच तत्वों का आविर्भाव होता है। इन तत्त्वों को 'पञ्च-कञ्चुक' कहा जाता है क्योंकि इनसे आकुंचित होकर शिव ही पुरुष या जीव बन जाता है। 'प्रत्यभिज्ञा हृदय' में कहा गया है—

'......सर्व कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व शक्तय: सङ्कोचं गृह्यमाना यथा क्रमं कला, विद्या, राग, काल, नियति रूपतया भान्ति'।

(१) कला—सर्व-कर्तृत्व अर्थात् सब कुछ कर गुजरने की क्षमता या शक्ति। यह भगवान् शिव की अनन्त-क्रिया शक्ति की विभूति है। इसमें संकोच होने पर 'कला' तत्त्व का उदय होता है। 'कला' का शाब्दिक अर्थ है—अंश या भाग। इस तत्त्व के प्रभाव वश सर्व सक्षम शिव अल्प-सक्षम हो जाते हैं।

विद्या—सर्वज्ञता शक्ति के संकोच से सर्वज्ञ-शिव अल्पज्ञ हो जाते हैं।

राग—'राग' का अर्थ है लालसा कामना। लालसा या कामना से अभाव और अतृप्ति की सूचना मिलती है। शिव पूर्ण हैं, नित्य-तृप्त हैं। अपनी नित्य तृप्तता में संकोच के फलस्वरूप वे 'अतृप्त' हो जाते हैं। यही राग है जिसके कारण अतृप्त शिव नाना प्रकार की कामनायें करने लगते हैं।

काल—नित्यता अर्थात् सर्व-कालिकता संकुचित होकर 'काल' अर्थात् खण्ड-काल तत्त्व को जन्म देती है। नित्यता एक निश्चित कालखण्ड में सीमित हो जाती है।

नियति—नियति का अर्थ भाग्य या तकदीर नहीं, अपितु किसी देश या क्षेत्र में नियत या आबद्ध हो जाना है। सर्व-व्यापकता संकुचित होकर एक-देशीय हो जाती है।

इन कंचुकों के कारण 'शिव' को 'पुरुष' अवस्था प्राप्त होती है। माया + पञ्च कञ्चुक़ + पुरुष—शुद्धाशुद्ध वर्ग के ये ७ तत्व हैं। सर्व कर्तृत्व आदि शक्ति-पञ्चक में आकुञ्चन के फलस्वरूप जीव के बन्धनकारी तीन 'मल' उत्पन्न होती हैं।

अप्रतिहत स्वातन्त्र्य रूपा इच्छा शक्ति संकुचित होकर 'आणव-मल' बन जाती है। स्वतन्त्र होने पर भी 'जीव' स्वयं को अणुवत एवं विवश समझने लगता है। यह 'आणव-मल' है। ज्ञान-शक्ति में संकोच के कारण एक ही अद्वैत पदार्थ में द्वैत

एवं भेद बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, यह 'मायीय-मल' है। क्रिया शक्ति की सर्व कर्तृत्व क्षमता संकुचित होकर अल्प कर्तृत्व क्षमता बनकर कर्मेन्द्रियों में ही परिमित हो जाती है। यही 'कार्म-मल' है।

इन तीन मलों से आच्छन्न शिव ही जीव हैं। इसलिये 'परशुराम कल्प-सूत्र' में कहा गया है—शरीर कञ्चुकितः शिवो जीवः निष्कञ्चुकः परम-शिवः'। (१/१५) शरीर द्वारा आच्छादित शिव ही जीव है और अनाच्छादित जीव ही शिव है। यह शरीर उक्त मलों का परिणाम है।

आत्म या अशुद्ध तत्त्व—इस वर्ग के २४ तत्त्वों में प्रथम है 'प्रकृति तत्त्व'। प्रकृति है सतो आदि गुण-त्रय की साम्यावस्था। जब तक ये गुण साम्यावस्था में रहते हैं, सृष्टि रूप कार्य अव्यक्त रहता है। उनकी इस साम्यावस्था में क्षोभ होने पर गुण-त्रय की परम्परा प्रारम्भ होती है, और सृष्टि के व्यक्त रूप का आविर्भाव होता है। इन गुणों का मूल क्या है ? **ये तीनों गुण इच्छा आदि शक्ति त्रय के ही अन्तरित रूप हैं। इच्छा शक्ति रजो गुण है। ज्ञान शक्ति-सतोगुण हैं। क्रिया शक्ति तमोगुण हैं। इन गुणों से विश्व का विकास हुआ है।**

गुण त्रयात्मिका प्रकृति से मन, बुद्धि और अहंकार रूप अन्तःकरण का उदय होता है। **क्रिया शक्ति प्रधान तमो गुण से मन का, ज्ञान-शक्ति प्रधान सतोगुण से बुद्धि का और इच्छा शक्ति प्रधान रजोगुण से अहंकार का उद्‌भव होता है**। जैसा कि 'षट्-त्रिंशत् सन्दोह' से ध्वनित होता है—

इच्छास्य रजोरूपाऽहंकृतिरासीदहम्प्रतीत करी ॥१४॥
ज्ञानमपि सत्त्वरूपा निर्णय बोधस्य कारणं बुद्धिः।
तस्य क्रिया तमोमयर्मूतिर्मनः उच्च्यते ॥१५॥

इन गुणों का उदय हो जाने पर इनसे पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच तन्मात्राओं और पाँच महाभूतों का उद्‌भव होता है। शरीर में पञ्च महाभूतों की स्थिति, उनके गुण एवं कार्य निम्न तालिका से स्पष्ट हैं—

नाम	तन्मात्रा	इन्द्रिय	गुण या कार्य	बीजाक्षर
आकाश	शब्द	कान	राग, द्वेष, लज्जा, भय एवं मोह	हं
वायु	स्पर्श	त्वक्	दौड़ना, चलना, ग्रन्थि, स्राव	यं
अग्नि	रूप	नेत्र	क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, कान्ति, आलस्य	रं
जल	रस	जिह्वा	वीर्य, रक्त, मज्जा, मूत्र, लार	वं
पृथ्वी	गन्ध	घ्राण	अस्थि, मांस, नाड़ी, रोमावली	लं

आधुनिक-विज्ञान और श्रीयन्त्र—उपर्युक्त परिच्छेदों में पिण्ड और ब्रह्माण्ड के साथ 'श्रीयन्त्र' की साम्यता और समरूपता का तथा उनके युगपत उद्भव और विकास का जो संक्षिप्त और सूत्रात्मक विवरण दिया गया है, वह न तो 'श्रीयन्त्र' का 'पण्डिताऊ' महिमा-मण्डन है और न महज पौराणिक कल्पना। यह आधुनिक-विज्ञान की कसौटी पर परखा हुआ यथार्थ है। विडम्बना यह है कि जिस देश ने विश्व को 'श्रीयन्त्र' के ज्ञान का अवदान दिया, उस देश के कथित प्रगतिशील और प्रबुद्ध जनों ने न तो इसकी महत्ता को समझा और न इसकी ओर ध्यान दिया। इस पर शोध किया अतिशय घोर नास्तिक देश सोवियत-रूप के वैज्ञानिकों ने और उन्हें श्रीयन्त्र की महत्ता स्वीकार करनी पड़ी। मास्को विश्वविद्यालय के भौतिक-विज्ञान और गणित-शास्त्र के शोधकर्ता एवं वैज्ञानिक श्री अलेक्सेई कुलाइचेव ने अनेक वर्षों तक शोध के उपरान्त कहा—

'इस दुर्लभ ज्यामितीय रेखाकृति (श्रीयन्त्र) का प्राचीन ज्यामितीय एवं दार्शनिक शिक्षा से गहरा सम्बन्ध है। यह श्रीयन्त्र आधुनिक प्रकृति-विज्ञान के तथ्यों की समरूपता को उजागर करता है। ब्रह्माण्ड के सार्वभौमिक सिद्धान्तों के साथ 'श्रीयन्त्र' की आश्चर्यजनक सन्निकटता है।'

मास्को विश्व-विद्यालय के ही एक अन्य प्राच्य विद डा. देगा-दे-ओपिक ने भी वर्षों श्री यन्त्र का अध्ययन किया। उनका कहना है कि—

'श्री यन्त्र में ऐसे पेचीदे गुण-धर्म हैं जो आधुनिक विज्ञान के लिये भी समस्या प्रस्तुत करते हैं। विशेष रूप से ब्रह्माण्ड के उद्भव, तिथि-निर्धारण, संसृति-विज्ञान और मानव-विज्ञान की अवधारणाओं के साथ इसके सम्बन्ध का विश्लेषण ऐसी पहेली है, जिसे सुलझाने के लिये इतिहासकारों मानव-शास्त्रियों और गणितज्ञों के संयुक्त प्रयास की आवश्यकता है।'

सोवियत वैज्ञानिकों से इतनी महत्वपूर्ण और अद्यतन जानकारी मिलने के बाद भी भारत के किसी विश्व विद्यालय अथवा अनुसन्धान संस्थान में 'श्रीयन्त्र' का गम्भीरता पूर्वक अनुसन्धानात्मक अध्ययन नहीं किया गया। कारण स्पष्ट है। इस देश के कथित प्रगतिशील और बुद्धिजीवी अपनी जमीन से, अपनी भाषा से और अपने गौरवमय अतीत से कटे हुए हैं।

'श्री यन्त्र' और श्रीविद्या पर आध्यात्मिक और वैज्ञानिक अध्ययन तो नहीं हुआ, परन्तु प्रचार बहुत हुआ। इस प्रचार का श्रेय माला-मुन्दरी के सौदागरों और उन स्वयम्भू गुरुओं को है, जिन्हें तन्त्र के ककहरे का भी ज्ञान नहीं है। अगर होता तो

वे हर दुकानदार को व्यापार बढ़ाने के लिये श्रीयन्त्र का पोस्टर लगाने की प्रेरणा नहीं देते। तन्त्र-ग्रन्थों में साफ लिखा है—

'जिसे पुत्र, पौत्र आदि की ममता हो, वह घर की दीवार पर, वस्त्र या फलक पर कोई यन्त्र स्थापित न करे'।[1]

'किसी काष्ठ फलक या घर की दीवार पर यन्त्र को स्थापित करने या लटकाने से पुत्र, पौत्र, धन, धान्य और आयु का नाश होता है।[2]

मन्त्र-दीक्षा और मन्त्र-जप वैखरी वाणी के विषय नहीं है। वैखरी वाणी में मन्त्र-जप करने से प्रत्यवाय होता है और व्यक्ति को इसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है। इसके बावजूद इन स्वयम्भू गुरुओं की मन्त्र-दीक्षा और मन्त्र-साधना की तिजारत लाउडस्पीकर पर चल रही है। खैर!

ज्ञानार्णव और कुलाचार—यद्यपि ज्ञानार्णव-तन्त्र में कुलाचार पद्धति का स्पष्ट निरूपण नहीं है, परन्तु उसमें अन्तर्निहित प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि यह कुलाचार-परक ग्रन्थ है। इसीलिये इसके १७वें पटल में ब्रह्म हत्या जैसे जघन्य पापों से मुक्ति और परम-पद पाने के लिये कुलाचार-विधि से साधना करने का निदेश देकर मनो-आध्यात्मिक दृष्टि से कुलाचार की श्रेष्ठता और दिव्यता को रेखांकित किया गया है।

कुलाचार-मीमांसा—पुराणों और स्मृतियों में यथा प्रतिपादित धार्मिक मान्यताओं के अनुसार मद्य-मांस और मीन सर्वथा निषिद्ध और गर्हित हैं। इन्हें देखने और छूने से भी पाप लगता है। इनके सेवन से आत्मा का अध:पतन होता है। कुलाचार वाममार्गीय साधना का अन्तिम सोपान हैं। वाम-मार्गीय साधना में इन्हीं द्रव्यों को देवता के अर्चन के लिये प्रशस्त एवं अनिवार्य उपचारों के रूप में स्वीकार किया गया है। अत: न केवल पुराणों में अपितु अनेक तन्त्र-ग्रन्थों में वाम-मार्ग की कटु आलोचना की गई है। इसे वेद वाह्य और अवैदिक घोषित किया गया है। आलोचना के 'मर्म' को समझे विना, वाममार्ग कीं निन्दा करना कालान्तर में एक फैशन बन गया।

---

१. न भित्तौ तथा पट्टे, स्थापयेद् यन्त्रं ईश्वरि!
यस्य वै ममता देवि! पुत्र-पौत्र गृहादिषु॥

२. फले भित्तौ तथा पट्टे, स्थापयेद् यन्त्रं ईश्वरि!
धन धान्य पुत्र पौत्र, यश-आयूंषि मुञ्चति॥

(श्रीवृहत् तन्त्रसार में यथा उद्धृत)

एक ओर पुराणों आदि में यह तुमुल विरोध था तो दूसरी ओर छद्म कुलाचारियों ने अपने आडम्बर युक्त घृणित क्रिया-कलापों से समाज के समक्ष वाममार्गी साधना की अत्यन्त विकृत और गर्हित छवि प्रस्तुत करके इसके वास्तविक स्वरूप पर कालिख पोत दी । परिणाम यह हुआ कि समाज में वामाचारी साधना को निर्द्वन्द्व और उन्मुक्त रूप से मद्य-मांस भक्षण और व्यभिचार का पर्याय समझा जाने लगा । इतने तुमुल विरोध के बावजूद वामाचारी साधना का क्रम आज भी जीवन्त है । इसकी इस जीवन्तता के रहस्य को समझने के लिये इस पर पड़े मिथ्या कुहासों के आवरण को हटाना आवश्यक है ।

एतदर्थ यह जानना आवश्यक है कि मद्य-मांस प्रभृति द्रव्यों के बारे में कुल-शास्त्रों का विचार क्या है ? क्या वे इन द्रव्यों के उन्मुक्त सेवन के पक्षधर हैं ? यदि नहीं तो उन्होंने देव-अर्चन के लिये इन्हें प्रशस्त क्यों माना है ?

'कुलार्णव-तन्त्र' कुलाचारी साधना का आधार-ग्रन्थ है । क्या उस ग्रन्थ में मकार पञ्चक द्रव्यों के निर्बाध-सेवन की अनुमति है ? जी नहीं । द्वितीय उल्लास (श्लोक संख्या १२९) में साफ-साफ कहा गया है—

'मद्य का सेवन तो दूर इसे देखने और सूंघने से भी पाप लगता है । इस पाप का प्रायश्चित यह है कि मद्यप के गले में इतनी गर्म शराब उंडेली जाये कि उसका गला ही जल जाये' ।

इसी तरह मांस को देखने और छूने से होने वाले पापों का भी प्रायश्चित् विधान बताया गया है । पशु-वध को गर्हित बताते हुए कहा गया है कि स्वयं खाने के लिये अथवा दूसरों को मांस खिलाने के लिये पशु का वध करने पर पशु-घातक को उतने जन्मों तक पशु-योनि में जन्म लेना पड़ता है जितने कि वध किये गये पशु के शरीर में बाल होते हैं । यह बात अनेक तन्त्र-ग्रन्थों में कही गई है । यथा-शक्ति-संगम तन्त्र (तारा खण्ड २१/५१)

आत्मार्थं परार्थं वा पशून् हत्वा पशुर्भवेत् ।
यावन्ति तस्य रोमाणि, तावद् योनिमवाप्नुयात् ॥

इससे स्पष्ट है कि वाम-मार्ग न तो मद्य-मांस भक्षण तक सीमित है और न ही वह इन्हें इनके प्रकृत रूप में सिद्धि और मुक्ति का उपाय मानता है । इसीलिये कुलार्णव तन्त्र (२/११७-११९) में कहा गया है—

'यदि मद्य पान करने से सिद्धि मिलती है तो सारे मद्यप सिद्ध हैं । यदि मांस खाने से पुण्य होता है तो सभी मांस भक्षी पुण्यात्मा हैं । यदि स्त्री-सम्भोग से मुक्ति मिलती

है तो सभी प्राणियों को मुक्त समझना चाहिये, क्योंकि यह कार्य तो सभी करते हैं' । इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि वाम-मार्ग मूलक कुलाचार मद्य एवं मांस सेवन के सम्बन्ध में पुराणों और स्मृतियों द्वारा स्थापित मान्यताओं एवं वर्जनाओं का सर्वथा विरोधी नहीं है, फिर भी उसने इन द्रव्यों को देवता के अर्चन के लिये उपचार के रूप में अंगीकार किया है । इसके विशिष्ट कारण हैं । इन कारणों का ज्ञान शाक्त-सम्प्रदाय के सोपान-बद्ध साधना-क्रम के अनुशीलन से ज्ञात होता है । भाव और आचार पर आधारित इस साधना-क्रम का निदर्शन पिछले पृष्ठों में किया गया है । इस साधना-क्रम में प्रयुक्त 'भाव' शब्द आत्मोन्नति के क्रम में ज्ञान की विशिष्ट भूमिका तथा संसार के प्रति मन के रागात्मक और भावनात्मक लगाव और अथवा उदासीनता का ज्ञापक है ।

पशु- भाव—अपनी सहज अवस्था में मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से पशुवत् होता है । पशु के समान ही उसकी देहात्म बुद्धि होती है । सुखोपभोग की लालसा और भय इसके प्रधान लक्षण हैं । सांसारिक सुखोपभोग की लालसा उद्दाम होकर इसे उच्छृंखल और आचरण हीन बनाती है । अतएव इस पर नियंन्त्रण पाने के लिये तथा साथ ही आचरण और कर्म की शुद्धता के लिये व्यक्ति को शास्त्र-विहित बहु-विध विधि और निषेधमय अनुशासन का दृढ़ अभ्यास कराया जाता है । वैष्णवाचार, वेदाचार, शैवाचार और दक्षिणाचार को पशु-भाव के अन्तर्गत माना गया है । इन चारों ही आचारों में पशु-हिंसा, मांस-भक्षण-मद्य-सेवन सर्वथा निषिद्ध है । ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है । इन बुनियादी नियमों के साथ यथा-विहित अन्य नियमों और अनुदेशों के अनुसार साधक को आत्मोन्नति के लिये इष्ट साधना में अग्रसर होना पड़ता है ।

भाव-सिद्धि—उपर्युक्त आचार-चतुष्टय का क्रम-क्रम से आश्रय लेकर साधना करते करते साधक एक नये भाव-लोक में पहुँच जाता है । साधना की प्रारम्भिक अवस्था में उपास्य और उपासक के मध्य जो द्वैत-भावना थी, उसका निरसन होने लगता है । अनुशासन के दृढ़ अभ्यास के कारण उसमें यह आत्म-विश्वास बढ़ने लगता है कि वह काम और लोभ आदि रिपुओं के प्रहार से अपनी रक्षा करने में सक्षम होता जा रहा है । भय से मुक्ति, आत्म-विश्वास, उत्साह एवं संकल्प शक्ति में वृद्धि, देव-कृपा की अनुभूति, मनोनिग्रह एवं आत्म-संयम का विकास तथा आत्म-स्वरूप प्राप्त करने की ललक पशु-भाव की सिद्धि है । पशु भाव सिद्ध हो जाने पर शाक्त साधक वीर भाव में पदार्पण करता है ।

वीर-भाव—वीर-भाव शाक्त साधक के आत्म संयम और संकल्प शक्ति की परीक्षा भूमि है। सुखोपभोग की इच्छा से मद्य-मांस-मीन-मुद्रा (स्वादिष्ट व्यंजन) और मैथुन के सेवन से आत्मा का अध: पतन होता है तथापि देहात्म बुद्धि से उद्भूत भोग-प्रवृत्ति के लिये ये वस्तुयें सर्वाधिक प्रलोभनकारी हैं। इनमें से प्रथम चार का सम्बन्ध रसना (जीभ) और पाँचवें का सम्बन्ध उपस्थ से है। रसना और उपस्थ—ये ही प्रमुख भोग इन्द्रियाँ हैं। सांसारिक सुखोपभोग में अन्य इन्द्रियों की भूमिका गौण है, वे इसमें सहायक-मात्र हैं। अत: पशु-भाव की अवस्था में साधक को इन वस्तुओं से परहेज और घृणा का अभ्यास कराया गया था।

वीराचारी साधना में अर्चन का समय और पूजा के उपचार बदल जाते हैं। पशु-भाव की अवस्था में मद्य-मांस आदि जिन वस्तुओं से घृणा करने का अभ्यास कराया गया था, वे ही द्रव्य वीराचारी साधना में पूजा के उपचार बन जाते हैं। इस अवस्था में वीराचारी साधक इन वस्तुओं के प्रति बरसों से घनीभूत घृणा से मुक्त होकर यथा-विधि इन द्रव्यों का संस्कार करके इन्हीं संस्कृत द्रव्यों से गुरु-मण्डल, आनन्द-भैरव एवं आनन्द-भैरवी तथा अपने इष्ट-देवता का सपरिवार पूजन-तर्पण करता है। तत्पश्चात् देवता के प्रसाद के रूप में इन्हें आदरपूर्वक ग्रहण करता है, परन्तु प्रसाद के रूप में ग्रहण करते समय भी साधक को लालच नहीं करना चाहिये।

दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि वीराचारी साधना क्रम में वीर-साधक को अर्चन-उपचार के रूप में मद्य-मांस प्रभृति द्रव्यों का निर्विकार रूप से उपयोग और देवता के प्रसाद के रूप में उन्हें ग्रहण करके यह सिद्ध करना पड़ता है कि न तो सामान्य व्यक्ति की तरह उसे इन द्रव्यों के प्रति लालच है और न पशु-भावापन्न साधक के समान उसे इनसे घृणा है। वह लालच और घृणा—इन दोनों ही द्वन्द्वात्मक भावों से मुक्त है—परे है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाये तो लालच और घृणा एक ही भाव के दो पहलू हैं। इन दोनों ही रूपों से युगपत् रूप से ऊपर उठना एक विशिष्ट मानसिक द्वन्द्व से ऊपर उठकर **'समत्व'** के एक विशेष स्तर को प्राप्त करना है। समत्व-क्या है ? 'समत्व' योग की विभूति है—'समत्वं योग उच्यते'। इस दृष्टि से वीराचारी-साधना वैराग्य और योग की सर्वश्रेष्ठ विभूति-समत्व को प्राप्त करने और समत्व पर स्थिर रहने का उपक्रम है। वीराचारी साधक इसका जितना अधिक अभ्यास करता है, वह अपने मनोलोक अथवा मनोमय जगत् के अन्यान्य द्वन्द्वों से भी क्रमश: ऊपर

उठता जाता है, निस्पृह और निष्काम होता जाता है। यदि साधना ठीक दिशा में चलती रही तो कालान्तर में ऐसा वीर साधक सर्वथा निस्पृह और कामनारहित होकर जीवन-काल में ही जीवन-मुक्त हो जाता है। इसीलिये 'कुलार्णव-तन्त्र' (पञ्चम उल्लास) में कहा गया है—

यैरेव पतनं द्रव्यैः सिद्धिस्तैरेव चोदिता।
श्रीकौलदर्शने चापि भैरवेण महात्मना ॥४८॥

जिन द्रव्यों से अन्य उपासना विधियों में पतन होता है, उन्हीं द्रव्यों से कुलाचार में सर्वोच्च सिद्धि मिलती है। सर्वोच्च सिद्धि अर्थात् जीवन-काल में ही जीवन-मुक्ति। ऐसा जीवन-मुक्त साधक संसार में रहता हुआ भी सांसारिक दृष्टि से संसार में नहीं रहता। यही दिव्य कौलावस्था है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वीराचारी साधना न तो मद्यपों की पान-गोष्ठी है और न लम्पटों का लीला विलास। यह उत्तेजनावर्धक परिवेश में विभिन्न प्रलोभनकरी वस्तुओं के मध्य दृढ-मनोनिग्रह और आत्म-संयम की कठोर साधना है। इसीलिये 'त्रिपुरार्णव-तन्त्र' (उपासना खण्ड, चतुर्दश तरङ्ग) में इसे **सर्वोत्तम धर्म** कहा गया है—

अयं सर्वोत्तमो धर्मः शिवोक्तः सुख-सिद्धिदः।
जितेन्द्रिस्य सुलभो, नान्यस्यानन्तजन्मभिः ॥९६॥
यदूर्ध्व रेतसां सर्वत्यागिनामनिकेतिनाम्।
क्षणेन स्मृत मात्रं तु मोहमुत्पादयत्यलम् ॥९७॥
तदेवात्र हि संसिद्धौ कारणं सर्वमीरितम्।
इतो मद्यमितो मांसं, भक्ष्यमुच्चावचं तथा ॥९८॥
तरुण्यश्चारुवेषाढ्या, मदघूर्णित लोचनाः।
तत्र संयतचित्तत्वं, सर्वथाह्यतिदुष्करम् ॥९९॥
भक्तिश्रद्धाविहीनस्य, कथं स्यादेतदीश्वरि।
महाविघ्नसहस्त्रौघ मकर ग्राह संकुलम् ॥१००॥
सन्मुक्ति द्वीपनगरी, सिन्धुमार्गं भयानकम्।
दृढ़ श्रद्धा कर्णयुतां भक्ति नौकां विना जनः ॥१०१॥
सदाचारानुकूलोद्यद् वायु मात्रेण शङ्करि।
न सन्तरेदुपायानां सहस्त्रैः प्रगुणैरपि ॥१०२॥

तस्मात् सदा भक्तियुतः श्रद्धाभावेन संयुतः ।
कौलमार्गमुपासीनः शुभां गतिमवाप्नुयात् ॥१०३॥

इसकी इस दुष्करता और दुर्धर्षता के कारण 'कुलार्णव' तन्त्र में कहा गया है कि वीराचारी साधना तलवार की धार पर चलने और विषधर को गले लगाने से भी कठिन है, दुष्कर है।

विषधर को वही गले में लपेट सकता है जिस पर विष का प्रभाव नहीं होता हो। जहर पीने का अधिकार उसे है जो जहर को पचा सके। मकार-पञ्चक द्रव्य सांसारिक-सुख शान्ति और आध्यात्मिक उन्नति के लिये जहर के समान घातक हैं तथापि वीराचारी साधना में इनका विशिष्ट महत्व है क्योंकि वीराचारी साधना मकार-पञ्चक रूप हलाहल समुच्चय को पचाकर उनसे 'अमृत-तत्त्व' प्राप्त करने की साधना है। बकौल शायर—

जो जह्रे-हलाहल है, अमरित भी वही नादां।
मालूम नहीं तुझको, अन्दाज ही पीने का॥

जिन्हें पीने का अन्दाज मालूम हो गया, जिन्हें जहर से अमृत प्राप्त करने की कला प्राप्त हो गई, वे बार-बार पीते हैं, गिरते हैं, उठकर पुनः पीते हैं, उन्हें मुक्ति रूप शाश्वत् अमृत तत्त्व प्राप्त होता है, कुलार्णव तन्त्र (७/१००) के सुप्रसिद्ध श्लोक 'पीत्वा पीत्वा-पुनः पीत्वा' का यही रहस्य है। यथार्थ यह है कि यह श्लोक ब्राह्मी भाव-भूमि में पहुँचे हुए कुलाचारी-साधक की भाव-शुद्धि का ज्ञापक है।

मकार-पञ्चक द्रव्यों में 'मद्य' एक ऐसा द्रव्य है जिसका मनुष्य के मन और शरीर पर तत्काल प्रभाव पड़ता है। मद्य का प्रभाव मनुष्य के वाह्य व्यक्तित्त्व की सारी कृत्रिमताओं को तार तार करके उसके वास्तविक अन्तर्व्यक्तित्त्व को उजागर कर देता है। उसके मूल गुण दोष प्रकट हो जाते हैं और वह तदनुसार आचरण और व्यवहार करने लगता है। मद्य के प्रभाव से संस्कार हीन व्यक्ति पशुवत् व्यवहार करने लगता है तो वीर सैनिक के उत्साह और शौर्य में वृद्धि होती है। यदि सतोगुणी व्यक्ति मद्य-ग्रहण करे तो उसके सात्विक गुणों का अभिवर्धन होता है, जैसा कि आचार्य-सुश्रुत ने कहा है—

सात्विक शोच दाक्षिण्य, हर्ष मण्डन लालसः ।
गीताऽध्ययन सौभाग्य, सुरतोत्साह कृन्मदः ॥

इसीलिये कुलार्णव तन्त्र में सतोगुण सम्पन्न ब्रह्मविद् ब्राह्मण के लिये इसे (मद्य को) सदा पेय कहा गया है—

ब्राह्मणस्य सदा पेयं, क्षत्रियस्य रणागमे।
गोलम्भने च वैश्यस्य, शूद्रस्यान्त्येष्टि कर्मणि ॥

ब्राह्मण के लिये इसे सदा पेय कहे जाने का कारण यह है कि यह आनन्द का अभिव्यञ्जक है और इससे मन्त्रार्थ को स्फुरता मिलती है। आनन्द अर्थात् ब्रह्मानन्द और मन्त्रार्थ यानी देवता। कालिख की गहरी परत वाले काँच से घिरी दीप-शिखा से प्रकाश की किरणें नहीं निकल पातीं, उसी तरह जब तक मन पर तरह-तरह की कालिख जमी है, आत्मा में परिव्याप्त ब्रह्मानन्द की सम्यक् रूप से अभिव्यञ्जना नहीं हो सकती। साधना की प्रथम-अवस्था (अर्थात् पशुभाव की अवस्था) में संयम-नियम-देव-अर्चन एवं जप-तप से रगड़ रगड़ कर मन पर जमी कालिख को बहुत कुछ साफ कर लिया गया था, अतएव साधना की इस द्वितीय-भूमिका में सुसंस्कृत मद्य सेवन से आत्मा में परिव्याप्त ब्रह्मानन्द की अभिव्यञ्जना होने लगती है, देवत्व का स्फुरण होने लगता है। वीर साधक को 'शिवोऽहं-भैरवोऽहम्' की वास्तविक अनुभूति होने लगती है। भाव शुद्धि-सम्पन्न ऐसे वीर साधकों के लिये भौतिक-मदिरा के प्रभाव की पराकाष्ठा ब्रह्मानन्द की अभिव्यंजना में होती है। यह देखा और सुना गया तथ्य है कि उल्लास की पराकाष्ठा में भी उनके श्रीमुख से ईश-वन्दना के श्लोक निकलते हैं। वे अविचलित रूप से अर्चन और वन्दना में भाव विभोर रहते हैं। मतलब साफ है, ऐसे साधक पूर्णतः ब्रह्मनिष्ठ होते हैं। भौतिक-मद्य के रूप में अमृत पीने वाले ऐसे साधकों का पुनर्जन्म नहीं होता। पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा का यही रहस्यार्थ है।

'पीत्वा-पीत्वा पुनः पीत्वा' की इस भाव-भूमि पर पहुँचने के लिये वीर-साधक को बहुत पापड़ बेलने पड़ते हैं। कारण यह है कि वीर-भाव में पदार्पण करने के साथ ही साधक को निर्बाध रूप से पात्र-ग्रहण करने का लायसेंस नहीं मिल जाता। यथार्थ यह है कि वीर-साधक को पशु-साधक की अपेक्षा अधिक कठोर-नियन्त्रण और अनुशासन में रहना पड़ता है। उसे कदम-कदम पर अपनी परीक्षा देनी पड़ती हैं और तदनुरूप अधिकार ग्रहण करना होता है। प्रारम्भ में उसे केवल पाँच (५) पात्र तक ग्रहण करने की अनुमति है और वह भी इतनी मात्रा में कि 'कारण' के प्रभाव से नजरें नहीं बहकें और मन भी विचलित न हो। फिर ग्यारह फिर सोलह पात्र। इसलिये

प्रकाशित ग्रन्थों में १६ पात्रों की वन्दना मिलती है। अभी मुझे हाल ही में बीकानेर (राजस्थान) से एक प्राचीन ग्रन्थ की पाण्डुलिपि (फोटो कापी) मिली है, जिसमें ८४ पात्रों की वन्दना है।

यह है देवता के प्रसाद के रूप में भी पात्र-स्वीकार की मर्यादा। इस मर्यादा का उल्लंघन करना पशु-पान है। और पशु पान, 'भूत-शुद्धि तन्त्र' के अनुसार पाप पुरुष का हृदय है। पशु पान से ब्रह्मा और शुक्राचार्य को भी अपमानित होना पड़ा था। इसीलिये उन्होंने सुरा को श्राप दिया। सुरा को ग्राह्य बनाने के लिये उसे ब्रह्मा-शुक्र-कृष्ण और रुद्र के शाप से मुक्त करना होता है। यह शाप-विमोचन साधक को मनोवैज्ञानिक रूप से चेतावनी देता है कि पशु पान का परिणाम कितना भयावह होता है।

पञ्चम-तत्त्व—पञ्चम तत्व की विवेचना के बिना कुलाचार-मीमांसा अधूरी है। पञ्चम तत्त्व है 'मैथुन'। कहना न होगा कि मैथुन के वास्तविक अभिप्राय को समझे बिना उसकी आड़ लेकर वीराचार की सर्वाधिक भर्त्सना की गई है। विडम्बना यह है कि आजकल स्वयम्भू-तान्त्रिक तन्त्र और सेक्स पर ऐसी किताबें लिख रहे हैं जो यह सन्देश देती हैं कि तन्त्र का उद्देश्य मात्र यौन-संतुष्टि है—Sexual pleasure है। यथार्थ यह है कि वीराचारी साधना में स्त्री का साहचर्य शाक्त दर्शन के उदात्त और गम्भीर सिद्धान्तों पर आधारित है।

शाक्त-सिद्धान्तों के अनुसार शक्ति ही सर्वोपरि है, प्रधाना है, और परम-उपास्या है। वे शिव से सर्वथा अभिन्ना और नित्य-सम्पृक्ता हैं। शिव और शिवा के नित्य सम्पृक्त और संयुक्त रूप में ही शक्ति की पूर्ण अभिव्यञ्जना होती है। अतएव शक्ति की साधना वस्तुत: शिव संयुक्ता शक्ति की साधना है। महात्रिपुर सुन्दरी के रूप में वे कामेश्वर शिव के अंक में विराजिता होकर पूजा ग्रहण करती हैं तो आद्या के रूप में शव रूप शिव के वक्ष: स्थल पर विराजिता होकर। शाक्त दर्शन यह भी मानता है कि संसार की सभी स्त्री-मूर्तियों में वे ही विग्रहवती हैं। अत: नारी मूर्ति के साहचर्य के बिना शक्ति-साधना की सांगता नहीं होती। इसीलिये शाक्त-साधक अपनी शक्ति के साथ दम्पत्ति रूप में प्रतिष्ठित होकर शिव-संयुक्ता शिवा की साधना करता है। मकार पञ्चक के अन्तिम मकार का यही रहस्य है।

'शब्दकोष' के अनुसार भी मिथुन का अर्थ है पति-पत्नी का जोड़ा, दम्पत्ति और मैथुन का अर्थ है युग्म मयता Couple hood। अत: 'मैथुन' को महज यौन क्रिया

व्यापार का पर्याय समझना और निरूपित करना प्रसंगतः उचित नहीं है। शाक्त-ग्रन्थों की मान्यता है कि नारी के शरीर में सभी तीर्थों का वास है। अतः स्त्री को देखकर साधक के मन में विकार होने मात्र से साधक का पतन निश्चित है—

नारीं निर्वीक्ष्य यत्नेन, अविकारो नरो यदि।
विकारे जायमाने तु, साधको नश्यति ध्रुवम्॥

शक्ति संगम

शाक्त-ग्रन्थों में यह भी कहा गया है कि—'किसी प्रयोजन-सिद्धि अथवा महज सुख के लिये अथवा काम के वशीभूत होकर सम्भोग करने से मन्त्र-साधक को रौरव नरक की यातना भोगनी पड़ती है।

शाक्त-सिद्धान्तों के अनुसार स्त्री न तो काम-क्रीडा पुत्तलिका है और न नरक का द्वार है। वह जगत् जननी स्वरूपा हैं, अतः उसे मात्र मानवी नहीं समझना चाहिये। अपितु उसकी पूजा करनी चाहिए—

स्त्रियं गच्छन् स्पर्शन् पश्यन् विशेषतः कुलजां शुभाम्।
नारीं पूजयेत् नित्यम् उपभोगं न करायेत्॥

'उपभोगं न कारयेत्' क्योंकि नारी भोग्या नहीं है, रमणी नहीं है, और न वीराचारी साधना मदोन्मत्त होकर नारी के साथ रंग-रेलियाँ मनाने का पर्याय है। यह साधना नारी के 'रमणीत्व' को मातृत्व के पद पर प्रतिष्ठित करने की साधना है। इसीलिये वीर साधक अपनी शक्ति में जगत् जननी की छवि देखता है, उसके माध्यम से इष्ट देवता के प्रसाद की याचना करता है। मद्य के उल्लास में भी वह काम विकार से सर्वथा मुक्त होकर नारी को अबोध शिशु की तरह माता के रूप में देखता है। यह ब्रह्मचर्य की पराकाष्ठा है। विडम्बना यह है कि ऐसे कामजयी साधक को लम्पट और व्यभिचारी कहा जाता है उन तथा कथित ब्रह्मचारियों के द्वारा जो आकण्ठ काम विकार में डूबे हुए हैं और अपने मिथ्या ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा के लिये नारी की छाया से भी दूर भागने का पाखण्ड रचते हैं।

वीराचारी साधना में नारी के साहचर्य का एक और हेतु भी है। शाक्त-मान्यताओं के अनुसार शक्ति-साधना के लिये सर्वोत्तम स्थान कामरूप पीठ है जहाँ शक्ति साधना सद्यः सफल होती है। नारी के साहचर्य में की गई पूजा-साधना कामरूप पीठ में की गई साधना से भी सौ गुना प्रशस्त एवं फलदायिनी है, जैसा कि 'समय-तन्त्र' में कहा गया है—

स्त्री समीपे कृता पूजा, जपश्च परमेश्वरि।
कामरूपाच्छत गुणं, समुदीरतमव्ययम्॥

इस तरह वीराचारी साधना के प्रसंग में मैथुन का अर्थ कामुक-यौनाचार नहीं अपितु कामुकता और काम विकार शून्य नारी साहचर्य है। ऐसी बात नहीं कि ये शर्तें केवल पुरुष पर ही लागू होती हैं। नारी को भी इतना ही काम-विकार शून्य होना चाहिए।

पञ्चम-तत्त्व साधना के प्रसंग में कुल-सन्ध्या, लता-साधना और दूती-याग जैसे साधन-विधानों का उल्लेख आवश्यक है। ये ऐसे साधन-विधान हैं जिनमें यौन-क्रिया का सम्पादन किया जाता है मगर कामुकता और काम विकार शून्यता तथा अर्चन की दिव्यता इन साधन विधानों की अनिवार्य शर्त है।

मीमांसा-सार—इस मीमांसा का सार निष्कर्ष यह है कि कुलाचारी साधक को न तो संसार के प्रति आसक्ति होती है और न घृणा। मुक्ति लाभ के लिये न तो उसे तीर्थाटन करने की आवश्यकता है और न जगराता। वह आत्म-संयम और दृढ़ मनो-निग्रह का प्रतिमान होता है। आत्मा को संसार पाश से बाँधने वाले काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद एवं भोगलिप्सा रूपी शत्रुओं को उनके ही कञ्चन-कामिनी प्रभृति हथियारों से परास्त करने वाला वीर है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथ' के वैदिक-आदर्श को वह अपने जीवन में चरितार्थ करता है। वाह्यतः भोगी प्रतीत होने के बावजूद वह अन्तर्मन से योगी होता है।

धर्माधर्म का मर्मज्ञ होने के कारण संसार की सभी वस्तुयें उसके लिये पवित्र और सभी कर्म शुभ होते हैं।[१] वह अपनी तपो-अग्नि से अपने पूर्व जन्मों के सञ्चित कर्मफल को जलाकर राख कर देता है। कर्मफल के प्रति अनासक्ति और भोगलिप्सा के प्रति विरति और वितृष्णा के कारण उसके इस जन्म के सभी कर्म अनाज के भुने हुए दानों की तरह हो जाते हैं, जो पुनः अंकुरित नहीं हो सकते। वह ऐसा साधक है जो अपने ही आत्म देव की पूजा करता है। वह स्वयं ही शिव और भैरव होता है। इसलिये वह अपनी आत्मा में सम्पूर्ण विश्व को और सम्पूर्ण विश्व को अपनी आत्मा में देखता है।

---

१. धर्मधिर्मपरिज्ञानात् सकलेऽपि पवित्रता।
विण्मूत्रं स्त्रीरजो वाऽपि नखास्थि सकलं प्रिये॥ ज्ञानार्णव-२२/२६

कुलाचारी साधक सांसारिक मान-अपमान, निन्दा-भर्त्सना, आलोचना-प्रशंसा से परे होता है । इसीलिये किसी कुलाचारी साधक ने कुलाचार की निन्दा या भर्त्सना का प्रतिवाद नहीं किया । कुलाचार के आचार्यों ने प्राथमिक आचारों को ही जन-सामान्य के लिये प्रशस्त माना । उन्होंने कुल-साधकों को भी यही उपदेश दिया कि वे अपने सामाजिक जीवन में शैव और वैष्णव की तरह आचरण करें । कुल मार्ग के आचार्य और अन्य सद् विचारक इस तथ्य से अवगत थे कि यह कुल-मार्ग जितना दिव्य और श्रेष्ठ है, उतना ही जटिल और भयावह है । इसीलिये जन-सामान्य की भेड चाल और गतानुगतिका को रोकने के लिये न इसे केवल गोपनीय रखा गया—अपितु कटु आलोचना और कटु निन्दा की । महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के शब्दों में—

'असली बात यह है कि कौल-उपासना चरम-भूमि की बात है । इसका अधिकारी अत्यन्त दुर्लभ है । इसीलिये अधिकारी न होने पर भी इसमें प्रवृत्त होने पर विरुद्धाचरण का दोष अवश्यम्भावी है, इसीलिये उसकी निन्दा की जाती हैं । (तान्त्रिक साहित्य की भूमिका पृ० ४९)

आज युग बदल रहा है, इस युग में सनातन-धर्म के आधार भूत वेदाचार और वैष्णवाचार में भी मनमानी मिलावट की जा रही है । ऐसे घोर कलि-काल में यदि गोपनीयता की आड़ में कुलाचार के वास्तविक रूप एवं महत्व से जन-सामान्य को अवगत नहीं कराया गया तो स्वयम्भू तान्त्रिक और दीक्षा-व्यवसायी इसके दिव्य रूप को इतना विकृत और विद्रूप कर देंगे कि इसके वास्तविक स्वरूप को जानना भी मुश्किल हो जायेगा । प्रस्तुत मीमांसा का उद्देश्य जन-सामान्य को इस दुरूह तथापि दिव्य आचार के तत्त्व रूप से अवगत कराना है ।

विशेष-निवेदन—एक विशेष निवेदन । इन पृष्ठों में प्रस्तुत कुलाचार की यह मीमांसा किसी नये या पुराने ग्रन्थ में इस प्रकार से उपलब्ध नहीं है और न एतत्पूर्व इस रीति से कुलाचार का मनो-आध्यात्मिक विश्लेषणात्मक विवेचन किया गया है । इसका कारण इस विषय के प्रति उपेक्षा नहीं अपितु तन्त्र-शास्त्र के चारित्रिक रूप की

परिणति हैं। यद्यपि तन्त्र शास्त्र अत्यन्त उदात्त-दार्शनिक एवं मनो-आध्यात्मिक सिद्धान्तों और अवधारणाओं पर आधारित है, परन्तु वह न्याय या मीमांसा की तरह सिद्धान्तों की विवेचना करने वाला शास्त्र नहीं अपितु इन सिद्धान्तों के अनुसार प्राप्तव्य (लक्ष्य) की प्राप्ति के लिये की जाने क्रियाओं की शिक्षा देने वाला क्रिया-विधि-शास्त्र है। इसीलिये इसमें क्रिया-विधि का निरूपण विस्तार से किया गया है, सैद्धान्तिक विवेचना अथवा नई पद्धति की मनोआध्यात्मिक विवेचना बहुत कम है। इन सिद्धान्तों और क्रिया विधि में निहित रहस्यों की शिक्षा गुरुदेव ही देते थे। अतएव तन्त्र शास्त्र को 'गुरु मुखैक-गम्य' शास्त्र कहा गया हे। कहा तो यहाँ तक जाता है कि अदीक्षित-व्यक्ति को तन्त्र-शास्त्र के अध्ययन का अधिकार नहीं है।

चूँकि 'तन्त्र' 'गुरु मुखैक गम्य' शास्त्र है, अतएव केवल पुस्तकें पढ़कर इसके तत्त्व और रहस्य से अवगत नहीं हुआ जा सकता। एक ही ग्रन्थ में प्रयुक्त एक ही वस्तु, पदार्थ अथवा शब्द का कहाँ क्या अर्थ है, अथवा क्या प्रयोजन है, यह गुरु मुख से जाना जाता है। यथा—कुलाचारी ग्रन्थों में आम अंगूर-खजूर आदि द्रव्यों से बनी भौतिक-सुरा का वर्णन है तो वहीं सहस्रार से क्षरित होने वाले स्राव को भी 'सुरा' (सुधा) कहा गया है। कुलाचार में ये दोनों ही प्रशस्त हैं। सद्गुरु से दीक्षा और शिक्षा प्राप्त कुल-साधक को तो इन दोनों का रहस्य और पान क्रम का ज्ञान होता है, परन्तु जिसे 'सद्गुरु' से दीक्षा और शिक्षा ही नहीं मिली है, जिसने कुलाचार-विधि से साधना नहीं की है—अथवा जो पशु भाव से ऊपर नहीं उठा है, वह इसके रहस्य को क्या समझेगा ? यदि ऐसा व्यक्ति अन्य लौकिक विषयों में अपनी 'योग्यता' के बल पर कुलाचारी ग्रन्थों का अध्ययन करता है तो उसे अपने संस्कार वश इन ग्रन्थों में माध्वी आदि सुरा का उल्लेख गर्हित और अपमिश्रित ही प्रतीत होगा, क्योंकि उसे यह ज्ञात नहीं है कि कुलाचार के अनुसार विधिवत् संस्कृत की गई माध्वी आदि भौतिक सुरा को देवता के प्रसाद के रूप में यथा क्रम और यथा अधिकार ग्रहण करते रहने से साधक को कालान्तर में सहस्रार से क्षरित होने वाले स्राव का पान करने की क्षमता और पात्रता प्राप्त होगी। इसीलिये इन ग्रन्थों में भौतिक और अभौतिक दोनों ही प्रकार

कुलाचारी साधक सांसारिक मान-अपमान, निन्दा-भर्त्सना, आलोचना-प्रशंसा से परे होता है। इसीलिये किसी कुलाचारी साधक ने कुलाचार की निन्दा या भर्त्सना का प्रतिवाद नहीं किया। कुलाचार के आचार्यों ने प्राथमिक आचारों को ही जन-सामान्य के लिये प्रशस्त माना। उन्होंने कुल-साधकों को भी यही उपदेश दिया कि वे अपने सामाजिक जीवन में शैव और वैष्णव की तरह आचरण करें। कुल मार्ग के आचार्य और अन्य सद् विचारक इस तथ्य से अवगत थे कि यह कुल-मार्ग जितना दिव्य और श्रेष्ठ है, उतना ही जटिल और भयावह है। इसीलिये जन-सामान्य की भेड चाल और गतानुगतिका को रोकने के लिये न इसे केवल गोपनीय रखा गया— अपितु कटु आलोचना और कटु निन्दा की। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के शब्दों में—

'असली बात यह है कि कौल-उपासना चरम-भूमि की बात है। इसका अधिकारी अत्यन्त दुर्लभ है। इसीलिये अधिकारी न होने पर भी इसमें प्रवृत्त होने पर विरुद्धाचरण का दोष अवश्यम्भावी है, इसीलिये उसकी निन्दा की जाती हैं। (तान्त्रिक साहित्य की भूमिका पृ० ४९)

आज युग बदल रहा है, इस युग में सनातन-धर्म के आधार भूत वेदाचार और वैष्णवाचार में भी मनमानी मिलावट की जा रही है। ऐसे घोर कलि-काल में यदि गोपनीयता की आड़ में कुलाचार के वास्तविक रूप एवं महत्व से जन-सामान्य को अवगत नहीं कराया गया तो स्वयम्भू तान्त्रिक और दीक्षा-व्यवसायी इसके दिव्य रूप को इतना विकृत और विद्रूप कर देंगे कि इसके वास्तविक स्वरूप को जानना भी मुश्किल हो जायेगा। प्रस्तुत मीमांसा का उद्देश्य जन-सामान्य को इस दुरूह तथापि दिव्य आचार के तत्त्व रूप से अवगत कराना है।

विशेष-निवेदन—एक विशेष निवेदन। इन पृष्ठों में प्रस्तुत कुलाचार की यह मीमांसा किसी नये या पुराने ग्रन्थ में इस प्रकार से उपलब्ध नहीं है और न एतत्पूर्व इस रीति से कुलाचार का मनो-आध्यात्मिक विश्लेषणात्मक विवेचन किया गया है। इसका कारण इस विषय के प्रति उपेक्षा नहीं अपितु तन्त्र-शास्त्र के चारित्रिक रूप की

परिणति हैं। यद्यपि तन्त्र शास्त्र अत्यन्त उदात्त-दार्शनिक एवं मनो-आध्यात्मिक सिद्धान्तों और अवधारणाओं पर आधारित है, परन्तु वह न्याय या मीमांसा की तरह सिद्धान्तों की विवेचना करने वाला शास्त्र नहीं अपितु इन सिद्धान्तों के अनुसार प्राप्तव्य (लक्ष्य) की प्राप्ति के लिये की जाने क्रियाओं की शिक्षा देने वाला क्रिया-विधि-शास्त्र है। इसीलिये इसमें क्रिया-विधि का निरूपण विस्तार से किया गया है, सैद्धान्तिक विवेचना अथवा नई पद्धति की मनोआध्यात्मिक विवेचना बहुत कम है। इन सिद्धान्तों और क्रिया विधि में निहित रहस्यों की शिक्षा गुरुदेव ही देते थे। अतएव तन्त्र शास्त्र को 'गुरु मुखैक-गम्य' शास्त्र कहा गया हे। कहा तो यहाँ तक जाता है कि अदीक्षित-व्यक्ति को तन्त्र-शास्त्र के अध्ययन का अधिकार नहीं है।

चूँकि 'तन्त्र' 'गुरु मुखैक गम्य' शास्त्र है, अतएव केवल पुस्तकें पढ़कर इसके तत्त्व और रहस्य से अवगत नहीं हुआ जा सकता। एक ही ग्रन्थ में प्रयुक्त एक ही वस्तु, पदार्थ अथवा शब्द का कहाँ क्या अर्थ है, अथवा क्या प्रयोजन है, यह गुरु मुख से जाना जाता है। यथा—कुलाचारी ग्रन्थों में आम अंगूर-खजूर आदि द्रव्यों से बनी भौतिक-सुरा का वर्णन है तो वहीं सहस्रार से क्षरित होने वाले स्राव को भी 'सुरा' (सुधा) कहा गया है। कुलाचार में ये दोनों ही प्रशस्त हैं। सद्गुरु से दीक्षा और शिक्षा प्राप्त कुल-साधक को तो इन दोनों का रहस्य और पान क्रम का ज्ञान होता है, परन्तु जिसे 'सद्गुरु' से दीक्षा और शिक्षा ही नहीं मिली है, जिसने कुलाचार-विधि से साधना नहीं की है—अथवा जो पशु भाव से ऊपर नहीं उठा है, वह इसके रहस्य को क्या समझेगा ? यदि ऐसा व्यक्ति अन्य लौकिक विषयों में अपनी 'योग्यता' के बल पर कुलाचारी ग्रन्थों का अध्ययन करता है तो उसे अपने संस्कार वश इन ग्रन्थों में माध्वी आदि सुरा का उल्लेख गर्हित और अपमिश्रित ही प्रतीत होगा, क्योंकि उसे यह ज्ञात नहीं है कि कुलाचार के अनुसार विधिवत् संस्कृत की गई माध्वी आदि भौतिक सुरा को देवता के प्रसाद के रूप में यथा क्रम और यथा अधिकार ग्रहण करते रहने से साधक को कालान्तर में सहस्रार से क्षरित होने वाले स्राव का पान करने की क्षमता और पात्रता प्राप्त होगी। इसीलिये इन ग्रन्थों में भौतिक और अभौतिक दोनों ही प्रकार

की 'सुरा' का न केवल उल्लेख और निरूपण है, अपितु द्राक्षा, आम, इक्षु, मधूक आदि से सुरा बनाने की विधि भी बताई गई है। विभिन्न द्रव्यों से बनने वाली 'सुरा' का वर्गीकरण (यथा गौड़ी माध्वी आदि) भी किया गया है।

अतएव सहस्रार से क्षरित 'द्रव' को वास्तविक सुरा एवं इस द्रव के पान को वास्तविक सुरापान निरूपित करते हुए पूजन-अर्चन में गौडी माध्वी आदि भौतिक-मद्यों को हेय और गर्हित होने का फतवा देना भ्रान्त-धारणाओं का प्रचार-प्रसार करना है। विडम्बना यह है कि आजकल के व्याख्याकार कुलाचार परक ग्रन्थों की ऐसी ही व्याख्यायें कर रहे हैं।

सुदर्शना के सम्बन्ध में—कुल-धर्म और पुरुषार्थ-चतुष्टय प्रदायिनी श्री 'श्रीविद्या' का प्रकाशक श्री 'ज्ञानार्णव-तन्त्र' एक छन्दोबद्ध ग्रन्थ है। ऐसे शास्त्रीय ग्रन्थों को उनकी छन्दोबद्धता के कारण रट कर याद कर लेना तो सरल होता है परन्तु छन्दोबद्ध ग्रन्थों में कथ्य का प्रतिपादन गद्य के समान स्पष्ट नहीं होने के कारण, उन्हें समझना कठिन होता हैं। फिर यदि ऐसे ग्रन्थों में कूट-पदों, संकेताक्षरों और सांकेतिक पदावलियों का प्रयोग हो तो वे और भी दुरूह हो जाते हैं। श्री 'ज्ञानार्णव-तन्त्र' एक ऐसा ही ग्रन्थ है, अतएव इसका मात्र शाब्दिक अनुवाद पर्याय नहीं अपितु अनुवाद के साथ मन्त्रोद्धार-यन्त्रोद्धार आदि का सम्यक् रूप से निरूपण करना भी आवश्यक है।

'श्री ज्ञानार्णव' एक ऐसा आकर-ग्रन्थ है; जिसमें मन्त्रोद्धारों की प्रचुरता है। इसमें लगभग एक सौ मन्त्रों का उद्धार बताया गया है। मन्त्रोद्धार परक श्लोकों का अनुवाद इस तरह किया गया है कि जिससे सामान्य पाठकों को भी सहज ही 'मन्त्र-स्वरूप' का ज्ञान हो सके। पाठकों को इस टीका के माध्यम से इसमें प्रतिपादित अन्य सभी विषयों का सम्यक् रूप से दर्शन-ज्ञान हो सके, इसलिये इस टीका का नाम अपनी पूर्णाभिषिक्ता शक्ति के दीक्षा नाम पर **'सुदर्शना'** रखा है। टीका के 'सुदर्शना' नाम को चरितार्थ करने के लिये इसमें भगवती ललिता-महात्रिपुर सुन्दरी की सिंहासन-विद्याओं, आम्नाय-देवताओं, कामेश्वरी आदि नित्याओं तथा पञ्च-पञ्चिका

वर्ग की महादेवियों के मन्त्रोद्धार के साथ ही तद् तद् देवियों के ध्यान, मन्त्र के ऋषि एवं छन्द आदि भी ग्रन्थान्तर से उद्धृत करके समाहित किये गये हैं। ये ऐसे विषय हैं जिनका निरूपण मूल-ग्रन्थ में नहीं हैं।

मुझे यह स्वीकार करने में कोई झिझक या संकोच नहीं है कि श्री ज्ञानार्णव नित्या-तन्त्र जैसे गुरु-गम्भीर एवं स्वतः प्रमाण आर्ष ग्रन्थ की टीका लिखने का मुझमें न तो सामर्थ्य हैं और न ज्ञान, फिर भी मेरे माध्यम से यह टीका लिपि-बद्ध हुई। इसे मैं अपने लिये गुरु-मण्डल का आशीर्वाद समझता हूँ। इस टीका में अथवा निर्वचन में यदि कही कोई त्रुटि या भूल परिलक्षित होती है तो उसे गुरु-मण्डल के संकेतों और उपदेशों को समझने में मेरी अज्ञता का पर्याय माना जाये।

एक बात और ! मैंने यह टीका अपने आराध्य चरणों की प्रसन्नता के लिये उनका आदेश मिलने पर लिखी थी और उनके ही आदेश से यह कृति अपने परम गुरु पूज्यपाद गुप्तावतार बाबा श्री (पूज्यपाद भर्तृहर्यानन्द नाथ) के श्री-चरणों में सादर समर्पित हैं। वे दिव्य अवतारी पुरुष थे। भारत को विदेशी दासता से स्वतन्त्र कराने के लिये उन्होंने अवतार ग्रहण किया था। भारत की स्वतन्त्रता के लिये उन्होंने स्वयं अपने निरीक्षण में विगत शताब्दि के तीसरे दशक में तान्त्रिक अनुष्ठान कराये और सन् १९३० में ही यह घोषणा कर दी थी कि १६-१७ वर्षों में हमारा देश स्वतन्त्र हो जायेगा। इस धरा-धाम पर उनका इह-लौकिक जीवन तपस्या और साधना का पर्याय था। वे एक महान् विभूति थे। उन्होंने स्वयं को अत्यन्त गुप्त रखा। उनकी महान् विभूति को तत्कालीन शंकराचार्य श्री त्रिविक्रम जी महाराज, पीताम्बरा-पीठ (दतिया) के संस्थापक राष्ट्र गुरु स्वामीजी और शाक्त-धर्म की प्रथम पत्रिका कौल कल्प तरु-चण्डी के आद्य सम्पादक श्री देवीदत्त शुक्ल (पूज्यपाद पूर्णानन्द नाथ) जैसे कुछ थोड़े से पुण्यात्मा समझ पाये थे।

ग्रन्थ तो लिख दिया गया, लेकिन उसका प्रकाशन नहीं हुआ तो उसकी तकदीर गुमनामी के अन्धेरे में खो जाती है। 'सुदर्शना' के साथ ऐसा ही हुआ। वह गुमनामी

के अन्धेरे में 'डूबते डूबते बची है। जब इसके प्रकाशन की सारी सम्भावनायें क्षीण हो गई थीं, नव-शक्ति प्रकाशन, वाराणसी ने इसे प्रकाशन के लिये स्वीकार, किया, न केवल स्वीकार किया अपितु ६-७ महीनों में इसे प्रकाशित भी कर दिया। एतदर्थ मैं नव शक्ति प्रकाशन के स्वामी श्री लोकेश कृष्ण त्रिपाठी के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। भगवती उन पर अपनी कृपा-दृष्टि बनाये रखे।

अक्षय तृतीया — मधुसूदन प्रसाद शुक्ल

संवत् २०६८, विक्रमी — बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

ईश्वर-प्रोक्त

ज्ञानार्णव-तन्त्रम्

'सुदर्शना' हिन्दी व्याख्या

अथ प्रथमः पटलः

स्वरूप-ज्ञेय मात्र

श्रीदेव्युवाच–

गणेशनन्दिचण्डेशसुरेन्द्रपरिवारित ।
सर्ववन्द्य गणाधीश किं त्वया जप्यते सदा ॥१॥

श्री देवी ने कहा—गणेश, नन्दि, चण्डेश एवं सुरेन्द्र रूप परिवार वाले, हे सर्व-वंद्य, हे गणाधीश, आप सदैव किसका जप करते हैं ?

सुदर्शना-वन्दना

कुलाकुलाग्नीषोमात्म क्रिया-ज्ञानैक-रस्यतः ।
नित्य-निष्पन्द संरभ, निर्भरानन्द चिद्घने ॥
महाबिन्दुमहःपीठे, नव्य-दिव्य रसोज्ज्वलं ।
शिव-शक्त्यात्मकं किञ्चिदद्वैत देवतां भजे ॥

श्री देवी ने कहा—हे देव ! श्री गणेश और सुरेन्द्र (इन्द्र या विष्णु) आदि सभी देवताओं के द्वारा आप वंद्य हैं, वन्दनीय हैं, पूजनीय हैं। सर्व देव वन्द्य श्री गणेश और सुरेन्द्र आपके परिवार जन हैं अर्थात् देवताओं के लिये भी प्रथम पूज्य गणेश और सुरेन्द्र आदि के परिवार के आप प्रमुख हैं। इस परिवार का प्रमुख होने के नाते आप गणेश एवं सुरेन्द्र आदि के भी पूज्य तथा वन्दनीय हैं। इस तरह आप सर्ववन्द्य हैं। अतः आप से श्रेष्ठ और वन्दनीय कोई और नहीं है। फिर भी आप हर समय जप और चिन्तन करते रहते हैं। जप या चिन्तन उसका किया जाता है जो श्रेष्ठ हो, प्रिय हो। जब आप से श्रेष्ठ कोई दूसरा है ही नहीं तो, फिर आप किसका जप करते हैं ॥१॥

अक्षमालेति किं नाम संशयो मे हृदि स्थितः ।
शब्दातीतं परं ब्रह्म त्वमेव परमार्थवित् ॥२॥
कथयाऽऽनन्दनिष्य (स्प) न्दसान्द्रमानस निश्चयात् ।

हे देव ! आप आनन्द-निष्यन्द हैं, आनन्द-मूर्ति हैं, शाश्वस्त-परम-आनन्द के उत्स हैं । आप सान्द्र-मानस हैं, धीर चित्त हैं । परमार्थ-वेत्ता हैं, परमातिपरम-रहस्यों से अवगत हैं । हे स्वामिन् ! मुझे बतायें—'शब्दातीत परं-ब्रह्म' क्या है ? 'अक्ष-माला' क्या वस्तु है ? हे देव ! मुझे यह जानने की उत्कट जिज्ञासा है । उसका ठीक ठीक निरूपण करने की कृपा करें ॥२॥

ईश्वर उवाच-

कथयामि वरारोहे यन्मया जप्यते सदा ॥३॥
अकारादि-क्षकारान्ता मातृका पीठ रूपिणी ।

ईश्वर ने कहा—वे वरारोहे ! मैं जो सदैव जप करता हूँ, वह आपको बता रहा हूँ । 'अ' कार से 'क्ष'कार पर्यन्त वर्णों अथवा अक्षरों की जो वर्णमाला है, वह मातृका-पीठ है, मातृका का अधिष्ठान है, आसन है, जिस पर महा-शक्ति 'मातृका' अधिष्ठिता है, प्रतिष्ठिता हैं ॥३॥

विमर्श—'मातृका' का कोश-गत अर्थ है—माता, जननी । महाशक्ति 'मातृका' कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की जननी हैं, माता हैं । वे महा-मन्त्रार्थ स्वरूपिणी हैं । 'पर-शिव' की 'प्राणेश्वरी' हैं ('प्राणेश्वरीं पर-शिवस्य परामृशामः'—मातृका-चक्र-विवेक-१/१) । वे 'पर-शिव' की 'विमर्श' रूपा हैं । ब्रह्माण्ड की स्वप्न, जाग्रत्, सुषुप्ति एवं तूर्यादि अवस्थायें अर्थात् ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति एवं संहार दशायें (जिनका निरूपण आगे किया गया है) महा-शक्ति मातृका के श्रीविग्रह की प्रकट अभिव्यक्तियाँ हैं । अभिव्यञ्जक हैं । आगमोक्त सृष्टि-निरूपण में ब्रह्माण्ड की इन अवस्थाओं की सञ्चालिका या निष्पादिका शक्तियों एवं अभिकरणों का विशद निरूपण है । दूसरे शब्दों में ये कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड महाशक्ति 'मातृका' के अप्रतिम सौन्दर्य के वैभव-विलास हैं, और यह 'अक्ष माला' उनके लीला विलास के प्रकटन का उत्स है ।

अगले श्लोकों में अक्ष-माला के घटक भूत स्वरों और व्यञ्जनों का निरूपण किया गया है । यथा—

चतुर्दश स्वरोपेता बिन्दुत्रय विभूषिता ॥४॥
अनुस्वारेण देवेशि ! बिन्दुनैकेन मण्डिता ।
विसर्गेण च बिन्दुभ्यां संलग्नाभ्यां विराजिता ॥५॥

'अक्ष-माला' के घटक-वर्णों के मुख्य-रूप से दो भेद हैं—स्वर और व्यञ्जन। जिन वर्णों को उच्चारण के लिये किसी अन्य वर्ण की विवक्षा या आवश्यकता नहीं होती, वे 'स्वर' कहलाते हैं। इनका उच्चारण स्वतन्त्र और अमिश्रित रूप से होता है। 'अक्ष माला' में 'अ'कार से 'औ' कार तक चौदह (१४) स्वर हैं। यथा—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ तथा औ। यह स्वर-समूह एक बिन्दु रूप अनुस्वार (अं) तथा दो बिन्दु संलग्न विसर्ग (अः) से विभूषित है। इस तरह 'अक्ष-माला' में १६ स्वर हैं। अङ्क-विद्या में 'कला' शब्द १६ की संख्या का सूचक है। चूँकि स्वरों की संख्या भी १६ है, अतः स्वर-समूह को 'कला-मण्डल' कहा गया है।

ककारादि 'क्ष'कारान्ता वर्णास्तु शिव-रूपिणः ॥६॥
व्यञ्जनत्वात् सदाऽऽनन्देनोच्चार सहिता यतः।
उच्चरेत् स्वर सम्भिन्नांस्तदा देवि ! न संशयः ॥७॥

स्वतन्त्र एवं अमिश्रित रूप से व्यञ्जनों का उच्चारण नहीं होता, अपितु वे स्वरों की सहायता से व्यञ्जित (व्यक्त) होते हैं, अतः उन्हें 'व्यञ्जन' कहा जाता है। 'क' कार से 'क्ष'कार पर्यन्त व्यञ्जन वर्ण शिव-स्वरूप हैं ॥६-७॥

विमर्श—'शिव' शक्तिमान् हैं और 'मातृका' शक्ति हैं। शक्तिमान् और शक्ति का अविना-भाव सम्बन्ध 'चन्द्र' और 'चन्द्रिका' अथवा 'अग्नि' एवं 'दाहकता' के समान नित्य और शाश्वत् है। जिस तरह 'चन्द्रिका' शक्ति से शक्तिमान् 'चन्द्र' का रूप प्रकट होता है, उसी तरह महा-शक्ति 'मातृका' सूक्ष्मातिसूक्ष्म 'पर-शिव' के दिव्य एवं नवोज्ज्वल रूप को अभिव्यक्त करती है, अभिव्यञ्जित करती है। इसीलिये

'शक्तेः विना शिवे सूक्ष्मे, नाम-धाम न विद्यते'

चूँकि शक्ति-स्वरूप स्वरों के बिना 'क' कारादि व्यञ्जनों का उच्चारण सम्भव नहीं है, अतः व्यञ्जनों को 'शिव-स्वरूप' कहा गया है।

यद्यपि 'क'कार से 'क्ष'कार पर्यन्त सभी ३४ वर्णों को सामान्य रूप से 'व्यञ्जन' कहा जाता है, परन्तु व्याकरण-शास्त्र में इनका और भी वर्ग-विभाजन है। 'क'कार से 'म'कार पर्यन्त जो २५ वर्ण हैं, उन्हें 'व्यञ्जन' कहा गया है। 'य-र-ल' और 'व'- ये चार 'अन्तस्थ' एवं शेष 'श-ष-स' ऊष्माण हैं। 'क्ष'कार ('ज्ञ'कार भी) संयुक्ताक्षर है। व्याकरण में इन समस्त वर्णों के उच्चारण-स्थान एवं प्रयत्न आदि का निरूपण है तो तन्त्र-ग्रन्थों में इन वर्णों के दार्शनिक एवं दैवत् स्वरूप की विवेचना की गई है। मन्त्रों की तरह प्रत्येक 'वर्ण' का ध्यान और 'जप' का विधान बताया गया है। मन्त्र-साधकों एवं अध्येताओं को मन्त्र-विज्ञान का रहस्य समझने के लिये इनका अध्ययन सहायक और उपयोगी होगा।

पञ्चाशद् वर्ण रूपेण, शब्दाख्यं वस्तु सुव्रते ।
'अ'कारः प्रथमो देवि ! 'क्ष' कारोऽन्तिम इष्यते ॥८॥
अक्षमालेति विख्याता, मातृका वर्ण-रूपिणी ।
शब्द-ब्रह्म स्वरूपेयं, शब्दातीतं तु जप्यते ॥९॥

इन दो श्लोकों में 'मातृका' समुच्चय को 'अक्ष-माला' कहे जाने के रहस्य पर प्रकाश डाला गया है । ईश्वर कहते हैं—हे सुव्रते ! पचास-वर्णों वाला जो यह शब्द-संज्ञक वस्तु है, उसका प्रथम वर्ण 'अ' और अन्तिम वर्ण 'क्ष' है । आदि और अन्त के दो वर्णों का समाहार करके वर्ण-रूपिणी 'मातृका' को 'अक्ष-माला' कहा जाता है । यह अक्ष-माला **शब्द-ब्रह्म** स्वरूपा है, सकल ब्रह्म का वह रूप है जो वर्णों के रूप में अभिव्यक्त है, किन्तु मैं जिसका जप करता हूँ, वह शब्दातीत है, शब्द से परे है । दूसरे शब्दों में मैं (श्री ईश्वर) जिसका ध्यान और जप करता हूँ, वह शब्द-सृष्टि के पूर्व का रूप है ।

मातृका-वर्ण-रूपिणी:—'पर-शिव' की 'परा-शक्ति' भगवती मातृका का पारमार्थिक तत्त्व स्वरूप अत्यन्त गहन, अत्यन्त सूक्ष्म है । उनके इस तात्त्विक रूप को उनके अतिरिक्त और कोई भी जानता । 'अ'कार-'क' कार आदि अक्षर पञ्च-भूतात्मक विराट् ब्रह्माण्ड की स्थूलता आदि की तुलना में चाहे जितने सूक्ष्म हों, परन्तु भगवती-मातृका के तत्त्व-रूप की सूक्ष्मता की तुलना में अत्यन्त स्थूल हैं । सृष्टि के कार्य-व्यवहार के सम्पादन के लिये उनके तत्त्व-रूप की सूक्ष्मता ने जो स्थूल रूप ग्रहण किया है, ये अक्षर उनके इस स्थूल रूप के अभिव्यञ्जक-प्रतीक हैं । इसलिये इन 'वर्णों' को मातृका कहा जाता है और वर्ण रूप में प्रकट महा-शक्ति मातृका को मातृका-वर्ण रूपिणी कहा गया है ।

शब्द-ब्रह्म-विमर्श

भारतीय आर्ष-चिन्तन के अनुसार इस परिदृश्यमान विराट्-ब्रह्माण्ड रूप सृष्टि का हेतु 'शब्द' है । 'शब्द' से ही उसका उद्भव और विकास होता है और अन्त में वह 'शब्द' में ही विलीन हो जाता है ।

सृष्टि-स्थिति एवं संहार (प्रलय) अथवा विलोमतः संहार (प्रलय), स्थिति और सृष्टि इस परिदृश्यमान् चराचर प्राणि-जगत् मय ब्रह्माण्ड की तीन दशायें है । सृष्टि का अवसान प्रलय में होता है और प्रलय से सृष्टि का पुनः उद्भव होता है । स्थिति अवस्था परिदृश्यमान् स्थूल ब्रह्माण्ड की वाचक है ।

सृष्टि रूप ब्रह्माण्ड के मुख्यतः २. रूप या भेद हैं । (१) प्रथम वाह्य सृष्टि, और (२) सूक्ष्म अर्थात् अन्तः सृष्टि । यह जो परिदृश्यमान् जगत् है, वह सृष्टि

(Creation) रूप ब्रह्माण्ड का वाह्य रूप है। सृष्टि के इस 'सूक्ष्म-सृष्टि के पुनः दो भेद हैं—(१) शब्द सृष्टि और (२) अर्थ-सृष्टि। इनमें से अर्थ-सृष्टि 'तत्त्वात्मिका' है और शब्द-सृष्टि मातृका-रूपा। मातृका-रूपा शब्द सृष्टि ही 'अर्थ-सृष्टि' की मूल है क्योंकि तत्त्वों का उद्भव और विकास मातृकाओं से होता है। साथ ही व्यवहार-जगत् का सारा-कार्य कलाप शब्द पूर्वक अर्थात शब्दों के माध्यम से चलता है।

प्रलय से सृष्टि—प्रलयावस्था में यह समस्त अर्थ-प्रपञ्चजाल 'परा-वाक् रूप शब्द-ब्रह्म में और परा-वाक् रूपिणी महा-शक्ति 'पर-शिव' अथवा 'पर-ब्रह्म' में लीन रहती हैं और फिर वहीं से इस प्रपञ्च-जाल का उद्भव और विकास होता है, जैसा कि—'मातृका-चक्र विवेक के तृतीय खण्ड के प्रथम सूत्र में कहा गया है—

विश्रान्तमात्मनि पराह्वय वाचि सुप्तौ।
विश्वं वमत्यथ विबोध पदे विमर्शः॥

ब्रह्माण्ड बीज को अपनी कोख में रखकर परा-वाक् रूपिणी महा-शक्ति 'पर-शिव' में तद्गता और तदाकारा होकर तल्लीन रहती है। यह उस 'महा-शक्ति' की 'उन्मनी' अवस्था है। परा-वाक् मय पर-संवित् स्वरूप 'निष्कल' 'पर-शिव' की इस अवस्था का निर्वचन, निरूपण अथवा वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। यह 'शब्दातीत' है। प्रलय के पश्चात् अपरिमित काल तक यही दशा रही। कालान्तर में जब उनमें 'सिसृक्षा' अर्थात् सृष्टि करने की इच्छा हुई, 'महा-शक्ति' का अविर्भाव हुआ। अलग-अलग ग्रन्थों में उन्हें अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया गया है। वे एक ही महाशक्ति, मूल-प्रकृति हैं, प्रधाना हैं, माया हैं, परा हैं, मातृका हैं। वे नित्या हैं, सनातनी हैं। सृष्टि करने के लिये उनका उन्मुख होना ही उनका आविर्भाव है। सृष्टि-प्रवर्तन के लिये वे घनीभूत होकर उच्छून हुईं। यह 'उच्छूनता' नाद एवं विन्दु के रूप में प्रकट हुई। ये 'नाद' और 'बिन्दु' दो पृथक-पृथक रूप नहीं अपितु उक्त 'उच्छूनावस्था' के ही दो पृथक-पृथक नाम हैं। उच्छूनावस्थ पर-शिव की शक्ति जब समस्त तत्त्व-रूप में निवर्तित होने की इच्छुक होती हैं, तब वह 'नाद' कही जाती हैं। जब वह घनीभूत होकर क्रिया-प्रधान भाव को प्राप्त होती हैं, तब वह 'बिन्दु' नाम से अभिहित होती हैं। इस तरह परा-शक्ति की सृष्टि-उन्मुखी अवस्था विशेष ही 'नाद' और 'बिन्दु' दोनों है।

उक्त 'बिन्दु', जिसे हम सुविधा और सुबोधता के लिये 'कारण बिन्दु' कह सकते हैं, के तीन रूप प्रकट हुए-स्थूल, सूक्ष्म और पर। इन तीन रूपों को क्रमशः 'बीज', 'बिन्दु' और 'नाद' कहा जाता है। वे 'बिन्दु' और 'नाद' उपर्युक्त बिन्दु और 'नाद' से भिन्न हैं। प्रथमोक्त 'बिन्दु' कारण है और द्वितीयोक्त कार्य।

प्रथमोक्त 'कारण-बिन्दु' के त्रिधा-विभक्तीकरण से 'अव्यक्त रव' उत्पन्न हुआ, जिसे आगम-शास्त्र के विशारद 'शब्द-ब्रह्म' कहते हैं। यही 'शब्द-ब्रह्म' प्राणियों के देह में चैतन्य **'कुण्डलिनी'** स्वरूप प्राप्त करके स्थित है, और वह कण्ठ तालु आदि करणों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर गद्य-पद्य आदि भेद से 'वर्ण' रूप में आविर्भूत होता है।

कालान्तर में उक्त (कार्य) बिन्दु से रौद्री शक्ति, नाद से ज्येष्ठा-शक्ति तथा 'बीज' से वामा-शक्ति का आविर्भाव हुआ।

'बिन्दु' से उत्पन्न रौद्री शक्ति इच्छा-शक्ति रूपा एवं तमोगुण प्रधाना है। ये भगवान् 'रुद्र' की शक्ति हैं। ये रुद्र अग्नि-स्वरूप हैं।

'नाद' से उत्पन्न ज्येष्ठा ज्ञान-शक्ति रूपा एवं सत्त्व-गुण प्रधाना है। ये भगवान् विष्णु की 'वैष्णवी' शक्ति हैं।

बीजोद्भवा वामा क्रिया शक्ति रूपा एवं रजोगुण प्रधाना हैं। ये ब्रह्मा की शक्ति हैं।

चूँकि 'शब्द-ब्रह्म' का आविर्भाव 'पर-शिव-मातृकात्मक' प्रथमोक्त 'बिन्दु' के पुन: 'कार्य-बिन्दु' आदि रूप-त्रय में विभक्तीकरण के फलस्वरूप हुआ है, अतएव 'अव्यक्त रव रूप-शब्द-ब्रह्म' में उक्त कार्य-बिन्दु' आदि से उद्भूत रौद्री आदि शक्तियाँ भी विद्यमान् रहती हैं। अगले श्लोकों में इनके गुण-कार्य आदि का निरूपण किया गया है।

अस्मिन्नेव परे तत्त्वे बिन्दु-त्रय-विभूषिते।
मातृकासम्पटुत्वेन संस्थितं व्यक्तिमागतम् ॥११॥

हे पार्वति ! यह परा-तत्त्व रूप शब्द-ब्रह्म तीन बिन्दुओं से शोभित है। समस्त मातृकायें अर्थात् 'वर्ण' (अक्षर) इस शब्द-ब्रह्म में सम्पुटित हैं—निहित है और उनका आविर्भाव या अभिव्यक्ति इसी से होता है ॥११॥

बिन्दुत्रयं प्रवक्ष्यामि बीजरूपं वरानने।
'ह'कारं बिन्दुरूपेण ब्रह्माणं विद्धि पार्वति ॥१२॥

हे वरानने ! शब्द-ब्रह्म को शोभित करने वाले तीनों बिन्दुओं के स्वरूप और कार्य का समासत: निरूपण कर रहा हूँ। इन तीनों बिन्दुओं में जो 'ह' कार रूप 'बिन्दु' हैं, हे पार्वति ! उसे 'ब्रह्मा' समझो ॥१२॥

'स'कार सर्ग बिन्दुभ्यां हरिश्चाहं सुरेश्वरि।
अविनाभावसंस्थानाल्लोके हरिहराविति ॥१३॥

'स'कार रूप दो बिन्दुओं वाला जो विसर्ग (:) है, उनमें से एक 'बिन्दु' श्री हरि है और एक बिन्दु मैं (शिव) हूँ। विसर्ग (:) में दोनों बिन्दु अविनाभाव से रहते हैं। एक के बिना दूसरा न रह सके, यह अविना-भाव सम्बन्ध है। विसर्ग के दोनों बिन्दुओं में से एक भी बिन्दु को हटा लिया जाये तो उसके विसर्ग-रूप का लोप हो जाता है। विसर्ग में दो बिन्दुओं की युगपत् स्थिति अनिवार्य है। मेरा और श्री हरि का विसर्ग के दोनों बिन्दुओं के समान युगपत्-नित्य सम्बन्ध हैं। हम दोनों (हरि और हर) संसार में इसी प्रकार से प्रतिष्ठित हैं ॥१३॥

ब्रह्माबिन्दु महेशानि! वामा-शक्ति निगद्यते।
विश्वं वमति यस्मात्तद्वामेयं परिकीर्तिता ॥१४॥

हे महेशानि! उपर्युक्त त्रिकोण में जो 'ह'कार रूप ब्रह्मा बिन्दु है, वह 'वामा-शक्ति' का अधिष्ठान है। वामा ब्रह्मा जी की शक्ति हैं। ब्रह्मा-बिन्दु पर अधिष्ठिता शक्ति चूँकि विश्व का वमन करती है, अर्थात् पर-शिव की परा-शक्ति के गर्भ में बीज रूप से संस्थित संसार को प्रकट करती है, अतः वे 'वामा-शक्ति' के नाम से विख्यात हैं ॥१४॥

ज्येष्ठा तु वैष्णवी शक्तिः पालयन्ती जगत् त्रयम्।
ततो रौद्री ग्रसन्ती तु क्रमेण परमेश्वरि ॥१५॥

विश्व की प्रथम अवस्था है—सृष्टि अवस्था। इस अवस्था में संसार की रचना होती है, उसका विकास होता है। सृष्टि का कार्य ब्रह्मा जी की वामा-शक्ति करती है। ब्रह्माण्ड की दूसरी अवस्था है—स्थिति। इसमें संसार का कार्य-व्यापार चलता है। संसार के क्रिया-व्यापार को जारी रखने के लिये उसका पालन एवं परिरक्षण आवश्यक है। पालन एवं परिरक्षण के अभाव में कार्य-व्यापार ठप्प हो जायेगा और संसार की स्थिति संकटापन्न हो जायेगी। संसार के पालन का काम ज्येष्ठा शक्ति करती है। यह वैष्णवी शक्ति हैं अर्थात् विष्णु की शक्ति हैं। अन्त में यथा—समय रौद्री शक्ति संसार का नाश करके प्रलयावस्था व्यक्त कर देती हैं। यह समस्त ब्रह्माण्ड पुनः महा-शक्ति के गर्भ में बीज-रूप से लीन हो जाता है ॥१५॥

एवं बिन्दुत्रयं विद्धि गुणत्रयविभूषितम्।
बिन्दुशब्देन शून्यं तु तथापि गुणसूचकम् ॥१६॥

यद्यपि बिन्दु शब्द शून्यता एवं गुणराहित्य का सूचक है तथापि ब्रह्मा-विष्णु एवं रुद्र रूप तीन कार्यकारी बिन्दुओं की समवेत संस्थिति के फल-स्वरूप ये तीनों बिन्दु रजोगुण, सतो गुण एवं तमोगुण रूप तीन गुणों से विभूषित हैं ॥१६॥

इच्छा ज्ञान क्रिया रूपं भूर्भुवः स्वरूपकम्।
पुरत्रयात्मकं विद्धि तत्त्वत्रयमयं प्रिये ॥१७॥

बिन्दु त्रये महेशानि ! सर्वमेतत्प्रतिष्ठितम् ।
अम्बिका बिन्दुभिर्देवि ! गुणत्रय परम्परा ॥१८॥

हे प्रिये ! बिन्दु-त्रय युक्त इस शब्द-ब्रह्म में इच्छा, ज्ञान और क्रिया—ये तीनों शक्तियाँ, भू-भुवः, एवं स्वः—ये तीनों लोक और तत्त्व-त्रय (आत्म-विद्या एवं शिव) समाहित हैं, स्थित हैं ।

वामा-ज्येष्ठा और रौद्री—ये अम्बिका शक्ति है । अम्बिका-शक्ति के वामा-ज्येष्ठा और रौद्री-इन बिन्दुओं से गुण-त्रय (सत्-रजस एवं तमस) का उद्भव और विकास हुआ है ॥१७-१८॥

विमर्श—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—ये तीन अवस्थायें हैं, सतोगुण, रजोगुण एवं तमो-गुण—ये तीन गुण हैं, ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र—ये तीन देव-मूर्तियाँ हैं और वामा, ज्येष्ठा एवं रौद्री ये तीन शक्तियाँ हैं । अगले पाँच श्लोकों में उपर्युक्त त्रय समुच्चय का परस्पर सम्बन्ध निरूपित करते हुए कहा गया हैः—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिश्च बिन्दुत्रयभव शिवे !।
जाग्रत् सत्वगुणा ज्ञेया, केवलं शक्तिरूपिणी ॥१९॥

हे शिवे ! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थायें हैं । ये तीनों अवस्थायें ज्येष्ठा आदि तीन बिन्दुओं से उत्पन्न हुई हैं । इनमें से जाग्रत्-अवस्था सत्व-गुण प्रधाना है । इसे केवल शक्ति-रूपिणी समझना चाहिए ॥१९॥

विमर्श—जाग्रत्-अवस्था सत्व-गुण प्रधान है । यह ब्रह्माण्ड की स्थिति-अवस्था है । यह ज्येष्ठा-शक्ति युक्त विष्णु स्वरूपिणी है ।

श्री 'मातृका-चक्र विवेक' के अनुसार—'सुषुप्ति के उपरान्त जिस अवस्था में घट-पट आदि वस्तुओं की चिदात्मक-सम्वेदना का अनुसन्धान होता है, वह जाग्रत् अवस्था है । इस जाग्रत्-अवस्था में कर्म की प्रधानता होती है, और शरीर में दक्षिण-अंग प्रधान होता है, अतः जाग्रत-अवस्था महा-शक्ति का दक्षिण-अंग हैं ।[1]

अक्ष-माला में 'क' कार से 'म'कार पर्यन्त २५ वर्ण स्पर्श वर्ण हैं । ये २५ स्पर्श वर्ण जाग्रत्-अवस्था की अभिव्यञ्जना करते हैं ।'[2]

मनोव्यावृति विस्तारा दुःख दोषाभिलाषिणी ।
शिवरूपा सुषुप्तिस्तु सर्वव्यावृति हरिणी ॥२०॥

---

१. 'जाग्रत्-सुषुप्ति कृत दक्षिण-वाम-भागाम् ।' प्रथम खण्ड का प्रथम-सूत्र । इसकी व्याख्या—'सुप्ति निवृत्तौ घट पटादीनां चिद्वेदनानुसंधान दशा जाग्रत् (दशा) । जाग्रतः क्रियारूपतया दक्षिणभागत्वं कर्म-प्रधानः खलु शरीरेऽनुभूयते ॥'

२. स्पर्श-स्वरोल्लिखिता जागरसुप्तवस्था । प्रथम खण्ड का दूसरा सूत्र ।

देहधर्मपरित्यक्ता, शिव तत्व स्वरूपिणी।
तमोगुणमयी कर्म ग्रसन्ती मोक्षरूपिणी ॥२१॥

इन दो श्लोकों में सुषुप्ति अवस्था का निरूपण किया गया है। जाग्रत्-अवस्था के अन्त और स्वप्नावस्था के पूर्व यह सुषुप्ति-अवस्था होती है। मरण, विस्मृति, मूर्छा और निद्रा इस सुषुप्ति-अवस्था की चार कलायें हैं, जैसा कि आगे त्रयोदश-पटल (श्लोक संख्या १८) में बताया गया है।

यह सुषुप्ति-अवस्था, दुःख दोषाभिलाषिणी, मनो व्यावृत्ति विस्तारा, देहधर्म परित्यक्ता, तमोगुणमयी, शिवरूपा, शिवतत्त्व स्वरूपिणी और कर्मों का नाश करने वाली मोक्षरूपिणी है ॥२०-२१॥

विमर्श—'मनः एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः'—इस गीतोपदेश के अनुसार मन ही संसार में मनुष्यों के बन्धन और इस बन्धन से मोक्ष का हेतु है, कारण है। 'व्यावृत्ति' का अर्थ है—आवरण, आच्छादन। मन के ही कारण आत्मा, प्रपञ्च-जाल में फँसी हुई है। मन के ही कारण आत्मा में 'कर्तृत्वाभिमान' और स्वयं को देह मानने की भ्रान्ति है। मन के ये आवरण दुःख और दोषों के मूल हैं। मन के इस आवरण के कारण आत्मा पशु के समान पाश-बद्ध है।

देह अर्थात् शरीर सभी शुभ और अशुभ कर्म करने का साधन है। मन के संकल्पित कर्मों को सम्पादित करना देह का धर्म है। देह की इस कर्म-सम्पादन क्षमता तथा प्रवृत्ति के कारण मन के माध्यम से आत्मा में देहाभिमान होता है। सुषुप्ति अवस्था में देह निष्क्रिय हो जाता है और मनो-वृत्तियाँ स्तम्भित एवं विरमित हो जाती हैं। अतएव अभिमान जन्य आवरणों के बन्धन शिथिल हो जाते हैं। मन विश्रांत हो जाता है। इस तरह यह सुषुप्ति-अवस्था आत्मा को शिव के निर्विकल्प परम आनन्द की अनुभूति करा देती है। अतएव वह शिव-रूपिणी है। आत्मा को प्रपञ्च-जाल से पृथक कर देने के कारण मोक्ष-रूपिणी है। कर्म और कर्म-फल का ग्रास करने के कारण तमोमयी है।

श्री 'मातृका-चक्र विवेक' के अनुसार व्यष्टि और समष्टि अथवा पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड की यह सुषुप्ति अवस्था विराट् महाशक्ति का वाम-अंग हैं। 'स्वर-वर्ण' इस अवस्था के अभिव्यञ्जक है।

सुषुप्त्यन्ते जागरादौ स्वप्नावस्था रजोमयी।
उभयोर्लक्षणैः युक्ता, तृष्णा-लक्षण-लक्षिता ॥२२॥

सुषुप्ति के अन्त और जाग्रत् अवस्था के आदि में स्वप्नावस्था होती है। यह रजोमयी है अर्थात् रजोगुण प्रधाना है। यह सुषुप्ति और जाग्रत्-इन दोनों के लक्षणों अर्थात् गुण-धर्म से युक्त है। 'तृष्णा' इसका विशिष्ट लक्षण है ॥२२॥

विमर्श—'सुषुप्यन्ते-जागरादौ' अर्थात् 'सुषुप्ति के अन्त में' और 'जाग्रत् के आदि में'। 'सुषुप्ति के अन्त में' का अर्थ 'सुषुप्ति के बाद' नही हैं। 'अन्ते' (अन्त में) से यह ध्वनित होता है कि यह स्वप्नावस्था सुषुप्ति के सीमान्त में इसके अन्तर्गत ही है, सुषुप्ति से बाहर नहीं है। अत: यह सुषुप्ति का एक अवान्तर रूप है। चूँकि इसमें सुषुप्ति के सभी गुण-धर्म पूर्णत: विद्यमान् नहीं हैं, अत: इसका पृथक से उल्लेख किया गया है। सुषुप्ति और स्वप्न में अन्तर यही है कि सुषुप्ति में निद्रा की जो सान्द्रता और प्रगाढ़ता होती है, वह स्वप्न में क्षीण, शिथिल और विरल होती जाती है। सुषुप्ति का अवसान होने लगता है।

'जागरादौ'—जाग्रत् के आदि में। 'आदि' शब्द 'मूल', 'उत्स' एवं 'प्रारम्भ' का वाचक है, यथा—'आदि-पुरुष', 'आदि' से अन्त तक अर्थात् शुरु से आखिर तक। तात्पर्य यह कि जागरण अवस्था का प्रारम्भ इस अवस्था से होता है। इस तरह यह अवस्था सुषुप्ति के अवसानात्मक एवं जाग्रत् के समारम्भात्मक लक्षणों वाली है। सुषुप्ति और जाग्रत्—इन दो परस्पर विरोधी अवस्थाओं के संकुचित गुण-धर्मों की विद्यामानता के कारण इस अवस्था में न तो सुषुप्ति के समान मन: शून्यता होती है, और न सर्वथा निर्विकल्पता। दूसरी ओर इसमें जाग्रत्-अवस्था के समान मन:-संकल्पित कर्मों का प्रत्यक्ष सम्पादन भी नहीं होता। सर्वथा निष्क्रियता नहीं होती, परन्तु 'मन' सक्रिय हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था में प्रपञ्च की जो सर्वथा विस्मृति रहती है, स्वप्नावस्था में वह समाप्त हो जाती है। प्रपञ्च-का बोध स्वप्नावस्था में अंकुरित होता है। फलत: 'तृष्णा' की उत्पत्ति होती है। इस तृष्णा में डूबा हुआ 'मन' तृष्णा की पूर्ति के लिये पञ्च-भूतात्मक संसार के समरूप अभौतिक संसार का निर्माण करके उसमें विचरण करता हुआ प्रापञ्चिक दु:ख का अनुभव करता है।

जाग्रत् आदि ये अवस्थायें केवल 'व्यष्टि-जीवन' में ही नहीं होतीं। व्यष्टि के समान ही समष्टि की, ब्रह्माण्ड की भी ये दशायें होती हैं। प्रलय के बाद जब बीज-रूप ब्रह्माण्ड को अपनी कोख में स्थापित करके महा-शक्ति मातृका तद्गता एवं तदाकारा होकर 'पर-शिव' में पूर्णत: तल्लीन रहती हैं, वह ब्रह्माण्ड की सुषुप्ति अवस्था है। अपरिमित काल के पश्चात् जब सुषुप्ति की प्रगाढता समाप्त होती है, चराचर ब्रह्माण्ड की स्मृतियाँ सक्रिय होने लगती हैं। उस समय जीवों को उनका प्रारब्ध-भोग प्रदान करने के लिये महा-शक्ति में 'सिसृक्षा' उत्पन्न होती है और इस 'सिसृक्षा' वश ही सृष्टि-रचना की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

सुषुप्ति तमोगुण 'प्रधाना है और जाग्रत् में सत्त्व-गुण की प्रधानता है। चूँकि स्वप्नावस्था सुषुप्ति और जाग्रत् अवस्थाओं के मिले-जुले गुण-धर्म वाली है, अत: यह सत् और तम मिश्रित रजोगुण वाली है।

विग्रहवती मातृका-महाशक्ति के अवयव रूप सुषुप्ति आदि का अवस्था-त्रय का निरूपण करते हुए श्री 'मातृका-चक्र-विवेक' में स्वप्नावस्था को मातृका शक्ति का 'जघन्य-भाग' अर्थात् योनि-मण्डल' बताया गया है:—

'स्वप्न स्वभाव-परिक्लृप्त-जघन्य-भागाम्' (१/१)

'स्वप्नेत्यादि-अनिवृत्तायां सुप्तौ मानसिक भेद: संसार: स्वप्न: स एव स्वभावोऽवस्था विशेष: तेन परिक्लृप्तो जघन्यभागो योनि भागो ययातम्। सुषुप्ति जाग्रन्मध्य दशाया: स्वप्नस्य मध्याङ्गौचित्त्ये विकल्पोदये स्थानात्वाद् योनित्वमुक्तम्'।

जीव और ब्रह्माण्ड की तीन दशायें होती हैं। यथा (१) गर्भ दशा (२) प्रसव दशा और (३) प्रवृद्धि दशा। इस दशा-क्रम से विचार करने पर सुषुप्ति-गर्भदशा है, स्वप्नावस्था-प्रसव दशा और जाग्रत् अवस्था प्रवृद्धि दशा है।

अन्त:स्थ वर्ण 'य-र-ल-व' न तो शुद्ध स्वर-वर्ण हैं और न ही शुद्ध-व्यञ्जन। यद्यपि स्वरों के परस्पर मेल से इनकी व्युत्पत्ति होती है, परन्तु स्वरों से उत्पन्न होने के बावजूद इन्होंने अपने स्वर-रूप को छोड़कर व्यञ्जन-स्वरूप प्राप्त किया है, अत: इन्हें 'अन्त:स्थ' (अर्थात् स्वर और व्यञ्जन के मध्य में स्थित) कहा जाता है। 'स्वर' सुषुप्ति के और 'स्पर्श' वर्ण जाग्रत्-अवस्था के अभिव्यञ्जक हैं, अतएव सुषुप्ति और जाग्रत् की 'अन्त:स्था स्वप्नावस्था' के अभिव्यञ्जक ये 'अन्त:स्थ-वर्ण हैं।

'अन्तस्थ सूचित सुषुप्त्युदित प्रबोधम्' (१/३)

इस तरह ९ श्लोकों में (१४ से २२) प्रजापिता ब्रह्मा आदि त्रिदेव, इच्छा-ज्ञान एवं क्रियात्मिका वामा आदि बिन्दु-शक्तियों से उत्पन्न स्वप्न आदि अवस्था-त्रय का निरूपण किया गया है। तदनुसार रजोगुण मयी सृष्टि-आत्मिका 'स्वप्नावस्था' प्रसरित और प्रवर्धित होकर स्थित्यात्मिका 'जाग्रत्-अवस्था' के रूप में विकसित होती है। सत्त्वगुणमयी जाग्रत् अवस्था का अवसान संहार-धर्मिणी सुषुप्ति-अवस्था में होता है। कालान्तर में 'सुषुप्ति-अवस्था' अपनी तमोमयी प्रगाढ़ता का परित्याग करके पुन: 'स्वप्नावस्था' प्राप्त करती है। इस तरह सृष्टि-स्थिति-संहार और पुन: सृष्टि आदि का क्रम चलता रहता है। इन तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त एक अन्य चतुर्थी-अवस्था है—'तुर्यावस्था' जो इन सभी अवस्थाओं से विलक्षण है।

अवस्थात्रयमेतत्तु कथितं बिन्दु-सम्भवम् ।
एतस्मिन्वैदन्वे ज्ञाते, तुर्यावस्थां शृणु प्रिये ॥२३॥

श्री ईश्वर कहते हैं—हे प्रिये ! मैंने आपसे बिन्दुओं से उत्पन्न तीन अवस्थाओं का निरूपण किया है । अब चतुर्थी-'तुर्यावस्था' का निरूपण सुनिये ॥२३॥

निद्रादौ जागरस्यान्ते, स्फुरत्तामात्रलक्षणा ।
अवस्था पूर्णतां प्राप्ता, तुर्यावस्था परा-कला ॥२४॥

यह 'तुर्यावस्था' जाग्रत्-अवस्था के अन्त में और निद्रा-अवस्था के अदि में होती है । संस्फुरण—मात्र संस्फुरण इसका लक्षण है । अर्थात् संस्फुरण मात्र से यह जानी जाती है । अवस्थाओं की पूर्णता को प्राप्त यह 'परा-कला' है ॥२४॥

भावाभाव परित्यक्ता, गुणातीता सुनिश्चला ।
इयमेव यदा देवि ! मनसा प्राप्यतो सदा ॥२५॥
उन्मनी नाम सद्रूपा, ज्ञानवल्ली चिदात्मिका ।
बिन्दु त्रयेण नादेन, प्रसृताऽऽनन्द-रूपिणी ॥२६॥

हे देवि ! यह भाव-अभाव परित्यक्ता है अर्थात् इसमें न तो भाव है और न अभाव । यह गुणातीता है अर्थात् तमो आदि गुणत्रय से परे है । इसमें तमो आदि कोई गुण नहीं है । यह सुनिश्चला अर्थात् स्थिर है । यह केवल मन के द्वारा प्राप्त की जा सकती है । इसे प्राप्त करके मन उन्मनी अवस्था को प्राप्त कर लेता है । यह सद् रूपा, ज्ञान वल्ली, चिदात्मिका एवं आनन्द-रूपिणी है अर्थात् सत्-चित्त और आनन्दमयी है । यह 'तूर्यावस्था' उपर्युक्त बिन्दु-त्रय और 'नाद' से सर्वत्र प्रसार प्राप्त करती है ॥२५-२६॥

विमर्श—'निद्रादौ जागरस्यान्ते'—जाग्रत् अवस्था के अन्त में और निद्रावस्था के आदि में 'यह तुर्यावस्था होती है । त्रयोदशः पटल (श्लोक-२४) में इसे 'सुषुप्त्यादौ-जागरान्ते' अर्थात् 'जाग्रत् अवस्था के अन्त में और सुषुप्ति अवस्था के आदि में होने वाली बताया गया है । इससे यह ज्ञात होता है कि 'निद्रा' और 'सुषुप्ति' एक ही अवस्था है तथा अवान्तर भेद से इसके दो नाम हैं ।

तुरीया एवं अवस्था त्रय में अन्तर–यद्यपि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति उत्पत्ति-भेद एवं गुण-त्रय भेद से पृथक अवस्थायें हैं, परन्तु इनमें प्रगाढ़-सम्बन्ध हैं । ये परस्पर-पूरक हैं ।

उत्पत्ति, जागरण, बोध और मन की व्यावृत्ति—ये चार जाग्रत्-अवस्था की कलायें हैं (पटल-२३ श्लोक २३) अथवा गुण-धर्म हैं । सुषुप्ति की कलायें अथवा गुणधर्म हैं—मरण, निद्रा, विस्मृति और मूर्च्छा (पटल-१३/१८) जाग्रत् एवं सुषुप्ति

के गुण-धर्म एक दूसरे के सर्वथा प्रतिकूल हैं। इनमें एक धनात्मक (Positive) और दूसरी ऋणात्मक (Negative) हैं, परन्तु परस्पर प्रतिकूल गुणधर्म वाली होकर भी ये दोनों प्रपंच के कार्य व्यवहार के लिये एक समान आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। अभिलाषा, चिन्ता, भ्रम एवं विषयों की बारम्बार स्मृति रूप गुण-धर्म वाली 'स्वप्नावस्था' में सुषुप्ति तथा जाग्रत् इन दोनों के ही गुण-धर्म मिश्रित रूप से विद्यमान् हैं। 'उभयोर्लक्षणैर्युक्ता तृष्णा लक्षण लक्षिता' (श्लोक संख्या-२२)

यह चौथी अवस्था, जिसे तुरीयावस्था भी कहा जाता है, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-इन तीनों ही अवस्थाओं से सर्वथा भिन्न है। भावात्मक जाग्रत् और स्वप्नावस्था में कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा प्रपञ्च से संलग्नता एवं सम्बद्धता के जो भाव हैं, वे सभी भाव सुषुप्ति अवस्था में समाप्त हो जाते हैं। तुरीयावस्था में न तो ये भाव होते हैं और न ही यह सुषुप्ति के समान अभावात्मक हैं। अतः वह 'भावाभाव परित्यक्ता' है।

गुणातीताः—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में क्रम से सत्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण की प्रधानता है। ये तीनों अवस्थायें गुण-विशिष्ट हैं, परन्तु तुरीयावस्था में इनमें से कोई भी गुण नहीं है। अतः वह 'गुणातीता' है।

निश्चलताः—जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में गति है, हलचल है, क्रियात्मकता है, सुषुप्ति में गति का अभाव होने के कारण निश्चलता है और निष्क्रियता है। तुरीयावस्था में भी निश्चलता है मगर इन दोनों की निश्चलता में अन्तर है। सुषुप्ति में जड़ता है, जड़ता जन्य निश्चलता है जबकि तुरीया की निश्चलता चैतन्य है, उसमें जड़ता नहीं है, उसमें स्फुरता है, उसकी गति स्फुरता में निहित है, आत्म-केन्द्रित है। वह निष्क्रिय नहीं है, उसकी सक्रियता सर्वत्र प्रसरित है।

अपनी इस विशिष्टता और भिन्न-स्वरूपता के कारण यह 'अवस्था पूर्णतां प्राप्ता' है—जाग्रत् आदि अवस्था-त्रय से परे है। जाग्रत् आदि अवस्थाओं के बाद ही इसे प्राप्त किया जा सकता है और वह भी केवल 'मन' से। यह अवस्था केवल 'मन के द्वारा केवल मन' को प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में पञ्च-भूतात्मक शरीर पर, शरीर के क्रिया-व्यवहार पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता। इस दृष्टि से भी यह जाग्रत् आदि अवस्थाओं से भिन्न है, क्योंकि जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं का मन के साथ देह के क्रिया-व्यापार पर प्रभाव पड़ता है। इन अवस्थाओं में शरीर के क्रिया-व्यापार में बदलाव आ जाता है।

वैराग्य, मुमुक्षत्व, शम आदि से मन की निर्मलता एवं सद्-असद् के निर्धारण की क्षमता रूप विवेक तुरीयावस्था की कलायें हैं, गुणधर्म है। स्पष्ट है, ये ऐसे गुण-

धर्म हैं जो मन के द्वारा केवल मन को ही प्राप्त हो सकते हैं, मन को ही प्राप्त होते हैं। इस अवस्था अर्थात् इसकी विभूतियों को प्राप्त करके 'मन' को **'उन्मनी'** अवस्था की प्राप्ति हो जाती है।

संसार से पराङ्मुखता 'उन्मनी' अवस्था है। संसार से और संसार के विषय भोगों से पराङ्मुख होकर 'चित्' अर्थात् शिव की ओर मन की प्रवृत्ति होती है। 'शिव' ही 'सत्' हैं, 'आनन्द' हैं, 'ज्ञान' हैं। अतएव शिव (ब्रह्म) को 'सच्चिदानन्द' कहा जाता है। यह अवस्था 'सच्चिदानन्द मयी' है—'सच्चिदानन्द स्वरूपिणी' हैं।

बिन्दु त्रयेण नादेन प्रसृता—'सच्चिदानन्द स्वरूपिणी' यह तुरीयावस्था 'नाद' और उक्त बिन्दु त्रय से सर्वत्र सब दिशाओं में प्रसरित है, व्याप्त हैं। 'नाद' और 'बिन्दु' पराशक्ति 'मातृका' की सृष्टि-उन्मुखी अवस्था के द्योतक हैं। अतएव यह तुरीयावस्था पराशक्ति मातृका रूपा है।

श्री 'मातृका चक्र-विवेक' में इस तुरीयावस्था को परा शक्ति मातृका का 'मुख' निरूपित किया गया है:—

तुर्यातितुर्य घटितानन-हृत्प्रदेशा (म्) (१/१)

यह तुर्यावस्था परा शक्ति मातृका का 'मुख' है। अन्य ग्रन्थों में वर्णित पांचवीं-तुर्यातीतावस्था मातृका महाशक्ति का हृदय प्रदेश हैं।

'मुख' का कार्य है—चर्वण करना। चूँकि यह अवस्था जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं का 'चर्वण' कर लेती है, अतः इसे 'मुख' बताया गया है—

'तुर्यस्थ जाग्रदादिदशा विजृम्भमाण चेत्य कवलानान्मुखत्वमुक्तम्। मुखं हि चर्वण व्यापारवत्'

'रौद्री ग्रसन्ती तु क्रमेणपरमेश्वरी' (श्लोक संख्या-१५) में भगवती रौद्री-शक्ति को 'ग्रास-कारिणी' 'संहार-कारिणी' बताया गया है। श्री 'मातृका-चन्द्र-विवेक' (१-१) में संहार से व्यक्त सुषुप्ति अवस्था को परा-शक्ति मातृका का 'वाम-भाग' निरूपित किया गया है। इस तरह 'सुषुप्ति' और 'तुर्या' इन दोनों की अवस्थाओं में 'ग्रसन' और 'चर्वण' रूप 'कर्म-सम्पादन' सिद्ध होता है—परन्तु इसमें भेद है, अन्तर है। भगवती रौद्री शक्ति 'जगत्-त्रयम्' अर्थात् तीनों लोकों का 'ग्रसन' करके संहार या प्रलय रूप-मात्र सुषुप्ति-अवस्था को व्यक्त करती हैं, और यह 'तुर्यावस्था' प्रलय रूप सुषुप्ति-अवस्था सहित तीनों अवस्थाओं और उन्हें व्यक्त करने वाली वामा-ज्येष्ठा एवं रौद्री तीनों शक्तियों, उनके सहित त्रिदेवों (ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र) एवं तीनों गुणों, तीनों तत्वों को 'चर्वण' करके 'अन्तर्लीन' कर लेती

हैं। कालान्तर- में यही मातृका शक्ति 'सृष्टि-उन्मुखी' होकर क्रम-क्रम से इन्हें व्यक्त कर सृष्टि (विश्व) की रचना करती है। इसीलिये 'प्रपञ्चसार' में ब्रह्मा-विष्णु और रुद्र को विश्व की उत्पत्ति, स्थिति (पालन) और संहार (प्रलय) के लिये 'अक्षर-सम्भूत' अर्थात् 'अक्षर से उत्पन्न' कहा गया है—'यूयमक्षरसम्भूता: सृष्टि स्थित्यन्त हेतव:' (प्रथम पटल-श्लोक संख्या-१७)

बिन्दुत्रय समायोगात् त्रिपुरा नाम रूपिणी।
वर्णातीता सवर्णाऽपि, केवलं ज्ञान चित्कला॥२७॥

पूर्वोक्त बिन्दु-त्रय के समायोग के कारण ये 'त्रिपुरा' नाम रूपिणी हैं। वे 'वर्णातीता' हैं और 'सवर्णा:' अर्थात् 'वर्णमयी' भी। वे केवल ज्ञान-चित्कला हैं॥२७॥

विमर्श—'नाम-रूपिणी' अर्थात् नाम-रूप वाली। समस्त जीव समूह सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि (रचना) स्थिति (पालन) और संहार (प्रलय) करने वाली त्रि-बिन्दु रूपिणी-वामा (ब्राह्मी) ज्येष्ठा (वैष्णवी) और रौद्री (माहेश्वरी) शक्तियों की समायोगात्मिका जो समष्टि मूर्ति है, उसका नाम 'त्रिपुरा' है। 'सुन्दरी स्तव' में कहा गया है—

ब्राह्मी रौद्री वैष्णवीति, शक्तयस्तिस्त्र एव हि।
पुरं शरीरं यस्या: सा, त्रिपुरेति प्रकीर्तिता॥

तन्त्रान्तर में भी कहा गया है—

प्रकाशश्च विमर्शश्च, स्पन्द: सत्ता चितिक्रिया।
स्फुरत्तेति समाख्याता, सा वै त्रिपुरसुन्दरी॥

'मन्त्र-शास्त्र' में 'त्रिपुरा' की व्याख्या है—

त्रिमूर्ति सर्गाच्च पुरा भवत्वात्,
त्रयी मयत्वाच्च पुरैव देव्या:।
लये चिलोक्या अपि पूरकत्वात्
प्रायोऽम्बिकाया: त्रिपुरेति नाम॥

त्रिभ्य: पुरा त्रिपुरा

जो त्रिमूर्ति (ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र) के जन्म (आविर्भाव) से पूर्व ही विद्यमान थीं, वेदत्रयी (ऋक्, यजु:, साक्ष) के पूर्व भी विद्यमान् थीं और जो स्वर्ग, पृथ्वी एवं पाताल रूप त्रिलोक का 'लय' हो जाने के बाद उन्हें पूर्ववत् बना देती हैं, वे भगवती 'त्रिपुरा' हैं।

'त्रिपुरा' पद में 'त्रि' (तीन) संख्या वाचक विशेषण है और 'पुर' विशेष्य है, जो एक वचन में है। 'पुर' का अर्थ है नगर, गेह, देह आदि। अत: 'पुर' के वाचक सभी 'पद' जो तीन-तीन विशेषणों अथवा विभूतियों से विभूषित हों, वे सभी 'त्रिपुर' में समाहित हैं। यथा—

त्रि अग्नि (गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि एवं आवहनीय अग्नि)। त्रिज्योति (हृदय-ज्योति, ललाट-ज्योति एवं शिरो ज्योति) त्रिस्वर (उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित) त्रिलोक (स्वर्ग, पृथ्वी एवं पाताल) त्रिपीठ (जालन्धर, कामरूप एवं उड्डियाण) त्रिपदी-तीन पदों वाली गायत्री, त्रिवर्ण या त्र्यक्षर-वाग्भव, कामबीज एवं शक्तिबीज) इत्यादि इत्यादि।

इसी विशेषण-विशेष्य भाव को लक्षित करके 'कालिका-पुराण' में कहा गया है—

त्रिकोणं मण्डलं यस्या, भूपुरञ्च त्रिरेखात्मकम्।
मन्त्रोऽपि त्र्यक्षरा प्रोक्ता, तया रूपं त्रयं पुनः॥
त्रि-विधा कुण्डली शक्तिः, त्रिदेवानां च सृष्टये।
सर्वं त्रयं त्रयं यस्मात्, तस्मात् तु त्रिपुरा मता॥

जिनका पूजन-मण्डल त्रिकोणाकार है, त्रिकोणाकार पूजन मण्डल का भू-पुर भी तीन रेखाओं वाला है, जिनका मन्त्र भी तीन अक्षरों (कूटों) का है, जिनके रूप भी तीन हैं (बाला, भैरवी और महा-त्रिपुर सुन्दरी) जो त्रिवलया कुण्डलिनी के रूप में सभी प्राणियों में विद्यमान् हैं, जिन्होंने सृष्टि-कार्य के लिये तीन-देवताओं का आविर्भाव किया, जिनका प्रत्येक रूप तीन तीन रूपों वाला है, वे भगवती 'त्रिपुरा' हैं।

भगवती त्रिपुरा के पूजन-मण्डल के त्रिकोणाकार होने का भी गहन रहस्य है। यह त्रिकोण सृष्टि-उन्मुखी 'मातृका' महा-शक्ति के प्रथम विकास का सूचक है।

'वर्णातीता सवर्णाऽपि'—भगवती त्रिपुरा 'वर्णातीता' हैं। उनके तात्त्विक स्वरूप को न तो शब्दों से निरूपित किया जा सकता है, न शब्दों से समझा और जाना जा सकता हैं। 'शब्द' उनके तत्त्वातीत रूप की व्यञ्जना नहीं कर सकते। वे इस तरह 'वर्णातीता' होने पर भी सृष्टि-कार्य के लिये 'सवर्णा' अर्थात् 'वर्णमयी' और 'वर्ण-रूपिणी' हैं।

केवलं ज्ञान चित्कलाः—भगवती त्रिपुरा केवल ज्ञान हैं। केवल का अर्थ 'शुद्धतम' और 'एक मात्र' लिया जा सकता है। वे परिशुद्धतम ज्ञान हैं, ज्ञान-मूर्ति

है। लौकिक रूप में 'ज्ञान' पद व्यापक अर्थों वाला है, लेकिन लौकिक अर्थों वाले ज्ञान में 'अज्ञान' भी शामिल हैं जो आत्मा को भटकाव के अतिरिक्त कुछ नहीं देता। 'ज्ञान' वह है जो 'मुक्ति' प्रदान करे। 'ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः'—ज्ञान के विना मुक्ति नहीं हो सकती। कारण यह कि ज्ञान स्वयं 'परब्रह्म' है और यह विश्व भी ज्ञानात्मक है। ज्ञान-मात्र से सब वस्तुओं की स्थिति है।

ज्ञानमेव परंब्रह्म, ज्ञानं बन्धाय चेष्यते।
ज्ञानात्मकमिदं विश्वं, न ज्ञानाद् विद्यते परम्॥

भगवती त्रिपुरा ऐसे परिशुद्धतम ज्ञान की मूर्ति है। वे 'चित्कला' हैं—अर्थात् 'चैतन्य-कला' हैं। ऐसी चेतना जो स्वतन्त्र है। इसीलिये भगवती की एक संज्ञा 'चिति' अर्थात् 'स्वतन्त्र-चेतना' है जो स्वतन्त्र विश्व सिद्धि का हेतु है।

एनां विद्यां समाराध्य सर्वज्ञत्वं मयि प्रिये।
उपास्यते मया देवि! त्रिपुरा चाक्ष मालया॥२८॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्या-तन्त्रे स्वरूप
ज्ञेयमात्रं नाम प्रथमः पटलः॥१॥

हे देवि! इन्हीं भगवती त्रिपुरा महाविद्या की आराधना करने से मुझे 'सर्वज्ञता' प्राप्त हुई है। अक्ष-माला से मैं इन्हीं की उपासना करता हूँ॥२८॥

श्री ज्ञानार्णव नित्या-तन्त्र के 'स्वरूप ज्ञेय मात्र' नामक
प्रथम पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई॥१॥

अथ द्वितीयः पटलः

बाला न्यास विधानं

श्रीदेव्युवाच

त्रिपुरा परमेशान ज्ञान मार्गेण सूचिता ।
तत्त्व रूपेण कथय यद्यहं तव वल्लभा ।।१।।
त्रिपुरायाः प्रकारस्तु मन्त्रभेदश्च किं विधिः ।
सर्वं तच्छ्रोतुमिच्छामि येन सौभाग्यमानुप्याम् ।।२।।

देवी ने कहा—हे परमेशान ! आपने ज्ञान मार्ग से भगवती त्रिपुरा का निरूपण किया । यदि मैं आपकी वल्लभा हूँ अर्थात् यदि आप मुझे अपनी वल्लभा समझते हैं, प्रेयसी मानते हैं तो आप भगवती त्रिपुरा के तत्त्व-रूप का निरूपण करने की कृपा करें । भगवती त्रिपुरा के कितने रूप-भेद हैं, कितने मन्त्र-भेद हैं और इनकी क्या विधि है । मैं आपके श्रीमुख से यह सब सुनना चाहता हूँ ताकि त्रिपुरा-तत्त्व के श्रवण से मुझे सौभाग्य की प्राप्ति हो ।।१-२।।

विमर्श—ज्ञान-मार्गेण सूचिताः पूर्व पटल में 'वर्णातीता सवर्णाऽपि केवलं ज्ञान-चित्कला' आदि पदों से विश्व-प्रसविनी भगवती त्रिपुरा के जिस स्वरूप का निरूपण किया गया है, वह उनके अत्यन्त सूक्ष्म, निर्गुण रूप की झलक है जिसको समझ पाना केवल ज्ञान-योगियों के लिये सम्भव है । उनके इस निर्गुण रूप को समझ सकना सामान्य जन के लिये कठिन ही नहीं, असम्भव हैं । देवी स्वयं त्रिपुरामूर्ति हैं, दया मयी हैं, सभी प्राणियों की हिताभिलाषिणी हैं । अतः सामान्य जन की हित-कामना से उन्होंने अनुरोध किया—

'तत्त्व-रूपेण कथय'—'वर्णातीता' वे भगवती त्रिपुरा 'सवर्णा' अर्थात् सगुण-रूपा भी है । उनका यह सगुण-रूप सामान्य-जन के लिये बोधगम्य है अतः हे परमेशान ! तत्त्व-रूप से उनका निरूपण करें । 'तत्त्व' शब्द गुण, मूर्ति, बीज और पीठ का भी वाचक है ।[1] यहाँ इसी अर्थ में 'तत्त्व' शब्द का प्रयोग हुआ है । द्वितीय श्लोक का पूर्व-चरण 'त्रिपुरायाः प्रकारस्तु मन्त्र भेदश्च किं विधिः' उपर्युक्त अर्थों में तत्त्व-शब्द के प्रयोग का सूचक है ।

---

१. द्रष्टव्य—श्री गौडपादाचार्य के शक्तिः सूत्र 'तत्त्व त्रयेण भिदा' का भाष्य ।

ईश्वर-उवाच

> **त्रिपुरा त्रिविधा देवि! बालां तु प्रथमं शृणु।**
> **यया विज्ञातया देवि! साक्षात् सुरगुरुर्भवेत् ॥३॥**

देवी ने कहा—हे देवि ! भगवती त्रिपुरा के तीन भेद हैं । मैं इनके प्रथम रूप 'बाला त्रिपुरा' के मन्त्र आदि का निरूपण कर रहा हूँ । इसे ध्यान से सुनिए ।

विमर्श—'बालां तु प्रथमं शृणु' से यह सङ्केत मिलता है कि भगवती त्रिपुरा के दो और रूपों अर्थात् भैरवी और सुन्दरी विद्याओं का निरूपण आगे किया जायेगा ।

'बाला' का अर्थ है ८ या ९ वर्ष की कुमारिका, बालिका । 'त्रिपुरा-सिद्धान्त' में बाला की व्याख्या करते हुए बताया गया है—'बाला लीला विशिष्टात्वात् बालेति कथिता प्रिये ।' बाल-लीला की विशिष्टता के कारण भगवती त्रिपुरा के प्रथम रूप को 'बाला' कहा गया है । श्रुति भी ब्रह्म के इस रूप का प्रतिपादन करती है—'त्वं कुमार उत वा कुमारी ।' इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म के कुमारी रूप का नाम बाला है ।

शिव और शक्ति विश्व के माता-पिता हैं, ब्रह्माण्ड के आदि-कारण हैं । महाप्रलय के पश्चात् जब ब्रह्माण्ड का अस्तित्व नहीं रहता, शिव और शक्ति अद्वैत भाव से एकापन्न अवस्था में रहते हैं । अनन्त-काल के पश्चात् जब उनमें 'एकोऽहं बहुस्याम प्रजाये' की चाह उत्पन्न होती है, उस समय शिव तत्त्व से शक्ति तत्त्व अलग हो जाता है । इसके बाद ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के लिये निष्क्रिय शिव और सक्रिय शक्ति की जो विपरीत-रति होती है, उसे 'नाद' कहते हैं । इस 'नाद' से प्रसरणशील 'बिन्दु' उत्पन्न होता है । यह बिन्दु ही भगवती बाला का आविर्भाव है । इस तरह भगवती बाला त्रिपुरा विश्वात्मिका है ।

पूज्यपाद गुप्तावतार बाबा श्री ने दश-महाविद्याओं के आविर्भाव-क्रम की दार्शनिक व्याख्या करते हुए श्री बाला त्रिपुर-सुन्दरी को सभी दश महाविद्याओं की प्रथम-मूर्ति निरूपित किया है । इसीलिये मेरु-तन्त्रोक्त 'दश-मयी बाला-स्तव' में सभी दश-महाविद्याओं के रूप में भगवती बाला का स्तवन किया गया है—

> ***श्री काली बगलामुखी च ललिता धूमावती भैरवी।***
> ***मातङ्गी भुवनेश्वरी च कमला, श्री वज्र वैरोचिनी॥***
> ***तारा पूर्व महापदेन च कथिता विद्या स्वयं शम्भुना।***
> ***लीला रूपा मयी च देश दशधा बाला तु मां पातु सा॥***

सगुण ब्रह्म की दश महाविद्या रूपिणी कुमारी मूर्ति भगवती बाला का ज्ञान हो जाने से (यथा—विज्ञातया) साधक देवताओं के गुरु बृहस्पति के समान ज्ञान सम्पन्न हो जाता है । इसमें हेतु यह है बाला-विद्या का बीज—'ऐं' भगवती शारदा और

भगवती महा-सरस्वती के मन्त्रों का भी बीज है। आगे के दो श्लोकों में 'बाला' के त्र्यक्षर मन्त्र का उद्धार बताया गया है—

सूर्य स्वरं समुच्चार्य बिन्दु नाद कलान्वितम्।
स्वरान्तं पृथिवी युक्तं तूर्यस्वरसमन्वितम् ॥४॥
बिन्दु नाद कलाक्रान्तं सर्गवान्भृगुरव्ययः।
शक्रस्वरसमोपेतो विद्येयं त्र्यक्षरी मता ॥५॥

प्रथम कूट—सूर्य-स्वर (द्वादश) का अर्थ है 'ऐ' जो बिन्दु और नाद से युक्त है—अर्थात् 'ऐं'

द्वितीय कूट—'स्वरान्त' अर्थात् 'क' कार एवं पृथ्वी अर्थात् 'ल्' कार। इन दोनों व्यञ्जनों (क्ल) के साथ तूर्य स्वर 'ई'कार एवं बिन्दु-नाद की योजना करने से निष्पन्न हुआ—'क्लीं'। यह दूसरा कूट है।

तृतीय-कूट—भृगु अर्थात् 'स्' कार के साथ विसर्ग-युक्त 'शक्र-स्वर' अर्थात् 'औ:' की योजना करने से निष्पन्न—'सौ:' तृतीय कूट हैं।

मन्त्र-स्वरूप—'ऐं क्लीं सौ:'

आगे के ८ श्लोकों में इस त्र्यक्षरी विद्या की महिमा का निरूपण किया है। स्मरण रखें, स्त्री देवता के मन्त्र को पारिभाषिक रूप में 'विद्या' कहते हैं।

गङ्गा-तरङ्ग-कल्लोल, वाक्-पटुत्व-प्रदायिनी।
महा-सौभाग्य जननी, महा-सारस्वत प्रदा ॥६॥

यह त्र्यक्षरी विद्या अपने साधक को गङ्गा की उत्ताल-तरंगों के समान वाक्-पटुता, महान्-सौभाग्य एवं सारस्वत-ज्ञान प्रदान करती है ॥६॥

विमर्श—'गंगा तरंग-कल्लोल-वाक्-पटुता' का अर्थ है ऐसी वाक्-पटुता जो गंगा की धारा के समान अप्रतिहत, एवं गम्भीर, गंगा की लहरों के समान उदात्त, तथा गंगा जल के समान पवित्र एवं अर्थवती हैं। इस 'वाक्-पटुता' का हेतु यह है कि यह त्र्यक्षरी विद्या 'महा-सरस्वत' 'प्रदा' है। भगवती सरस्वती ज्ञान और वाणी की अधिष्ठात्री देवता हैं और उनका वास प्राणियों की जिह्वा में हैं, जैसा कि 'भारद्वाज-स्मृति' में कहा गया है—

या वसति प्राणि-जिव्हासु सदा वागुपवर्तनात्।
सरस्वती नाम्नेयं समाख्याता महर्षिभिः ॥

इसलिये 'सारस्वत' का कोश-गत अर्थ है ऐसी वाक्-पटुता जो तत्त्व-ज्ञान पर आधारित है, क्योंकि 'वाणी' की अधिष्ठात्री देवता होने के साथ ही भगवती सरस्वती

'ज्ञान' की भी अधिष्ठात्री हैं, ज्ञानाभिमानिनी देवता हैं। 'ज्ञान' से यथार्थ ज्ञान विशेष का बोध होता है, न कि भ्रान्त अथवा अययार्थ ज्ञान का।

महा सौभाग्य जननीः—भगवती बाला त्रिपुरा सर्व-सौभाग्य जननी हैं। 'सौभाग्य' क्या है ? सौभाग्य का अर्थ धन-दौलत नहीं है। 'सुभगायाः सुभगस्य वा भावः इति सौभाग्यं'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'सौभाग्य' शब्द पति और पत्नी की परस्पर-अन्तरङ्गता और समर्पण-युक्त अनुकूलता का वाचक है। 'सौभाग्य' के उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि सौभाग्य चिन्ह, सौभाग्य तन्तु, सौभाग्य तृतीया (हरतालिका तीज) आदि पदों एवं 'सौभाग्यवती-भव' इस आशीर्वाचन से होती है। दम्पत्ति की यह परस्पर मनोरम अनुकूलता ही सुखी गृहस्थ जीवन का आधार है जिसकी याचना श्री दुर्गा सप्तशती के अर्गला-स्तोत्र में इस तरह की गई है—

पत्नीं मनोरमां देहि, मनोवृत्तानुसारिणी।
तारणीं दुर्ग संसार सागरस्य कुलोद्भवाम्॥

तात्पर्य यह कि भगवती बाला ज्ञान-विज्ञान एवं वाक्-पटुता तथा पाण्डित्य के साथ पारिवारिक-गृहस्थ-सुख भी प्रदान करती है।

महा सौन्दर्य सुभगा महामृत्यु विनाशिनी।
ब्रह्मा-विष्णु-सुरेन्द्रादि, वन्दिता पाप हारिणी ॥७॥

वे अत्यन्त सौन्दर्य-शालिनी है, सुभगा हैं, अकाल-मृत्यु रूपी महा-मृत्यु का विनाश करती है। वे पाप-हारिणी हैं तथा ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र आदि सभी देवता उनके चरणों की वन्दना करते हैं ॥७॥

विमर्शः-महा-सौन्दर्य = वे साक्षात् मूर्तिमान् सौन्दर्य हैं। वे 'सुभगा' हैं अर्थात् ऐश्वर्य आदि षट् विभूतियों की स्वामिनी हैं। ऐश्वर्य, वीर्य (वीरता), यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य इस विभूति षट्क को 'भग' कहते हैं।[१] ऐश्वर्य का अर्थ है—प्रभुता, सर्वशक्तिमत्ता। अतः वे सर्वशक्ति सम्पन्न सर्वेश्वरी हैं और सभी के द्वारा वन्दनीया हैं। सायन ने 'भग' का अर्थ बताया है—'सर्वैः भजनीयः'[२]। इसलिये ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र आदि सभी देवता भी उनके चरणों की वन्दना करते हैं।

ज्ञान और वैराग्य भी षड् विध 'भग' की विभूति हैं। अतः वे अपने भक्तों को ज्ञान और वैराग्य प्रदान करके उनके पाप-समूहों का विनाश करती हैं।

---

१. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैवषणां 'भग' इतीरिता॥

२. इन्द्रो भगो वाजदा यस्य गावः। प्रजायन्ते दक्षिणा अस्य पूर्व्वीं'—इस मन्त्र के भाष्य में—'भगः—सर्व्वैः भजनीयः।

महामृत्यु विनाशिनी—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित है, ध्रुव है, अटल है। प्रकृति का यह एक ऐसा नियम है जिसे स्वयं प्रकृति भी नहीं तोड़ सकती। अतः 'मृत्यु' का विनाश नहीं हो सकता परन्तु दुष्कर्म जन्य पापों के कारण यथा विहित आयुर्दाय पूर्ण होने के पूर्व भी विक्रिया[१] रूप जो प्राण-संक्षय होता है, उसे अकाल मृत्यु कहते हैं। आयुर्दाय की (Span of Life) समाप्ति पर होने वाली मृत्यु की अपेक्षा यह अकाल-मृत्यु अधिक बलवती होती है जो आयुर्दाय की शृंखला में एक भी कमजोर कड़ी पाकर जीवन को समाप्त कर देती है। उसकी इस बलवत्ता के कारण इसे 'महा-मृत्यु' कहा और माना जा सकता हे। यह महा-मृत्यु दुष्कर्म जन्य पापों का फल है। भगवती बाला-त्रिपुरा इस अकाल मृत्यु के कारण भूत पापों का हरण करके इस महामृत्यु का विनाश कर देती हैं।

मृत्यु का एक अर्थ 'प्रलय' भी है। महामृत्यु अर्थात् महा-प्रलय। भगवती बाला-त्रिपुरा ब्रह्माण्ड की महाप्रलय जन्य शून्यावस्था को समाप्त करके ब्रह्माण्ड को पुनः स्थिति रूप प्रदान करती हैं।

सर्वतीर्थमयी देवी, स्वर्ण रत्नादि दायिनी।
सर्व लोकमयी देवी, सर्वलोक वशंकरी ॥८॥

भगवती बाला सर्व लोक मयी और सर्व तीर्थ मयी हैं। ब्रह्माण्ड के सभी लोक उनके वश में हैं। वे अपने भक्तों को स्वर्ण-रत्न आदि जागतिक सम्पत्ति भी प्रदान करती हैं ॥८॥

सर्व-लोक-मयी—वे ब्रह्माण्ड के तीनों लोकों और चतुर्दश भुवनों में व्याप्त हैं। यह उनकी विभुता और सर्व-व्यापकता का ज्ञापक है।

सर्व-तीर्थ-मयी—'तरति पापादिकं यस्मात्' इति तीर्थम्। ऐसे पुण्य स्थान जहाँ की यात्रा करने और स्नान आदि करने से मनुष्य पाप मुक्त हो जाता है—'तीर्थ' है। स्वर्ग-भूमि और अन्तरिक्ष में साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं। उनमें से केवल कुछ सौ मुख्य-मुख्य तीर्थों का उल्लेख पुराणों में मिलता है। यथा-विधि तीर्थ-यात्रा करने के फल-स्वरूप मनुष्य न तो तिर्यक् आदि हीन-योनियों में जाता और न ही कु-देश अर्थात् निकृष्ट-देश में उसका पुनर्जन्म होता है। उसे 'मोक्षोपाय' की प्राप्ति हो जाती है।[२]

---

१. विक्रिया—अन्यथा स्थितस्य वस्तुनोऽन्यथा परिणामे।
२. तिर्यग् योनिं न वै गच्छेत् कु देशे न च जायते।
न दुःखी स्यात् स्वर्गभाक् च, मोक्षोपायञ्च विन्दति ॥

'सर्व-लोक-मयी' होने के कारण वे हर-स्थान में विद्यमान् तथा व्रत्येक स्थान में व्याप्त हैं, इसके बावजूद उन्हें सर्व-तीर्थ-मयी कहने का क्या हेतु है ? इसे इस तरह समझिए। सर्व-व्यापी सगुण ब्रह्म सभी स्थानों में व्याप्त है, तथापि प्रतिमा आदि में ही उनकी पूजा इसलिये की जाती है, क्योंकि प्रतिमा आदि में प्रकृष्ट रूप से उनका आविर्भाव होता है। इसी तरह सर्व-लोक व्यापिनी भगवती बाला त्रिपुरा इन तीर्थों में प्रकृष्ट रूप से व्याप्त हैं। ये सभी तीर्थ उनकी ही पाप-अपहारिणी दिव्यता से ओत-प्रोत हैं।

'सर्व-लोक-वशङ्करी' वे सभी लोकों को अपने वश में करती हैं अर्थात् सभी लोकों को अपने वश में रखती हैं। यह विशेषण उनके सर्व-लोक स्वामिनी-सर्व लोकेश्वरी होने का अभिव्यञ्जक हैं।

'स्वर्ण-रत्न-प्रदायिनी'—वे अपने भक्तों को ज्ञान-विज्ञान पाण्डित्य एवं वैराग्य के साथ ही स्वर्ण-रत्न आदि जागतिक सम्पदा भी मुक्तहस्त से प्रदान करती हैं।

सर्वक्षेत्र मयी देवी सर्व कार्यार्थ साधिका।
महा मोक्ष प्रदा शान्ता, महा-मुक्ति-प्रदायिनी ॥९॥

वे सर्व-क्षेत्र मयी, सभी कार्यों को सिद्ध करने वाली, महा-मोक्ष प्रदा, शान्ता और महा-मुक्ति प्रदायिनी हैं ॥९॥

'सर्व-क्षेत्र-मयी:'—जो महिमा तीर्थों की है, वही महिमा वाराणसी, काम-रूप, गया, गङ्गा, भास्कर, नारायण एवं पुरुषोत्तम आदि सिद्ध-क्षेत्रों की है। तीर्थों के समान इन सिद्ध-क्षेत्रों में भी वे प्रकृष्ट रूप से विद्यमान हैं।

महा-मोक्ष प्रदा-शान्ता- महा मुक्ति प्रदायिनी—वे 'शान्ता' है तथा जीव मात्र को मोक्ष एवं मुक्ति प्रदान करती हैं।

धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय हैं। इनमें 'मोक्ष' सर्वोपरि है—मानव-जीवन का परम लक्ष्य हैं। धर्म आदि शेष तीन पुरुषार्थ 'मोक्ष' प्राप्ति में सहायक-मात्र हैं। 'मोक्ष' और अथवा 'मुक्ति' का अर्थ है—अपने शुद्ध-बुद्ध चैतन्य एवं आनन्दमय रूप को प्राप्त कर आत्मा का जन्म और जगत् के दुःखों से छुटकारा। यद्यपि 'मोक्ष' और 'मुक्ति' का कोश-गत अर्थ एक ही है और वे परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इनमें स्तर-गत अन्तर है। 'मुक्ति' के सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य आदि भेदों और इनकी प्राप्ति की उपाय—विधियों का निरूपण 'शिव-गीता' 'महा-मोक्ष-तंत्र' एवं 'मुक्तकोपनिषद्' आदि ग्रन्थों में किया गया है।

यद्यपि पुराण आदि ग्रन्थों में शिव एवं विष्णु आदि को 'मुक्ति-दाता' निरूपित किया गया है मगर शाक्त दृष्टि से केवल विश्व-मातृका भगवती ही मुक्ति और मोक्ष प्रदान करने में समर्थ हैं क्योंकि ब्रह्मा आदि देवता तो 'शक्तिहीन' एवं 'प्रेत' हैं और वे कुछ कर सकने में असमर्थ हैं, जैसा कि 'महा-मोक्ष-तंत्र' (सप्तम-पटल) में कहा गया है—

अतएव महेशानि ! सा एव मोक्ष-प्रदायिनी ।
विश्व-माता च सा देवी, विश्वपालन कारिणी ॥
मोक्षदा सर्व लोकानां मुक्तिदा विश्वमातृका ।
भुवनेशीं विना ईशः किञ्चित् कर्तुं न शक्यते ॥

ब्रह्मा-विष्णु आदि को 'प्रेत' कहे जाने का रहस्य निरूपण अगले चतुर्थ पटल में किया गया है ।

'शान्ता'—ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति (पालन) संहार आदि क्रिया-व्यापार का सञ्चालन जिन-शक्तियों के माध्यम से होता है, वे हैं—इच्छाशक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया शक्ति । इन तीनों शक्तियों की समष्टि-संज्ञा (Collective Noun) 'शान्ता' है और ये सभी शक्तियाँ भगवती त्रिपुरा की विभूति हैं ।

वक्त्रकोटिसहस्रैस्तु, जिह्वाकोटिशतैरपि ।
वर्णितुं नैव शक्येयं, विद्येयं त्र्यक्षरी परा ॥१०॥
पञ्चवक्त्रेण जिह्वाभिः पञ्चभिर्नैव शक्यते ।

हजारों-करोड़ों मुखों से, शत-शत कोटि-जिह्वाओं से इस परा-त्र्यक्षरी विद्या भगवती बाला-त्रिपुरा की महिमा का बखान नहीं किया जा सकता । साधारण मनुष्यों, ऋषियों, मुनियों, कवियों और देवताओं की बात ही क्या, इस त्र्यक्षरी विद्या स्वरूपा भगवती बाला-त्रिपुरा की महिमा का वर्णन तो वे पञ्च-वक्त्र-पञ्चानन-सदाशिव भी नहीं कर सकते जिन्होंने सात करोड़ मन्त्रों का उपदेश दिया है और जिनके एक-एक मुख से पूर्व आदि पञ्च आम्नाय क्रम का आविर्भाव हुआ है ।

भगवती बाला त्रिपुरा का उपर्युक्त गुणानुवाद 'श्रीविद्या' के अधोलिखित माहात्म्य की संक्षिप्त व्याख्या है:—

यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्षः,
यत्रास्ति मोक्षो न हि तत्र भोगः ।
श्रीसुन्दरी सेवन तत्पराणाम्,
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥

और यथा 'खड्ग-माला' (मिथुन जयान्त-माला-वन्दना) में

या भोग-दायिनी देवी, जीवन्मुक्ति-प्रदा न सा।
मोक्षदा तु न भोगाय, श्रीबाला तूभया-प्रदा॥

जो भोग-दायिनी देवी हैं, वे मोक्ष प्रदान नहीं करतीं और जो मोक्ष देने वाली देवी हैं, वे सांसारिक-सुख प्रदान नहीं करतीं किन्तु (तु-उभया) श्री बाला त्रिपुरा भोग और मोक्ष दोनों प्रदान करती हैं।

सम्बन्ध—समग्र त्र्यक्षरी विद्या के गुणानुवाद के बाद अगले दो श्लोकों में इसके एक-एक अक्षर (कूट) की महिमा का सूत्रात्मक निरूपण किया गया है।

त्र्यक्षरी बाला विद्या के प्रथम अक्षर (ऐं) को 'वाग्भव-बीज' द्वितीय अक्षर (क्लीं) को 'कामराज' और तृतीय अक्षर (सौः) को शक्ति या 'तार्तीय' कहा जाता है।

वाग्भवेनेन्दुमहसा वागीशत्व-प्रदायिनी।
कामराजेन बीजेन, शक्रगोपस्फुरत्त्विषा॥११॥
त्रैलोक्यं मोहयन्तीयं, शक्ति बीजेन सुव्रते।
स्फुरत् सुवर्ण वर्णेन, सौभाग्यं तस्य मन्दिरे॥१२॥

वाग्भव-बीज (ऐं) चन्द्रमा के समान धवल और उज्ज्वल है। त्र्यक्षरी विद्या के इस प्रथम-कूट की साधना करने वाले साधक को भगवती बाला त्रिपुरा वागीशत्त्व प्रदान करती हैं। 'वाक्' का अर्थ है—'वाणी' और 'ईशत्व' का अर्थ है—शासन-अधिकार। 'वाणी' पर असाधारण-अधिकारिता का व्यञ्जक है—'वागीशत्व'। इस बीज की साधना से 'वागीशत्व' प्राप्त होता है।

कामराज (क्ली) बीज—'शक्रगोप' = चटखदार लाल रंग का एक चमकीला रेशमी कीड़ा-'वीर बटूटी' जो वर्षा ऋतु में बहुतायत से दिखता है। स्फुरत् = झिलमिलाती हुई। त्विषा = चमक या कान्ति से। त्रैलोक्यम्—तीन लोकों के समुच्चय को। मोहयन्ति = मोहित कराती हैं। दिवादि गण, परस्मैपद की 'मुह्'—वैचित्त' धातु का वर्तमान् काल, बहु-वचन में प्रेरणार्थक क्रियारूप! ईश्वर कहते हैं—हे सुव्रते! वीर-बहूटी के समान चटख और चमकीले लाल-रंग की झिलमिलाती हुई कान्ति वाले इस काम-बीज 'क्लीं' से यह विद्या तीनों लोकों को मोहित और आकर्षित कराये हुए हैं। इस बीज के प्रभाव से तीनों लोकों में सम्मोहन और आकर्षण है।

शक्ति-बीज (सौः)—शक्ति या तातीर्य बीज 'सुवर्ण' वर्ण का है। चमचमाती हुई स्वर्णिम-आभा वाले इस बीज से साधक के मन्दिर में अर्थात् गृह में सौभाग्य दमकता रहता है ॥११-१२॥

एतस्याः साधनं देवि कथयामि समासतः ॥१३॥
प्रातरुत्थाय देवेशि ब्रह्मरन्ध्रे निजं गुरुम्।
स्मृत्वा देवीमयो भूत्वा तत्प्रभापटलामलः ॥१४॥
स्नानकर्म ततः कुर्यान्मूलमन्त्रं स्मरन्बुधः।
त्रिवारमञ्जलौ वारि मन्त्रयित्वा तु मूर्धनि ॥१५॥
निक्षिपेत्परमेशानि त्रिधा चाऽऽयम्य तर्पयेत्।
त्रिधा च प्रोक्षयेद्देहं सूर्यायार्घ्यं निवेदयेत् ॥१६॥
मूलमन्त्रेण देवेशि सूर्यमन्त्रेण वा प्रिये।
शिवबीजं वह्निसंस्थं वामनेत्रविभूषितम् ॥१७॥
बिन्दुनादसमायुक्तं हंसःपदमथोच्चरेत्।
अनेन मनुना देवि सूर्यायार्घ्यं निवेदयेत् ॥१८॥

ईश्वर कहते हैं—हे देवि ! मैं इतनी महिमा शालिनी इन्हीं श्री बाला त्रिपुरा के साधन-विधान का संक्षेप में निरूपण कर रहा हूँ। हे देवेशि ! प्रातः काल में निद्रा त्याग कर साधक अपने सहस्रार में गुरुदेव का ध्यान करे। उनकी कान्ति से देवी-मय होकर मूल-मन्त्र का जप करते हुए स्नान करे। अञ्जलि में जल-लेकर उसे मूल-मन्त्र से अभिमन्त्रित करे। उस अभिमन्त्रित जल से तीन बार अपने सिर का प्रोक्षण करे। फिर तीन बार आचमन करके अपने शरीर का प्रोक्षण करे। तत्पश्चात् 'मूल' मन्त्र (ऐं क्ली सौः) से अथवा सूर्य मन्त्र से भगवान् भुवन-भास्कर को अर्घ्य-समर्पित करे।

सूर्य-मन्त्र—बिन्दु-नाद समायुक्त वाम-नेत्र (ई) विभूषित शिव-बीज (ह) अर्थात्—'ह्रीं' पूर्वक 'हंसः' का उच्चारण करने से—'ह्रीं हंसः' यह सूर्य मन्त्र बनता है ॥१३-१८॥

यथाशक्त्या जपेन्मन्त्रं गायत्रीं परमेश्वरीम्।
मूलविद्याद्यमुच्चार्य वागीश्वरि च विद्महे ॥१९॥
द्वितीयं बीजमुच्चार्य कामेश्वरि च धमिहि।
तृतीयं बीजमुच्चार्य तन्नः शक्तिः प्रचोदयात् ॥२०॥

सूर्य-भगवान् को अर्घ्य-देने के बाद यथा शक्ति-त्रिपुरा-गायत्री का जप करे। त्रिपुरा-गायत्री का उद्धार बताते हैं—

मूल-विद्या के आद्य-बीज अर्थात्—'ऐं' के बाद 'वागीश्वरि-विद्महे' द्वितीय-बीज—'क्लीं' के बाद 'कामेश्वरि धीमहि', तृतीय बीज—'सौ:' के बाद 'तन्त्र: शक्ति: प्रचोदयात्' की योजना करने से त्रिपुरा-गायत्री बनती है ॥१९-२०॥

मन्त्र-स्वरूप:—'ऐं वागीश्वरि विद्महे क्लीं कामेश्वरि धीमहि सौ: तन्त्र: शक्ति: प्रचोदयात्'

(मूल श्लोक में 'वागीश्वरि' और 'कामेश्वरि' के बाद जो 'च' है, वे मन्त्र के भाग नहीं हैं। वे केवल पाद-पूर्ति के लिये हैं, ऐसा कुछ लोगों का अभिमत है।)

यथाशक्त्या जपेत्पश्चाद्यागमण्डपमाविशेत्।
धातारं च विधातारं गङ्गां च यमुनां तथा ॥२१॥
द्वारश्रियं देहलीं च पुरुषं वास्तुसंज्ञकम्।
संपूज्य परमेशानि पूजयेदासनं बुधः ॥२२॥

त्रिपुरा-गायत्री का यथा-शक्ति जप करने के बाद साधक याग-मण्डप में आकर सर्व-प्रथम देवताओं का पूजन करे। धाता, विधाता, गंगा, यमुना, द्वार-श्री, वास्तु पुरुष और देहली का पूजन करे ॥२१-२२॥

पराबीजं समुच्चार्य ततश्चाऽऽधारपूर्वकम्।
शक्तीतिपदमालिख्य कमलासनमालिखेत् ॥२३॥
ङेन्तं नमःपदं कृत्वा चाऽऽसनस्य मनुः प्रिये।
उपविश्य ततो देवि भूतान्संत्रासयेद्बुधः ॥२४॥

द्वार-देवताओं की यथा-विधि पूजा करे याग-मण्डप में प्रवेश कर आसन की पूजा करे।

परा बीज (ह्रीं) आधार-शक्ति, चतुर्थ्यन्त 'कमलासन' अर्थात्—'कमलासनाय' और 'नम:' (ह्रीं आधार शक्ति कमलासनाय नम:') यह आसनपूजन का मन्त्र है। इस तरह सुपूजित आसन पर बैठकर साधक 'भूतापसारण' करे ॥२३-२४॥

भूतशुद्धिविधिं कुर्यात्प्राणायामक्रमेण तु।
वायुबीजं समुच्चार्य षट्कोणादागतं महत् ॥२५॥
कृष्णवर्णं महेशानि शोषयेदेनसः तनुम्।
आसने सम्यगासीनो वामेनाऽऽपूर्य चोदरम् ॥२६॥
कुम्भकेन त्रिरावृत्त्या दक्षिणेन च रेचयेत्।
कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैर्यन्नासापुटधारणम् ॥२७॥
प्राणायामः स विज्ञेयस्तर्जनीमध्यमे विना।
वामकुक्षिस्थितं पापपुरुषं कज्जलप्रभम् ॥२८॥

हे महेशानि ! सुपूजित आसन पर बैठकर प्राणायाम के क्रम से 'भूतशुद्धि सम्पादित करे ।

दाहिने हाथ के अंगूठे से दायें नासा-पुट (नथुना) को बन्द करके बायें नासा-पुट से वायु खींचकर उदर को वायु-पूरित कर ले । दाहिने हाथ की अनामिका और कनिष्ठा से बायें-नासा पुट को बन्द करके उदर में भरी वायु को दाहिने नासापुट से धीरे-धीरे निकाले दे । वायु को अन्दर-खींचने को 'पूरक', उसे उदर में धारण करने को 'कुम्भक' और उस वायु को धीरे-धीरे निकालने को 'रेचक' कहते हैं । यह एक प्राणायाम हुआ । दाहिने नासापुट से पूरक करके कुम्भक और वाम नासापुट से रेचक करे । यह दूसरा प्राणायाम हुआ । अब पुन: वाम नासपुट से पूरक, फिर कुम्भक एवं दाहिने नासापुट से रेचक करे । इस तरह तीन प्राणायाम करे । प्राणायाम करते समय नासा-पुटों को बन्द करने में तर्जनी और मध्यमा का उपयोग नहीं किया जाता । कुम्भक करते समय दोनों नासापुट बन्द रखे जाते हैं ।

प्राणायाम करने के बाद वाम कुक्षि में पाप-पुरुष का चिन्तन करे । पाप-पुरुष के रूप का निरूपण अगले लीन श्लोकों में किया गया है ।।२५-२८।।

ब्रह्महत्या शिरो यस्य स्वर्णस्तेयं भुजद्वयम् ।
सुरापानहृदा युक्तं गुरुतल्पकटिद्वयम् ।।२९।।
तत्संसर्गिपदद्वंद्वमङ्गप्रत्यङ्गपातकम् ।
उपपातकरोमाणं कृष्णाश्वमश्रुविलोचनम् ।।३०।।
खड्गचर्मधरं क्रुद्धं कुक्षौ पापं विचिन्तयेत् ।

पाप-पुरुष का रूप—यह पाप पुरुष पेट के अन्दर निचले वाम-भाग में बैठा है । इसका रंग काला है । ब्रह्म-हत्या इसका सिर है । स्वर्ण (सोना) की चोरी इनके दोनों हाथ है । गुरु-तल्प-गमन (गुरु-पत्नी एवं तत्सम महिलाओं से व्यभिचार) उसकी कमर हैं । शराब खोरी इसका हृदय हैं । पापियों की संगत करना उसके पैर हैं । अन्य पाप उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं । उप-पातक उसके रोयें है । उसकी दाढ़ी काली हैं । आँखे लाल हैं । उसके हाथों में ढाल और तलवार है ।।२९-३०।।

शोषयेद्वायुबीजेन देहं च परमेश्वरि ।।३१।।
पापेन सहितं शुष्कं कृत्वा तेन क्रमेण हि ।
वह्निबीजेन संदग्धं पापेन सहितं शिवे ।।३२।।
पापेन रहितं पश्चात्प्लावयेदमृताम्बुना ।
प्राणप्रतिष्ठामन्त्रेण जींवं देहे निधापयेत् ।।३३।।

पाप-पुरुष का इस प्रकार चिन्तन करके प्राणायाम की विधि के अनुसार वायु-बीज (यं) का जप करते हुए पूरक करे। पूरक करते समय यह भावना करे कि उस वायु से पाप पुरुष का शरीर सूख रहा है। अग्नि-बीज (रं) का जप करते हुए कुम्भक करे और यह भावना करे कि इससे पाप-पुरुष का शरीर जल रहा है। जब वह पाप-पुरुष जल जाये, दाहिने-नासापुट से उसकी राख को 'यं' (वायु-बीज') का जप करते हुए निकाल ले। जब शरीर पाप रहित हो जाये, अमृत बीज-'वं' का जप करके उसे आप्लावित करे। अब यह भावना करें कि शरीर पाप-रहित एवं अमृत-मय हो गया है। इस 'शाम्भव-शरीर' में प्राणों की प्रतिष्ठा करें। प्राण-प्रतिष्ठा का मन्त्र अगले श्लोक में बताया गया है ॥३१-३३॥

मुखवृत्तं समुच्चार्य हंसस्तु विपरीततः।
उच्चरेत्परमेशानि विद्येयं त्र्यक्षरी भवेत् ॥३४॥
प्राणप्रतिष्ठामन्त्रोऽयं सर्वकर्माणि साधयेत्।
तेनैव विधिना देवि स्थिरी कुर्यान्निजां तनुम् ॥३५॥
विशुद्धदेहो देवेशि न्यासं कुर्यात्समाहितः।

प्राण-प्रतिष्ठा मन्त्र—मुख-वृत्त (आं) का उच्चारण करके विपरीत क्रम से 'हंस' अर्थात् 'सोऽहम्' की योजना करने से 'प्राण-प्रतिष्ठा-मन्त्र' निष्पन्न होता है। 'आं सोऽहम्' यह प्राण-प्रतिष्ठा का मन्त्र है। इस विधि से अपने पाप-रहित एवं प्राण-प्रतिष्ठित 'शाम्भव-शरीर' को दृढ़ करके हे महेशानि ! साधक अर्चन के सभी कार्य सम्पादित करे ॥३४-३५॥

विमर्श—आगम का निर्देश है कि साधक को अपने मनुष्य-रूप में देवता की पूजा करने का अधिकार नहीं है। अत: 'देवा भूत्वा देवं पूजेत्'—इसलिये उसे देवता बन कर अर्थात् अपने शरीर में देवत्व का सञ्चार करके देवता की पूजा करनी चाहिए। तरह-तरह के पापों से कलुषित और मलीन शरीर में देवत्व का सञ्चार नहीं हो सकता। इसलिये 'प्राणायाम' और 'भूत-शुद्धि' की क्रिया के द्वारा निर्मल निष्पाप और अमृत-मय 'शाम्भव-शरीर' प्राप्त कर उसमें देव-प्राणों का सञ्चार करना होता है। 'आं सोऽहम्'—'मैं पूर्णतः—वही ब्रह्म हूँ'—इस भावना का अपने शाम्भव-शरीर में दृढ़ता पूर्वक सञ्चार करना ही प्राण-प्रतिष्ठा है।

अन्य सद्ग्रन्थों में प्राणायाम, भूत-शुद्धि एवं प्राण-प्रतिष्ठा की विधि बहुत विस्तार से बताई गई है।

ऋषिरस्य महेशानि दक्षिणामूर्तिरव्ययः ॥३६॥
न्यसेच्छिरसि पूज्यत्वात्पङ्क्तिश्छन्दो मुखे प्रिये।

देवता हृदये बाला त्रिपुरा परमेश्वरी ॥२७॥
बीजं तु वाग्भवं शक्तिस्तार्तीयं कीलकं तथा ।
कामराजं महेशानि छन्दो न्यास उदाहृतः ॥३८॥

अब मन्त्र-परिचय बता रहे हैं । हे महेशानि ! श्री बाला-त्रिपुरा के इस त्र्यक्षरी मन्त्र के ऋषि-श्री दक्षिणा मूर्ति हैं । 'पङ्क्ति' छन्द है । परमेश्वरी बाला त्रिपुरा-देवता हैं । वाग्भव (ऐं) बीज है, तार्तीय (सौः) शक्ति है और कामराज (क्लीं) 'कीलक' है ।

गुरुवत् पूंज्य होने के कारण मन्त्र के ऋषि-श्री दक्षिणा मूर्ति का सिर (ब्रह्म-रन्ध्र) में, 'पङ्क्ति' छन्द का मुँह में, देवता श्री बाला-त्रिपुरा का हृदय में, 'बीज' का गुह्य में, शक्ति का पैरों में और कीलक का नाभि में न्यास करें ॥३६-३८॥

नाभ्यादिपादपर्यन्तं गलादानाभि चापरम् ।
मूर्धादिगलपर्यन्तं त्र्यक्षरीं विन्यसेत्क्रमात् ॥३९॥
वामपाणितले चैक दक्षपाणितले तथा ।
उभयोः संपुटे विद्यां त्रिबीजां विन्यसेत्प्रिये ॥४०॥

शरीर में मन्त्र के तीनों बीजों का न्यास करें । नाभि से लेकर पाद पर्यन्त प्रथम बीज 'ऐं' का, गले से लेकर नाभि तक द्वितीय बीज 'क्लीं' का और सिर से लेकर गला पर्यन्त तृतीय बीज 'सौः' का (व्यापक) न्यास करें ।

इसी तरह 'मन्त्र' के एक-एक 'बीज' का क्रमशः वाम-पाणितल, दक्षिण पाणितल (कर-तल) एवं दोनों हाथों के सम्पुट में न्यास करें ॥३९-४०॥

पञ्च बाणान्क्रमेणैव कराङ्गुलिषु विन्यसेत् ।
अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं क्रमेण परमेश्वरि ॥४१॥

हे परमेश्वरि ! इसके बाद अंगूठे से प्रारम्भ करके कनिष्ठा पर्यन्त पाँचों अंगुलियों में पाँचों बाणों का न्यास करें । बाणों के 'बीज' और नाम अगले श्लोकों में बताये गये हैं । इसे 'बाण-न्यास' कहते हैं ॥४१॥

थान्तद्वयं समालिख्य वह्निसंस्थ क्रमेण हि ।
मुखवृत्तेन नेत्रेण वामेन परिमण्डितम् ॥४२॥
बाणद्वयमिदं प्रोक्तं मादनं भूमिसंस्थितम् ।
चतुर्थस्वरबिन्द्वाढ्यं नावरूपं वरानने ॥४३॥
फान्तं क्रमसमायुक्तं वामकर्णविभूषितम् ।
बिन्दुनादसमायुक्तं सर्गवांश्चन्द्रमाः प्रिये ॥४४॥

'थान्त' अर्थात् 'द'कार। इसे दो बार लिखें। प्रथम 'द'कार के साथ 'वह्नि' अर्थात् 'र'कार एवं बिन्दु नाद विभूषित 'मुख-वृत्त' अर्थात् 'आ'कार की योजना करें। इस प्रकार निष्पन्न **'द्रां'** प्रथम-बाण का बीज है।

दूसरे 'द'कार के साथ वह्नि ('र'कार) एवं बिन्दु नाद विभूषित 'वाम-नेत्र' अर्थात् 'ई' की योजना करने से दूसरे बाण का बीज **'द्रीं'** बनता है।

भूमि ('ल'कार) से युक्त मादन ('क'कार) जो चतुर्थ-स्वर 'ई' और बिन्दु से विभूषित हो अर्थात् **'क्ली'** यह तीसरे 'बाण' का बीज है।

'फान्त' अर्थात् 'ब' कार जो क्रम ('ल'कार) से युक्त एवं वाम-कर्ण 'ऊ'कार एवं बिन्दु से विभूषित अर्थात् **'ब्लूँ'** यह चौथे बाण का बीज है।

विसर्ग युक्त चन्द्रमा (स) अर्थात् 'सः' यह पाँचवें बाण का बीज है ॥४२-४४॥

पञ्च बाण-बीज—द्रां, द्रीं, क्लीं, ब्लूं, सः।

पञ्चबाणा महेशानि नामानि शृणु पार्वति।
क्षोभणद्रावणौ देवि तथा कर्षणसंज्ञकः ॥४५॥
वश्योन्मादौ क्रमेणैव नामानि परमेश्वरि।
कामास्तत्रैव विज्ञेयास्तेषां बीजानि संशृणु ॥४६॥

हे पार्वति ! बाणों का 'बीज' सुनने के बाद अब इन बाणों के नाम सुनिए। क्षोभण, द्रावण, आकर्षण, वश्य एवं उन्माद—ये कामदेव के पाँच-बाण हैं। इन पाँचों के बीज अगले श्लोक में बताये गये हैं।

पराबीजं मध्यबाणं वाग्भवं परमेश्वरि।
तूर्यबाणं ततश्चैव स्त्रीबीजं च क्रमात्प्रिये ॥४७॥
पञ्च कामा इमे देवि नामानि शृणु वल्लभे।
काममन्मथकन्दर्पमकरध्वजसंज्ञकाः ॥४८॥
मीनकेतुर्महेशानि पञ्चमः परिकीर्तितः।
एतान्विन्यस्य देवेशि करन्यासं ततः परम् ॥४९॥

हे महेशानि ! काम, मन्मथ, कन्दर्प, मकरध्वज एवं मीनकेतु ये पाँच-काम हैं। इनमें से प्रथम काम का बीज है—'परा-बीज' अर्थात् ह्रीं। दूसरे 'मन्मथ' का बीज है—मध्य-बाण अर्थात्—'क्लीं'। तीसरे—'कन्दर्प' का बीज है—वाग्भव अर्थात्—'ऐं'। चौथे बाण का बीज अर्थात् 'ब्लूं' चतुर्थ काम अर्थात् 'मकरध्वज' का बीज है तथा 'स्त्रीं' पाँचवें काम-मीनकेतु का बीज है।

'द्रां द्राविणे'—अंगुष्ठाभ्यां नमः' आदि की तरह अंगूठे से प्रारम्भ कर कनिष्ठा पर्यन्त 'बाण' न्यास की तरह अपने-अपने बीजों सहित उक्त पाँचों काम का भी अंगुलियों में (अंगूठे से कनिष्ठा पर्यन्त) न्यास करें। तत्पश्चात् कर न्यास करें ॥४७-४९॥

मूलविद्यां द्विरावृत्त्या सर्वाङ्गुलितलेषु च।
षडङ्गक्रमयोगेण मातृकां विन्यसेत्ततः ॥५०॥

मूल-विद्या अर्थात् 'ऐं-क्लीं-सौः' के एक-एक बीज का उच्चारण करते हुए इनकी दो बार आवृत्ति करके (अंगूठे से प्रारम्भ कर) दोनों हाथों की अंगुलियों में तथा कर-तलों में न्यास करें ॥५०॥

मातृकां शृणु देवेशि न्यासात्पापनिकृन्तनीम्।
ऋषिर्ब्रह्माऽस्य मन्त्रस्य गायत्री छन्द उच्यते ॥५१॥
देवता मातृका देवि बीजं व्यञ्जनसंचयः।
शक्तयस्तु स्वरा देवि षडङ्गन्यासमाचरेत् ॥५२॥

हे देवेशि ! कर-न्यास करने के पश्चात् षडङ्ग-क्रम सहित मातृका-न्यास करना चाहिये। यह मातृका न्यास करने से समस्त पाप कट जाते हैं। इस मातृका न्यास के ऋषि प्रजापति-ब्रह्मा हैं। छन्द-गायत्री है, मातृका-देवता है। व्यञ्जन-सञ्चय बीज और 'स्वर'—शक्ति हैं ॥५१-५२॥

अंआंमध्ये कवर्गं च इंईंमध्ये चवर्गकम्।
उंऊंमध्ये टवर्गं च एंऐंमध्ये तवर्गकम् ॥५३॥
ओंऔंमध्ये पवर्गं च क्रमेण परमेश्वरि।
अनुस्वारविसर्गान्ते यशवर्गो सलक्षकौ ॥५४॥
हृदयं च शिरा देवि शिखां च कवचं ततः।
नेत्रमस्त्रं न्यसेन्ङेन्तं नमःस्वाहाक्रमेण तु ॥५५॥
वषड्हुंवौषडन्तं च फडन्तं योजयेत्प्रिये।
षडङ्गोऽयं मातृकायाः सर्वपापहरः स्मृतः ॥५६॥

मातृका षडङ्ग-न्यासः—मातृका न्यास करने के पूर्व मातृका-षडङ्ग-न्यास करना चाहिए। इसकी विधि इस प्रकार है:—

'नमः' 'स्वाहा', 'वषट्' 'हुम्' 'वौषट्' एवं 'फट्' की क्रमशः योजना करके 'अ' और 'आ' के मध्य में 'क' वर्ग का हृदय में (यथा-अं कं खं गं घं ङं-आं—हृदयाय नमः) न्यास करे। इसी तरह 'इ' और 'ई' के मध्य में 'च-वर्ग' की स्थापना करके इनका शिर में न्यास करे। (इं चं छं जं झं ञं ईं—शिरसे स्वाहा) 'उ'कार द्वय

के मध्य में 'ट'वर्ग का शिखा में न्यास (यथा—उं टं ठं डं ढं णं ऊं—शिखायै-वषट्) करे। 'ए' और 'ऐ' के मध्य में 'त' वर्ग की स्थापना करके (एं तं थं दं धं नं ऐं—कवचाय हुम्) कवच में न्यास करे। 'ओ' और 'औ' के मध्यवर्ती 'प' वर्ग का नेत्र में (ओं पं फं बं भं मं औं—नेत्रत्रयाय वौषट्) न्यास करे। अनुस्वार और विसर्ग के मध्य-वर्ती 'य' वर्ग, 'श'-वर्ग, लकार एवं 'क्ष'कार का अस्त्र में न्यास करे। यथा—अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः—अस्त्राय फट्। यह मातृका षडङ्ग-न्यास समस्त पापों को दूर करने वाला है ॥५३-५६॥

द्व्यष्टपत्राम्बुजे कण्ठे स्वरान्षोडश विन्यसेत्।
द्वादशच्छदहृत्पद्मे कादीन्द्वादश विन्यसेत् ॥५७॥
दशपत्राम्बुजे नाभौ डकारादीन्यसेद्दश।
षट्पत्रे लिङ्गसंस्थे च बकारादीन्न्यसेच्च षट् ॥५८॥
आधारे चतुरो वर्णान्न्यसेद्वादींश्चतुर्दले।
हक्षौ भ्रूमध्यगे पद्मे द्विदले विन्यसेत्प्रिये ॥५९॥

षडङ्ग-मातृका न्यास के बाद 'अन्तर्मातृका-न्यास' करे। इसकी विधि इस प्रकार है—

कण्ठ में १६ दल वाले विशुद्धि-चक्र में 'अ' कारादि १६ स्वरों का, हृदय-क्षेत्रवर्ती द्वादश दल वाले 'अनाहत' में 'क'कार से 'ठ'कार तक १२ वर्णों का, नाभि वर्ती दश दल वाले 'मणि-पूरक' में 'ड'कार से 'फ'कार तक १० वर्णों का, लिङ्ग-मूलवर्ती 'स्वाधिष्ठान' में 'ब'कार से 'ल'कार तक ६ वर्णों का, चार-दल वाले 'मूलाधार' में 'व'कार, 'श'कार, 'ष'कार एवं 'स'कार इन चार वर्णों का तथा भ्रू-मध्य वर्ती 'आज्ञा' चक्र में 'ह' कार और 'क्ष' कार का न्यास करे ॥५७-५९॥

इत्यन्तर्मातृकां न्यस्य सर्वाङ्गन्यासमाचरेत्।
मूर्धनि मुखवृत्ते च नेत्रकर्णेषु पार्वति ॥६०॥
नासागण्डोष्ठदन्तेषु मूर्धास्येषु च विन्यसेत्।
पाणिपादयुगस्यान्ते संध्यग्रेषु क्रमात्प्रिये ॥६१॥
पार्श्वद्वये पृष्ठनाभिजठरेषु क्रमान्न्यसेत्।
यादीन्सधातुकान्देवि क्रमेणैव ततो न्यसेत् ॥६२॥
त्वगसृग्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः।
प्राणात्मा चैव जीवात्मा परमात्मा च विन्यसेत् ॥६३॥
हृदये बाहुमूले च तथाऽपरगले प्रिये।

कक्षयोर्हृदयप्रान्ते पाणिपादयुगे तथा ॥६४॥
जठराननयोर्देवि व्यापकं च क्रमान्न्यसेत्।

बहिर्मातृका-न्यासः—अन्तमार्तृका न्यास के बाद 'बहिमार्तृका-न्यास' करना चाहिए। यथा—

ललाट, मुख-वृत्त, दोनों नेत्रों, दोनों कान, दोनों-नास-पुट (नथुने), दोनों गण्ड-स्थलों, ओष्ठ और अधर, दन्त-पङिक्त, सिर एवं मुख में 'अ' से 'अः' तक १६ स्वरों का एक-एक कर क्रम से न्यास करें। दोनों हाथों, दोनों पैरों के मूल में, सन्धियों और अग्र-भाग में एवं दोनों पार्श्व, पीठ और जठर (उदर) में 'क'कार से 'म' कार तक २५ व्यञ्जनों का एक-एक कर न्यास करे। त्वक्, असृग (रक्त), मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र आदि सप्त-धातुओं एवं प्राणात्मा, जीवात्मा तथा परमात्मा सहित 'य'कार आदि शेष वर्णों का हृदय, बाहू मूल, अपर-गला (ककुद्) दोनों-कुक्षि, हृदय-प्रान्त, दोनों हाथ-पैर, जठर एवं आनन (मुख) में क्रम से न्यास करे ॥६०-६४॥

पञ्चाशद्वर्णरूपां च कन्दर्पशशिभूषणाम् ॥६५॥
शुद्धस्फटिकसंकाशां शुद्धक्षौमविराजिताम्।
मुक्तावज्रस्फुरद्भूषां जपमालां कमण्डलुम् ॥६६॥
पुस्तकं वरदानं च विभ्रतीं परमेश्वरीम्।
एवं ध्यात्वा न्यसेत्पश्चाद्विद्यान्यासं सुरेश्वरि ॥६७॥

हे सुरेश्वरि ! अन्तर्मातृका और बहिर्मातृका न्यास करने के अनन्तर भगवती का का ध्यान करे। यथा—

पञ्चाशत् अर्थात् पचास-वर्णों की स्वरूप वाली, कामदेव के समान कमनीय, चन्द्रमा का किरीट धारण किये हुए, शुद्ध-स्फटिक के समान धवल-गौर-वर्ण वाली, शुद्ध-शुभ्र-वस्त्र से सुशोभित, मोती और हीरा आदि विभिन्न रत्न जडित आभूषणों से जगमगाती हुई, जप-माला, कमण्डलु, पुस्तक एवं वर-मुद्रा धारण किये हुए परमेश्वरी बाला-मातृका का ध्यान करने के बाद विद्या-न्यास करना चाहिए ॥६५-६७॥

कुर्वीत देहसंन्नाहं त्रिभिर्बीजैः क्रमात्प्रिये।
करयोर्विन्यसेदादौ मणिबन्धे तले नखे ॥६८॥
दक्षे वामे च विन्यस्य कुक्षिकूर्परपाणिषु।
पुनर्दक्षे च वामे च पादयोश्च तथा न्यसेत् ॥६९॥

नादान्ते हृदये लिङ्गे न्यसेद्देवि ततः परम्।
एतेष्वङ्गेषु देवेशि संहारक्रमतो न्यसेत् ॥७०॥

विद्या-न्यास—मन्त्र के तीनों बीजों (ऐं-क्लीं-सौः) में से एक-एक बीज का 'संहार' क्रम से दाहिने हाथ के मणि-बन्ध (कलाई), कर-तल, एवं कराग्र में 'न्यास' करे। फिर इसी प्रकार बायें हाथ के मणि-बन्ध (कलाई), कर-तल एवं कराग्र (नख के पास) में, दक्ष-कुक्षि, दक्ष-कूर्पर (कोहनी) और पाणि में, फिर वाम-कुक्षि, कूर्पर एवं पाणि में, फिर दाहिनी जांघ, घुटना और पदाग्र में, इसी प्रकार बायीं-जांघ, घुटना एवं पादाग्र में, नादान्त, हृदय और लिङ्ग में संहार-क्रम से न्यास करे। यथा—

ऐं नमः दक्षिण-मणिबन्धे। क्लीं नमः दक्षिण करतले। सौः नमः दक्षिण कराग्रे इत्यादि। शरीर के दाहिने-अंगों में बायें हाथ की अंगुलियों से न्यास किया जाता है ॥६८-७०॥

विद्यां सृष्टिक्रमेणैव जानीहि परमेश्वरि।
ततो न्यसेन्महादेवि नवयोन्यङ्किताभिधम् ॥७१॥
कर्णयोश्चुबुके भूयः शङ्खयोर्मुखमण्डले।
नेत्रयोर्नासिकायां च बाहुयुग्मे हृदि प्रिये ॥७२॥
तथा कर्पूरयोर्नाभौ जान्वोरन्धुनि विन्यसेत्।
पादयोर्देवि गुह्ये च पार्श्वयोर्हृत्स्तनद्वये ॥७३॥
कण्ठे य नवयोन्याख्यं न्यसेद्बीजत्रयात्मकम्।

हे परमेश्वरि ! उपर्युक्त न्यास में 'विद्या' (मन्त्र) को सृष्टि-क्रम से ही समझना चाहिए। हे महादेवि ! इस-विद्या-न्यास के बाद 'नव-योनि-न्यास' करना चाहिए। यथा—

मन्त्र के तीनों अक्षरों का बायें से प्रारम्भ करके निम्नलिखित तीन-तीन अंगों में न्यास करे। (१) दोनों कान और चिबुक (ठोढ़ी या ठुड्डी) (२) दोनों गण्ड-स्थल और मुख (३) दोनों नेत्र और नासिका (४) दोनों बाहु और हृदय (५) दोनों कूर्पर (कोहनी) और नाभि (६) दोनों जांघे और लिङ्ग (७) दोनों पैर और गुह्य-अंग (गुदा) (८) दोनों पार्श्व (बगल) और हृदय, तथा (९) दोनों स्तन और कण्ठ। यथा—

ऐं नमः—वाम कर्णे। क्लीं नमः—दक्षिण कर्णे। सौः नमः—चिबुके...आदि ॥७१-७३॥

विमर्श—'योनि' का अर्थ हैं—त्रिकोण। उपर्युक्त न्यास के लिये शरीर के तीन-तीन अंगों के कुल नौ (९) समूह या 'सेट' बनाये गये हैं। इनमें से प्रत्येक समूह या 'सेट' के अंगों को कल्पित रेखाओं से जोड़ें तो पूरे शरीर में ९ त्रिकोण बन जाते हैं। भगवती बाला-त्रिपुरा के पूजन-यन्त्र में भी कुल ९ त्रिकोण हैं। इसीलिये इसे 'नव-योन्यात्मक' यन्त्र कहते हैं। यह न्यास करने से साधन का शरीर भगवती बाला त्रिपुरा का अर्चन-यन्त्र स्वरूप हो जाता है। इसलिये 'बाला' साधना में इस 'न्यास' का अतिशय महत्व है।

षडङ्गमाचरेद्देवि द्विरावृत्त्या क्रमेण तु ॥७४॥
त्रिद्व्येकदशकत्रिद्विसंख्यया शैलसंभवे।
अङ्गुलीनां पुनर्देवि बाणान्कामांश्च विन्यसेत् ॥७५॥
ललाटगलहृन्नाभिमूलाधारेषु वै क्रमात्।
मूलेन व्यापकं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत् ॥७६॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे बालान्यासविधिर्नाम
द्वितीयः पटलः ॥२॥

हे देवि ! इसके बाद मूल-विद्या (मन्त्र) के तीनों बीजों में से प्रत्येक बीज की दो-दो बार आवृत्ति करते हुए पुनः 'षडङ्ग-न्यास' करे। इस न्यास का विधान बताते हुए कहते हैं—यह न्यास क्रमशः तीन, दो, एक, दस, तीन और दो अंगुलियों से किया जाये। यथा तर्जनी, मध्यमा और अनामा-इन तीनों अंगुलियों से हृदय न्यास। मध्यमा और अनामा इन दो से शिर में, एक अंगुलि अर्थात् अंगूठे से शिखा में, दसों-अंगुलियों से कवच में, तर्जनी-मध्यमा और अनामा से नेत्र में और दो अंगुलियों (मध्यमा और अंगूठा) से अस्त्र-न्यास किया जाये।

तत्पश्चात् ललाट, गला (कण्ठ) हृदय, नाभि और मूलाधार में फिर से 'बाण' और फिर 'काम' न्यास किया जाये। इसके पूर्व ये न्यास अंगूठे से कनिष्ठा पर्यन्त अंगुलियों में किये गये थे।

इसके बाद मूल-मन्त्र से व्यापक-न्यास करके वक्ष्यमाण-विधि से फिर से प्राणायाम करे ॥७४-७६॥

श्री ज्ञानार्णव नित्या-तन्त्र के 'बाला न्यास विधान' नामक
द्वितीय पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥२॥

❁

अथ तृतीयः पटलः

त्रिपुरेश्वरीध्यानम्

ईश्वर उवाच

एवं विन्यस्तदेहः सन्समाहितमनास्ततः ।
अन्तर्यागविधिं कुर्यात्साक्षाद्ब्रह्ममयं प्रिये ॥१॥

ईश्वर ने कहा—'हे प्रिये ! अपने शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में इस प्रकार 'न्यास' सम्पन्न करके साधक 'अन्तर्याग' (मानस-पूजन) करे। यह 'अन्तर्याग' साक्षात् ब्रह्ममय है ॥१॥

अन्तर्याग

तन्त्रोक्त-साधना में इष्ट-देवता के अर्चन की दो विधियाँ हैं। प्रथम है—'मानस-पूजन' और द्वितीय है—यन्त्र या प्रतिमा पर विभिन्न उपचारों से इष्ट-देवता का बहिरङ्ग पूजन। इनका ही पारिभाषिक नाम—'अन्तर्याग' और 'बहिर्याग' है। वस्तुतः तन्त्रोक्त-विधान में 'अन्तर्याग' ही प्रधान है। 'बहिर्याग' तो 'अन्तर्याग' को दृढ़तापूर्वक हृदङ्गम करने की विधि है, अभ्यास है।

अधिकारी-भेद से इस 'अन्तर्याग' की 'प्रथम'—'मध्यम' और 'दिव्य' ये तीन कोटियाँ हैं। यहाँ बताया गया 'अन्तर्याग' दिव्य कोटि का है जिसमें 'बहिर्याग' के किसी भी उपचार की मानसिक-भावना भी नहीं की गई है। इसमें साधक तद्गत चित्त होकर इष्ट-देवता के ध्यान में ही निमग्न हो जाता है। प्रथम-कोटि के 'अन्तर्याग' में भी पूज्य और 'पूजक' के मध्य 'द्वैत' की जो भावना रहती है, वह 'द्वैत-भावना' दिव्य-कोटि के 'अन्तर्याग' में नहीं रह जाती। इसका निरूपण इन श्लोकों में किया गया है।

मूलाधारे मूलविद्यां विद्युत्कोटिसमप्रभाम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशां चन्द्रकोटिद्रवां प्रिये ॥२॥
बिसतन्तुस्वरूपां तां बिन्दुत्रिवलयां प्रिये ।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन सहजेन वरानने ॥३॥
मूलशक्तिदृढत्वेन मध्यबीजप्रबोधतः ।
परमानन्दसंदोहसानन्दं चिन्तयेत्पराम् ॥४॥

मूलाधार में अपने साढ़े-तीन वलयों से 'स्वयम्भू' लिङ्ग को आवृत्त करके कुल-कुण्डलिनी नागिन की तरह निद्रा मग्न है। ईश्वर कहते हैं—

'सहज निपात और मूल-दृढ़ बन्धन के फलस्वरूप मध्य-बीज को प्रबुद्ध करती हुई अर्थात् निद्रा से जागी हुई करोड़ों विद्युत्-लताओं की प्रभा वाली, करोड़ों सूर्यों के समान देदीप्यमान एवं करोड़ों चन्द्रमाओं की तरह शीतल, कमल-नाल के रेशे के समान सूक्ष्म (महीन) कुल-कुण्डलिनी का परमानन्द मयी परा-स्वरूपिणी, मूल-विद्या (इष्ट-देवता) का तद्गत चित्त और आनन्द विभोर होकर (साधक) चिन्तन करे ॥२-४॥'

मूल-शक्ति-दृढ़त्वेन—गुदा द्वार को संकुचित करके ऊपर की ओर खींचने से मूलाधार दृढ़ हो जाता है। इससे नीचे की ओर से दबाव बढ़ता है।

ऊर्ध्व-शक्ति पातेन-सहजेन—हुंकार पूर्वक सहज (प्राणायाम) कुम्भक प्राणायाम करने से ऊपर की ओर से प्राण-वायु का दबाव बढ़ता है।

उपर्युक्त दोनों क्रियाओं के फल-स्वरूप नागिन की तरह निद्रा-मग्न कुण्डलिनी की निद्रा से व्यवधान पड़ता है।

मध्य-बीज प्रबोधतः—मध्य-बीज 'क्लीं' अर्थात् क्रिया-शक्ति। निद्रा में व्यवधान पड़ने से जब कुल-कुण्डलिनी जागृत हो जाती है, वह सुषुम्ना-पथ से ऊपर की ओर गमन करती है। कुण्डलिनी के जागृत होकर ऊपर-सहस्रार-की ओर गमन प्रारम्भ करने के साथ ही पिण्डरूपी लघु-ब्रह्माण्ड में परिछिन्न और निष्क्रिय ब्रह्म-शक्तियाँ भी जागृत और क्रिया-शील हो जाती है।

जिस तरह 'आत्मा' ब्रह्म का अंश है, उसी तरह यह व्यष्टि-कुण्डलिनी समष्टि-महा कुण्डलिनी की अंश-भूता होने के कारण 'मूल-शक्ति स्वरूपा' है। अतः शाक्त-साधना में 'इष्ट-देवता' का ध्यान 'कुल-कुण्डलिनी' में किया जाता है। दूसरे शब्दों में यह 'कुल-कुण्डलिनी' 'इष्ट-देवता' की प्रति-रूप है।

परमानन्द सन्दोह सानन्दं—आनन्द विषय (Subject) है 'ब्रह्म' का—शक्ति-संवलित अर्थात् 'सकल-ब्रह्म' का। 'निष्कल' अर्थात् 'कला-विहीन'— 'ब्रह्म' स्थाणु (ठूंठ) वत नीरस-रस हीन होता है। इसमें 'रस' या 'आनन्द' का सञ्चार 'शक्ति' करती है। यह 'ब्रह्मानन्द' ही 'परमानन्द' है—वास्तविक-आनन्द है और 'ब्रह्म' इस 'परम-आनन्द' का सन्दोह है—भण्डार है। कुण्डलिनी के क्रिया शील होकर 'सहस्रार-वर्ती' द्वादश-दल में स्थित 'परम-शिव' के साथ 'सामरस्य' करने से इस 'परमानन्द' की प्रतीत होने लगती है। अतः साधक को इस दिव्य-परमानन्द की अनुभूति करते हुए अर्थात् इस आनन्द-रस में डूबकर इष्ट-देवता का चिन्तन करना चाहिए।

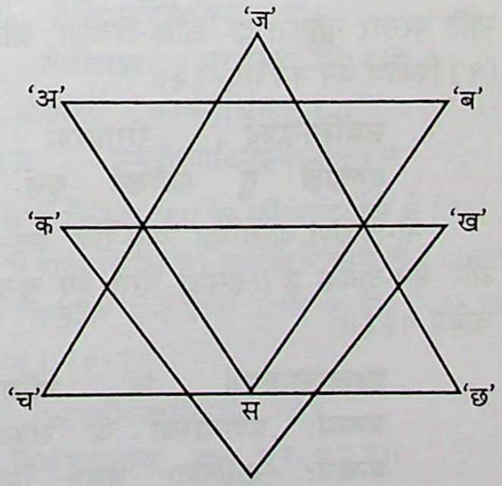
बहिर्याग का उपक्रम

इत्यन्तर्यजनं कृत्वा बाह्यपूजां समाचरेत्।
तत्र प्राङ्मुख आसीनश्चक्रोद्धारं समाचरेत् ॥५॥

पूर्व की ओर मुख करके आसन पर बैठा हुआ साधक इस तरह 'अन्तर्यजन' करके 'बहिर्याग' के लिये 'पूजन-यन्त्र' बनाये ॥५॥

सुस्थले श्रीभवे पट्टे लिखेद्यन्त्रमनुत्तमम्।
ईशानादग्निपर्यन्तमृजुरेखां समालिखेत् ॥६॥
ईशादग्नेस्तदग्राभ्यां रेखे आकृष्य देशिकः।
एकीकृत्य च वारुण्यां शक्तिरेखा परा प्रिये ॥७॥
त्रिकोणाकाररूपेयं तस्या उपरि संलिखेत्।
त्रिकोणाकाररूपात्तु शक्तिद्वयमुदाहृतम् ॥८॥
पूर्वशक्त्यग्रभागे तु मानयष्टिवदालिखेत्।
रेखां तु परमेशानि वायुराक्षसकोणगाम् ॥९॥
संधिभेदक्रमेणैव तयोः शक्त्योस्ततः परम्।
रेखे आकृष्य कोणाभ्यां तदग्रात्पूर्वगे कुरु ॥१०॥
वह्निमण्डलमेतत्तु पूर्वाग्रं वीरवन्दिते।
एकेन वह्निना शक्तिद्वयेनैतद्भवेत्प्रिये ॥११॥
नवयोनिविशोभाढ्यं चक्रराजमिदं प्रिये।
सर्वसौभाग्यजनकं सर्वैश्वर्यप्रदायकम् ॥१२॥

भगवती-'त्रिपुरा बाला' का पूजन यन्त्र 'नौ योन्यात्मक' है। इन सात श्लोकों में 'यन्त्र' के 'नौ-कोण' बनाने की विधि बताई गई है। यह विधि उदाहरण देकर व्याख्या में स्पष्ट की जा रही है। इसमें त्रिकोणों के जो 'अबस' आदि नाम बताये गये हैं, उनका प्रयोजन विधि को सुगम-रीति से स्पष्ट करना मात्र है। पूजन में इन कल्पित नामों का कोई महत्व या उपयोगिता नहीं है।



सुन्दर और स्वच्छ एवं समतल भूमि पर अथवा किसी सुन्दर एवं चिकने धातु-पत्र पर एक सम-कोण अधो-मुख त्रिकोण बनाने के लिये ईशान (North-east) से अग्नि-कोण (South-east) की ओर एक रेखा खीचें। (यथा—'अ'-'ब' रेखा)।

इस रेखा के कल्पित मध्य बिन्दु के ठीक नीचे समान दूरी पर एक अन्य बिन्दु (मान लो-'स') की कल्पना करें। अब इसके बाद 'अ-ब' बिन्दुओं से नीचे की ओर रेखायें खींच कर उन्हें 'स' बिन्दु के साथ जोड़ दें। इस तरह प्रथम अधोमुखी 'सम-कोण' त्रिभुज बन गया। इस अधोमुखी त्रिकोण का पारिभाषिक नाम 'शक्ति-त्रिकोण' है।

इस 'अ ब स' त्रिकोण पर 'अस' और 'बस' रेखाओं को काटती हुई 'क-ख' नामक एक अन्य रेखा खीचें जो 'अब' रेखा से कुछ बड़ी हो। 'स' बिन्दु के नीचे समान-दूरी पर एक-बिन्दु 'ग' की कल्पना करें। अधोमुख रेखा खींच कर 'क' बिन्दु को 'ग' बिन्दु से जोड़ दे। इसी प्रकार 'ख' और 'ग' बिन्दुओं को भी जोड़ दें। यह दूसरा शक्ति त्रिकोण बन गया।

इसके बाद 'स' बिन्दु को आधार मानते हुए उस पर 'क-ख' रेखा के समानन्तर 'च-छ' रेखा खींचें। पूर्व की ओर अर्थात् 'अ-ब' रेखा के ऊपर 'स' और 'ग' बिन्दुओं की सीध में समान दूरी पर 'ज' बिन्दु बनायें। अब 'च' बिन्दु से ऐसी ऊर्ध्व गामी रेखा खीचें जो 'अ स' और 'क-ख' रेखों के 'मर्म' (cut-point) को काटती हुई 'ज' बिन्दु से मिले। इसी तरह की रेखा 'छ' बिन्दु से खींचे जो 'ब-स' और 'ख-क' रेखा के मर्म (Cut-point) को काटती हुई 'ज' बिन्दु से मिले। इस तरह 'च छ ज' नामक ऊर्ध्व-मुख अर्थात् 'वह्नि' या 'शिव' त्रिकोण बन गया। इस भाँति परस्पर गुम्फित दो 'शक्ति-त्रिकोण' और एक 'शिव-त्रिकोण' बनाने से नौ (९) त्रिकोण बन गये ॥६-१२॥

सर्वसिद्धिप्रदं रोगहरणं धनदायकम्।
एतद्बाह्ये तु संलेख्यं वृत्तं पूर्णेन्दुसंनिभम् ॥१३॥

नौ-त्रिकोण वाला यह 'यन्त्र-राज' सर्व-सिद्धिप्रद, रोगों को दूर करने वाला और धन-दायक है। इसको घेरते हुए चन्द्रमा के समान गोल 'वृत्त' बनाना चाहिए ॥१३॥

तल्लग्नमष्टपत्रं च ग्रन्थिभिश्चाष्टभिर्युतम्।
ग्रन्थयः प्रणवाभ्यां च संपुटत्वेन कारयेत् ॥१४॥
ग्रन्थयः कुलिशा ज्ञेयाः प्रणवैरेव सुव्रते।
त्रिशूलाष्टकमालिख्य चतुरस्रं लिखेत्प्रिये ॥१५॥

चतुर्द्वारविशोभाढ्यं सर्वानन्दकरं तथा।
हसौः कारं त्रिकोणान्तः सालिख्य वरवर्णिनि ॥१६॥

इस वृत्त से सम्पृक्त अष्ट-ग्रन्थि युक्त अर्थात् परस्पर सटे हुए आठ कमल-दल बनायें। इनमें से प्रत्येक ग्रन्थि (अर्थात् कमल-दलों के युग्मन बिन्दु) को दो-दों 'प्रणव' (ॐ) से सम्पुटित कर दें। इससे ये ग्रन्थियाँ वज्र के समान दृढ़ हो जाती है। इसके बाद आठों दिशाओं में एक-एक कर आठ त्रिशूल बनायें। इनके ऊपर चतुर्द्वार युक्त ऐसा 'चतुस्त्र' या 'भू-पुर' बनायें जो सुन्दर और आनन्द कारक हो। हे वर-वर्णिनि। इसके बाद मध्य-त्रिकोण में प्रेत-बीज 'ह्सौः' लिखें ॥१४-१६॥

कामबीजं मध्यमं यदष्टकोणेषु संलिखेत्।
स्वरान्षोडश देवेशि युग्मयुग्ममभेदतः ॥१७॥
दलाष्टकेषु संलिख्य पश्चिमादिप्रदक्षिणम्।
ग्रन्थिस्थानेषु वर्गाणां कादीनां परमेश्वरिः ॥१८॥
विलिखेत्सप्तसंख्यानामाद्यार्णं क्रमतः प्रिये।
क्षकारमष्टमे योज्यं शेषान्वर्णान्क्रमेण तु ॥१९॥

शेष आठ कोणों के मध्य में काम-बीज 'क्लीं' लिखें। तत्पश्चात् इन आठ-कोणों में पश्चिम से प्रारम्भ कर प्रदक्षिणा क्रम से प्रत्येक कोण में दो-दो स्वर-स्वर लिखें। कमल-दल की आठ-ग्रन्थियों में से प्रत्येक ग्रन्थि पर 'क' वर्गादि के प्रथम अक्षर लिखें। अन्तिम ग्रन्थि पर 'क्ष' लिखें ॥१७-१९॥

त्रिशूलाग्रेषु संलिख्य पश्चिमादिक्रमेण तु।
तद्बाह्ये मातृकावृत्तं विलिख्य परमेश्वरि ॥२०॥
चतुरस्त्रे महेशानि मातृकां कामगर्भिताम्।
विलिख्य पूजयेद्यन्त्रं हेमरौप्यादिपट्टके ॥२१॥

इन वर्गों के शेष वर्णों को त्रिशूलों के अग्र-भाग पर पश्चिमादि क्रम से लिखें। इसके बाद इनके चारों ओर वृत्त रूप में मातृकायें लिखें। चतुरस्त्र में काम-बीज अर्थात् 'क्लीं' बीज से सम्पुटित मातृकायें लिखकर सोने-चाँदी आदि के पट्ट (पत्र) पर लिखित 'यन्त्र' की पूजा करनी चाहिए ॥२०-२१॥

ताम्रे वा दर्पणे ताले काश्मीरप्रभवेऽपि वा।
चन्दनाद्यन्विते भूमौ कुङ्कुमेनाथ वा पुनः ॥२२॥
सिन्दूररजसा वाऽपि कस्तूरीघुसृणेन्दुभिः।
भूर्जे गोरोचनाद्रव्यैः कल्पितं मानसेऽथ वा ॥२३॥

इन दो श्लोकों में यन्त्र-लेखन के अन्य आधार बताये गये है। भगवती बाला-त्रिपुरा का पूजन-यन्त्र कुंकम अथवा चंदन के चूर्ण से अथवा कस्तूरी- रक्त चन्दन और कपूर की स्याही से ताम्र-पत्र, दर्पण, ताड़-पत्र, कश्मीर-प्रभव काष्ठ अथवा गोरोचन आदि द्रव्यों से भोज-पत्र पर अथवा मानसिक-रूप से हृदय-पटल पर लिखना चाहिए ॥२२-२३॥

सुवर्णरत्नलेखिन्या सर्वकार्यार्थसाधकः।
विलिख्य यन्त्रं देवेशि पूजाद्रव्यैः प्रपूजयेत् ॥२४॥

उपर्युक्त आधारों पर स्वर्ण अथवा रत्न निर्मित लेखनी से लिखा गया 'यन्त्र' सभी कार्यों को सिद्ध करने वाला है। हे देवेशि! इस प्रकार यह यन्त्र लिखकर विविध उपचारों से उसकी पूजा करनी चाहिए ॥२४॥

कुलागमक्रमेणैव ध्यात्वा ब्रह्मविकाशिनीम्।
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं बिसतन्तुतनीयतीम् ॥२५॥
उद्यदादित्यरुचिरां स्मरेदशुभशान्तये।

यन्त्र लिखने के बाद अशुभ की शान्ति के लिये मूलाधार से ब्रह्म-रन्ध्र पर्यन्त व्याप्त, कमल-नाल के रेशे के समान सूक्ष्म, उदीयमान सूर्य के समान अरुण-कान्तिमयी ब्रह्म-विकाशिनी देवी का कुलागम के क्रम से ध्यान करना चाहिए ॥२५॥

भ्रमद्भ्रमरनीलाभधम्मिल्लामलपुष्पिणीम् ॥२६॥
ब्रह्मरंध्रस्फुरद्भृङ्गमुक्तारेखाविराजिताम्।
मुक्तारेखालसद्रत्नतिलकां मुकुटोज्ज्वलाम् ॥२७॥
बिशुद्धमुक्तारत्नाढ्यां चन्द्ररेखाकिरीटिनीम्।
भ्रमद्भ्रमरनीलाभनयनत्रयराजिनीम् ॥२८॥
सूर्यभास्वन्महारत्नकुण्डलालंकृतां पराम्।
शुक्राकारस्फुरन्मुक्ताहारभूषणभूषिताम् ॥२९॥
ग्रैवेयाङ्गदमुक्ताभिः स्फुरत्कान्तिविराजिताम्।
गङ्गातरङ्गकर्पूरशुभ्राम्बरविराजिताम् ॥३०॥
श्रीखण्डवल्लीसदृशबाहुवल्लीविराजिताम्।
कङ्कणादिलसद्भूषां मणिबन्धलसत्प्रभाम् ॥३१॥
प्रवालपल्ल्वाकारपाणिपल्लवराजिताम्।
वज्रवैदूर्यमुक्तालिमेखलां विमलप्रभाम् ॥३२॥
रक्तोत्पलदलाकारपादपल्लवभूषिताम्।
नक्षत्रमालासंकाशमुक्तामञ्जीरमण्डिताम् ॥३३॥

वामेन पाणिनैकेन पुस्तकं चापरेण तु।
अभयं च प्रयच्छन्तीं साधकाय वरानने ॥३४॥
अक्षमालां च वरदं दक्षपाणिद्वयेन हि।
दधतीं चिन्तयेद्देवीं वश्यसौभाग्यवाक्प्रदाम् ॥३५॥
क्षीरकुन्देन्दुधवलां प्रसन्नां संस्मरेत्प्रिये ॥३६॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे त्रिपुरेश्वरीध्यानं नाम तृतीयः पटलः ।।३।।

मंडराते हुए भौरों के समान श्यामल-सघन-केश-राशि युक्त शिरःश्री पर शुभ्र-मोतियों की लड़ी है जो रत्न-मय तिलक पर झूल रही है। विशुद्ध-मोती और विभिन्न रत्न-खचित मुकुट पर शृंगोक्त चन्द्र-रेखा की कलगी है। वे त्रिनयना हैं और ये आँखें भ्रमर के समान नीलाभ कजरारी हैं। कानों में कुण्डल है जिनमें सूर्य के समान देदीप्यमान रत्न जड़े हुए हैं। मोतियों की माला है जो शुक्र के समान दमक रही है। मोतियों का

नोटः—अन्य तन्त्र-ग्रन्थों में श्री बाला-त्रिपुरा का 'ध्यान' और 'पूजन-यन्त्र' भिन्न बताया गया है। यथा—श्री 'रुद्रयामल' में ध्यान और 'यन्त्र' इस प्रकार बताये गये हैं।

ध्यान

रक्ताम्बरां चन्द्रकलावतंसाम्
समुद्यादित्य-निभां त्रिनेत्राम्।
विद्याऽक्ष मालाऽभय दान हस्तां।
ध्यायामि बालामरुणाम्बुजस्थाम् ॥

यन्त्र

बिन्दु-त्रिकोण-वसु-कोणक-नाग-पत्र,
वृत्तं-त्रयमञ्चित-महीसदनं-त्रयञ्च,
बालादि-चक्रभिदमर्ति-हर-गिरिशे!
ब्रह्मेन्द्र-विष्णु-नमितं गदितं मया ते ॥

विश्वसार-तन्त्र में

मुक्ता-शेखर-कुण्डलाङ्गद-मणिग्रैवेय-हारोर्मिकाम्।
विद्योतिर्वलयादि-कङ्कण वटी सूत्रां स्फुरन्नूपुरम् ॥
मणिक्योदर-बन्ध-कञ्चुक-धरामिन्दोः कलां विभ्रतीम्।
पाशं-सांकुश-पुस्तकाक्षवलया दक्षोंद्ध वाह्वादितः
पूर्णेन्दु प्रमित प्रसन्न-वदनां-नेत्र-त्रयोद्भासिताम् ॥
इन्दु-क्षीर-वलक्ष-गात्र-विलसन्माल्यानुलेपनाम्बराम्।
मूलाधार-समुद्गता-भगवतीं-हृत् पंकजे चिन्तयेत् ॥

ग्रैवेय (कण्ठिका) और केयूर (बाजूबन्द) हैं। गंगा की तरंग और कपूर की तरह शुभ्र-परिधान है। श्रीखण्ड वल्ली की तरह बाहु-वल्लरी है। रत्न-जडित कंगन से मणि-बन्ध (कलाई) शोभित है। कर-तल (हथेली) इतने सुन्दर और अरुणाभ हैं मानों वे मूंगे के पल्लव हैं। कटि-प्रदेश में वज्र (हीरा) और वैदूर्य (नीलम) एवं मुक्ता आदि रत्नों से जड़ी हुई 'मेखला'—(करधनी) सुशोभित है। पैरों के तलवे लाल कमल के समान 'अरुणाभ' और चिकने हैं। उनमें नक्षत्र-माला की तरह वलयाकार पाजेब (मञ्जीर) है। वे चतुर्भुजा है। ऊपरी बायें हाथ में पुस्तक है एवं दूसरा हाथ 'अभय' मुद्रा में है। दाहिने हाथ में अक्ष-माला (जप-वटीका) और दूसरा-हाथ 'वर' मुद्रा में है। वे दूध, कुन्द तथा चन्द्रमा के समान धवल-वर्णा हैं तथा भक्त-जनों को सुख-सौभाग्य, वाक्-पटुता एवं वर प्रदान करती हैं। साधक को ऐसी कृपा-मयी एवं प्रसन्न-वदना भगवती बाला-त्रिपुरा का ध्यान करना चाहिए ॥२६-३६॥

श्री 'ज्ञानार्णव' नित्या-तन्त्र के त्रिपुरेश्वरी ध्यान नामक
तृतीय पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥३॥

❁

यंत्र

नवयोनिं समालिख्य, पुनर्वृत्तं समालिखेत्।
तल्लग्मष्ट-पत्रं तु, चतुरस्त्रं-लिखेच्छिवे ॥
चतुर्द्वार-विशोभाढ्यं, सर्वानन्द करं सदा।

'मन्त्र-महोदधि' में उपर्युक्त 'रक्ताम्बरां' चन्द्रकलावतंसां' ध्यान ही बताया गया है। यन्त्र का स्वरूप इस तरह है—

नवयोन्यात्मकं यन्त्रं बहिरष्ट दलावृतम्।
भूगृहेण पुनर्वीतं पूजनाय लिखेत्सुधीः ॥

मध्ययौनौ तु तार्तीयमष्ट योनिषु मन्मथ।
केसरेषु स्वरान्न्यसेद् वर्गानष्टौ दलेष्वपि ॥
दलाग्रेषु त्रिशूलानि पद्मं मातृकयावृत्तम्।
एवं विलिखिते यन्त्रे पीठशक्तीः प्रपूजयेत् ॥

अथ चतुर्थः पटलः

त्रिपुरेश्वरी पूजा क्रम विधान

श्रीदेव्युवाच

चक्रमण्डलमाख्यातं न पूजा तत्र मण्डले।
कथिता परमेशान श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥१॥

श्री देवी ने कहा—हे परमेशान् ! अपने भगवती त्रिपुरेशी के चक्र-मण्डल का तो निरूपण किया परन्तु पूजा की विधि नहीं बताई है। मैं आपसे उनके पूजन का विधान तत्त्वत: सुनना चाहती हूँ ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि पूजामण्डलमुत्तमम्।
पीठपूजां विधायादौ रविदेवीविराजिताम् ॥२॥

ईश्वर ने कहा—हे देवि ! यह उत्तम पूजा-मण्डल एक दिव्य पीठ है। इसमें बारह (१२) देवियाँ विराजित हैं। सर्व प्रथम इस पीठ की पूजा करने के बाद भगवती का अर्चन करना चाहिए ॥२॥

पीठ-विमर्श—'पीठन्ति उपविशन्ति अस्मिन् इति पीठम्।' इस व्याकरणिक व्युत्पत्ति के अनुसार बैठने का प्रत्येक आधार या आसन पीठ है परन्तु साधना-शास्त्र में 'पीठ' एक पारिभाषिक शब्द है। वस्तुत: साधक का शरीर इष्ट-देवता रूपिणी ब्रह्माण्ड-व्यापिनी महा शक्ति का वास्तविक पीठ है।

यह मानव शरीर ब्रह्माण्ड का लघु-प्रतिरूप है—मिनियेचर (Miniature) है। यह लघु-ब्रह्माण्ड है। शरीर रूपी इस लघु-ब्रह्माण्ड में सूर्य आदि नौ ग्रह, अश्विनी आदि सत्ताइस नक्षत्रों सहित मेष आदि द्वादश राशियाँ, सातों लोक, सभी चौदह भुवन, गणेश, केशव, शिव की ५१ मूर्तियाँ, और कामरूप आदि ५१ पीठ स्थित हैं। महा-शक्ति का साधक अपने शरीर में लघु-षोढ़ा न्यास के अन्तर्गत गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी, राशि और कामरूप आदि पीठों का और/अथवा 'महा षोढान्यास' के अन्तर्गत चतुर्दश भुवनों सहित समस्त 'प्रपञ्च' का न्यास करके उसे (अर्थात् अपने शरीर को) 'ब्रह्माण्ड' के रूप में परिणत करता है। फिर आधार-शक्ति से ज्ञानात्मा पर्यन्त पीठ-देवताओं की स्थापना और उसमें अपने इष्ट-देवता की पीठ-शक्तियों का

न्यास करके 'अन्तर्याग' के क्रम से हृदय-कमल पर इष्ट-देवता का पूजन तर्पण करने के बाद सूक्ष्म-हवन करता है।

अन्तर्याग करने के बाद बहिरंग पूजन के लिये 'सिंहासन'या चौकी पर स्थापित 'चक्र-मण्डल' में आधार-शक्ति आदि पीठ-देवताओं और वक्ष्यमाण 'पीठ-शक्तियों' की अर्चन पूर्वक 'स्थापना' करके उसे अपनी इष्ट-देवता के ब्रह्माण्ड रूपी 'पीठ' के रूप में रूपायित करता है। यही पीठ रहस्य है।

सभी देवताओं के अर्चन के लिये आधार-शक्ति आदि पीठ-देवता कुछ परिवर्तन के साथ लगभग एक ही हैं, परन्तु 'पीठ-शक्तियाँ' अलग-अलग हैं। अगले श्लोक में 'भगवती त्रिपुरा' की 'पीठ-शक्तियों' के नाम बताये गये हैं। यथा—

वामा ज्येष्ठा च रौद्री च अम्बिकेच्छा ततः परम्।
ज्ञाना क्रिया कुब्जिका च ऋद्धिश्चैव विषघ्निका ॥३॥
दूतरी चैव आनन्दा देवि द्वादश शक्तयः।

भगवती त्रिपुरा के 'चक्र-मण्डल' की द्वादश (पीठ) शक्तियाँ है—(१) वामा, (२) ज्येष्ठा, (३) रौद्री, (४) अम्बिका, (५) इच्छा, (६) ज्ञाना, (७) क्रिया, (८) कुब्जिका, (९) ऋद्धि, (१०) विषघ्निका, (११) दूतरी और (१२) आनन्दा ॥३॥

मुक्ताफलामलमणिस्फुरच्छत्रं शशिप्रभम् ॥४॥
गङ्गातरङ्गधवलं चामरद्वयमद्रिजे।
नवरत्नस्फुरद्दीप्ति ताम्बूलस्य करण्डकम् ॥५॥
मल्लिकामालतीजातीशतपत्रादिदामभिः।
पूर्णं रत्नमयं भाण्डं तथाऽलंकारपूरिताम् ॥६॥
पेटिकां व्यजनद्वंद्वं नवरत्नाभिभूषितम्।
नीलकण्ठस्य पिच्छैस्तु तथोशीरविराजिताम् ॥७॥
कर्पूरमृगनाभ्याढ्यं कुङ्कुमक्षोदमण्डितम्।
चषकं स्वर्णरचितं कङ्कतीं हीरराजिताम् ॥८॥
कज्जलस्य शलाकां च करण्डं चन्द्रपूरितम्।
दधानाः परमेशानि शक्तयः पीठसंस्थिताः ॥९॥

पीठ-शक्तियों का ध्यान—सफेद और बेदाग मोतियों और स्फटिक-आदि मणियों की झालरों से अलङ्कृत इन पीठ-शक्तियों का छत्र (चन्दोबा) चन्द्रमा की चाँदनी की तरह शुभ्र और धवल हैं। चामर-द्वय मन्दाकिनी-गंगा की लहरों के समान धवल हैं। रत्न-जटित ताम्बूल-पेटिका (खासदान) पर मल्लिका, मालती, जाती (चमेली) और शत-पत्र आदि पुष्पों की मालाओं का वेष्टन है। रत्न-खचित

'भण्ड' (सुराही) तथा अलङ्कृत पेटिका (शृंगारदान) है। रत्नों से विभूषित मयूर-पुच्छ निर्मित व्यजन (पंखा) है जिस पर उशीर (खस) कपूर, कस्तूरी, कुंकुम आदि का छिड़काव किया गया है। वे सोने का चषक (पान-पात्र), हीरे की कंघी, काजल लगाने की सलाई, और चन्द्रमा से परिपूर्ण 'करण्ड'(बांस की छोटी पिटारी) धारण किये हुए हैं ॥४-९॥

पूर्वादिपरितः पूज्या रविसंख्या वरानने।
संपूज्य मध्ये देवेशि प्रेतसिंहासनं यजेत् ॥१०॥
रत्नस्वर्णाकृति स्फारं दीप्तिमच्छुद्धमव्यम्।
पञ्चप्रेतासनं साक्षान्मोक्षदायि न संशयः ॥११॥

'हे वरानने ! पूर्वादि क्रम (पूर्व, आग्नेय, दक्षिण) से इन पीठ-शक्तियों का अचर्न करके, पीठ के मध्य में 'प्रेत-सिंहासन' की पूजा करनी चाहिए। स्वर्ण-निर्मित एवं रत्न-खचित यह विशाल-प्रेत-सिंहासन देदीप्यमान, स्वच्छ, दिव्य, अव्यय एवं मोक्षदायक है ॥१०-११॥

श्रीदेव्युवाच

पञ्च प्रेतान्महेशान ब्रूहि तेषां तु कारणम्।
निर्जीवा अविनाशस्ते नित्यरूपाः कथं विभो ॥१२॥
निर्जीवे नाश एवास्ति ते कथं नित्यतां गताः।

श्री देवी ने कहा—हे महेशान ! आपने कहा है कि भगवती त्रिपुरा का 'सिंहासन'—'प्रेत-सिंहासन' है। हे विभु ! ये 'प्रेत' कौन हैं ? इनका नाम क्या है ? ये प्रेत 'निर्जीव' हैं, तो इन्हें 'अविनाशी' और 'नित्य' क्यों कहा गया है क्योंकि जो नाशवान् होता है, वह न तो 'अविनाशी' हो सकता है और न ही वह नित्य अर्थात् शाश्वत हो सकता है ॥१२॥

ईश्वर उवाच

साधु पृष्टं त्वया भद्रे पञ्चप्रेतमयं कथम् ॥१३॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
पञ्च प्रेता वरारोहे निश्चला एव सर्वदा ॥१४॥

ईश्वर ने कहा—हे भद्रे ! आपका यह प्रश्न सर्वथा उचित है, साधु है कि भगवती त्रिपुरा का 'सिंहासन' पञ्च-प्रेत-मय क्यों है ? हे वरारोहे ! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर **और** सदाशिव ये ही भगवती त्रिपुरा के सिंहासन के पाँच-प्रेत हैं। ये सदैव निश्चल रहते हैं ॥१३-१४॥

विमर्श—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर—ये चारों 'देवता' भगवती-त्रिपुरा के सिंहासन के चार-पाये हैं और श्री सदा-शिव सिंहासन पर गद्दे के रूप में स्थित हैं। ब्रह्मा आदि इन पाँच देवताओं को ब्रह्माण्ड का 'कर्ता-धर्ता' माना जाता है मगर भगवती त्रिपुरा के सिंहासन के सन्दर्भ में इन्हें 'प्रेत' निरूपित किये जाने के कारणों को अगले १३ श्लोकों में स्पष्ट किया गया है।

ब्रह्मणः परमेशानि मातृत्वं सृष्टिरूपकम्।
वामाशक्तेस्तु विज्ञेयं ब्रह्मा प्रेतो न संशयः ॥१५॥

ब्रह्मा जी सृष्टि-कर्ता कहे जाते हैं परन्तु वस्तुतः, सृष्टि करने की मातृत्व-शक्ति 'वामा' (शक्ति) में है। दूसरे शब्दों में 'ब्रह्माण्ड' की सृष्टि 'वामा' से होती है। अतएव 'निर्जीव' (सृष्टि-उत्पादन क्षमता से रहित) होने के कारण ब्रह्मा जी को 'प्रेत' कहा गया है।

शिवस्य करणं नास्ति शक्तेस्तु करणं सदा।
ब्रह्माण्डलक्षनिर्माणं जायते शक्तितः प्रिये ॥१६॥
अत एव महेशानि ब्रह्मा प्रेतो न संशयः।

शिव में 'कर्तृत्व' का सर्वथा अभाव है। 'कर्तृत्व' का गुण या सामर्थ्य तो 'शक्ति' में रहता है। लक्ष-लक्ष ब्रह्माण्डों का निर्माण 'शक्ति' से हुआ है। अतएव हे महेशानि ! 'शिव' भी प्रेत हैं। इसमें सन्देह नहीं है ॥१६-१७॥

विष्णौ च पालनं नास्ति पालयन्ती परा शिवा ॥१७॥
ज्येष्ठाभिधा महेशानि सैव विष्णुरितीरिता।
विष्णुस्तु निश्चलो देवि वैष्णवी व्याप्तिकारिणी ॥१८॥
पालयन्ती जगत्सर्वं विश्वनाटककारिणी।
अत एव महेशानि विष्णुः प्रेतो न संशयः ॥१९॥

इसी तरह 'विष्णु' में भी पालकत्व नहीं है। विश्व का पालन-पोषण तो परा-शिवा करती हैं, जिनका नाम 'ज्येष्ठा' है। वे ही परा-शिवा ज्येष्ठा 'विष्णु' कहलाती हैं, अर्थात् सर्वथा निश्चल 'विष्णु' इन्हीं के कारण 'विष्णु' हैं—विश्वम्भर हैं। पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त और जगत् रूप-नाटक रचने वाली वैष्णवी शक्ति जगत् का पालन करती है। हे महेशानि ! इसलिये विष्णु भी प्रेत हैं। इसमें संशय नहीं है ॥१७-१९॥

रुद्रस्तु परमं तत्त्वं शिवो निश्चल एव हि।
ग्रसन्ती रुद्रशक्तिस्तु तमोरूपा वरानने ॥२०॥
गुणत्रयं शिवे नास्ति गुणातीतः परमेश्वरः।
निर्गुणस्य कथं ग्रासो निश्चलस्य वरानने ॥२१॥

ग्रसन्ती रुद्रशक्तिस्तु त्रैलोक्यं सचराचरम्।

रुद्र परम-तत्व हैं। शिव निश्चल हैं। सत्-रजस् और तमस् ये तीन गुण हैं। शिव में ये गुण हैं ही नहीं। वे इन गुणों से परे हैं—गुणातीत हैं। 'निर्गुण' है। जो 'निर्गुण' है, जो निश्चल है, वह संसार का संहार किस तरह कर सकता है। वह तो 'तमोरूपा रुद्र-शक्ति है, जो चराचर सहित तीनों लोकों का संहार करती है, विश्व को निगल लेती है॥१९-२१॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च गुणातीताः सदा प्रिये।
सगुणाः परमेशानि सृष्टिस्थितिलयात्मकाः॥२२॥

हे प्रिये ! ब्रह्मा-विष्णु और रुद्र गुणातीत है—गुणों से परे हैं। हे परमेशानि ! सत्-रज और तम- इन तीनों गुणों से युक्त 'शक्ति' ही सृष्टि-स्थिति और प्रलय करती हैं॥२२॥

ईश्वरोऽपि वरारोहे महाप्रेतः सदाऽनघे।
शिवे निश्चलता कस्मादीश्वरत्वं भवेत्प्रिये॥२३॥
यः कर्ता च स्वयं हर्ता स ईशो नान्यथा भवेत्।
कर्तृहर्तृत्वयुगलं निश्चले न हि सुन्दरि॥२४॥
ईश्वरत्वं शिवायां तु न शिवे परमेश्वरि।
अत एव महाप्रेत ईश्वरो नान्यथा भवेत्॥२५॥

जो स्वयं 'कर्ता' और 'हर्ता' हो, वही ईश्वर होता है। ईश्वर 'निश्चल' है। अतः उनमें 'कर्तृत्व' एवं 'हर्तृत्व' की क्षमता नहीं है। 'कर्तृत्व' एवं 'हर्तृत्व' का सामर्थ्य 'ईश्वरी' शक्ति में होता है। अतः 'कर्तृत्व' एवं 'हर्तृत्व' सामर्थ्य-विहीन 'ईश्वर' भी 'महाप्रेत' है॥२३-२५॥

सदाशिवो महाप्रेतः केवलं निश्चलः प्रिये।
अव्यक्तः परमानन्दो ब्रह्मानन्दमयी शिवा॥२६॥
शक्त्या विना शिवे देवि वासना न प्रवर्तते।
अत एव महेशानि महाप्रेतासनं यजेत्॥२७॥

हे प्रिये ! सदा-शिव परमानन्द हैं परन्तु अव्यक्त हैं, निश्चल हैं। निश्चलता के कारण वे भी महाप्रेत हैं। उनमें जो आनन्द है, वह शिवा के कारण है। वस्तुतः शिवा ही ब्रह्मानन्दमयी है। शिवा रूपिणी शक्ति के बिना शिव में तो वासना अर्थात् इच्छा और कामना भी नहीं होती। जो सर्वथा कामना रहित है, वह कोई कर्म किस तरह करेगा। किसी भी 'कर्म' के लिये सर्वप्रथम इच्छा होनी चाहिए। यदि इच्छा ही न हो तो इच्छा रहित व्यक्ति स्वतः कर्म का सम्पादन नहीं कर सकता॥२६-२७॥

विमर्श—ब्रह्मा आदि के प्रेतत्व का कारण निरूपित करने के बाद अगले श्लोक में सिंहासन पूजन मन्त्र का उद्धार और तत्पश्चात् पूजोपयोगी आवाहनी आदि मुद्रायें बताई गई हैं।

चक्रमध्ये स्थितं बीजं सदाशिवमहापदम्।
प्रेतपद्मासनं ङेन्तं हृन्मनुर्मनुरीरितः ॥२८॥
महासनस्य मन्त्रोऽयं कलार्णः परमेश्वरि।
सिंहासनं समभ्यर्च्य ततश्चाऽऽवाहनं कुरु ॥२९॥

चक्र मध्य में स्थित बीज अर्थात् 'हस्रौः' (सन्दर्भ ३/१६) के बाद 'सदाशिव-महा' फिर चतुर्थ्यन्त 'प्रेत पद्मासन (अर्थात् पद्मासनाय) के बाद 'हृत' अर्थात् 'नमः' की योजना करने से १६ अक्षरों का 'सिंहासन-पूजन' मन्त्र बनता है। इस मन्त्र से सिंहासन की पूजा करने के बाद चक्र में भगवती का आह्वान करना चाहिए ॥२८-२९॥

वहन्नाडीक्रमेणैव मूलादिब्रह्मरन्ध्रगाम्।
संवित्कलां परेशानि सर्वज्ञां कुलसुन्दरीम् ॥३०॥
आवाह्य चक्रमध्ये तु तर्पयेत्कुलसुन्दरीम्।
आवाहनादिमुद्रास्तु कथयामि तथानघे ॥३१॥

हे परमेशानि! मूलाधार से ब्रह्म-रन्ध्र पर्यन्त परिव्याप्त 'संवित्कला-स्वरूपिणी कुल-सुन्दरी' का प्रवहमान नाड़ी-क्रम से चक्र-मध्य में आहान करके उनका पूजन-तर्पण करना चाहिए। पूजन-आदि के क्रम में आवश्यक आवाहनी आदि मुद्राओं का स्वरूप बता रहा हूँ। इसे ध्यान से सुनिये ॥३०-३१॥

ऊर्ध्वाञ्जलिमधः कुर्यादियमावाहनी भवेत्।
इयं तु विपरीता स्यात्तदा वै स्थापनी मता ॥३२॥

दोनों हाथों की अंजुलि बनाकर उसे ऊपर उठाने से 'आवाहनी' मुद्रा बनती हैं। इस अंजली को अधोमुख करने से 'स्थापिनी-मुद्रा' बन जाती है ॥३२॥

मिलितं मुष्टियुगुलं संनिधापनरूपिणी।
अन्तरङ्गुमुष्टिभ्यां संनिरोधनरूपिणी ॥३३॥

दोनों हाथों की मुट्ठी बाँधकर उन्हें परस्पर जोड़ देने से 'सन्निधापनी' मुद्रा बनती है। इस मुद्रा में अंगूठा मुट्ठी से बाहर रहता है। जब अंगूठों को मुट्ठियों के अन्दर (अंगुलियों के बीच में) कर दिया जाता है, 'सन्निरोधनी' मुद्रा बन जाती है ॥३३॥

एतस्या एव मुद्रायास्तर्जन्यौ सरले यदा।
सव्यापसव्यभ्रमणान्मुद्रेयमवगुण्ठनी ॥३४॥

जब इस 'सन्निधापनी' मुद्रा की दोनों तर्जनी खड़ी करके बायें से दायें घुमाई जाये तो वह 'अवगुण्ठनी' मुद्रा कहलाती है ॥३४॥

विमर्श—सन्निधापनी, सन्निरोधनी और अवगुण्ठनी-ये तीनों मुद्रायें मुट्ठी बाँधकर बनाई जाती हैं । इनमें जो अन्तर है, वह निम्नानुसार है—

(१) 'सन्निधापनी' में दोनों अंगूठे बाहर अर्थात् अंगुलियों के ऊपर रहते है । (२) 'सन्निरोधनी' में अंगूठे अंगुलियों के बीच मुट्ठी में रहते हैं, और (३) 'अवगुण्ठनी' में दोनों तर्जनी मुट्ठी से बाहर रहती है ।

अङ्गमन्त्रैर्न्यसेद्देवि देव्यङ्गे साधकोत्तमः ।
सकलीकरणं नाम मुद्रेयं व्याप्तिकारिणी ॥३५॥

हे देवि ! अङ्ग-मन्त्रों से देवी की ध्यानोक्त कल्पित मूर्ति में हृदय आदि 'अंगों' का न्यास करने से व्याप्तिकारिणी—'सकलीकरण' मुद्रा बनती है ॥३५॥

विमर्श—इष्ट-देवता रूपिणी ब्रह्म-शक्ति तो वस्तुतः 'निष्कल' है, 'निराकार' है, जिसका ध्यान सम्भव ही नहीं है । अतः उसको 'सकल' अर्थात् 'ध्यानोक्त 'साकार' रूप में परिणत करने की क्रिया 'सकली करण' है । षडङ्ग न्यास के मन्त्रों से हृदयादि अंगों का न्यास किये जाने से इष्ट-देवता की मूर्ति 'सकल' अर्थात् 'साकार' हो जाती है, और उसमें हृदयादि मुख्य अंग व्याप्त हो जाते हैं ।

करावेकत्र संयोज्यावङ्गुष्ठौ बन्धयेत्प्रिये ।
परमीकरणं नाम मुद्रेयं तु ततः परम् ॥३६॥

दोनों हाथों को मिलाकर दोनों अंगूठों को परस्पर बाँध देने से 'परमीकरण' नामक मुद्रा बनती है ॥३६॥

परिवर्त्य करौ पश्चात्तर्जनीमध्यमायुगम् ।
कनिष्ठानामिकायुग्मं परस्परयुतं कुरु ॥३७॥
धेनमुद्रेवमाख्याता अमृतीकरणं भवेत् ।
एता साधारणा मुद्रा दर्शयित्वा ततः परम् ॥३८॥
वरदाभयमुद्रे च वरदाभयवत्प्रिये ।
पुस्तकवद्वामकरं कुर्यात्समतलं प्रिये ॥३९॥
पुस्तकं नाम मुद्रेयं वाग्विलास प्रयच्छति ।
तर्जन्यङ्गुष्ठयोगे तु दक्षहस्ते तु पार्वति ॥४०॥
अक्षमालेति मुद्रेयं ज्ञानमुद्रा च वै भवेत् ।

दोनों हाथों को मिला लें। तत्पश्चात् (१) दाहिनी तर्जनी को बायें हाथ की मध्यमा से (२) बायें हाथ की तर्जनी को दाहिने हाथ की मध्यमा से (३) दाहिने हाथ की अनामिका को बायें हाथ की कनिष्ठा से, और (४) बायें हाथ की अनामिका को दाहिने हाथ की कनिष्ठा से जोड़ने से 'धेनु-मुद्रा' बनती है। इस मुद्रा से 'अमृतीकरण' किया जाता है। इसका अन्य नाम 'सुरभि-मुद्रा' है।

ये मुद्रायें दिखाने के बाद 'वर' और 'अभय' मुद्रायें दिखानी चाहिए। यथा—

बायें हाथ को वरदान देने की स्थिति में रखने से 'वर' मुद्रा बनती है। दाहिने हाथ (करतल) को उठाकर कन्धे तक लाने से 'अभय' मुद्रा बनती है।

बायें करतल को नीचे की ओर 'अधोमुख' और दाहिने करतल को कन्धे के समीप स्थापित करने से क्रमशः 'वर' एवं 'अभय' मुद्रायें बनती हैं।

वाम करतल को पुस्तक के समान 'समतल' करने से 'पुस्तक' मुद्रा बनती है जो वाग्विलास देने वाली होती है।

दाहिने हाथ की तर्जनी और अंगूठे के शिरो-भागों को जोड़ने से **'अक्ष-माला'** मुद्रा बनती है। इसे 'ज्ञान-मुद्रा' भी कहते हैं ॥३७-४०॥

मुष्टिं बध्वा दक्षकरे तर्जन्यङ्कुशरूपिणी ॥४१॥
अङ्कुशाख्या महामुद्रा त्रैलोक्याकर्षिणी भवेत्।

दाहिने हाथ की मुट्ठी बाँधकर तर्जनी को अंकुश के समान मोड देने से 'अङ्कुश मुद्रा' बन जाती है जो त्रैलोक्य का भी आकर्षण करती है ॥४१-४२ $\frac{1}{2}$ ॥

तर्जनीयुगुलं देवि वामांसे शृङ्खलाकृति ॥४२॥
पाशमुद्रा समाख्याता त्रैलोक्याकर्षणक्षमा।

दोनों हाथों की तर्जनी अंगुलियों को जंजीर के सीकड़ के समान एक दूसरे में फंसा कर बायें कन्धे के पास रखने से 'पाश-मुद्रा' बनती है। यह मुद्रा भी तीनों लोकों का आकर्षण करने वाली है ॥४२ $\frac{1}{2}$ -४३॥

यथा हस्तगतं चापं तथा हस्तं कुरु प्रिये ॥४३॥
चापमुद्रेयमाख्याता वामहस्ते व्यवस्थिता।
यथा हस्तगतो बाणस्तथा हस्तं कुरु प्रिये ॥४४॥
बाणमुद्रेयमाख्याता रिपुवर्गनिकृन्तनी।

जिस प्रकार हाथ में धनुष धारण किया जाता है, उसी तरह बायें हाथ को धनुषधारण करने के समान बनाने से चाप (धनुष) मुद्रा बन जाती है।

जिस प्रकार हाथ में बाण रखा जाता है, उसी तरह हाथ की आकृति बना लेने से 'बाण-मुद्रा' बन जाती है। यह मुद्रा शत्रु-वर्ग का नाश करने वाली है ॥४३-४४॥

वामहस्ततलं देवि कपालाकृति कारयेत् ॥४५॥
कपालमुद्रा देवेशि देव्यानन्दकरी सदा।
हस्ताभ्यां कमलाकारो यदा तत्कमलं भवेत् ॥४६॥

वाम करतल को कपाल के समान बना लेने से 'कपाल मुद्रा' और जब हाथ को 'कमल' के आकार में बना लिया जाता है तो कमल-मुद्रा बन जाती है ॥४५-४६॥

एषा कमलमुद्रा च लक्ष्मीवृद्धिकरी मता।
इति चाऽऽयुधमुद्रास्तु दर्शयित्वा वरानने ॥४७॥
गन्धपुष्पाक्षतादीनि दद्यात्स्त्रीसहितः सदा।
उपचारैरलंकारैस्तोषयेत्परमेश्वरीम् ॥४८॥

यह कमल-मुद्रा लक्ष्मी की वृद्धि करने वाली है। हे वरानने ! भगवती को ये आयुध मुद्रायें दिखाने के बाद साधक अपनी धर्मपत्नी सहित श्री बाला-त्रिपुरा को गन्ध-पुष्प-अक्षत आदि उपचारों तथा अंलकारों से उन्हें प्रसन्न और संतुष्ट करे ॥४७-४८॥

लयाङ्गं कल्पयेद्देहे सम्यक्संतर्पयेच्छिवाम्।
परिवारार्चनं पश्चादादावङ्गाकृतिं प्रिये ॥४९॥

अपने शरीर में 'लयाङ्ग' की कल्पना (भावना) करके भगवती शिवा का भली-भाँति सन्तर्पण करके भगवती के परिवार का अर्चन करे। परिवार-अर्चन के पूर्व 'अङ्गाकृति' करना चाहिए। अपने शरीर में भगवती के 'चक्र-मण्डल' की भावना करना 'लयाङ्ग' है। भगवती के अर्चन के उपरान्त और परिवार-अर्चन के पूर्व 'चक्र-मण्डल' में समस्त 'आवरणों' तथा आवरण-देवताओं की दृढ़ता एवं श्रद्धा-पूर्वक भावना करना 'अङ्गाकृति' है॥४९॥

गुरुपूजानन्तरं तु प्रथमं गुरुमर्चयेत्।
प्राग्योनिमध्ययोन्योस्तु मध्ये निजगुरुं यजेत् ॥५०॥

भगवती त्रिपरा बाला के क्रम के दिव्यौघ, सिद्धौघ एवं मानवौघ गुरुओं का पूजन करने के पश्चात् पूर्व-त्रिकोण एवं मध्य-त्रिकोण के बीच में अपने 'गुरुदेव' की पूजा करना चाहिए ॥५०॥

विशेष—सामान्यत: साधक-गण दिव्यौघ आदि गुरुओं के पूजन-तर्पण के बाद अपनी गुरु-पंक्ति का पूजन-तर्पण करते हैं।

विशेषमुद्रां देवेशि दर्शयेत्सर्वसिद्धये।
परिवर्त्य करौ सम्यक्तर्जनीवाहनी समे ॥५१॥

मध्यमे कुरु तन्मध्ये योजयेत्तदनन्तरम्।
अन्योनामिके देवि कनिष्ठे तु यथास्थिते ॥५२॥
अङ्गुष्ठाम्यां योजिताभ्यां योन्याकारं तु कल्पयेत्।
योनिमुद्रेयमाख्याता परा त्रैलोक्यमातृका ॥५३॥

हे देवेशि ! सभी कार्यों की सिद्धि के लिये भगवती को विशेष-मुद्रा दिखानी चाहिए। यह विशेष-मुद्रा है—'योनि-मुद्रा'। दोनों हाथों को उलट दे अर्थात् दोनों कर तलों को जोड़ दे। दोनों तर्जनी अंगुलियों को मध्यमा अंगुलियों पर स्थापित कर दे। अनामा अंगुलियों को परस्पर जोड़ दे और कनिष्ठाओं को यथा स्थिति रखे। दोनों अंगूठों को एक साथ जोड़कर 'योनि' के आकार में बना लेने से 'योनि-मुद्रा' बनती है, जो समस्त लोकों की माता है ॥५१-५३॥

विशेष—तन्त्र-ग्रन्थों में योनि-मुद्रा के तीन (३) और स्वरूप भी मिलते है प्रकृत योनि मुद्रा उन्हीं रूपों में से 'दूसरे प्रकार' की है किन्तु प्रदर्शन-स्थान के भेद से इसके अलग-अलग नाम हो जाते हैं जिसका निरूपण अगले श्लोकों में किया गया है।

इयमेव हृदि क्षिप्ता त्रैलोक्यक्षोभिणी भवेत्।
त्रैलोक्यद्राविणी नाम मुखस्था परमेश्वरी ॥५४॥

जब यह मुद्रा हृदय पर रखकर प्रदर्शित की जाती है तो इसे 'त्रैलोक्य क्षोभिणी' मुद्रा कहते हैं। मुख पर रखने से यह 'त्रैलोक्य द्राविणी' नाम की मुद्रा बन जाती है ॥५४॥

भ्रूमध्यस्था महादेवि त्रैलोक्याकर्षिणी भवेत्।
ललाटस्था महादेवि त्रैलोक्यवशकारिणी ॥५५॥

भ्रू-मध्य में स्थापित करने पर त्रैलोक्यकर्षिणी और ललाट पर स्थापित करने से 'त्रैलोक्य वशकारिणी' मुद्रा बन जाती है ॥५५॥

ब्रह्मरन्ध्रस्थिता देवि त्रैलोक्योन्मादकारिणी।
पञ्चमुद्रामयीं मुद्रां योनिमुद्रां च दर्शयेत् ॥५६॥

ब्रह्मरन्ध्र पर स्थापित करने से यह 'त्रैलोक्योन्माद कारिणी' नामक मुद्रा बन जाती है। हे देवि ! भगवती की प्रसन्नता के लिये उन्हें यह पञ्च मुद्रामयी-योनि-मुद्रा दिखानी चाहिए ॥५६॥

ततः षडङ्गावरणं परितः पीठमद्रिजे।
अग्नीशासुरवायव्यमध्ये दिक्षु च पूजयेत् ॥५७॥

हे अद्रिजे ! गुरुओं का पूजन-तर्पण एवं भगवती को पञ्च-मुद्रा मयी योनि मुद्रा दिखाने के पश्चतत् पीठ पर अग्नि-कोण, ईशान, नैऋत्य, वायव्य कोणों तथा मध्य (पूर्व) तथा सभी दिशाओं में क्रमशः हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्र-त्रय एवं अस्त्र- इन षडङ्गों का अर्चन करना चाहिए ॥५७॥

अग्रकोणे रतिं यष्ट्वा प्रीतिमुत्तरकोणके।
मनोभवां दक्षकोणे ततो बाणान्समर्चयेत् ॥५८॥

अग्र कोण में 'रति' की, उत्तर कोण में 'प्रीति तथा दक्षिण-कोण में 'मनोभवा' की पूजा करके द्रविण आदि बाणों की पूजा करनी चाहिए ॥५८॥

उत्तरस्यां द्वयं देवि दक्षिणस्यां दिशि द्वयम्।
अग्रे चैकं क्रमेणैव बाणान्पञ्चाद्रिजे यजेत् ॥५९॥

हे देवि ! उत्तर दिशा में दो बाणों की, दक्षिण दिशा में दो बाणों की तथा सामने के कोण में एक बाण की पूजा करनी चाहिए ॥५९॥

पञ्च कामांस्तथा देवि बाणावत्परिपूजयेत्।
अंनङ्गकुसुमां देवि तथाऽनङ्गादिमेखलाम् ॥६०॥
अनङ्गमदनां पश्चादनङ्गमदनातुराम्।
सुभगां पञ्चगीं देवि भगां च भगसर्पिणीम् ॥६१॥
भगमालां महादेवि पूर्वादिक्रमतो यजेत्।
अष्टयोनिषु देवेशि ततो ब्राह्म्यादिका यजेत् ॥६२॥

हे देवि ! पञ्च बाणों की तरह पञ्च कामों की पूजा करे। तत्पश्चात् अष्ट-कोणों में पूर्वादि क्रम से क्रमशः (१) अनङ्ग-कुसुमा, (२) अनङ्ग-मेखला, (३) अनङ्ग-मदना, (४) अनङ्ग मदनातुरा, (५) सुभगा, (६) भगा, (७) भगसर्पिणी और (८) भग-माला की पूजा करे। हे देवि ! तत्पश्चात् अष्ट-पत्रों में युग्म-युग्म (अर्थात् जोड़े जोड़े से) से ब्राह्मी आदि अष्ट मातृकाओं तथा असितांग अष्ट भैरवों की पूजा करे ॥६०-६२॥

युग्मयुग्मप्रभेदेन वसुपत्रे वरानने।
असिताङ्गं तथा ब्राह्मीं रुरुं माहेश्वरीं प्रिये ।।६३।।
चण्डं कौमारिकां चैव क्रोधं वैष्णवदेवताम्।
उन्मत्तं चैव वाराहीं माहेन्द्रीं च कपालिनम् ।।६४।।
भीषणं चैव चामुडां संहारं चाष्टमं यजेत्।
महालक्ष्मीं महादेवि युग्मानि परिपूजयेत् ।।६५।।

हे वरानने ! अष्ट-पत्रों में अष्ट-मातृकाओं एवं अष्ट भैरवों का युग्म-युग्म प्रभेद से पूजन का क्रम इस तरह है। (१) असिताङ्ग एवं ब्राह्मी, (२) रुरु एवं माहेश्वरी, (३) चण्ड एवं कुमारी, (४) क्रोध एवं वैष्णवी, (५) उन्मत्त एवं वाराही, (६) कपाली और माहेन्द्री, (७) भीषण एवं चामुण्डा तथा (८) संहार एवं महालक्ष्मी ।।६३-६५।।

पश्चिमादिक्रमेणैव ततः पीठाष्टकं यजेत्।
कामरूपं च मलयं ततः कौलागिरिं तथा ।।६६।।
कुलान्तकं च चौहारं जालधरमतः परम्।
उड्डीयानं देवकूटं पीठाष्टकमिदं क्रमात् ।।६७।।

इसके बाद पश्चिम से प्रारम्भ करके आठ शक्ति पीठों का अर्चन करे। ये शक्ति पीठ हैं—(१) कामरूप पीठ, (२) मलय-पीठ, (३) कौलगिरि पीठ, (४) कुलान्तक पीठ, (५) चौहार पीठ, (६) जालन्धर पीठ, (७) उड्डयाण-पीठ और (८) देवकूट (देवी कूट) पीठ। इन आठ शक्ति-पीठों का पूजन अष्ट-दल (कमलदल) की ग्रन्थियों में किया जाता है ।।६६-६७।।

ग्रन्थिस्थानेषु संपूज्य पश्चिमादिक्रमेण तु।
त्रिशूलं परितो देवि मातृकावृत्तमण्डले ।।६८।।
भैरवा दश संपूज्याः पश्चिमादिक्रमात्प्रिये।
हेतुकं चैव वेतालं तन्मध्ये त्रिपुरान्तकम् ।।६९।।
अग्निजिह्वं च कालान्तं तथा चैव कपालिनम्।
एकपादं भीमरूपं मलयं हाटकेश्वरम् ।।७०।।
दशाभ्यर्च्य महादेवि भैरवान्मातृमण्डले।
चतुरस्रे महेशानि लोकपालाष्टकं यजेत् ।।७१।।

तदनन्तर मातृका-वृत्त-मण्डल में पश्चिम से प्रारम्भ करके दश-भैरवों का पूजन करना चाहिए। ये दश भैरव है—(१) हेतुक, (२) त्रिपुरान्तक, (३) वेताल, (४) अग्निजिह्व, (५) कालान्तक, (६) कपाली, (७) एकपाद, (८) भीमरूप, (९) मलय

और (१०) हाटकेश्वर। तत्पश्चात् चतुरस्त्र में इन्द्र आदि आठ लोकपालों का पूजन करे ॥६८-७१॥

इन्द्रमग्निं यमं देवि राक्षसं वरुणं तथा।
वायुं कुबेरमीशनं पूर्वादिक्रमतो यजेत् ॥७२॥
ब्रह्माणं चैव विष्णुं च ऊर्ध्वाधः क्रमतो यजेत्।

चतुरस्त्र में पूर्वादि क्रम से क्रमशः इन्द्र, अग्नि, यम, राक्षस (निर्ऋति), वरुण, वायु, कुबेर और ईशान का पूजन करके चतुरस्त्र के ऊपर (इन्द्र और ईशान के मध्य में) ब्रह्मा और नीचे (वरुण एवं निर्ऋति के मध्य में) विष्णु (अनन्त) का पूजन करे ॥७२॥

वांकारं बीजमुच्चार्य बटुकाय नमो लिखेत् ॥७३॥
यांकारं बीजमुच्चार्य योगिनीभ्यो नमस्तथा।
क्षांकारं बीजमुच्चार्य क्षेत्रपालाय वै नमः ॥७४॥
गांकारं बीजमुच्चार्य ततो गणपतिं लिखेत्।
ङेन्तं नमः पश्चिमादिदिक्षु पूज्याः क्रमेण तु ॥७५॥

इसके बाद चतुरस्त्र में ही पश्चिम से प्रारम्भ करके 'वां वटुकाय नमः' से वटुक का, 'यां योगिनीभ्यो नमः' से योगिनियों का, 'क्षां क्षेत्रपालाय नमः' से क्षेत्रपाल का और 'गां गणपतये नमः' से गणपति का पूजन करे। वटुक आदि का पूजन पश्चिम आदि चारों दिशाओं में क्रम से होता है ॥७३-७५॥

चतुरस्त्रे तु संपूज्य विदिक्षु परमेश्वरि।
वायव्यादिक्रमेणैव वक्ष्यमाणा महेश्वरि ॥७६॥
वसवो द्वादशाऽऽदित्या रुद्राश्चैव ततः प्रिये।
सर्वे भूतो वरारोहे क्रमेण परिपूजयेत् ॥७७॥

हे परमेश्वरि ! चतुरस्त्र में ही वायव्य आदि कोणों में अष्ट वसुओं, द्वादश-आदित्यों, एकादश रुद्रों और सर्व-भूतों का पूजन करना चाहिए। यथा—

वायव्य में—ॐ अष्टवसुभ्यो नमः।

ईशान में—ॐ द्वादशादित्येभ्यो नमः।

आग्नेय में—ॐ एकादशरुद्रेभ्यो नमः।

नैर्ऋत्य में—ॐ सर्वभूतेभ्यो नमः।

पूजां विधाय देवेशीमुपचारैः प्रपूजयेत् ।
उत्तराभिमुखो भूत्वा यदा चक्रं प्रपूजयेत् ॥७८॥
उत्तराशा तदा देवि पूर्वाशैव व्यवस्थिता ।
पश्चिमाशामुखे देवि यदा चक्रं प्रपूजयेत् ॥७९॥
पश्चिमाशा तदा देवि पूर्वाशैव व्यवस्थिता ।
दक्षिणाशामुखो देवि यदा चक्रं प्रपूजयेत् ॥८०॥
दक्षिणाशा ततो देवि पूर्वाशैव न संशयः ॥८१॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे त्रिपुरेश्वरीपूजाक्रमविधिर्नाम
चतुर्थः पटलः ।।४।।

सन्दर्भ—इन श्लोकों में मण्डल-पूजन के समय दिशाओं के निर्धारण का विधान बताया गया है । यथा—

जब साधक उत्तर की ओर मुख करके देवी की पूजा करता है, उस समय उसके सम्मुख उत्तर दिशा नहीं होती । वह उत्तर दिशा को ही पूर्व दिशा समझे । यदि वह पश्चिम-दिशा की ओर मुख करके चक्र-मण्डल में देवी की पूजा करता है तो पश्चिम दिशा को ही पूर्व दिशा समझे । दक्षिण की ओर मुख करके पूजा करते समय दक्षिण को ही पूर्व दिशा समझे ॥७८-८१॥

विमर्श—उपर्युक्त श्लोकों का तात्पर्य यह है कि नैसर्गिक-दिशा कोई भी हो चक्र-मण्डल में देवी की पूजा करते समय साधक के समक्ष पूर्व-दिशा माननी चाहिए । अन्य तन्त्र-ग्रन्थों में इसी बात को 'पूज्य पूजकयोः मध्ये प्राची' कहकर निरूपित किया गया है ।

श्री ज्ञानार्णव-नित्या तन्त्र में श्री त्रिपुरेश्वरी पूजा-क्रम विधि
नामक चतुर्थ-पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥४॥

✲

अथ पञ्चमः पटलः

त्रिपुरेश्वरी यजन विधान

श्रीदेव्युवाच

कुमारीक्रम आख्यातो मुद्रासनसमन्वितः ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि बलिदानादिकं विभो ॥१॥

श्री देवी ने कहा—हे विभो ! आपने मुद्रा और आसन सहित कुमारी बाला-त्रिपुर-सुन्दरी का पूजन विधान बताया । अब मैं आपसे 'बलिदान' आदि की विधि सुनना चाहती हूँ ॥१॥

ईश्वर उवाच

धूपं विस्तारयेत्सम्यङ्मूलमन्त्रं हृदि स्मरन् ।
वनस्पतिरसोत्पन्नो गन्धाढ्यो धूप उत्तमः ॥२॥
आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ।
अनेन मनुना देवि देव्यै धूपं निवेदयेत् ॥३॥

ईश्वर ने कहा—हे देवि ! 'मूल' मन्त्र का हृदय में स्मरण करते हुए भगवती को धूप समर्पित करना चाहिए । धूप-प्रदान करने का मन्त्र है—

मूल-मन्त्र—वनस्पति रसोत्पन्नो गन्धाढ्यो धूप उत्तमः ।
आघ्रेयः सर्व देवानां, धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥२-३॥

सुप्रकाशो महादीपः सर्वत्र तिमिरापहः ।
सवाह्याभ्यन्तरं ज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥४॥
तथैव दीपमन्त्रोऽयं विद्यान्ते परमेश्वरि ।
आरात्रिकं ततः कुर्यात्सर्वकार्यार्थसिद्धये ॥५॥

धूप समर्पित करने के बाद भगवती को दीप-समर्पित करें । दीप दर्शन का मन्त्र है—

मूल-मन्त्र—सुप्रकाशो महादीपः सर्वत्र तिमिरापहः ।
सवाह्याभ्यन्तर ज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥

दीप समर्पित करने के बाद भगवती का नीराजन (आरती) करना चाहिए। आरती करने से सभी कार्य सिद्ध होते हैं ॥४-५॥

सौवर्णे राजते कांस्ये स्थालके परमेश्वरि।
कुङ्कुमेन लिखेत्पद्मं वसुपत्रं मनोहरम् ॥६॥

भगवती की आरती करने के लिये स्वर्ण-रजत अथवा कांसे की स्वच्छ थाली पर कुंकुम से अष्ट दल कमल बनाये ॥६॥

चन्द्ररूपं चरुं कृत्वा तन्मध्ये मस्तके शिवे।
दीपमेकं विनिक्षिप्य वसुपत्रेऽष्ट दीपकान् ॥७॥
यवगोधूममुद्रादिरचिताञ्शर्करायुतान् ।
चषकान्वितमुद्राभिः शोभितान्घृतपूरितान् ॥८॥

अष्ट दल कमल के मध्य में चन्द्रमा के समान सुन्दर वलय की रचना करे। इस पर यव (जौ) गेहूँ अथवा उड़द के शर्करा-मिश्रित चूर्ण (आटा) से निर्मित और चषक के समान गोल और सुन्दर दीपक स्थापित करे। इसमें घी भरे। अष्ट दल कमलों पर भी इसी प्रकार के दीपक स्थापित करे ॥७-८॥

अभिमन्त्र्य महेशानि रत्नेश्वर्या ततः परम्।
श्रीबीजं च पराबीजं संलिख्य वरवर्णिनि ॥९॥
गसौ च मपनाः पश्चादिन्द्रस्थाः क्रमतः प्रिये।
वामकर्णसमायुक्ता बिन्दुनादविभूषिताः ॥१०॥

हे महेशानि ! इन दीपकों को 'रत्नेश्वरी' के मन्त्र से अभि-मन्त्रित करे। श्री बीज (श्रीं) और परा-बीज (ह्रीं) के पश्चात् बिन्दू नाद विभूषित वामकर्ण ('ऊ'कार) संयुक्त इन्द्र-बीज ('ल'कार) के साथ 'ग'कार, 'स'कार, 'म'कार, 'प'कार एवं 'न'कार की योजना करने से ग्लूं, स्लूं, म्लूं, प्लूं एवं 'न्लूं' इन पाँच रत्नेश्वरी बीजों की निष्पत्ति होती है। हे सुन्दरि ! ये पाँच बीज पञ्च-रत्न कहे जाते हैं। 'श्रीं' 'ह्रीं' के बाद उक्त पाँच बीज के बाद प्रथम दो बीजों (श्रीं ह्रीं) की विलोम-क्रम (ह्रीं श्री) से योजना करने पर रत्नेश्वरी का नव-अक्षरी मन्त्र बनता है ॥९-११॥

मन्त्र-स्वरूप—'श्रीं ह्रीं ग्लूं स्लूं म्लूं प्लूं न्लूं ह्रीं श्रीं'

बीजपञ्चकमेतत्तु पञ्च रत्नानि सुन्दरि।
पूर्वबीजे विलोमेन रत्नेशीयं नवाक्षरी ॥११॥
मूलमन्त्रेण चाभ्यर्च्य ततश्चाऽऽरात्रिकं चरेत्।
स्थालकं तु समुद्धृत्य मस्तकान्तं पुनःपुनः ॥१२॥
नववारं महेशानि ततो नीराजनं चरेत्।
समस्तचक्रचक्रेशीयुते देवि नवात्मिके ॥१३॥
आरात्रिकमिदं देवि गृहाण मम सिद्धये।
नीराजनमनुर्देवि विद्यान्ते प्रकटीकृतः ॥१४॥

रत्नेश्वरी मन्त्र से अभि-मन्त्रित करने के बाद मूल-मन्त्र से दीपकों की गन्ध-पुष्प अक्षत से पूजन करे। दोनों हाथों से थाल को उठाकर ९ बार देवी के समक्ष घुमाये। आरती करते समय आरती के थाल को मस्तक तक ऊपर उठाना चाहिए। आरती करने का मन्त्र हैं—

मूल मन्त्र—समस्त चक्र चक्रेशी युते देवि ! नवात्मिके।
आरात्रिकमिदं देवि ! गृहाण मम सिद्धये ॥११-१४॥

आरात्रिके महेशानि चक्रमुद्रा व्यवस्थिता।
वामहस्ताङ्गुष्ठगर्भे कनिष्ठां दक्षिणां नयेत् ॥१५॥
कनिष्ठागर्भगे वामे दक्षाङ्गुष्ठं विनिक्षिपेत्।
अन्योन्यकरयोर्देवि चक्रमुद्रैयमीरिता ॥१६॥

आरती-विधान में चक्र-मुद्रा की व्यवस्था है—अर्थात् आरती की थाली को उठाने के पूर्व-चक्र मुद्रा से उसका संरक्षण करना चाहिए। दोनों हाथों को जोड़कर दाहिनी कनिष्ठा को बायें अंगूठे से और बायीं कनिष्ठा को दाहिने हाथ के अंगूठे से दबाने से 'चक्र' का मुद्रा बनती है ॥१५-१६॥

आरात्रिकविधिं कृत्वा नैवेद्यं तु निवेदयेत्।
शुद्धस्फटिकसंकाशश्चन्द्ररश्मिसमप्रभः ॥१७॥
लसत्तण्डुलजो देवि चारुमृद्वोदनः प्रिये।
हिङ्गुजीरमरीचाढ्यैरार्द्रकै रुचिरः प्रिये ॥१८॥

दीप समर्पित करने के बाद भगवती का नीराजन (आरती) करना चाहिए। आरती करने से सभी कार्य सिद्ध होते हैं ॥४-५॥

सौवर्णे राजते कांस्ये स्थालके परमेश्वरि।
कुङ्कुमेन लिखेत्पद्मं वसुपत्रं मनोहरम् ॥६॥

भगवती की आरती करने के लिये स्वर्ण-रजत अथवा कांसे की स्वच्छ थाली पर कुंकुम से अष्ट दल कमल बनाये ॥६॥

चन्द्ररूपं चरुं कृत्वा तन्मध्ये मस्तके शिवे।
दीपमेकं विनिक्षिप्य वसुपत्रेऽष्ट दीपकान् ॥७॥
यवगोधूममुद्रादिरचिताञ्शर्करायुतान् ।
चषकान्वितमुद्राभिः शोभितान्घृतपूरितान् ॥८॥

अष्ट दल कमल के मध्य में चन्द्रमा के समान सुन्दर वलय की रचना करे। इस पर यव (जौ) गेहूँ अथवा उड़द के शर्करा-मिश्रित चूर्ण (आटा) से निर्मित और चषक के समान गोल और सुन्दर दीपक स्थापित करे। इसमें घी भरे। अष्ट दल कमलों पर भी इसी प्रकार के दीपक स्थापित करे ॥७-८॥

अभिमन्त्र्य महेशानि रत्नेश्वर्या ततः परम्।
श्रीबीजं च पराबीजं संलिख्य वरवर्णिनि ॥९॥
गसौ च मपनाः पश्चादिन्द्रस्थाः क्रमतः प्रिये।
वामकर्णसमायुक्ता बिन्दुनादविभूषिताः ॥१०॥

हे महेशानि ! इन दीपकों को 'रत्नेश्वरी' के मन्त्र से अभि-मन्त्रित करे। श्री बीज (श्रीं) और परा-बीज (ह्रीं) के पश्चात् बिन्दू नाद विभूषित वामकर्ण ('ऊ'कार) संयुक्त इन्द्र-बीज ('ल'कार) के साथ 'ग'कार, 'स'कार, 'म'कार, 'प'कार एवं 'न'कार की योजना करने से ग्लूं, स्लूं, म्लूं, प्लूं एवं 'न्लूं' इन पाँच रत्नेश्वरी बीजों की निष्पत्ति होती है। हे सुन्दरि ! ये पाँच बीज पञ्च-रत्न कहे जाते हैं। 'श्रीं' 'ह्रीं' के बाद उक्त पाँच बीज के बाद प्रथम दो बीजों (श्रीं ह्रीं) की विलोम-क्रम (ह्रीं श्री) से योजना करने पर रत्नेश्वरी का नव-अक्षरी मन्त्र बनता है ॥९-११॥

मन्त्र-स्वरूप—'श्रीं ह्रीं ग्लूं स्लूं म्लूं प्लूं न्लूं ह्रीं श्रीं'

बीजपञ्चकमेतत्तु पञ्च रत्नानि सुन्दरि।
पूर्वबीजे विलोमेन रत्नेशीयं नवाक्षरी ॥११॥
मूलमन्त्रेण चाभ्यर्च्य ततश्चाऽऽरात्रिकं चरेत्।
स्थालकं तु समुद्धृत्य मस्तकान्तं पुनःपुनः ॥१२॥
नववारं महेशानि ततो नीराजनं चरेत्।
समस्तचक्रचक्रेशीयुते देवि नवात्मिके ॥१३॥
आरात्रिकमिदं देवि गृहाण मम सिद्धये।
नीराजनमनुर्देवि विद्यान्ते प्रकटीकृतः ॥१४॥

रत्नेश्वरी मन्त्र से अभि-मन्त्रित करने के बाद मूल-मन्त्र से दीपकों की गन्ध-पुष्प अक्षत से पूजन करे। दोनों हाथों से थाल को उठाकर ९ बार देवी के समक्ष घुमाये। आरती करते समय आरती के थाल को मस्तक तक ऊपर उठाना चाहिए। आरती करने का मन्त्र हैं—

मूल मन्त्र—समस्त चक्र चक्रेशी युते देवि ! नवात्मिके।
आरात्रिकमिदं देवि ! गृहाण मम सिद्धये ॥११-१४॥

आरात्रिके महेशानि चक्रमुद्रा व्यवस्थिता।
वामहस्ताङ्गुष्ठगर्भे कनिष्ठां दक्षिणां नयेत् ॥१५॥
कनिष्ठागर्भगे वामे दक्षाङ्गुष्ठं विनिक्षिपेत्।
अन्योन्यकरयोर्देवि चक्रमुद्रैयमीरिता ॥१६॥

आरती-विधान में चक्र-मुद्रा की व्यवस्था है—अर्थात् आरती की थाली को उठाने के पूर्व-चक्र मुद्रा से उसका संरक्षण करना चाहिए। दोनों हाथों को जोड़कर दाहिनी कनिष्ठा को बायें अंगूठे से और बायीं कनिष्ठा को दाहिने हाथ के अंगूठे से दबाने से 'चक्र' का मुद्रा बनती है ॥१५-१६॥

आरात्रिकविधिं कृत्वा नैवैद्यं तु निवेदयेत्।
शुद्धस्फटिकसंकाशश्चन्द्ररश्मिसमप्रभः ॥१७॥
लसत्तण्डुलजो देवि चारुमृद्वोदनः प्रिये।
हिङ्गुजीरमरीचाढ्यैरार्द्रकै रुचिरः प्रिये ॥१८॥

वटकः कुङ्कुमाकारः पायसं हेमसंनिभम् ।
दुग्धगम्भीरसुभगं शर्करापूरपूरितम् ॥१९॥
कपिलाघृतसंयुक्तं भूर्जत्वङ्मण्डकाः प्रिये ।
शर्करालोलिता देवि सूपं मुद्गोद्भवं तथा ॥२०॥
नानाविधानि पेयानि व्यञ्जनानि बहूनि च ।
इत्याद्यन्नरसोपेतं नैवेद्यं कल्पयेद्बुधः ॥२१॥

'मूल-मन्त्र' पूर्वक उपर्युक्त नीराजन-मन्त्र से आरती करने के बाद भगवती को 'नैवेद्य' समर्पित करें । स्फटिक एवं चन्द्रमा के समान धवल, मृदु एवं उत्तम चावल का नरम-भात, हींग जीरा, काली-मिर्च, अदरख से युक्त लाल-रंग के गोल-गोल बड़े, गाय के दूध और शक्कर से बनी हुई खीर, घी, इत्यादि सुस्वादिष्ट षट्रस व्यञ्जन नैवेद्य के लिये बनाकर भगवती को समर्पित करे । नैवेद्य में भूर्जत्वक का मांड और दाल भी होनी चाहिए ॥१७-२१॥

मनः कल्पितरूपं वा त्रिपुरायै निवेदयेत् ।
हेमपात्रगतं दिव्यं परमान्नं सुसंस्कृतम् ॥२२॥
पञ्चधा षड्रसोपेतं गृहाण परमेश्वरि ।
विद्यान्ते परमेशानि नैवेद्यमनुरीरितः ॥२३॥

नैवेद्य समर्पित करने का मन्त्र है—

मूल-मन्त्र—हेमपात्रगतं दिव्यं परमान्नं सुसंस्कृतम् ।
पञ्चधा षड्रसोपेतः गृहाण परमेश्वरि ॥

यदि नैवेद्य-सामग्री की व्यवस्था न हो, कठिनाई हो, अभाव हो तो मन से नैवेद्य की कल्पना करके भी नैवेद्य-समर्पित किया जा सकता है । तात्पर्य यह कि चाहे मानसिक हो तो भौतिक-नैवेद्य-समर्पण आवश्यक है ॥२२-२३॥

विमर्श—नैवेद्य-समर्पण देव-अर्चन का अनिवार्य कर्म है । मनः कल्पित नैवेद्य-समर्पण आपात् व्यवस्था है । साधक को यथा-शक्ति, यथा-उपलब्ध शुद्ध-स्वच्छ एवं ताजे व्यञ्जनों का नैवेद्य समर्पित करना चाहिये ।

परिषिंच्य ततो देवि नित्यहोमं समाचरेत् ।
मूलमन्त्रेण देवेशि हुनेत्पञ्चाऽऽहुतिः क्रमात् ॥२४॥

प्राणापानौ तथा व्यान उदानश्च समानकः ।
एतत्स्वरूपं जानीयादाहुतीनां च पञ्चकम् ॥२५॥
षडाहुतीः षडङ्गेन नित्यहोमोऽयमीरितः ।
नित्यहोमविधिं कृत्वा बलिदानविधिं चरेत् ॥२६॥

भगवती के समक्ष नैवेद्य-पात्र को स्वच्छ-पवित्र आधार पर स्थापित करके जल से अभिसिंचन करके नैवेद्य-समर्पित करे । इसके बाद 'नित्य-होम' करे । प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान-इन पञ्च-प्राणों को पाँच आहुति एवं षडङ्ग-मन्त्रों से ६ आहुतियाँ मूल-मन्त्र पूर्वक प्रदान करना 'नित्य-होम' है । इसके बाद (आचमन, पानीय और समर्पण के उपरान्त) बटुक-आदि बलि-देवताओं को 'बलि' समर्पित करनी चाहिए ॥२४-२६॥

ईशाने च तथाऽऽग्नेये नैर्ऋत्ये च तथा प्रिये ।
वायव्ये क्रमतो देवि मण्डलानां चतुष्टयम् ॥२७॥
श्रीचक्रमभितो देवि त्रिकोणं व्योम चाऽऽलिखेत् ।
पूर्वमन्त्रैः समभ्यर्च्य बटुकादिभिराद्रिजे ॥२८॥

हे पार्वति ! बलि-देवताओं को बलि समर्पित करने के लिये भगवती के पूजन-मण्डल के ईशान-आग्नेय-नैऋत्य एवं वायव्य-कोणों में (त्रिकोण गर्भित वृत्त युक्त चतुरस्त्र) पूजा-मण्डल बनाये । त्रिकोण के मध्य में 'बिन्दु' लिखे । बलि-प्रदान करने के पूर्व प्रत्येक-पूजन मण्डल में बटुक आदि तत्-तत् बलि-देवता का उनके मन्त्रों से पूजन (गन्ध-पुष्प-अक्षत) करके 'बलि' समर्पित करना चाहिए ॥२७-२८॥

एह्येहि देवि पुत्रान्ते वटुकान्तेऽथ नाथ च ।
कपिलान्ते जटाभार भासुरान्ते त्रिनेत्र च ॥२९॥
ज्वालामुख च सर्वान्ते विघ्नान्नाशय नाशय ।
सर्वोपचारसहितं बलिं गृह्ण द्विधापदम् ॥३०॥
वह्निजायान्वितो मन्त्रो बटुकस्य उदाहृतः ।
अनेन विधिना देवि बटुकस्य बलिं प्रिये ॥३१॥

बलि-मन्त्र—ईशान-कोण के मण्डल में 'वां वटुकाय नमः' मन्त्र से मण्डल का गन्ध-अक्षत से पूजन करके निम्न मन्त्र से बलि प्रदान करे—

'एह्येहि देवीपुत्र ! वटुकनाथ कपिल जटाभार भासुर त्रिनेत्र ज्वालामुख सर्व-विघ्नान् नाशय नाशय सर्वोपचार सहितं बलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहा'

बलि प्रदान करने के बाद उन्हें प्रणाम करे ॥२८-३१॥

योगिनी-बलि—अग्नि-कोण के मण्डल में गन्ध-पुष्प-धूप-दीप से योगिनियों का निम्नलिखित मन्त्र से अर्चन करके प्रार्थना करे—

ऊर्ध्वं ब्रह्माण्डतो वा दिवि गगनतले भूतले निष्कले वा।
पाताले वाऽनले वा सलिलपवनयोर्यत्र कुत्र स्थिता वा ॥३२॥
क्षेत्रे पीठोपपीठादिषु च कृतपदा धूपदीपादिकेन।
प्रीता देव्यः सदा नः शुभबलिविधिना पान्तु वीरेन्द्रवन्द्याः ॥३३॥

ब्रह्माण्ड से ऊपर स्वर्ग में, अन्तरिक्ष में, गगनतल में, भूतल में, एकान्त में, पाताल में, अग्नि में, जल में, पवन में, क्षेत्रों में, पीठों में, उप-पीठों में जहाँ-कहीं भी रहने वाली और वीरों के द्वारा नमस्कृता योगिनी देवियाँ हमारे द्वारा समर्पित धूप-दीप आदि उपचारों एवं बलि-विधान से सन्तुष्ट होकर हमारी सर्व-विध रक्षा करें ॥३२-३३॥

एतदन्ते महेशानि यांबीजं योगिनी ततः।
भ्यः स्वाहा सर्ववर्णान्ते योगिनीपदमालिखेत् ॥३४॥
कवचं चास्त्रमालिख्य वह्निजायां पुनर्लिखेत्।
अनेन मनुना देवि योगिनीनां बलिं हरेत् ॥३५॥

हे महेशानि ! पूजा-उपचार के बाद योगिनियों को बलि-प्रदान करे। बलि-प्रदान का मन्त्र है—यां योग्निनीभ्यः स्वाहा। सर्ववर्ण योगिनी हुं फट् स्वाहा'। बलि प्रदान करने के बाद उन्हें प्रणाम करें ॥३४-३५॥

क्षेत्रपाल-बलि—नैर्ऋत्य-कोण के मण्डल में स्थान-क्षेत्रपाल का आह्वान करके बलि प्रदान करें।

षड्दीर्घस्वरसंभिन्नं क्षकारं विलिखेत्प्रिये।
स्थानक्षेत्रपदं पालधूपदीपादि चाऽऽलिखेत् ॥३६॥

सहितं बलिमालिख्य गृह्व गृह्ण वदेत् ततो।
वह्निजायान्वितो मन्त्रः क्षेत्रपालस्य सुन्दरि ॥३७॥
अनेन मनुना देवि क्षेत्रपालबलिः स्मृतः।

छै दीर्घ स्वर युक्त 'क्ष'कार अर्थात् 'क्षां क्षीं क्षूं क्षैं क्षौं क्षः' के बाद स्थान क्षेत्रपाल धूप दीपादि सहितं बलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहाः' यह क्षेत्रपाल को बलि प्रदान करने का मन्त्र हैं ॥३६-३७॥

गणेश-बलि—वायव्य कोण वाले मण्डल में गणेश जी को बलि प्रदान करें। बलि-मन्त्र है—

गांगींगूंत्रयमालिख्य ङेन्तं गणपतिं ततः ॥३८॥
वरान्ते वरदान्ते च सर्वान्ते जनमालिखेत्।
मे वशं चाऽऽनय प्रोच्य सर्वोपपदमालिखेत् ॥३९॥
चारान्ते सहितं चोक्त्वा बलिं गृह्ण द्विधापदम्।
वह्निजायान्वितो मन्त्रो गणपस्य बलिं हरेत् ॥४०॥

गां-गीं गूं (के बाद) गणपतये वर वरद सर्व जन मे वशमानय सर्वोपचार सहितं बलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहा' यह गणपति को बलि प्रदान करने का मन्त्र है ॥३८-४०॥

बलि-प्रदान मन्त्र बताने के बाद अगले चार श्लोकों में बटुक आदि बलि-देवताओं को बलि-प्रदान करने की मुद्रायें बताई गई हैं।

वामाङ्गुष्ठानामिकाभ्यां बटुकस्य बलिं हरेत्।
तर्जन्यनामिका चैव मध्यमोपरि योजयेत् ॥४१॥
योन्याकारेण वामेन योगिनीनां बलिर्भवेत्।
अङ्गुष्ठमध्यमानाम् (मा) योन्याकारेण योजयेत् ॥४२॥
वाममुष्टिं विधायाऽऽदौ तर्जनीं सरलां कुरु।
अनया मुद्रया देवि क्षेत्रपालबलिर्भवेत् ॥४३॥
तथा मुष्टेस्तु मध्यस्थामङ्गुलीं दण्डवत्कुरु।
गजतुण्डा महामुद्रा गणपस्य बलिर्भवेत् ॥४४॥

बटुक—बायें हाथ के अंगूठे और अनामिका अंगुली को मिलाकर बटुक को बलि देनी चाहिए।

योगिनी—बायें हाथ की तर्जनी और अनामिका को मध्यमा पर रखने से योनि के आकार की जो मुद्रा बनती है, उससे योगिनियों को बलि प्रदान करे अथवा अंगूठा-मध्यमा और अनामा को योनि के आकार में रखकर बलि प्रदान करे।

क्षेत्रपाल—बायें हाथ की मुट्ठी बाँधकर तर्जनी को सीधी रखे। यह क्षेत्रपाल की बलि-मुद्रा है।

गणेश—इसी प्रकार मुट्ठी बाँधकर मध्यमा-अंगुली को हाथी के सूंड की तरह सीधी रखने से 'गज तुण्डा' नामक महामुद्रा बनती है। इस मुद्रा से गणेश जी को बलि-प्रदान करे ॥४१-४४॥

अथवा वामभागे तु मण्डलं चैकमालिखेत्।
तत्रैव बलिदानं तु कुर्यात्सर्वार्थसिद्धये ॥४५॥

यदि भगवती के अर्चन-मण्डल के ईशान आदि चारों-कोणों में पृथक-पृथक बलि-मण्डल बनाने की सुविधा/स्थान न हो तो अपने वाम-भाग में एक मण्डल बनाकर बलि-कर्म सम्पादित करे ॥४५॥

विमर्श—बलि का अर्थ है—उत्सर्ग, चढ़ावा, भेंट आदि। भगवती को नैवेद्य में जो जो सामग्री प्रदान की जाती हैं, वही सामग्री बलि-देवताओं को भी बलि में प्रदान करें।

आत्मविद्यां शिवैस्तत्त्वैर्गुरुं संतर्प्य देवताम्।
संतोष्याऽऽनन्दसहितः सर्वकर्माणि साधयेत् ॥४६॥

बलि-प्रदान के बाद आत्म-विद्या शिव एवं गुरुदेव को -तत्वों से तर्पण करके संतुष्ट करे। इस प्रकार आनन्द सहित सभी कार्य साधने चाहिए ॥४६॥

अनेन विधिना देवि पूजयेत्परमेश्वरीम्।
पञ्चसिंहासनोन्नद्धां परमानन्दरूपिणीम् ॥४७॥

पञ्चसिंहासनोन्नद्धां चित्कलां चिन्तयेत्सदा ।
वर्णलक्षं जपेन्मन्त्रं तद्दशांशं हुनेत्प्रिये ।।४८।।
तर्पणं तु तथा कुर्यात्सर्वसौभाग्यवान्भवेत् ।।४९।।

इति श्रीज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे त्रिपुरेश्वरीयजनविधिर्नाम
पञ्चमः पटलः ।।५।।

हे देवि ! इस प्रकार परमेश्वरी बाला त्रिपुरा का पूजन करना चाहिए। पञ्च सिंहासन पर आसीन, परमानन्द रूपिणी चित्कला का सदैव स्मरण करे । मन्त्र में जितने अक्षर है, मन्त्र का उतने लाख (यदि मन्त्र में तीन अक्षर हैं तो तीन लाख) जप करे । जप-संख्या का दशांश (यथा ३० हजार) हवन और उसका दशांश तर्पण करे । (यह मन्त्र का पुरश्चरण है)। ऐसा करने से मन्त्र-साधक समस्त सौभाग्य प्राप्त कर लेता है ।

श्री ज्ञानार्णव-नित्या तन्त्र के त्रिपुरेश्वरी यजन विधि नामक
पाँचवें पटल की 'सुदर्शना'-व्याख्या पूर्ण हुई ।।५।।

अथ षष्ठः पटलः

पूर्व-सिंहासन-निरूपण

पूर्व पटल में ईश्वर ने श्री त्रिपुरेश्वरी की यजन-विधि का निरूपण करते हुए कहा है कि पञ्च-सिंहासन पर आसीन भगवती त्रिपुरा का वक्ष्यमाण-विधि से पूजन और तर्पण करना चाहिए। इस पञ्च-सिंहासन का स्वरूप और उस पर अधिष्ठित परमानन्द-स्वरूपिणी भगवती त्रिपुरा के रूप-भेदों को जानने की इच्छा से देवी ने प्रश्न किया—

श्रीदेव्युवाच–

पञ्चसिंहासनगता कथं सा त्रिपुरा परा।
कथयस्व महेशान कथं सिंहासनं भवेत् ॥१॥

हे महेशान ! वे भगवती परा त्रिपुरा पञ्च-सिंहासन पर किस तरह विराजमाना है ? वह पञ्च सिंहासन कैसा है ? उसका क्या स्वरूप है ?॥१॥

ईश्वर उवाच–

यथा श्रीत्रिपुरा बाला तथा त्रिपुरभैरवी।
संपत्प्रदा नाम तस्याः शृणु निर्मलमानसे ॥२॥

ईश्वर ने कहा—हे निर्मल मन वाली देवी ! जैसी श्री त्रिपुरा-बाला हैं, वैसी ही त्रिपुर-भैरवी हैं। उनमें तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। मैं अब भगवती त्रिपुर-भैरवी के उस रूप-भेद का निरूपण कर रहा हूँ जो अपने साधकों को ऐहिक एवं पारलौकिक सम्पत्ति प्रदान करने की उदारता के कारण 'सम्पत्प्रदा भैरवी' के नाम से विख्यात है। अगले ढाई श्लोकों में सम्पत्प्रदा भैरवी का मन्त्र बतला गया है ॥२॥

शिवचन्द्रौ वह्निसंस्थौ वाग्भवं तदनन्तरम्।
कामराजं तथा देवि शिवचन्द्रान्वितं ततः ॥३॥
पृथ्वीबीजान्तवह्न्याढ्यं तार्तीयं शृणु वल्लभे।
शक्तिबीजे महेशानि शिवं वह्निं च योजयेत् ॥४॥
व्योमादिवह्निसंस्थं तु विशेषं शृणु वल्लभे।
कुमार्याः परमेशानि हित्वा सर्गं तु बैन्दवम् ॥५॥
त्रिपुरा भैरवी देवी महासंपत्प्रदा प्रिये।

शिव ('ह'कार) चन्द्र ('स' कार) वह्नि ('र' कार) एवं अन्त में वाग्भव (ऐं) की योजना करने से निष्पन्न—'हस्त्रैं' सम्पत्प्रदा भैरवी विद्या का प्रथम कूट है।

शिव ('ह' कार) चन्द्र ('स'कार) कामराज ('क'कार) पृथ्वी-बीज ('ल'कार) एवं वह्नि ('र'कार) की योजना करके उसमें शक्ति बीज ('ई'कार) लगाने से निष्पन्न 'हस्क्ल्रीं' इस विद्या का द्वितीय (कामराज) कूट है ॥३-६॥

कुमारी अर्थात् बाला-विद्या के तृतीय-बीज सौः 'के विसर्ग को हटाकर उसे बिन्दु अर्थात् अनुस्वार युक्त करें। रूप बना—'सौं'। शिव ('ह'कार) एवं वह्नि ('र'कार) के अन्त में 'सौं' की योजना करने से निष्पन्न 'हस्त्रौं' इस विद्या का तृतीय (तातीर्य) कूट है ॥३-६॥

मन्त्र-स्वरूप—'ह्स्त्रैं ह्स्क्ल्रीं हस्त्रौं'

विशेष—श्रीविद्यार्णव (२५वें श्वास) और 'वृहत्-तन्त्र-सार (द्वितीयं-परिच्छेद) में 'ज्ञानार्णव' के इन्हीं श्लोकों को उद्धृत करके लिखा गया है—'त्रिपुर-भैरवी विसर्ग रहितां चेत् सम्पत्प्रदा भैरवी।' भगवती त्रिपुर-भैरवी का मन्त्र है—'हस्त्रैं ह्स्क्ल्रीं हस्त्रौः'। इसके प्रथम और द्वितीय कूट में विसर्ग नहीं है। तृतीय कूट 'ह्स्त्रौः' से विसर्ग हटा देने से 'ह्स्त्रौं' रूप प्राप्त होता है। इस तरह भी भगवती सम्पत्प्रदा भैरवी का मन्त्र 'ह्स्त्रैं ह्स्क्लीं ह्स्त्रौं' निष्पन्न होता है।

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में यथा उद्धृत श्लोकों में 'व्योमादि वह्नि संस्थं तु विशेषेण शृणु वल्लभे' यह श्लोकार्ध नहीं है।

अनया सदृशी विद्या त्रिषु लोकेषु दुर्लभा ॥६॥
ब्रह्मानन्दमयी साक्षात्सर्वसाम्राज्यदायिनी।
ध्यानमस्याः प्रवक्ष्यामि महासंपत्प्रदं प्रिये ॥७॥

तीनों लोकों में इनके समान कोई दूसरी विद्या दुर्लभ है। वे ब्रह्मानन्द मयी हैं। सर्व-साम्राज्य-दायिनी हैं। हे प्रिये! मैं अब इनका ध्यान बताता हूँ जो महान्-सम्पत्तियाँ प्रदान करने वाला है ॥६-७॥

आताम्रार्कसहस्राभां स्फुरच्चन्द्रजटाशिखाम्।
किरीटरत्नविलसच्चित्रचित्रितमौक्तिकाम् ॥८॥
स्रवद्रुधिरपङ्काढ्यमुण्डमालावलीयुताम्।
नयनत्रयशोभाढ्यं पूर्णेन्दुवदनान्विताम् ॥९॥
मुक्ताहारलताराजत्पीनोन्नतघनस्तनीम्।
त्रिवलीखचितालग्नांनानाभरणभूषिताम् ॥१०॥

रक्ताम्बरपरीधानां यौवनोन्मत्तरूपिणीम् ।
पुस्तकं चाभयं वामे दक्षिणे चाक्षमालिकाम् ॥११॥
वरदानरतां नित्यं महासंपत्प्रदां स्मरेत् ।
न्यासपूजादिकं सर्वं कुमार्या इव सुव्रते ॥१२॥

उनका मुख मण्डल पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह गोल और धवल है। हजारों सूर्यों के समान अरुणाभ उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग से यौवन और रूप की माधुरी टपक सी रही है। उनकी केश-जटा पर तरह-तरह के रत्नों और मोतियों से खचित मुकुट है। मुकुट के ऊपर जटा के शीर्ष-भाग में चन्द्रमा है। वे त्रिनयना है। उनके गले में मोतियों की माला और ताजे नर-मुण्ड रूपी कमलों की माला है जिससे रक्त की बून्दें टपकी रही हैं और यह माला उनके पीन-उन्नत एवं सघन स्तन-मण्डल पर झूल रही है। वे चतुर्भुजा हैं। ऊपर वाली वाम भुजा में पुस्तक और दाहिनी भुजा में अक्ष-माला (जप-माला) है। नीचे के बायें हाथ में 'अभय मुद्रा' और दाहिने हाथ में 'वर-मुद्रा' है। कटि-भाग त्रिवली (तीन-रेखाओं) से युक्त है। वस्त्र चटखदार लाल रङ्ग का है। वे केयूर-अंगद आदि आभूषण धारण किये हुए है ॥८-१२॥

श्री सम्पत्प्रदा-भैरवी का न्यास एवं पूजन-विधान 'श्री त्रिपुरा-बाला के समान ही है। इसका आशय यह है कि जिस तरह श्री त्रिपुरा-बाला के बीज-त्रय की दो बार आवृत्ति करके 'कर-न्यास' एवं 'षडङ्ग-न्यास' किया जाता है, उसी तरह इनके मन्त्र के तीनों कूटों की दो बार आवृत्ति करके 'कर-न्यास' और षडङ्ग न्यास करें। यथा—

करन्यास—हस्रैं-अंगुष्ठाभ्यां नमः। हस्क्ल्रीं—तर्जनीभ्यां स्वाहा। हस्रौं—मध्यमाभ्यां वषट्। हस्रैं—अनामिकाभ्यां हुम्। हस्क्ल्रीं—कनिष्ठाभ्यां वौषट्। हस्रौं—करतल-करपृष्ठाभ्यां फट।

षडङ्ग न्यास—हस्रैं—हृदयाय नमः। हस्क्ल्रीं—शिरसे-स्वाहा। हस्रौं—शिखायै वषट्। हस्रैं—कवचाय हुम्। हस्क्ल्रीं—नेत्रत्रयाय वौषट्। हस्रौं—अस्त्राय फट्।

त्रिपुरा भैरवी देवी पञ्चसिंहासनान्विता ।
प्रथमं शृणु देवेशि ब्रह्मा सृष्टिकरो यदा ॥१३॥
निश्चेतनोऽपि देवेशि तदा त्रिपुरदेवताम् ।
समाराध्याभवत्कर्ता सृष्टेस्तु परमेश्वरि ॥१४॥
ब्रह्माणं तं समाराध्य तपसा महता प्रिये ।
शक्रोऽभूद्देवराजोऽयं पूर्वस्यां दिशि पालकः ॥१५॥

भगवती त्रिपुरा-देवी पञ्च सिंहासन अन्विता हैं। वे अपने विविध रूपों में पूर्व आदि सभी पाँचों सिंहासनों में अधिष्ठित हैं। हे देवि ! यद्यपि ब्रह्मा जी को सृष्टि का कर्ता-संसार-बनाने वाला कहा और समझा जाता है परन्तु प्रारम्भ में तो वे स्वयं ही निश्चेतन थे—शक्तिहीन थे। उन्होंने भगवती त्रिपुरा की आराधना की। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवती त्रिपुरा ने उन्हें (ब्रह्माजी को) सृष्टि करने की शक्ति प्रदान की। इस तरह यद्यपि यह 'ब्रह्माण्ड' भगवती त्रिपुरा की कृति है परन्तु सृष्टि-कर्ता का गौरव भगवती की कृपा से उनके आराधक ब्रह्मा जी को प्राप्त है। इतना ही नहीं भगवती त्रिपुरा के उपासक ब्रह्माजी की साधना और उपासना करके इन्द्र सभी देवताओं के राजा और पूर्व दिशा के दिग्पाल बने ॥१३-१५॥

तदा प्रसन्ना त्रिपुरा पूर्वसिंहासनस्थिता।
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि पूर्वसिंहासनस्थिताम् ॥१६॥
वाग्भवं बीजमुच्चार्य जीवप्राणसमन्विताम्।
सकला भुवनेशानी द्वितीयं बीजमुद्धृतम् ॥१७॥
जीवं प्राणं वह्निसंस्थं शक्रस्वरविभूषितम्।
विसर्गाढ्यं महेशानि विद्या त्रैलोक्यमातृका ॥१८॥
त्रैलोक्यमोहनी देवि परब्रह्मचिदात्मिका।
चैतन्यभैरवी नाम चेतना निष्कले शिवे ॥१९॥

इन तीन श्लोकों में भगवती **'चैतन्य-भैरवी'** का 'मन्त्रोद्धार' एवं उनकी महिमा का निरूपण है।

जीव ('स'कार) और प्राण ('ह'कार) के साथ वाग्भव (ऐं) की योजना से निष्पन्न—'स्हैं' प्रथम कूट है। 'सकला' अर्थात् 'स्', 'क्' एवं 'ल्' के साथ भुवनेशी बीज—'ह्रीं' की योजना करने से द्वितीय कूट—'स्क्ल्ह्रीं' बना। अब तृतीय (तातीर्य) कूट बताते है। जीव ('स'कार), प्राण ('ह्'कार) वह्नि (रेफ) के साथ विसर्ग युक्त शक्र-स्वर 'औ'कार लगाने से 'स्ह्रौः' यह तृतीय कूट बना।

भगवती चैतन्य भैरवी त्रिलोक-मोहिनी हैं। वे 'परब्रह्मचिदात्मिका' हैं। पर-ब्रह्म की 'चिद्' शक्ति हैं। स्वनाम धन्या भगवती चैतन्य-भैरवी निष्कल अर्थात् कला-विहीन, निर्गुण एवं स्थाणु-रूप शिव की भी चेतना हैं ॥१६-१९॥

भगवती चैतन्य भैरवी का ध्यान

उद्यद्भास्वत्सहस्राभां नानालंकारभूषिताम्।
मुकुटोज्ज्वलसच्चन्द्रलेखां रक्ताम्बरान्विताम् ॥२०॥

पाशाङ्कुशधरां नित्यां वामहस्तकपालिनीम् ।
वरदाभयशोभाढ्यां पीनोन्नतघनस्तनीम् ॥२१॥
एवं ध्यात्वा भजेद्देवीं पूर्वसिंहासनस्थिताम् ।
द्विरावृत्त्या षडङ्गानि न्यसेत्सर्वाङ्गलक्षणम् ॥२२॥

भगवती चैतन्य-भैरवी की देह-कान्ति उदीयमान हजारों सूर्यों के समान है। सभी अंग विविध-आभूषणों से अलङ्कृत हैं। मस्तक पर मुकुट और ललाट पर चन्द्र-कला है। वस्त्र लाल रंग के हैं। उनके चार हाथ हैं। बायें हाथों में क्रमशः पाश और अंकुश तथा दाहिने हाथों में 'वर' एवं अभय-मुद्रा हैं। स्तन पीन, उन्नत और सघन हैं। कपालिनी भगवती चैतन्य-भैरवी का इस तरह ध्यान करके कूटत्रय की दो बार-आवृत्ति पर 'कर-न्यास' एवं 'षडङ्ग न्यास' करे ॥२०-२२॥

यन्त्रोद्धार

यन्त्रमस्याः प्रवक्ष्यामि देवि त्रैलोक्यमोहनम् ।
त्रिकोणं चैव षट्कोणं वसुपत्रं वरानने ॥२३॥
चतुरस्त्रं चतुर्द्वारमेवं मण्डलमालिखेत् ।

अधो-मुख त्रिकोण, उस पर षट्-कोण, फिर अष्ट-दल कमल एवं चतुर्द्वार समन्वित भू-पुर युक्त उनका अर्चन-यन्त्र तीनों लोकों को मोह लेने वाला है ॥२३॥

तत्राऽऽवाह्य महादेवीं पूर्ववत्परमेश्वरीम् ॥२४॥
मुद्राः प्रदर्शयेत्पश्चात्परिवारार्चनं यजेत् ।
प्रथमावरणं देवि षडङ्गानां तु पूर्ववत् ॥२५॥
रत्यादिकास्ततः पूज्याः पूर्ववत्परमेश्वरि ।
अग्रे वसन्तं वामे तु कामदेवं वरानने ॥२६॥
चापं दक्षिणकोणे च बाणान्पूर्ववदद्रिजे ।
डाकिनीं राकिनीं चैव लाकिनीं काकिनीं तथा ॥२७॥
शाकिनीं हाकिनीं देवि पश्चिमादिक्रमाद्यजेत् ।
अनङ्गकुसुमा मुख्या वसुपत्रेषु पूर्ववत् ॥२८॥
परभृत्सारसौ चैव शुकमेधाह्वयौ पुनः ।
अपाङ्गम्भ्रूविलासौ च हावभावौ प्रपूजयेत् ॥२९॥
इन्द्राद्या लोकपालास्तु क्रमेण परिपूजयेत् ।
पूर्वसिंहासने देवि कथिता वीरवन्दिते ॥३०॥

तीनों लोकों को मोहित कर लेने वाले इस 'यन्त्र-राज' में महादेवी परमेश्वरी का आह्वान करके मुद्रा-प्रदर्शन पूर्वक उनका पूजन करें। पूजन की विधि पहिले ही बताई

जा चुकी है। भगवती का पूजन करने के बाद उनके परिवार का पूजन करें। पूजन-क्रम में जो विशेष है, उसका निरूपण इन श्लोकों में किया गया है।

प्रथम-आवरण पूजन में हृदय-आदि षडङ्गों का पूजन करके पूर्व की भाँति-रति आदि का पूजन करें।

भगवती के समाने 'वसन्त' का, वाम-भाग में 'काम-देव' का तथा दक्षिण-भाग में 'चाप' (धनुष) का पूजन करके पूर्ववत् 'द्राविणी' आदि पञ्च-बाणों का पूजन करें।

षट्-कोण में डाकिनी, राकिनी, लाकिनी, काकिनी, साकिनी और हाकिनी का पूजन करके अष्ट-दलों में अनङ्ग-कुसुमा आदि का अर्चन करें। दलों के अग्र-भाग में क्रमशः पर-भृत् (कोयल) सारस, शुक, मेघाह्व, अपाङ्ग, भ्रू-विलास, हाव और भाव का पूजन करें।

भू-पुर में पूर्ववत् इन्द्र-आदि लोक-पालों का पूजन करें। हे वीर वन्दिते ! पूर्व-सिंहासन स्थिता भगवती चैतन्य भैरवी का यह पूजन-विधान है ॥२४-३०॥

टिप्पणी—ग्रन्थान्तर के अनुसार भगवती चैतन्य-भैरवी के इस मन्त्र के ऋषि दक्षिणा मूर्ति, छन्द-'पंक्ति', देवता-श्री चैतन्य भैरवी हैं।

पूर्व-सिंहासन स्थिता सम्पत्प्रदा भैरवी और चैतन्य-भैरवी के मन्त्र और पूजा विधान बताने के बाद अगले ५ श्लोकों में कामेश्वरी भैरवी का मन्त्र आदि बताया गया है।

कामेश्वरी-भैरवी

कामेश्वरी च रुद्रार्णा पूर्वसिंहासनस्थिता।
एतस्या एव विद्याया बीजद्वयमुदाहृतम् ॥३१॥
तदन्ते परमेशानि नित्यक्लिन्ने मदद्रवे।
एतस्या एव तार्तीयं रुद्राणां परमेश्वरि ॥३२॥
पूजाध्यानादिकं देवि चैतन्यायाश्च पूर्ववत्।
त्रिकोणे तु विशेषोऽस्ति कथयामि तवानघे ॥३३॥
अग्रकोणक्रमेणैव नित्यां क्लिन्नां मदद्रवाम्।
षडङ्गावरणात्पश्चात्पूजयेत्सर्वसिद्धये ॥३४॥
अनेनैव प्रकारेण पूर्वासिंहासनस्थिताम्।
त्रिपुरां भैरवीं देवीं पूजयेत्परमेश्वरीम् ॥३५॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे पूर्वसिंहासनकथनं
नाम षष्ठः पटलः ॥६॥

मन्त्रोद्धार—'एतास्या एव विद्याया:' अर्थात् पूर्व-उल्लिखित इन्हीं भगवती चैतन्य-भैरवी के मन्त्र के प्रथम-दो कूटों (स्हैं-स्क्ल्ह्रीं) के आगे 'नित्य-क्लिन्ने मद-द्रवे' इस तृतीय कूट की योजना करने से कामेश्वरी भैरवी के 'रुद्रार्ण' अर्थात् ११ अक्षरों वाली मन्त्र का उद्धार होता है। यथा—

'स्हैं स्क्ल्ह्रीं नित्य क्लिन्ने मद-द्रवे'

इनका ध्यान, पूजन आदि चैतन्य-भैरवी की पूजा-पद्धति के अनुसार करें। केवल आवरण पूजन में थोड़ा भेद है। त्रिकोण के अग्र-कोण में 'ॐ नित्यायै नमः' वाम-कोण में 'ॐ क्लिन्नायै नमः' एवं दक्षिण-कोण में 'ॐ मदद्रवायै नमः' से पूजन करने के बाद षडङ्ग आदि शेष पूजन करें ॥३१-३५॥

श्री ज्ञानार्णव नित्या-तन्त्र के पूर्व-सिंहासन कथन नाम
षष्ठ पटलः की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥६॥

अथ सप्तमः पटलः

रुद्र भैरवी यजन विधान

ईश्वर उवाच

एतामाराध्य देवेशि महात्रिपुरभैरवीम् ।
पालकोऽभून्निश्चलोऽपि प्रेतत्वात्सुरवन्दिते ॥१॥

ईश्वर ने कहा—हे सुरवन्दिते ! प्रेतत्व के कारण सर्वथा निश्चल विष्णु भी भगवती महात्रिपुर-भैरवी की आराधना करके जगत् के पालक बन गये ॥१॥

योगनिद्राछलाद्देवि प्रेतत्वं तस्य निश्चलम् ।
तद्ध्यानेन स्वयं शक्तिरभूत्कुवलयेक्षणे ॥२॥
तामाराध्य महाविष्णुरघोरेण मुखेन च ।
त्रिपुरो निर्जितो देवि त्रैलोक्यभयकारकः ॥३॥
तदा सिंहासने प्रौढा दक्षिणे परमेश्वरि ।
मन्त्रं तस्याः प्रवक्ष्यामि रिपुभारनिकृन्तनम् ॥४॥

हे कमल-नयने ! योग-निद्रा के कारण श्री विष्णु निश्चल प्रेत थे परन्तु इन भगवती का ध्यान करने से उनमें शक्ति का सञ्चार हुआ । अघोर-मुख अर्थात् सौम्य मुख वाले श्री शिव और विष्णु ने इनकी आराधना करके तीनों लोकों को भयभीत करने वाले त्रिपुरासुर पर विजय प्राप्त की । उस सयम भगवती रुद्र-भैरवी दक्षिण-सिंहासन पर स्थित थीं । अब मैं उनका मन्त्र बता रहा हूँ जो शत्रु-नाशक हैं ॥२-४॥

रुद्र-भैरवी का मन्त्रोद्धार

शिवचन्द्रौ मादनान्तं पान्तं वह्निसमन्वितम् ।
शक्तिभिन्नं बिन्दुनादकलाढ्यं वाग्भवं प्रिये ॥५॥
संपत्प्रदाया भैरव्याः कामराजं तदेव हि ।
सदाशिवस्य बीजं तु सिंहासनगतस्य च ॥६॥

शिव (ह) चन्द्र (स) मादनान्त (ख) पान्त (फ) शक्ति-भिन्न (ए) इस पर नाद-बिन्दु । रूप हुआ—हस्ख्फ्रें, यह इस मन्त्र का वाग्भव कूट है ।

भगवती सम्पत्प्रदा-भैरवी के मन्त्र का काम कूट (अर्थात् हस्क्लीं) इनका भी काम-कूट है ।

'सिंहासन गतस्य सदा शिवस्य बीजम्'—भगवती महात्रिपुर-सुन्दरी के सिंहासन में श्री सदाशिव प्रेत रूप में स्थित है। अत: प्रेत बीज 'हसौ:' भगवती रुद्र-भैरवी का तृतीय कूट है ॥५-६॥

मन्त्र-स्वरूप—'हस्ख्फ्रें हस्क्लीं हसौ:'

एषा विद्या महेशानि वर्णितुं केन शक्यते।
ध्यानमस्याः प्रवक्ष्यामि रिपुभारनिकृन्तनम् ॥७॥

हे महेशानि ! इनकी महिमा का बखान कौन कर सकता है, अर्थात् कोई नहीं कर सकता। अब मैं भगवती रुद्र-भैरवी का ध्यान बता रहा हूँ ॥७॥

उद्यत्सूर्यसहस्राभां चन्द्रचूडां त्रिलोचनाम्।
नानालंकारसुभगां सर्ववैरिनिकृन्तनीम् ॥८॥
स्रवद्रुधिरमुण्डालिकलितां रक्तवाससम्।
त्रिशूलं डमरूं चैव खड्गं खेटकमेव च ॥९॥
पिनाकं च शरान्देवि पाशाङ्कुशयुगं क्रमात्।
पुस्तकं चाक्षमालां च शिवसिंहासने स्थिताम् ॥१०॥

भगवती रुद्र भैरवी की देह-कान्ति उगते हुए हजारों सूर्यो की समान अरुणाभ एवं देदीप्यमान है। माथे पर चन्द्रमा है। वे त्रि-नयना हैं। लाल-वस्त्र एवं विभिन्न आभूषणों से विभूषिता हैं। गले में नर-मुण्डों की माला है जिनसे रक्त टपक रहा है। वे दशभुजा है। उनके वाम एवं दक्षिण हाथों में क्रमश: त्रिशूल एवं डमरु, खड्ग एवं खेटक, धनुष और बाण, पाश एवं अङ्कुश तथा पुस्तक एवं अक्ष-माला शोभित हैं। वे शिव-सिंहासन (पाठान्तर शव-सिंहासन) पर विराजमान हैं ॥८-१०॥

एवं ध्यात्वा महेशानि पूजामण्डलमारभेत्।
त्रिकोणं चैव वृत्तं च वृत्ताष्टदलनीरजम् ॥११॥
वृत्तं भूसदनोपेतमेषा त्रिपुरयन्त्रिका।
वामां ज्येष्ठां च रौद्रीं च कालीं च वरलोचने ॥१२॥
कलाढ्यां च बलाढ्यां च यजेद्विकरिणीं प्रिये।
बलप्रमथिनीं चैव सर्वभूतान्तमावदेत् ॥१३॥
दमनीं च तथाऽर्चित्वा मनोन्मनीपदान्विताम्।
एवं पीठं समभ्यर्च्य ततः सिंहासनं यजेत् ॥१४॥

हे महेशानि ! इस तरह ध्यान करके पूजा-मण्डल बनाकर उनका अर्चन करे। **'यन्त्र-स्वरूप'**—त्रिकोण, वृत्त, अष्टदल, फिर वृत्त एवं चतुर्द्वार युक्त भू-पुर। हे प्रिये वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, कलाढ्या, बलाढ्या, विकरिणी, बलप्रमथिनी एवं सर्वभूत-

दमिनी—ये ९ उनकी पीठ शक्तियाँ है। इन पीठ शक्तियों का पूजन करके अधोनिरूपित 'अघोरमुखी मन्त्र' से सिंहासन की पूजा करें ॥११-१४॥

अघोरविद्यारूपं तु महापापनिकृन्तनम्।
अघोरे वाग्भवं देवि घोरे तु भुवनेश्वरीम् ॥१५॥
घोरघोरतरेभ्यश्च विलिख्य सुरवन्दिते।
सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो देव्या बीजयुगं लिखेत् ॥१६॥
नमस्तेऽस्तुपदं कुर्याद्रुदरूपे हसौ लिखेत् ॥१७॥
त्रिंशद्भिश्च त्रिभिर्वर्णैर्विद्येयं कथितो प्रिये।
अनेन मनुना देवि यजेत्सिंहासनं बुधः ॥१८॥*

मन्त्रोद्धार—'अघोरे'—वाग्भव (ऐं) 'घोरे', भुवनेश्वरी (ह्रीं) 'घोर-घोर-तरेभ्यः सर्वेभ्यः शर्वसर्वेभ्यो'—देव्या बीज युगं (ऐ ह्रीं) नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपे ह्सौः'

मन्त्र-स्वरूप—अघोरे ऐं घोरे ह्रीं घोरघोरतरेभ्यः सर्वतः सर्वशर्वेभ्यः ह्रीं नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपे ह्सौः।

आवाहनादिकं कुर्यात्क्रमार्चनमतः परम्।
आदावङ्गावृत्तिर्देवि द्विरावृत्त्याऽङ्गपूजनम् ॥१८॥
रत्यादित्रयमभ्यर्च्य तथाऽनङ्गादिका यजेत्।
ब्राह्म्यादियुग्मं संपूज्य वसुपत्रेषु मातृकाः ॥१९॥
भूबिम्बे लोकपालांश्च सायुधान्परमेश्वरी।
द्वितीयसिंहासनगां पूजयेद्रुद्रभैरवीम् ॥२०॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे द्वितीयासिंहासने रुद्रभैरवीयजनं नाम सप्तमः पटलः ॥७॥

---

* **मन्त्रोद्धारे विशेष**—'वृहत्-तन्त्रसार' में 'ज्ञानार्णव तन्त्र' से ही उद्धृत इन श्लोकों में अधोरेखांकित पाठ भेद हैं

(१) अघोरे वाग्भवं पश्चात् घोरे तु भुवनेश्वरीम्।
सर्वतः—सर्व-सर्वेभ्यो घोर घोर तरे रमाम् ॥
नमोऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः देव्यः बीज-त्रयं लिखेत्॥
त्रिंशद्भिःश्च-त्रिभिः वर्णैः विद्येयं कथिता प्रिये ॥
वहीं मन्त्र का स्पष्ट-रूप भी दिया गया है—
'अघोरे ऐं ह्रीं सर्वतः सर्वसर्वेभ्यो घोर घोर तरे श्रीं नमोऽस्तु रुद्र रूपेभ्यः ऐं ह्रीं श्रीं॥

(२) श्रीविद्यार्णव-तन्त्र (सप्तम-श्वास) में 'ज्ञानार्णव' से उद्धृत इन्हीं श्लोकों में पाठ-भेद है। यथा—'नमोऽस्तु' के स्थान पर 'नमस्तेऽस्तु' एवं 'देव्याः बीज-त्रयं' के स्थान पर 'देव्याः बीज युगम्' पाठ है। वही स्पष्ट मन्त्र भी दिया गया है—'अघोरे ऐं घोरे ह्रीं सर्वतः सर्वसर्वेभ्यो घोर घोरतरे श्रीं नमस्तेऽस्तुरुद्ररूपेभ्यः क्लीं सौः'

पूजा-विधान

भगवती का ध्यान करके साधक सामान्य पूजा पद्धति के अनुसार आवाहन से लेकर पञ्च-पुष्पाञ्जलि दान पर्यन्त अर्चन-क्रम पूर्ण करके भगवती से अनुमति लेकर आवरण पूजन करे। यथा—

अङ्ग मन्त्रों की दो बार आवृत्ति करके षडङ्ग पूजन करे। यथा—

हस्ख्फ्रें—हृदयाय नमः। हृद्शक्ति श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

हस्क्ल्रीं—शिरसे स्वाहा। शिरः शक्ति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

हसौः—शिखायै वषट्। शिखा-शक्ति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

हस्ख्फ्रें—कवचाय हुम्। कवच शक्ति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

हस्क्ल्रीं—नेत्रत्रयाय वौषट्। नेत्र-शक्ति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

हसौः—अस्त्राय फट्। अस्त्र-शक्ति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

अभीष्ट सिद्धिं........प्रथमावरणार्चनम्। पूजिताः तर्पिताः सन्तु।

ॐ रत्यै नमः। प्रीत्यै नमः। मनोभवायै नमः।

अभीष्ट सिद्धिं मे..........द्वितीयावरणार्चनम्। पूजिताः तर्पिताः सन्तु।

अष्टदल कमल में—अनङ्ग-कुसुमादिका पूजन तर्पण करें।

ॐ अनंग कुसुमायै नमः। ॐ अनङ्गं मेखलायै नमः। ॐ अनङ्ग मदनायै नमः। ॐ अनङ्ग मदनातुरायै नमः। ॐ अनङ्ग-रेखायै नमः। ॐ अनङ्ग वेगिन्यै नमः। ॐ अनङ्गाकुंशायै नमः। ॐ अनङ्गमालिन्यै नमः।

अभीष्ट सिद्धिं मे........तृतीयावरणार्चनम्। पूजिताः तर्पिता सन्तु। अष्ट-दल कमल (केसर) में ब्राह्मी आदि मातृकाओं का उनके भैरवों के साथ पूजन करें। यथा—

ॐ अं आं असिताङ्ग-ब्राह्मीभ्यां नमः। श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ इं ईं रुरु माहेश्वरीभ्यां नमः। श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ उं ऊं चण्ड कौमारीभ्यां नमः। श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ ऋं ॠं क्रोध वैष्णवीभ्यां नमः। श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ ऌं ॡं उन्मत्त वाराहीभ्यां नमः। श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ एं ऐं कपालि इन्द्राणीभ्यां नमः। श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ ओं औं भीषण चामुण्डाभ्यां नमः। श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ अं अ: संहार-महालक्ष्मीभ्यां नम: । श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नम: ।

३. अभीष्ट सिद्धिं मे देहि........तृतीयावरणार्चनम् । पूजिता तर्पिता: सन्तु

भूपुर में पूर्व से प्रारम्भ करके इन्द्र-आदि दिग्पालों का पूजन करें । यथा—

पूर्व में—ॐ लं इन्द्राय नम: । **अग्निकोण में**—ॐ रं अग्नये नम: ।

दक्षिण में—ॐ मं यमाय नम: । **नैऋत्य में**—ॐ क्षं निऋतये नम: ।

पश्चिम में—ॐ वं वरुणाय नम: । **वायव्य में**—ॐ यं वायवे नम: ।

उत्तर में—ॐ कुं कुबेराय नम: । **ईशान में**—ॐ हं ईशानाय नम: ।

ईशान-पूर्व के मध्य में—ॐ आं ब्राह्मणे नम: । वरुण नैऋत्य के मध्य में—ॐ अं अनंताय नम: ।

प्रत्येक पूजन-मन्त्र के अन्त में 'श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नम:' की योजना कर लें ।

ॐ अभीष्ट सिद्धिं........चतुर्थावरणार्चनम् । पूजिता तर्पिता: सन्तु ।

इन्द्र आदि के समीप उनके वज्र आदि आयुधों का पूजन तर्पण करें । यथा—

ॐ वं वज्राय नम: । ॐ शं शक्तये नम: । ॐ दं दण्डाय नम: । ॐ खड्गाय नम: । ॐ पां पाशाय नम: । ॐ अं अंकुशाय नम: । ॐ गं गदायै नम: । ॐ त्रिं त्रिशूलाय नम: । ॐ पं पद्माय नम: । ॐ चं चक्राय नम: ।

अभीष्ट सिद्धिं.......पञ्चमावरणार्चनम् । पूर्जिता: तर्पिता:

इस प्रकार साधक भगवती रुद्र-भैरवी का पूजन पूर्ण करके मन्त्र जप-होम तर्पण आदि कर्म-सम्पादित करे ।

श्री ज्ञानार्णव नित्या तंत्र में रुद्र भैरवी यजन नामक
सातवें पटल की सुदर्शना व्याख्या पूर्ण हुई ।।७।।

अथाष्टम: पटल:

पश्चिम सिंहासन कथन

ईश्वर उवाच

पश्चिमे भैरवी देवी षट्कूटा परमेश्वरी।
यत्स्फूर्त्या स शिवो देवि सृष्टिसंहारणक्षमः ॥१॥

ईश्वर ने कहा—हे देवि! पश्चिम-सिंहासन पर भगवती षट्कूटा-भैरवी विराजिता हैं। उनकी ही स्फूर्ति से भगवान् रुद्र संसार का संहार करने में सक्षम होते हैं। अगले तीन श्लोकों में भगवती षट्कूटा-भैरवी का मन्त्र बताया गया है ॥१॥

डाकिनीराकिनीबीजे लाकिनीकाकिनीयुगात्।
बीजे आहृत्य देवेशि योजयेच्चन्द्रसूर्ययोः ॥२॥
आद्यमैकारसंयुक्तमन्यदीकारमण्डितम्।
शक्रस्वरसमायुक्तं तार्तीयं बीजमालिखेत् ॥३॥
बिन्दुनादकलाक्रान्तं तृतीयं शैलसम्भवे।
एषा विद्या महेशानि रुद्रसिंहासने स्थिता ॥४॥

मन्त्रोद्धार—डाकिनी बीज ('ड्'कार) राकिनी बीज ('र्'कार) लाकिनी बीज ('ल्'कार) और काकिनी बीज ('क्'कार)। इन चारों बीजों (ड् र् ल् क्) के साथ चन्द्र ('स'कार) और सूर्य-बीज ('ह'कार) की योजना करे। इससे रूप बना—'ड् र् ल् क् स् ह्'। यह भगवती षट्कूटा-भैरवी के मन्त्र का 'मेरु' है अर्थात् इससे ही उनके मन्त्र के सभी कूट बनते हैं। यथा—

इस मेरु (ड्र्ल्क् स् ह) के साथ बिन्दु-नाद युक्त 'ऐ'कार की योजना करने से प्रथम कूट बना—'ड्र्ल्क्स हैं'

बिन्दु-नाद कला समन्वित 'ई'कार की योजना करने से द्वितीय कूट बना—'ड्र्ल्क्सहीं'

बिन्दु-नाद कला युक्त शक्र-स्वर-'औ'कार की योजना करने से तृतीय-कूट निष्पन्न हुआ—'ड्र्ल्क्सहौं'

मन्त्र-स्वरूप—'ड्र्ल्क्स्हैं ड्र्ल्क्सहीं ड्र्ल्क्स्हौं'।

हे महेशानि ! यह विद्या रुद्र-सिंहासन पर स्थिता हैं ॥२-४॥

ध्यानमस्याः प्रवक्ष्यामि सर्वभूतनिकृन्तनम् ।
बालसूर्यप्रभां देवीं जपाकुसुमसंनिभाम् ॥५॥

मुण्डमालावलीरम्यां बालसूर्यसमांशुकाम् ।
सुवर्णकलशाकारपीनोन्नतपयोधराम् ॥६॥
पाशाङ्कुशौ पुस्तकं च दधानां जपमालिकाम् ।
एवं ध्यात्वा यजेद्देवीं मानसैरुपचारकैः ॥७॥

ध्यान—भगवती षट्कूटा-भैरवी की कान्ति बाल-सूर्य के समान लाल वर्ण की है। वे गले में जपा-कुसुम की माला के समान सुन्दर 'मुण्ड-माला' धारण किये हुए है। उनके वस्त्र बाल-सूर्य के समान लाल-रंग के हैं। स्तन-मण्डल सोने के कलश के समान पुष्ट, पीन और उन्नत हैं। चारों हाथों में पाश, अंकुश, पुस्तक और जप-माला हैं। इस प्रकार ध्यान करके मानस उपचारों से उनका अर्चन करें ॥५-७॥

द्विरावृत्त्या षडङ्गानि विधाय परमेश्वरि ।
यन्त्रमस्या वरारोहे त्रिकोणं तत्पुटं लिखेत् ॥८॥
बहिरष्टदलं पद्मं रविपत्रं समालिखेत् ।
चतुरस्त्रं चतुर्द्वारमेवं मण्डलमालिखेत् ॥९॥

तीनों कूटों की दो बार आवृत्ति करके षडंग-न्यास करे। फिर पूजन-यन्त्र बनाये। यथा—

त्रिकोण, उस पर त्रिकोण द्वय अर्थात् षट्कोण, अष्ट-दल कमल, फिर द्वादश-दल कमल एवं चतुर्द्वार युक्त भूपुर ॥८-९॥

षडङ्गावरणं देवि पूर्ववत्पूजयेत्प्रिये ।
रत्यादित्रितयं देवि त्रिकोणे परिपूजयेत् ॥१०॥
डाकिन्याद्यास्तु षट्कोणे वसुपत्रे ततः परम् ।
ब्राह्मयादियुगुलं पश्चाद्रविपत्रे ततः परम् ॥११॥
बालायाः पीठशक्तिस्तु वामाद्याः पूजयेत्प्रिये ।
चतुरस्त्रे लोकपालान्सायुधान्परमेश्वरि ॥१२॥
एवं पूजाविधिं कुर्याद्भोगमोक्षफलाप्तये ।

हृदय आदि षडंगों का पूर्ववत् अर्चन करके त्रिकोण में 'रति' आदि का, षट्कोण में डाकिनी आदि का, अष्ट-दल-कमल में ब्राह्मी आदि मातृका-युगलों का,

द्वादश-दल कमल में बाला-त्रिपुरा की वामा-आदि द्वादश शक्तियों का तथा भूपुर में इन्द्र आदि दिग्पालों एवं उनके वज्र आदि आयुधों का पूजन करें ॥१०-१२॥

नित्या-भैरवी

अनेनैव विधानेन नित्याख्यां भैरवीं यजेत् ॥१३॥
सर्वसौभाग्यदां नित्यां सर्वसाम्राज्यदायिनीम्।
एतस्या एव विद्यायाः षड्वर्णान्क्रमतः स्थितान् ॥१४॥
विपरीतान्वद् प्रौढे विद्येयं भोगमोक्षदा।
नित्याख्या भैरवी देवि रिपुभारनिकृतन्तनी ॥१५॥
न्यासपूजादिकं सर्वमस्याः पूर्ववदाचरेत् ॥१६॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे पश्चिमसिंहासन कथनं नामाष्टमः पटलः ।।८।।

इसी विधान से सर्व सौभाग्य प्रदा एवं साम्राज्य दायिनी (द्वितीया) नित्या-भैरवी का अर्चन करना चाहिए।

भगवती षट्कूटा-भैरवी के मन्त्र को विपरीत-क्रम से लिखने से भगवती नित्या भैरवी का मन्त्र बनता है।

मन्त्र-स्वरूप—'हस्क्लड्रैं हस्क्लह्रीं हस्क्लडौं'

इनकी पूजा-विधि षट्कूटा भैरवी के समान है ॥१३-१६॥

श्री ज्ञानार्णव-नित्या-तन्त्र के पश्चिम-सिंहासन कथन नाम अष्टम पटल की 'सुदर्शना'-व्याख्या पूर्ण हुई ॥८॥

अथ नवमः पटलः

सिंहासन-विद्या-विधान

ईश्वर उवाच

शृणु देवि महाविद्यां चिन्तितेष्टफलप्रदाम्।
यस्या विज्ञानमात्रेण भुवनाधिपतिर्भवेत् ॥१॥

ईश्वर ने कहा—'हे देवि ! अभीप्सित मनोरथों को पूर्ण करने वाली भगवती भुवनेश्वरी भैरवी विद्या का निरूपण कर रहा हूँ। उनके ज्ञानमात्र से समस्त भुवनों का अधिपति बना जा सकता है ॥१॥

मन्त्र-उद्धार

हसाद्यं वाग्भवं चाऽऽद्यं हसकान्ते सुरेश्वरि।
भूबीजं भुवनेशानी द्वितीयं बीजमुद्धृतम् ॥२॥
शिवचन्द्रौ महेशानि शक्रस्वरविभूषितम्।
बिन्दुनादकलाक्रान्तं तृतीयं बीजमुद्धृतम् ॥३॥

'हस्' के बाद 'वाग्भव' अर्थात् 'ऐं' लगाने से प्रथम कूट-बना—हसैं। 'हस्क्' के बाद भू-बीज 'ल' और भुवनेश्वरी बीज 'ह्रीं' की योजना करने से द्वितीय कूट बना—हस्क्लह्रीं। शिव (ह) चन्द्र (स) शक्र-स्वर 'औ' पर बिन्दु-नाद लगाने से तृतीय कूट बना—'हसौं' ॥२-३॥

मन्त्र-स्वरूप—'हसैं हस्क्लह्रीं हसौं'

एषा विद्या महेशानि भुवनेश्वरभैरवी।
मध्यबीजेन देवेशि षड्दीर्घस्वरमेदिना ॥४॥
षडङ्गानि प्रविन्यस्य ध्यायेद्देवीं चतुर्भुजाम्।

हे महेशानि ! ये 'भुवनेश्वरी भैरवी विद्या' है। मध्य बीज—'हस्क्लह्रीं में छै दीर्घ स्वरों की योजना करके करन्यास और षडङ्ग-यास करें। यथा—

'हस्क्लह्रां—अंगुष्ठाभ्यां नमः। हस्क्लह्रीं—तर्जनीभ्यां नमः। हस्क्लह्रूं—मध्यमाभ्यां नमः। हस्क्लह्रैं—अनामिकाभ्यां नमः। हस्क्लह्रौं—कनिष्ठाभ्यां नमः। हस्क्लह्रः—करतल कर पृष्ठाभ्यां नमः।

इस तरह 'न्यास' करने के पश्चात भगवती का ध्यान करें ॥४॥

जपाकुसुमसंकाशां दाडिमीकुसुमप्रभाम् ॥५॥
चन्द्ररेखाजटाजूटां त्रिनेत्रां रक्तवाससम् ।
नानालंकारसुभगां पीनोन्नतघनस्तनीम् ॥६॥
पाशाङ्कुशवराभीतीर्धारयन्तीं शिवां स्मरेत् ।
एवं ध्यात्वाऽर्चयेद्देवीं यन्त्रोद्धारं च पूर्ववत् ॥७॥

भगवती भुवनेश्वरी भैरवी जपा-कुसुम और अनार के फूल के समान अरुण-वर्णा हैं । ललाट पर चन्द्र-कला और जटा-भार है । त्रिनेत्रा हैं । रक्त (लाल) वस्त्र और अनेक प्रकार के अलंकारों से विभूषिता हैं । स्तन स्थूल और उन्नत हैं । चतुर्भुजा हैं । हाथों में पाश एवं अंकुश तथा वर एवं अभय मुद्रायें हैं ।

चैतन्यभैरवी देवी यन्त्रवत्परमेश्वरि ।
सिंहासनं समभ्यर्च्य परिवारार्चनं यजेत् ॥८॥

हे देवि ! इनका पूजन-यन्त्र चैतन्य-भैरवी के पूजन-यन्त्र के समान है । सामान्य पूजन-पद्धति के अनुसार आवाहन से पञ्च पुष्पाञ्जलि दान पर्यन्त भगवती का पूजन करने के बाद आवरण पूजन करें ॥८॥

षडङ्गावरणं देवि पूर्ववत्परिपूजयेत् ।
रत्याद्याः पूजयेद्देवि त्रिकोणे तदनन्तरम् ॥९॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च पूज्यास्तत्रैव सुन्दरि ।
डाकिन्याद्यास्तथा पूज्या वसुपत्रे ततः परम् ॥१०॥
अनङ्गकुसुमाद्याश्च ब्राह्म्यादियुगुलं ततः ।
भूबिम्बे लोकपालांश्च बटुकाद्यांश्च पूजयेत् ॥११॥
योगिनीनां चतुःषष्टिं पूजयेत्सुरवन्दिते ।
सदाशिवसखा यस्मात्कुबेरः परमेश्वरि ॥१२॥
येनेयं प्रार्थिता देवी राजराजस्ततो भवेत् ।
तेनैव प्रार्थिता विद्या गौरी गौरफलप्रदा ॥१३॥

सर्वप्रथम षडङ्ग पूजन करके त्रिकोण में 'रति' आदि का पूजन करें । त्रिकोण में ही ब्रह्मा-विष्णु और रुद्र का पूजन करें ।

अष्ट-दल में 'डाकिनी' आदि की पूजा करके वहीं पर अनङ्ग-कुसुमा आदि का अर्चन करे ।

भूपुर में इन्द्र आदि दिग्पालों, बटुक आदि द्वार-देवताओं तथा चतुः षष्ठि (६४) योगिनियों का पूजन करें ।

हे देवि ! सदाशिव के सखा कुबेर ने इनकी ही पूजा करके राज राजेश्वर का विरुद प्राप्त किया । उन्होंने गौर फलप्रदा विद्या-स्वरूपिणी इन्हीं गौरी से यही प्रार्थना की थी ॥९-१३॥

श्री अन्नपूर्णा-भैरवी

अन्नपूर्णेश्वरी नाम सर्वसंपत्प्रदा सताम् ।
अनया विद्यया देवि कुबेरो धनदायकः ॥१४॥
लोकपालेषु सर्वेषु धनरत्नादिपूर्णता ।
तथाऽन्नपूर्णता तस्मिन्सुस्थिराऽस्याः प्रसादतः ॥१५॥
अन्नपूर्णा महादेवि साक्षात्कामदुधाऽद्रिजे ।
मन्त्रमस्याः प्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥१६॥

भगवती भुवनेश्वरी भैरवी का मन्त्र और अर्चन-विधान के बाद श्री अन्नपूर्णा भैरवी का निरूपण किया जा रहा है ।

सज्जनों को सभी प्रकार की सम्पत्ति प्रदान करने वाली भगवती अन्नपूर्णा-भैरवी की कृपा से ही श्री कुबेर सभी लोकपालों में सर्वाधिक धन-सम्पन्न एवं धन-प्रदायक है ॥१४-१६॥

तारं च भुवनेशानीं श्रीबीजं कामराजकम् ।
हृदन्ते भगवत्यर्णा माहेश्वरि पदं लिखेत् ॥१७॥
अन्नपूर्णेऽग्निजाया च विद्येयं विंशदक्षरी ।
अनया सदृशी विद्या सिद्धिदा नास्ति भूतले ॥१८॥

तार (ॐ) भुवनेशी (ह्रीं) श्री (श्रीं) कामराज (क्लीं) हृदय (नमः) 'भगवति', फिर 'माहेश्वरि' एवं 'अन्नपूर्णे' पद लिखकर अन्त में अग्नि जाया (स्वाहा) की योजना करने से भगवती अन्नपूर्णा का बीस अक्षरों का मन्त्र बनता है ॥१७-१८॥

मन्त्र-स्वरूप—'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं नमः भगवति माहेश्वरि अन्नपूर्णे स्वाहा'

भुवनेशा महेशानि षड्दीर्घस्वरभिन्नया ।
षडङ्गानि महेशानि च्छन्दोन्यासानन्तरम् ॥१९॥

हे महेशानि ! भुवना बीज 'ह्रीं' में षड्-दीर्घ स्वरों की योजना करके अर्थात् 'ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रैं, ह्रौं, ह्रः' से कर-न्यास और षडंग न्यास करें ॥१९॥

ऋषिर्ब्रह्माऽस्य मन्त्रस्य पङ्क्तिश्छन्दो वरानने ।
अन्नपूर्णेश्वरी देवि देवता परिकीर्तिता ॥२०॥
बीजं च भुवनेशानि श्रीबीजं शक्तिरुच्यते ।
कीलकं कामराजं स्यात्षडङ्गानन्तरं ततः ॥२१॥

हे वरानने ! इस मन्त्र के ऋषि ब्रह्मा, छन्द-पंक्ति, देवता-अन्नपूर्णेश्वरि, बीज-ह्रीं, शक्ति-'श्रीं' और कीलक 'क्लीं' है । इस तरह ऋष्यादि न्यास करके उपर्युक्त कर न्यास और षडङ्ग न्यास करें ॥२०-२१॥

एकमेकं पुनश्चैकं पुनरेकं द्वयं चतुः ।
चतुश्चतुस्तथा द्वाभ्यां पदान्येतानि पार्वति ॥२२॥
पदानि नव देवेशि नव द्वारेषु विन्यसेत् ।
मूर्धादिगुदपर्यन्तं पुनस्तेषु वरानने ॥२३॥
गुदादिब्रह्मरन्ध्रान्तं पदानां नवकं न्यसेत् ।

षडङ्ग-न्यास के बाद मूर्धा से गुदा पर्यन्त नव-द्वारों (मुख, दोनों आँख, दोनों कान, दोनों नासा-पुट, अन्धु और गुदा) में क्रम से उपर्युक्त मन्त्र के एक (१) एक (१) एक (१) एक (१) दो (२) चार ४) चार (४) चार (४) और दो (२) अक्षरों का न्यास करें । हे वरानने ! इन्हीं वर्णों का विलोम-क्रम से अर्थात् गुदा, अन्धु, दोनों नासा पुट, दोनों कान, दोनों आँख तथा मुख में न्यास करें ॥२२-२३॥ इसे 'पर-न्यास' कहते हैं । इसकी विधि इस प्रकार है—

पद-न्यास (अनुलोम-क्रम) मुख में—ॐ नमः । दाहिनी आँख में—ह्रीं नमः । बायीं आँख में—श्रीं नमः । दाहिने कान में—क्लीं नमः । बायें कान में—'नमो' नमः । दाहिने नथुने में—भगवति नमः । बायें नथुने में—माहेश्वरि नमः । लिङ्ग में—अन्नपूर्णे नमः । मूलाधार में—स्वाहा नमः ।

विलोम क्रम में मूलाधार से मुख पर्यन्त इन्हीं तरह इस वर्णों का न्यास करें ॥२२-२३॥

ब्रह्मरन्ध्रास्यहृदयमूलाधारेष्वनुक्रमात् ॥२४॥
चतुर्बीजानि विन्यस्य स्वरेष्वन्यान्प्रविन्यसेत् ।
***(भ्रूमध्य-नासिका कण्ठ नाभि-लिङ्गेषु पञ्चसु**
पूर्ववत् क्रमतो देवि ! नमः प्रभृतिकं न्यसेत्)*
गोलकं च ततो देवि विन्यस्य विधिवत्प्रिये ॥२५॥

---

* **टिप्पणी**—प्रकाशित ग्रन्थ के २५वें श्लोक का द्वितीय-चरण 'स्वरेष्यान्यान् प्रविन्यसेत्' है, इसका कोई अर्थ नहीं निकलता । 'वृहत् तन्त्रसार' और अप्रकाशित 'तन्त्र-दीपनी' में 'ज्ञानार्णव' से उद्धृत उपर्युक्त श्लोक में इसका पाठ है—'परेष्वन्यांश्च-विन्यसेत्' । इसी तरह उपर्युक्त श्लोक की प्रथम-पंक्ति 'चतुर्बीजानि........विन्यसेत्' के बाद द्वितीय पंक्ति

मन्त्र के प्रथम चार बीजों (ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं) का क्रम से ब्रह्मरन्ध्र, मुख, हृदय और मूलाधार में न्यास करके शेष पाँच-पदों का क्रम से भ्रू-मध्य (आज्ञा-चक्र) नासिका, कण्ठ, नाभि और लिङ्ग में न्यास करें। इसे 'गोलक' न्यास कहते हैं।

ब्रह्म रन्ध्र में—ॐ नमः

मुख में—ह्रीं नमः

हृदय में—श्रीं नमः

मूलाधार में—क्लीं नमः।

भ्रूमध्य में—नमो नमः।

नासिका में—भगवति नमः।

कण्ठ में—अन्नपूर्णे नमः।

लिङ्ग में—स्वाहा नमः।

इस तरह 'गोलक-न्यास' करने के बाद प्राणायाम करें। तत्पश्चात् भगवती अन्नपूर्णेश्वरि-भैरवी का पूजन-यन्त्र बनायें ॥२४-२५॥

प्राणायामं प्रकुर्वीत पूजामण्डलमालिखेत्।
त्रिकोणं च चतुःपत्रं वसुपत्रं ततः परम् ॥२६॥
कलापत्रं च भूबिम्बं चतुर्द्वारं समालिखेत्।

प्राणायाम करने के बाद भगवती का पूजन-यन्त्र बनाये। यथा—त्रिकोण, चतुर्दल कमल, अष्टदल कमल, षोडश दल कमल और चतुर्द्वार युक्त चतुरस्त्र ॥२६॥

सिंहासनस्य परितः पीठदेवीः समर्चयेत् ॥२७॥
सिंहासने दक्षिणे तु कथिताः पीठनायकाः।
ता एव पूजयेत्पीठे वामाद्याः परमेश्वरि ॥२८॥
जया च विजया चैव अजिता चापराजिता।
नित्या विलासिनी दोग्ध्री अघोरा मङ्गलात्मिका ॥२९॥

'गोलकञ्च........विधिवत् प्रिये।' इस पंक्ति से भी अर्थ स्पष्ट नहीं होता। 'बृहत्-तन्त्रसार' और अप्रकाशित 'तन्त्र-दीपनी' में उपर्युक्त प्रथम पंक्ति के बाद दो पंक्तियाँ और हैं—'भ्रूमध्य-नासिका कण्ठ-नाभि लिङ्गेषु पञ्चसु। पूर्ववत् क्रमतो देवि! नमः 'प्रभृतिकं न्यसेत्।' इससे अर्थ—बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। अतः इन पंक्तियों को श्लोक-क्रमांक दिये बिना कोष्ठक में उद्धृत कर दिया गया है। व्याख्याकार

नवमी परमेशानि सिंहासनसमीपगाः ।
समावाह्य यजेद्देवीं ध्यानं कुर्वन्समाहितः ॥३०॥

हे परमेशानि ! दक्षिण-सिंहासन के पूजन-क्रम में वामा आदि जिन पीठ-शक्तियों का उल्लेख है, उनका पूजन-करने के बाद सिंहासन के समीप रहने वाली जया-आदि देवियों का पूजन करें । ये ९ देवियाँ हैं—(१) जया, (२) विजया, (३) अजिता, (४) अपराजिता, (५) नित्या, (६) विलासिनी, (७) दोग्ध्री, (८) अघोरा और (९) सर्व-मंगला । इसके बाद तद्गत चित्त होकर भगवती अन्नपूर्णेश्वरि का ध्यान करके 'पूजन-यन्त्र' पर उनका आवाहन करें ॥२७-३०॥

अगले पाँच श्लोकों में भगवती का ध्यान बताया गया है—

तप्तकाञ्चनवर्णाभां बालेन्दुकृतशेखराम् ।
नवरत्नप्रभादीप्तमुकुटां कुङ्कुमारुणाम् ॥३१॥
चित्रवस्त्रपरीधानां मदिराक्षीं त्रिलोचनाम् ।
सुवर्णकलशाकारपीनोन्नतघनस्तनीम् ॥३२॥
गोक्षीरधामधवलं पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ।
प्रसन्नवदनं शान्तं नीलकण्ठविराजितम् ॥३३॥
कपर्दिनं स्फुरत्सर्पभूषणं कुन्दसंनिभम् ।
नृत्यन्तमतिसंहृष्टं दृष्ट्वाऽऽनन्दमयीं पराम् ॥३४॥
सानन्दमुखलोलाक्षीं मेखलाढ्यनितम्बिनीम् ।
अन्नदानरतां नित्यां भूमिश्रीभ्यामलंकृताम् ॥३५॥

भगवती अन्नपूर्णेश्वरी की देह-कान्ति तपाये हुए स्वर्ण के समान है । वे कुंकुम के समान अरुण-वर्णा हैं । मस्तक पर बाल-चन्द्र (द्वितीया का चन्द्रमा) विराजित है । नये रत्नों की प्रभा से मुकुट दमक रहा है । विलक्षण वस्त्र धारण किये हुए हैं । वे त्रिलोचना हैं और उनकी आँखें मदिर हैं । वक्ष-स्थल स्वर्ण-निर्मित कलशों के समान पीन-उन्नत और सघन हैं । कटि-प्रदेश में मेखला (करधनी) शोभा दे रही है । भूमि और लक्ष्मी से अलंकृता भगवती अन्नपूर्णेश्वरी सबको सतत रूप से अन्न प्रदान कर रही है । सर्पो से विभूषित तथा गाय के दूध एवं कुन्द-पुष्प के समान धवल-वर्ण वाले पञ्चवक्त्र, त्रिलोचन-नीलकण्ठ भगवान् 'ईश्वर' (अर्थात् शिव) उनके समक्ष आनन्द-विभोर होकर नाच रहे हैं ।

उनके इस लास्य युक्त नृत्य को देखकर वे (भगवती) आनन्दित हैं। आनन्द के कारण उनके नेत्र-विकसित हैं—खिल उठे हैं ॥३१-३५॥

एवं ध्यात्वा यजेद्देवि षडङ्गावरणं यजेत्।
अग्नीशासुरवायव्यमध्ये दिक्ष्वङ्गपूजनम् ॥३६॥

हे देवि ! इस प्रकार ध्यान करने के बाद अग्नि-कोण, ईशान, नैर्ऋत्य, वायव्य, मध्य में और चारों दिशाओं में क्रमशः हृदय, शिर, शिखा, कवत्र, नेत्र और अस्त्रों का पूजन करना चाहिए ॥३६॥

अथ वक्ष्ये महेशानि त्रिकोणस्य पूजनम्।
तारं प्रासादबीजं च हृच्छिवाय ततः परम् ॥३७॥
सप्ताक्षरी महाविद्या त्वनया देवि पूजयेत्।
नृत्यन्तमीश्वरं देवि त्रिकोणाग्रे सुरेश्वरि ॥३८॥

तार (ॐ) प्रासाद-बीज (ह्रौं) हृदय (नमः) तत्पश्चात्—'शिवाय'—अर्थात् ॐ ह्रौं नमः शिवाय' इस मन्त्र से देवी के समाने नृत्य-शील भगवान् शिव का त्रिकोण के अग्र-कोण में पूजन करें ॥३७-३८॥

ॐनमः पदमाभाष्य ततो भगवते पदम्।
ततो वराहरूपाय भूर्भुवःस्वःपतिं तथा ॥३९॥
ङेन्तं च भूपतिं च त्वं मे देहीति च दापय।
वह्निजायान्वितो मन्त्रो वराहस्य वरानने ॥४०॥
अनया विद्यया देवि वामकोणे प्रपूजयेत्।

'ॐ नमः भगवते वराह रूपाय भूर्भुवः स्वः पतये भूपतित्वं मे देहि दापय स्वाहा'—यह वराह-भगवान् का मन्त्र है। त्रिकोण के वाम-कोण में उक्त-मन्त्र से श्री वराह का पूजन करें ॥३९-४०॥

ॐनमःपदमाभाष्य ङेन्तं नारायणं लिखेत् ॥४१॥
नारायणं दक्षकोणे क्रमेण परिपूजयेत्।

'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्र से भगवान् नारायण का त्रिकोण के दक्षिण-कोण में अर्चन करें ॥४१॥

वामदक्षिणयोः पूज्ये भूश्रियौ परमेश्वरि ॥४२॥
एकेन मनुना देवि कथयामि तवानघे।
ॐनमो हि पदं चान्नं मे देह्यन्नाधिपान्तके ॥४३॥

तथेयमान्नं संलिख्य प्रदापय ततः परम् ।
वह्निजायान्वितो मन्त्रः संपुटीकृत्य योजयेत् ॥४४॥
ग्लौमात्मकेन रमया वामदक्षिणयोः क्रमात् ।

ॐ नमो ग्लौं श्रीं मे अन्नं देह्यन्नाधिपतये मामन्नं प्रदापय स्वाहा श्रीं ग्लौं' । इस एक ही मन्त्र से भगवती अन्नपूर्णेश्वरी के बायीं ओर भूमि देवी का और दाहिनी ओर 'श्री' देवी का पूजन करना चाहिए ॥४२-४४॥

ततश्चतुर्दले पूज्या पश्चिमादिक्रमेण तु ॥४५॥
तारेण परविद्यां च भुवनेशीं तदात्मना ।
कमलां रमया भद्रे कामेन सुभगां यजेत् ॥४६॥

चतुर्दल कमल में पश्चिम से प्रारम्भ करके 'ॐ' से परा का, 'ह्रीं' से भुवनेश्वरी का, 'श्रीं' से कमला का और 'क्लीं' से सुभगा का पूजन करें ॥४५-४६॥

ॐ परायै नमः । श्रीं कमलायै नमः ।

ह्रीं भुवनेश्वर्यै नमः । क्लीं सुभगायै नमः ।

वसुपत्रे महेशानि ब्राह्मयाद्याः पश्चिमादितः ।
षोडशारे परेशानि चन्द्रमण्डलरूपिणीः ॥४७॥
कलाः षोडश संपूज्याः पश्चिमादिक्रमेण हि ।
अमृता मानसी पुष्टिस्तुष्टिः प्रीती रतिस्तथा ॥४८॥
श्रीश्च ह्रीश्च स्वधा रात्रिर्ज्योत्स्ना हैमावती तथा ।
छाया च पूर्णिमा नित्या अमावास्या च षोडशी ॥४९॥
शेषवर्णैः प्रपूज्यास्तु अन्नपूर्णान्तिशब्दकाः ।
चतुरस्त्रे लोकपालान्क्रमेण परिपूजयेत् ॥५०॥

अष्टदल-कमल में पश्चिम से प्रारम्भ कर ब्राह्मी-माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा और महालक्ष्मी का पूजन करें ।

षोडश-दल कमल में पश्चिम से प्रारम्भ करके चन्द्र-स्वरूपिणी 'अमृता' आदि सोलह कलाओं का पूजन करें । इन कलाओं के नाम हैं—

(१) अमृता, (२) मानसी, (३) पुष्टि, (४) तृष्टि, (५) प्रीति, (६) रति, (७) श्री, (८) ह्री, (९) स्वधा, (१०) रात्रि, (११) ज्योत्स्ना, (१२) हैमावती, (१३) छाया, (१४) पूर्णिमा, (१५) नित्या और (१६) अमावस्या ।

कला-पूजन-मन्त्र—भगवती अन्नपूर्णा के उक्त २० अक्षरों वाले मन्त्र के प्रथम चार-अक्षरों (ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं) के बाद जो १६ (सोलह) वर्ण शेष हैं, उनमें से क्रम से एक-एक वर्ण की एक-एक कला के नाम के सामने योजना करे। कला के नाम के बाद 'अन्नपूर्णायै नमः' की योजना करने से कलाओं का पूजन-मन्त्र बन जाता है ॥४७-५०॥ यथा—

(१) 'नं' अमृता अन्नपूर्णायै नमः। (५) 'वं' प्रीतिअन्नपूर्णायै नमः।
(२) 'मं' मानसी अन्नपूर्णायै नमः। (६) 'तिं' रति अन्नपूर्णायै नमः।
(३) 'भं' पुष्टि-अन्नपूर्णायै नमः। (७) 'मां' 'श्री' अन्नपूर्णायै नमः।
(४) 'गं' तुष्टि-अन्नपूर्णायै नमः। (८) 'हें' 'ह्री' अन्नपूर्णायै नमः।
(९) 'श्वं' स्वधा अन्नपूर्णायै नमः। (१३) 'पूं' छाया अन्नपूर्णायै नमः।
(१०) 'रिं' रात्रि अन्नपूर्णायै नमः। (१४) 'णें' पूर्णिमा अन्नपूर्णायै नमः।
(११) 'अं' ज्योत्स्ना अन्नपूर्णायै नमः। (१५) 'स्वां' नित्या अन्नपूर्णायै नमः।
(१२) 'त्रं' हैमावती अन्नपूर्णायै नमः। (१६) 'हां' अमावस्या अन्नपूर्णायै नमः।

भू-पुर में इन्द्र आदि दिग्पालों और उनके वज्र आदि आयुधों का पूजन-तर्पण करें ॥४८-५०॥

इत्युत्तरपतेः सम्यक्पूजितान्नसुवर्णदा।
स्वशक्त्या या करोत्येव राजराजं धनाधिपम् ॥५१॥
सिद्धिप्रदा सिद्धिविद्या ममाप्यन्नप्रदा प्रिये।

उत्तर-दिशा के स्वामी कुबेर द्वारा उपासिता अन्नदा और सुवर्णदा भगवती अन्नपूर्णेश्वरि का विधिवत् पूजन राज्य तथा धन-दायक है। हे प्रिये ! सिद्धि-प्रदा यह सिद्ध विद्या मुझे भी अन्न प्रदान करती है ॥५१॥

भुवनेश्वरी भैरवी का मन्त्र-भेद—सकलेश्वरी भैरवी

भुवनेश्वरभैरव्या भेदान्तरमथोच्यते ॥५२॥
सहाद्या सैव देवेशि तदा सा सकलेश्वरी।
ध्यानपूजादिकं सर्वमेतस्या एव पार्वति ॥५३॥

इस पटल के प्रारम्भ (श्लोक २ और ३) में भुवनेश्वरी भैरवी का मन्त्र—'हसैं हस्क्ल्ह्रीं हसौ' बताया गया है। इस मन्त्र के प्रथम बीज 'हसैं' को सहाद्य' ('स'कार है आदि में जिसके) कर देने अर्थात् इसके अक्षरों को परस्पर परिवर्तित कर देने से भगवती भुवनेश्वरी भैरवी का एक अन्य मन्त्र बनता है—'स्हैं हस्क्ल्ह्रीं हसौं'

'हसाद्य' भुवनेश्वरी विद्या को 'सहाद्य' कर देने से जो दूसरा मन्त्र 'स्हैं हस्क्ल्ह्रीं हसौं' बनता है, वह भगवती **'सकलेश्वरी' भैरवी** का है। इनका ध्यान, पूजन-यन्त्र एवं पूजन विधान भुवनेश्वरी भैरवी के समान है।

कौलेश और सकल सिद्धिप्रदा भैरवी

उत्तरस्यां वरारोहे सिंहासनमिदं दिशि।
संपत्प्रदा भैरवी च विद्धि कौलेशभैरवी ।।५४।।
हसराद्या भैरवी सा त्रिषु बीजेषु पार्वति।
इयं तु सहराद्या स्यात्पूजाध्यानादिकं तथा ।।५५।।
एतस्या एव विद्याया आद्यन्ते रेफवर्जिते।
तदेयं परमेशानि नाम्ना सकलभैरवी ।।५६।।
संपत्प्रदा भैरवी च ध्यानपूजादिकं प्रिये।
पञ्चसिंहासनमयी महात्रिपुरभैरवी ।।५७।।

हे वरानने ! सम्पत्प्रदा भैरवी विद्या (हस्त्रैं हस्क्ल्ह्रीं हस्त्रौः) के तीनों कूटों के प्रथम दो व्यञ्जन वर्णों (ह्-स्) को विलोम क्रम से लिखकर 'सहाद्य' कर देने से श्री कौलेश भैरवी का मन्त्र—स्हैं स्ह्क्लरीं स्हौः बनता है। ये उत्तर-सिंहासन की देवता हैं। इनका पूजन-विधान सम्पत्प्रदा के समान ही है ।।५४-५५।।

'एतस्याः विद्यायाः'—अर्थात् श्री कौलेश भैरवी विद्या के आदि अन्त को विसर्ग रहित कर देने से वह **'सकल-भैरवी'** का मन्त्र बन जाता है।

कौलेश—भैरवी का मन्त्र है—'स्हैं स्ह्क्लरीं स्हौः'। इस मन्त्र के प्रथम कूट—'स्हैं' में और द्वितीय कूट—'स्हक्लरीं' में विसर्ग नहीं है। तृतीय कूट 'स्हौः' में विसर्ग है। इसे विसर्ग-रहित कर देने पर 'स्हौ' शेष रहा। दूसरे शब्दों में कौलेश-भैरवी के मन्त्र को विसर्ग हीन कर देने से वह 'सकल-भैरवी' का मन्त्र बन जाता है। यथा—स्हैं स्हक्लरीं स्हौ'।

इनका भी पूजन-विधान सम्पत्प्रदा-भैरवी के समान है। हे प्रिये ! इस तरह श्री त्रिपुरा पञ्च सिंहासन मयी हैं ।।५६-५७।।

आम्नाय विद्यायें–

चतुराम्नायविद्याभिर्मान्यं सिहासनं प्रिये।
हस्त्रीमात्मकमुच्चार्य सह्रीमात्मकमद्रिजे ।।५८।।
शक्तिः सकलह्रीमन्ते चतुर्बीजमुदाहृतम्।
श्रीबीजं कुरु तार्तीयं नित्या वेदाक्षरी भवेत् ।।५९।।

उन्मनी नाम विद्येयं भोगमोक्षफलप्रदा।
पूर्वाम्नाये महाविद्या दक्षिणाम्नाय उच्यते ॥६०॥

हे प्रिये ! यह सिंहासन चतुराम्नाय-आत्मक हैं। पूर्व-दक्षिण-पश्चिम तथा 'उत्तर' ये चार-आम्नाय है। इनकी उत्पत्ति भगवान् सदाशिव के तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात एवं वामदेव संज्ञक चार-मुखों से हुई है। ईशान-मुख से उद्भूत ऊर्ध्वाम्नाय पाँचवाँ आम्नाय है।

सभी विद्यायें और मन्त्र इन्हीं आम्नायों में वर्गीकृत हैं। मन्त्र-साधना में अपनी 'विद्या' और अथवा 'मन्त्र' के आम्नाय का ज्ञान आवश्यक है।

सिंहासन विद्याओं के समान 'आम्नाय-विद्यायें' भी हैं। सिंहासन-अर्चन के अन्तर्गत 'सिंहासन-विद्याओं' के साथ आम्नाय-विद्याओं का भी अर्चन किया जाता है। आम्नाय-विद्याओं को 'समया-विद्या' भी कहते हैं।

उन्मनी, भोगिनी, कुब्जिका और कालिका ये क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर आम्नाय की देवता हैं। सिंहासन-विद्याओं का निरूपण करने के बाद आम्नाय-विद्याओं का निरूपण किया जा रहा है। यथा—

उन्मनी-विद्या

हे अद्रिजे ! 'हस्त्रीम्' का उच्चारण करके 'सह्रीम्' तत्पश्चात् 'श्रीं' एवं 'कलह्री' की योजना करने से भगवती 'उन्मनी' का चार-कूटों का मन्त्र निष्पन्न होता है। यथा—'हस्त्रीं सह्रीं श्रीं कलह्रीं'

भगवती उन्मनी पूर्व-आम्नाय की देवता हैं। अब दक्षिण-आम्नाय बताया जा रहा है ॥५८-६०॥[१]

वाग्भवं बीजमुच्चार्य क्लिन्ने कामस्य बीजकम्।
मदद्रवे कुले हस्त्रौ विद्येयं भोगिनी प्रिये ॥६१॥
दक्षिणाम्नायविद्येयं पश्चिमाम्नाय उँच्यते।

वाग्भव (ऐं) तत्पश्चात् 'क्लिन्ने' फिर कामराज बीज 'क्लीं' के बाद 'मदद्रवे' फिर 'कुले' के बाद 'हस्त्रौ' की योजना करने से दक्षिणाम्नाय की विद्या-भोगिनी का मन्त्र बनता है—'ऐं क्लिन्ने क्लीं मदद्रवे कुले हस्त्रौ'[२]

---

१. ग्रन्थान्तर के अनुसार-इस मन्त्र के ऋषि-दक्षिणामूर्ति, छन्द-पंक्ति, देवता-उन्मनी, बीज-'हस्त्रीं' शक्ति 'सह्रीं, कीलक—'कलह्रीं' है। ध्यान सम्पत्प्रदा-भैरवी के समान है।

२. ग्रन्थान्तर के अनुसार इस मन्त्र के ऋषि-दक्षिणामूर्ति, छन्द-पंक्ति, देवता-भोगिनी, बीज—'ऐं' शक्ति—'स्त्रैं' कीलक—'क्लीं' है। इनका ध्यान 'अघोर-भैरवी' के समान है।

कुब्जिका विद्या

दक्षिणाम्नाय के बाद पश्चिम-आम्नाय विद्या—'कुब्जिका' का मन्त्र बताया जा रहा है ।।६१।।[१]

वाग्भवं च परा श्रीश्च हसखफ्रोमिति प्रिये ।।६२।।
हस्त्रौभस्तास्ततो देवि पञ्चैते प्रणवाः स्मृताः ।
भगवत्यम्ब आलिख्य पृथक्पदमथेश्वरि ।।६३।।
चतुर्थं प्रणवं चैव हसखफ्रोमिति प्रिये ।
कुब्जिके चैव हस्त्रां च हस्त्रीं हस्त्रौ ततः परम् ।।६४।।
अघोरे चैव घोरे च त्वघोरमुखि चाऽऽलिखेत् ।
हस्त्रां हस्त्रीं किणिद्वंद्व विच्चे द्वात्रिंशदक्षरी ।।६५।।
पूर्वोक्तैः प्रणवैर्देवि संपुटीकृत्य संस्मरेत् ।
कुब्जिकेयं महाविद्या पश्चिमाम्नायदेवता ।।६६।।

हे ईश्वरि ! वाग्भव (ऐं) परा (ह्रीं) श्री-बीज (श्रीं) हस्ख्फ्रौं और 'हस्त्रौः' ये पाँच प्रणव हैं । (ऐं ह्रीं श्रीं हस्ख्फ्रौं हस्त्रौः)

इसके बाद पृथक् पृथक् दो पद—'भगवति' और 'अम्बे' लिखकर चतुर्थ प्रणव 'हस्ख्फ्रौं' के बाद 'कुब्जिके' फिर 'ह्स्त्रां-हस्त्रीं-हस्त्रौः' लिखें । इसके बाद 'अघोरे' फिर 'घोरे' तत्पश्चात् 'अघोर-मुखि' लिखकर 'हस्त्रां-हस्त्रीं-हस्त्रौः' लिखें । तत्पश्चात् दो बार किणि (अर्थात्-किणि किणि) लिखने के बाद 'विच्चे' लिखें ।

स्वरूप निष्पन्न हुआ—'भगवति अम्बे हस्ख्फ्रौं कुब्जिके हस्त्रां-हस्त्रीं हस्त्रौः अघोरे घोरे अघोरे मुखि हस्त्रां हस्त्रीं हस्त्रौः किणि-किणि-विच्चे' इसमें ३२ (बत्तीस अक्षर है ।

उपर्युक्त मन्त्रांश स्वरूप को पूर्वोक्त पञ्च-प्रणवों से सम्पुटित कर दें ।।६२-६६।।

मन्त्र-स्वरूप—ऐं ह्रीं श्रीं हस्ख्फ्रौः हस्त्रौः भगवति अम्बे हस्ख्फ्रौं कुब्जिके हस्त्रां हस्त्रीं हस्त्रौः अघोरे घोरे अघोरमुखि हस्त्रां हस्त्रीं हस्त्रौः किणि किणि विच्चे हस्त्रौः हस्ख्फ्रौं श्रीं ह्रीं ऐं'

---

१. ग्रन्थान्तर के अनुसार इस मन्त्र के ऋषि रुद्र, छन्द गायत्री, देवता-कुब्जिका, बीज-हस्त्रौः, शक्ति-हस्ख्फ्रौं और कीलक 'हस्त्र' है । इनका ध्यान षट्कूटा-भैरवी के समान बताया गया है ।

कालिका विद्या

खफ्रेमात्मकमुच्चार्य महाचण्डपदं लिखेत्।
योगेश्वरीपदं पश्चाद्विद्येयं कालिका प्रिये ॥६७॥
उत्तराम्नायविद्येयं नाम्ना कालीति विश्रुता।
एताभिः परमेशानि पूज्यं सिंहासनं सदा ॥६८॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे सिंहासनविद्याविधानं
नाम नवमः पटलः ।।९।।

'खफ्रे' के बाद 'महाचण्ड' फिर 'योगेश्वरि' की योजना करने से उत्तर-आम्नाय की **'कलिका'** विद्या की निष्पत्ति होती है।

खफ्रें महाचण्ड योगेश्वरि

हे परमेशानि! इन विद्याओं से तत्-तत् सिंहासनों की पूजा करनी चाहिए ॥६७-६८॥

श्री ज्ञानार्णव-नित्या-तन्त्र के सिंहासन विद्या-विधान नामक
नवम-पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥९॥

टिप्पणी—ग्रन्थान्तर के अनुसार उपर्युक्त मन्त्र के ऋषि—श्री 'भैरव', देवता-'कालिका', छन्द-ऊष्णिक, बीज-'खफ्रैं', शक्ति-'ईश्वरि' और कीलक—'महाचण्ड' हैं। इनका ध्यान—भुवनेश्वरी भैरवी के समान है।

दशम-पटल की पूर्व पीठिका

एतत् पूर्व द्वितीय से नवम पर्यन्त सात पटलों में 'त्रिविधा त्रिपुरा' के दो रूपों यथा श्री बाला त्रिपुरा और भैरवी त्रिपुराओं के मन्त्र और अर्चन-विधान बताने के बाद प्रस्तुत दशम पटल से भगवती त्रिपुरा के तृतीय रूप भेद श्री ललिता महा त्रिपुर-सुन्दरी षोडशी विद्या का निरूपण प्रारम्भ हुआ है। द्वितीय से दशम पर्यन्त ९ श्लोकों में बताया गया है कि वे पर-ब्रह्म स्वरूपा हैं, विश्व की जननी हैं, हकारार्ध-स्वरूपिणी है, नित्या हैं, चित्कला है। अतएव वे महाविद्या हैं। इसके आगे के पाँच श्लोकों (११ से १६) में श्री सुन्दरी के याग-मण्डप का स्वरूप और आराधक की वेश-भूषा का संकेतात्मक-संक्षिप्त निदर्शन है।

१७ से २९ तक १३ श्लोकों में भगवती त्रिपुरा के आठ रूप-भेदों यथा (१) त्रिपुरा, (२) त्रिपुरेशी, (३) त्रिपुर-सुन्दरी, (४) त्रिपुर-वासिनी, (५) त्रिपुरा श्री, (६) त्रिपुर-मालिनी, (७) त्रिपुरा-सिद्धा और (८) त्रिपुराम्बा के मन्त्रों का उद्धार प्रतिपादित है। भगवती महा त्रिपुर-सुन्दरी स्वयं ही नवमी त्रिपुरा हैं। वे ही मूल-विद्या भी हैं।

तीसवें श्लोक में मूल-विद्या अर्थात् 'मेरु-मन्त्र' का उद्धार बताया गया है। इस 'मेरु-मन्त्र' में क्रम से ९ (नौ) वर्ण हैं, यथा (१) 'ल'कार, (२) 'स'कार, (३) 'ह'कार, (४) 'ई'कार, (५) 'ए'कार, (६) 'र'कार, (७) 'क'कार, (८) अर्धचन्द्र और (९) बिन्दु। श्री विद्या भगवती ललिता महा-त्रिपुर-सुन्दरी के सभी मन्त्रों का उद्भव चूँकि इसी नवाक्षरी मन्त्र से हुआ है, अतः इसे 'मेरु-मन्त्र कहा जाता है। इन्हीं ९ वर्णों से चराचर-प्रणि-जगत् सहित ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है।

३२ से ४७ पर्यन्त १६ श्लोकों में उपर्युक्त मेरु-मन्त्र के एक-एक वर्ण से नव-चक्रात्मक श्री 'श्रीयन्त्र' के एक-एक चक्र का उदभव निरूपित करने के पश्चात् ४८ से ७५ पर्यन्त २८ श्लोकों में श्री 'श्री यन्त्र' का उद्धार (अर्थात् बनाने या अंकन करने की विधि) बताया गया है। इसके बाद ७६ से ८८ तक १२ श्लोकों में 'भूपुर' से प्रारम्भ कर 'बिन्दु' पर्यन्त श्री 'श्रीयन्त्र' के प्रत्येक 'चक्र' का नाम बताया गया है। यथा—(१) त्रैलोक्य मोहन चक्र, (२) सर्वाशा परिपूरक चक्र, (३) सर्व-संक्षोभण चक्र, (४) सर्व-सौभाग्य चक्र, (५) सर्वार्थ साधक चक्र, (६) सर्व-रक्षाकर चक्र, (७) सर्व रोगहर चक्र, (८) सर्व-सिद्धि प्रद चक्र, (९) सर्वानन्दमय चक्र।

जीव की तीन दशाये हैं—स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति—जिनका निरूपण प्रथम पटल में किया गया है। श्री 'श्री यन्त्र' के उपर्युक्त नौ चक्रों में स्वप्न आदि सभी अवस्था त्रय की संस्थिति है। ये चक्र तीन-तीन चक्रों के क्रम से सृष्टि चक्र (२) स्थिति चक्र और (३) संहार चक्र हैं।

पटल के प्रारम्भ में ९ श्लोकों में नाद, बिन्दु, कला, हकारार्द्ध आदि ऐसे पदों का प्रयोग है, जो तन्त्र-शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं—ऐसे पारिभाषिक शब्द जिनका सम्बन्ध आगमोक्त दृष्टि से संसार के उद्भव और विकास से हैं। बिन्दु, नाद, बीज के भेद-प्रभेद, उनसे वर्णों की उत्पत्ति, वर्णों (अक्षरों) के दैवी स्वरूप, उनसे ब्रह्माण्ड उत्पादक तत्वों की दार्शनिक अवधारणों का व्याख्या-परक निरूपण अनेक ग्रन्थों में किया गया है। ग्रन्थ के 'स्वरूप ज्ञेय मात्र' नामक प्रथम पटल में 'शब्द-ब्रह्म' के आविर्भाव के अन्तर्गत इनके स्वरूप का संक्षिप्त अवबोधात्मक विवरण दिया गया है क्योंकि किसी शास्त्र में प्रवृत्त होने के पूर्वक इसके पारिभाषित शब्दों के अर्थ एवं अवधारणाओं का परिचयात्मक ज्ञान आवश्यक है।

प्रस्तुत पटल के १० श्लोकों (८९ से ९८) में श्री 'श्रीयन्त्र' में 'षड्ध्व' की संस्थिति का निरूपण है। 'नाद' और 'बिन्दु' आदि की तरह यह भी एक पारिभाषिक-अभिव्यक्ति है।

'अध्वन्' शब्द का कोश-मत अर्थ है—मार्ग, प्रसरण, काल और प्रणाली आदि। (आप्टे कृत संस्कृत-हिन्दी कोश) 'षट्' का अर्थ है—छै। इस तरह 'षट्-अध्व' का अर्थ हुआ—छै प्रकार के मार्ग आदि। 'शब्द-ब्रह्म के आविर्भाव' में यह निरूपित किया जा चुका है कि यह चराचर ब्रह्माण्ड शब्दार्थ स्वरूप है। 'इस शब्दार्थ मय जगत् को छः अध्वात्मक जगत् माना जाता है। इसी प्रकार जीव शरीर भी षडाध्वात्मक है। 'शारदा तिलक' की 'पदार्थादर्श टीका में श्री राघव-भट्ट ने कहा है—'षडाध्वात्मकमेव शरीरम्।' यह षडध्वात्मक जगत् चित्-स्वरूपा महा-शक्ति से प्रकाशित है। 'सौभाग्य-हृदय में कहा गया है—

'वर्णः कला-पद-तत्वं-मन्त्रो भुवनमेव च

इत्यध्वषट्कं देवेशि ! भाति त्वयि चिदात्मनि'

'हे चित्स्वरूपा देवेशि ! वर्ण, कला, पद, तत्व, मन्त्र और भुवन ये छै अध्व तुमसे ही अवभासित हैं।

श्री 'श्री चक्र' शिव और शिवा का वपु है—शरीर है—अतः इसमें उपर्युक्त वर्ण, कला आदि 'षडध्व' संस्थित है। श्लोक-संख्या ८९ से ९८ तक १० श्लोकों

में श्री 'श्रीचक्र' में इनकी संस्थिति का निरूपण किया गया है। चूँकि जीव-शरीर में भी ये ६ अध्व स्थित हैं, अत: दीक्षा काल में गुरुदेव शिष्य के शरीर में इन ६ अध्वाओं का शोधन करते हैं।

तंत्रोक्त अर्चन विधि में 'देवता' का पूजन-यन्त्र अंकित करने, स्थापित करने और उक्त 'यन्त्र-राज' पर 'इष्ट-देवता' का 'सपरिवार' पूजन तर्पण यथा—निर्दिष्ट परिकल्पित दिशाओं में करने का विधान है। अत: एतदर्थ पूर्व आदि नैसर्गिक दिशायें तद्-तद् दिशाओं के रूप में ग्रहण नहीं की जातीं। साधक, पूजन-यन्त्र, तथा इष्ट-देवता की संस्थिति के अनुसार पूर्व आदि दिशाओं तथा ईशान आदि विदिशाओं का क्रम बदल जाता है। ९९ से १०२ पर्यन्त ४ श्लोकों में दिशाओं एवं विदिशाओं की परिकल्पना करने की विधि बताई गई है।

अन्तिम श्लोक में 'श्री विद्या' और 'श्री यन्त्र' की समरूपता पुन: प्रतिपादित की गई है।

❋

अथ दशमः पटलः

कर-शुद्धि विद्या, चतुरासन-विद्यावाहन विद्या, यजन विद्या, मेरु स्वरूप श्रीचक्रोद्धार, षडध्व निरूपण

श्रीदेव्युवाच

त्रिपुरा द्विविधा देव भवता प्रकटी कृता।
त्रिविधेति यदुक्तं तत्प्रकटी कुरु शंकर ॥१॥

श्री देवी ने कहा—हे शङ्कर ! आपने कहा है कि भगवती त्रिपुरा के तीन भेद हैं—(त्रिपुरा त्रिविधा देवि—द्वितीय पटल) इनमें से उनके दो रूपों को आपने प्रकट किया। बाला त्रिपुरा और भैरवी के ध्यान, मन्त्र, पूजन-विधि का उपदेश किया। भगवती-त्रिपुरा के तीन रूप भेदों में से एक रूप-भेद का निरूपण शेष रह गया है। हे देव ! आप उनके इस रूप-भेद का भी निरूपण कीजिये ॥१॥

ईश्वर उवाच

परं ब्रह्मस्वरूपं यन्नादबिन्दुत्रयात्मकम्।
शिवशक्तिमयं तत्तु कथयामि तवानघे ॥२॥

ईश्वर ने कहा—अनुस्वार का एक-बिन्दु और विसर्ग के दो बिन्दु हैं। दोनों को मिलाकर कुल तीन बिन्दु हैं। पर-ब्रह्म की सिसृक्षा से नाद उत्पन्न हुआ था। जो नाद और बिन्दु-त्रय मय है, शिव-शक्ति मय है और जो पर-ब्रह्म स्वरूप है, अब मैं उनका निरूपण कर रहा हूँ ॥२॥

व्याप्य तिष्ठति विश्वं सा शिवं च परमेश्वरि।
पूर्वं गुणैस्तु कथिता शिवशक्त्यात्मकं शृणु ॥३॥

हे परमेश्वरि ! जो 'वर्णातीता' है उसका स्वरूप संकेत पहिले ही बताया जा चुका है। (सन्दर्भ-प्रथम पटल) ! विश्व और शिव को व्याप्य करके जो स्थित है, प्रतिष्ठित है, जो शिव और शक्ति मय है, अब उसका निरूपण सुनिये ॥३॥

विमर्श—वह परमा-शक्ति अद्वैत है। शिव के सहयोग से वह स्थावर-जंगम रूप चराचर विश्व को अभिव्यक्त करती है, जन्म देती है। यह विश्व उसकी ही अभिव्यक्ति है। शिव एवं विश्व दोनों उसमें समन्वित है। इस तरह वह विश्व एवं शिव मय है, शक्तिमय शक्त्यात्मक है।

अकारादिसकारान्ता मातृका शक्तिरव्यया।
हकारः परमेशानि केवलं शिव उच्यते ॥४॥

'अ'कार से 'स'कार पर्यन्त मातृकायें शक्ति-रूपा हैं, अव्यय हैं। 'स'कार के बाद वाला 'ह'कार शिव-स्वरूप है। इस तरह मातृका-माला शिव-शक्ति मय है ॥४॥

आद्यन्ताक्षरभावे तदाऽहं सकलात्मकः।
यदुच्यते मातृकर्णैस्तत्सर्वमहमीश्वरि ॥५॥

आदि वर्ण 'अ'कार है और अन्तिम वर्ण 'ह'कार है। जब ये दोनों वर्ण मिलते हैं—'अहम्' का आर्विभाव होता है। 'अ'कार से 'स'कार पर्यन्त मातृका समुच्चय शक्ति-रूप है और 'ह'कार शिव स्वरूप है। शक्ति ही कला है—प्रकृति है। अतः प्रथम कला 'अ'कार का निर्गुण-शिव रूप 'ह'कार से संयोग करने पर निर्गुण-ब्रह्म सगुण हो जाता है। 'निष्कल' अर्थात् कला-विहीन 'शिव' 'सकल' हो जाते हैं ॥५॥

हकारः परमेशानि शून्यरूपी सदाऽव्ययः।
सकारः शक्तिरूपत्वात्परावाची विसर्गवान् ॥६॥

हे परमेशानि ! 'ह'कार शून्य है, विकार रहित है, अव्यय है अर्थात् सदैव एक रूप रहता है। 'स'कार शक्ति का अभिव्यञ्जक है, परा-वाची है। अतः वह सर्गवान् है, अर्थात् सृष्टि-कर्ता है ॥६॥

उत्पत्तेः कारणं यस्माच्छक्तिरित्यभिधीयते।
आत्मानं दर्शयेद्योगः सोऽहंशब्देन सुन्दरि ॥७॥

हे सुन्दरि ! चूँकि वह (सकार) विश्व की उत्पत्ति का कारण है, अतः वह शक्ति है, शक्ति-रूप है, क्योंकि उत्पत्ति (सृष्टि एवं जनन) की क्षमता शक्ति का गुण है। शक्ति में ही जनन रूप उत्पत्तिकारिणी क्षमता होती है। 'अहम्' पद शिव-शक्त्यात्मक सकल ब्रह्म का प्रतिपादक है, जैसा कि उपर्युक्त पाँचवें श्लोक से स्पष्ट है। 'अहं' के साथ योग होने पर 'सोऽहं' शब्द बनता है 'सोऽहं' महावाक्य है और इस महावाक्य रूप 'पद' से आत्म-तत्व के दर्शन होते हैं ॥७॥

बिन्दुत्रयसमायोगान्महात्रिपुरसुन्दरी।
नादरूपेण सा देवी हकारार्धस्वरूपिणी ॥८॥
हकारः परमेशानि शिवरूपी यतस्तदा।
तस्यार्धाङ्गं महाशक्तिर्हकारार्धस्वरूपिणी ॥९॥

वह देवी महात्रिपुर-सुन्दरी बिन्दुत्रय के समायोग के कारण नाद रूप से 'ह'कार अर्ध-स्वरूपिणी हैं। 'शिव' हकार स्वरूप हैं। उनका अर्धांग होने के कारण महाशक्ति हकारार्ध स्वरूपिणी हैं ॥८-९॥

अत एव महाविद्या महात्रिपुरसुन्दरी ।
नित्येति कथ्यते देवि चित्कला परमेश्वरी ॥१०॥

हे देवि ! इसलिये वह महाविद्या, महात्रिपुर-सुन्दरी, नित्या, चित्कला और परमेश्वरी कही जाती हैं ॥१०॥

श्रीगुरोः कृपया भद्रे संप्रदायकुलान्वितः ।
प्रातरुत्थाय देवेशि गुरुं नत्वा स्वनामभिः ॥११॥

हे भद्रे ! श्रीगुरुदेव की कृपा से सम्प्रदाय और कुल प्राप्त (अर्थात् दीक्षा-प्राप्त) साधक प्रातः काल निद्रा त्याग कर अपने नाम उच्चारण पूर्वक गुरुदेव को प्रणाम करे ॥११॥

संध्यास्नानादिकं देवि विधाय मनुवित्तमः ।
सर्वशृङ्गारवेषाढ्यः कर्पूरघृसुणादिभिः ॥१२॥
महार्हैश्चन्दनाद्यैश्च दीप्ताङ्गः कुङ्कुमारुणः ।
नवरत्नविभूषाढ्यो रक्ताम्बरविराजितः ॥१३॥
ताम्बूलरागवदनो मदिरानन्दमानसः ।
यागमन्दिरमागत्य लाक्षाचित्रविचित्रितम् ॥१४॥

हे देवि ! स्नान-संध्या आदि प्रातः कृत्य सम्पादित करके मन्त्र-साधक रक्त-चन्दन, कपूर आदि का तिलक लगाकर, लाल वस्त्र धारण करके, रत्न आदि की मालाओं से अलंकृत होकर, पान खाकर मदिरानन्द-मानस अर्थात् प्रसन्नता-पूर्वक याग-मन्दिर (पूजा-मण्डप) में जाये ॥१२-१४॥

विमर्श—भगवती महा-त्रिपुर-सुन्दरी राज राजेश्वरी हैं। रत्नालंकृता एवं श्रृंगार मयी हैं। उन्हें लाल-रंग प्रिय है। तन्त्र-साधना में साधक अपने-शरीर को देवालय मानकर हृदय-मन्दिर में इष्ट-देवता का पूजन-अर्चन करता है। अतः देवता के प्रीति सम्पादन के लिये तदनुकूल एवं तत् प्रिय वेश भूषा धारण करना सर्वथा संगत है। पान खाने से मुंह उच्छिष्ट (जूठा) नहीं होता। त्रिपुरा-विधान में ताम्बूल-सेवन का निर्देश सोद्देश्य है। 'त्रिपुरार्णव-तन्त्र' (पञ्चम-तरंग श्लोक-६) में कहा गया है—

जपादौ मुखदुर्गन्धो देवताशापमाप्नुयात् ।
अतो दुर्गन्ध नाशाय, ताम्बूलादिकमिष्यते ॥

जप आदि में मुख दुर्गन्ध युक्त रहने पर देवता का शाप भोगना पड़ता है। अतः मुख का दुर्गन्ध समाप्त करने के लिये लौंग-इलायची-कपूर, जायफल आदि से युक्त पान खाना चाहिए।

इस प्रकार अलंकृत होकर एवं पान खाकर पूजा-मण्डप में जाये, ऐसा पूजा-मण्डप जो, लाक्षा (लाख) के लाल रंग से रंगा हुआ हो, और

अनेकधूपबहलं पुष्पप्रकरपूरितम्।
गोमयेन च संलिप्तं चारुपुष्पवितानितम् ॥१५॥

जो भली भाँति गोमय से लीपा गया हो, जिसमें फूलों का वितान (चन्दोबा) हो, तरह-तरह के फूलों की झालर और वन्दन बार लगे हों और जो विभिन्न-प्रकार के धूपों से सुवासित हो ॥१५॥

मनोहरे मृदुश्लक्ष्ण आसने उपविश्य तु।
मन्त्रोद्धारं प्रकुर्वीत सर्वकार्यार्थसिद्धये ॥१६॥

ऐसे याग-मन्दिर में आकर श्रीमान साधक मनोहर एवं नरम (अर्थात् आराम-दायक) आसन पर बैठे और कार्यों की सिद्धि के लिये मन्त्रोद्धार (न्यास) करे ॥१६॥

विमर्श—श्री 'श्रीचक्र' में ९ (नौ) चक्र हैं। भगवती श्री महा-त्रिपुर-सुन्दरी के नौ मूर्ति-भेद इन चक्रों में प्रतिष्ठित हैं। प्रत्येक 'चक्र' में प्रतिष्ठिता उनकी विशिष्ट-मूर्ति उस चक्र की 'चक्रेश्वरी' है। इन श्लोकों में चक्रेश्वरी-देवताओं का नाम और मन्त्र बताया गया है। श्री 'श्रीविद्या साधना' में इन चक्रेश्वरी-देवताओं का 'न्यास' किया जाता है, जिसे 'चक्रेश्वरी-न्यास' कहते हैं। 'श्री चक्र' पर भगवती की आवरण पूजा के क्रम में इन चक्रेश्वरी देवताओं का उनके चक्र में उनके इन विशिष्ट मन्त्रों से पूजन-तर्पण किया जाता है।

आद्यं वाग्भवमुच्चार्य कामराजं द्वितीयकम्।
कुमार्यास्तु तृतीयं तु त्रिपुरा परमेश्वरी ॥१७॥
करशुद्धिकरी विद्या प्रथमा परमेश्वरि।

(१) त्रिपुरा—इनमें प्रथम चक्रेश्वरी विद्या हैं—'त्रिपुरा'। अक्ष-माला के आद्य वर्ण ('अ'कार) तथा द्वितीय-वर्ण ('आ'कार) से त्रिपुरा विद्या के क्रमशः वाग्भव और 'कामराज कूट' बनते हैं और 'कुमारी' (बाला) विद्या का तृतीय कूट (सौः) इनका भी तृतीय कूट है।

मन्त्र-स्वरूप—'अं आं सौः'

यह प्रथमा 'त्रिपुरा-विद्या' 'कर-शुद्धि करी विद्या' हैं। इस विद्या का न्यास करने से साधक के हाथ शुद्ध होकर 'न्यास' और 'अर्चन' करने की अर्हता प्राप्त करते हैं ॥१७॥

कुमारी तु द्वितीया स्यात्त्रिपुरेशी महेश्वरि ॥१८॥

(२) त्रिपुरेशी—कुमारी अर्थात् श्री बाला त्रिपुरा ही द्वितीया विद्या 'त्रिपुरेशी' (नामान्तर-त्रिपुरेश्वरी) हैं।

मन्त्र-स्वरूप—'ऐं क्लीं सौः'

त्रिपुरेश्यादिमं त्यक्त्वा भुवनेशीं परिक्षिपेत्।
अनयाऽऽत्मासनं दद्यात्त्रिपुरेश्या षडङ्गकम् ॥१९॥

(३) त्रिपुर-सुन्दरी—उपर्युक्त त्रिपुरेशी-विद्या (ऐं क्लीं सौः) के प्रथम कूट (ऐं)को विलोपित करके उसके स्थान पर भुवनेशी (ह्रीं) लगाने से आत्मासन गता विद्या का उद्धार होता है। यहाँ इनका नाम नहीं बताया गया है। अन्य ग्रन्थों के अनुसार आत्मासन गता विद्या का नाम है—त्रिपुरसुन्दरी। 'त्रिपुरेशी विद्या' से षडङ्ग-न्यास और 'त्रिपुर सुन्दरी विद्या' से आत्मासन प्रदान करना चाहिए ॥१९॥

मन्त्र-स्वरूप—ह्रीं क्लीं सौः

त्रिपुरेशी महेशानि त्रिबीजा हस्थिता यदा।
चक्रासनगतां देवि विद्धि त्रिपुरवासिनीम् ॥२०॥

(४) त्रिपुर-वासिनी—त्रिपुरेशी विद्या (ऐं क्लीं सौः) के तीनों कूटों के आदि में 'ह'कार जोड़ने से 'त्रिपुर वासिनी-विद्या' का उद्धार होता है। इस विद्या से चक्रासन प्रदान किया जाता है ॥२०॥

मन्त्र-स्वरूप—'हैं हक्लीं ह्सौः'

त्रिपुरेशी महेशानि वाग्भवे कामराजके।
शिवचन्द्रसमायुक्ता तार्तीये शिवरूपिणी ॥२१॥
सर्वमन्त्रासनगता त्रिपुरा श्रीरियं प्रिये।

(५) त्रिपुराश्री—उक्त त्रिपुरेशी के तीनों कूटों के आदि में शिव (ह) और चन्द्र (स) की योजना करने से 'त्रिपुरा श्री' विद्या का उद्धार होता है। इससे 'सर्व-मन्त्रासन'—प्रदान करना चाहिए ॥२१-२२॥

मन्त्र-स्वरूप—ह्सैं ह्स्क्लीं ह्स्सौः

आत्मासनगतायास्तु हित्वा तार्तीयमद्रिजे ॥२२॥
बलेमात्मकमारोप्य साध्यसिद्धासनस्थिता।
त्रिपुरामालिनी प्रोक्ता सिद्धाख्यां त्रिपुरां शृणु ॥२३॥

(६) त्रिपुर मालिनी—आत्मासन-गता विद्या अर्थात् त्रिपुर-सुन्दरी विद्या (ह्रीं क्लीं सौः) के तृतीय-कूट (सौः) के स्थान पर 'ब्लें' की योजना करने से 'त्रिपुरा मालिनी' विद्या की निष्पत्ति होती है। ये 'साध्य सिद्धासन विद्या' हैं ॥२२-२३॥

मन्त्र-स्वरूप—ह्रीं क्लीं ब्लें

भुवनेशी श्रिया युक्ता कुमारी च तथोत्तमा।
मूर्तिविद्या समुद्दिष्टा माया लक्ष्मीः परास्थिता ॥२४॥
अनया विद्यया देवि यजेत्त्रिपुरसिद्धिकाम्।
मायालक्ष्म्योस्तु बीजे द्वे शक्तिबीजं तृतीयकम् ॥२५॥

(७) त्रिपुरासिद्धा—भुवनेशी (ह्रीं) और श्री (श्रीं) से युक्त कुमारी (सौः)। इन तीन-कूटों से माया (ह्रीं) श्री (श्रीं) और परा (सौः) स्थिता 'त्रिपुरा सिद्धा' विद्या की निष्पत्ति होती है। इन तीन कूटों से 'त्रिपुरा-सिद्धा' का पूजन करना चाहिए। ये 'मूर्ति-विद्या' है ॥२४-२५॥

मन्त्र-स्वरूप—ह्रीं श्रीं सौः

त्रिपुराद्या त्र्यम्बिकेयमष्टमी परिकीर्तिता।
संपत्प्रदा भैरवी या तस्यास्तार्तीयबीजके ॥२६॥
बिन्दुं हित्वा तत्रसर्गं निक्षिपेत्सुरसुन्दरी।
अनयाऽऽवाहनं देवि कारयेत्सुरवन्दिते ॥२७॥
मूर्तिविद्या समुद्दिष्टा माया लक्ष्मीः परा स्थिता।
अनया विद्यया देवि यजेत्त्रिपुरसिद्धिदा (म्) ॥२८॥
सिद्धाम्बा वाहिनीमूर्तिर्विद्या च सुरसुन्दरि।

(८) त्रिपुराद्या—त्रिपुराद्या (नामान्तर-त्रिपुराम्बा) अष्टमी विद्या हैं। ये त्र्यम्बिका अर्थात् 'त्रिकूटा' (तीन कूटों वाली) हैं। सम्पत् प्रदा भैरवी विद्या (हस्रैं हस्क्लरीं-ह्सौं) के तृतीय-कूट (हस्रौं) के बिन्दु (अनुस्वार) को हटाकर उसके स्थान पर विसर्ग (:) की योजना करें। प्रथम और द्वितीय कूटों को यथावत् रखें। यह त्रिपुराद्या (त्रिपुराम्बा) विद्या है। हे सुरवन्दिते ! इस विद्या से आवाहन करना चाहिए। हे सुर-सुन्दरि ! 'त्रिपुरा सिद्धा' मूर्ति-विद्या और त्रिपुराद्या-आवाहनी विद्या हैं ॥२६-२८॥

टिप्पणी (पाठ-शोधन)—उपर्युक्त १९ वें श्लोक में विद्या के नाम का उल्लेख नहीं है। तन्त्रान्तर में इस विद्या का नाम 'त्रिपुर-सुन्दरी' बताया गया है। यथा—यामल में—ह्रीं क्लीं सौः त्रिपुरेत्युक्त्वा सुन्दरीति पदं ततः। तदनुसार अनुवाद में 'त्रिपुर-सुन्दरी' नाम की योजना कर दी गई है।

उपर्युक्त पाठ में २३ वें श्लोक से २८ वें श्लोक तक श्री त्रिपुराम्बा के निरूपण में पुनरुक्ति प्रतीत होती है। यदि इन श्लोकों का इस प्रकार पाठ किया जाये तो अर्थ (उद्धार) में कोई अन्तर नहीं आयेगा तथा पुनरुक्ति भी नहीं होगी—

मन्त्र-स्वरूप—'हस्त्रैं हस्क्लरीं हसौः'

विमर्श—(१) त्रिपुर, (२) त्रिपुरेशी, (३) त्रिपुर-सुन्दरी, (४) त्रिपुर-वासिनी, (५) त्रिपुराश्री, (६) त्रिपुरा-मालिनी, (७) त्रिपुरासिद्धा और (८) त्रिपुराम्बा का निरूपण करने के बाद नवमी 'मूल-विद्या' का निरूपण किया जा रहा है। यथा—

मूलविद्यां शृणु प्रौढे सकलागमसेविताम् ॥२९॥
सर्वदर्शनवन्द्यां च चित्किलामव्ययां प्रिये।
भूमिश्चन्द्रः शिवो माया शक्तिः कृष्णाध्वमादनौ ॥३०॥
अर्धचन्द्रश्च बिन्दुश्च नवार्णो मेरुरुच्यते।
महात्रिपुरसुन्दर्या मन्त्रा मेरुसमुद्भवाः ॥३१॥

हे प्रौढे ! सभी आगमों और सभी दर्शनों द्वारा अभिवन्दिता मूल-विद्या सुनिये जो अव्यया है और चित्कला स्वरूपिणी है।

मेरु-मन्त्र—भूमि (ल) चन्द्र (स) शिव (ह) माया (ई) शक्ति (ए) कृष्णाध्व (र) मादन (क) अर्धचन्द्र (अनुस्वार) और बिन्दु मूल-विद्या है, 'मेरु' है जिससे भगवती महा त्रिपुर-सुन्दरी के सभी मन्त्रों का आविर्भाव हुआ है ॥२९-३१॥

'मन्त्र'—वर्णमय हैं, अक्षर युक्त हैं तथा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति वर्णों से हुई है। भगवती महा त्रिपुर सुन्दरी के उपर्युक्त मेरु-मन्त्र के वर्णों से किन-किन वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है, इसका निरूपण आगे किया जा रहा है।

लकारात्पृथिवी देवि सशैलवनकानना।
पञ्चाशत्पीठसम्पन्ना सर्वतीर्थमयी परा ॥३२॥
सर्वगङ्गामयी सर्वक्षेत्रस्थानमयी शिवे।

'ल'कार पृथ्वी बीज है। 'ल'कार से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। सभी पर्वतों, वनों, उपवनों, सभी तीर्थों, सभी क्षेत्रों, सभी पचासों पीठों और गंगा आदि सभी नदियों सहित पृथ्वी की उत्पत्ति 'मेरु-मन्त्र' के प्रथम वर्ण 'ल'कार से हुई है ॥३२॥

बलेमात्मकमारोप्य, साध्य सिद्धासन स्थिता,
त्रिपुरामालिनी प्रोक्ता, सिद्धाख्यां त्रिपुरां शृणु ॥
भुवनेशी-श्रिया युक्ता, कुमारी च तथोत्तमा।
अनया विद्यया देवि! यजेत् त्रिपुरा सिद्धिकाम् ॥
त्रिपुराद्या त्र्यम्बिकेशमष्टमी परिकीर्तिता।
सम्पत्प्रदा भैरवी या, तस्यास्तार्तीय बीजके ॥
बिन्दुं हित्वा तत्र सर्गं, निक्षिपेत् सुरसुन्दरि!
अनयाऽऽवाहनं देवि! कारयेत् सुरवन्दिते ॥

सकाराच्चन्द्रतारादिग्रहराशिस्वरूपिणी ॥३३॥
हकाराच्छिवसंवादव्योममण्डलसंस्थिता ।
ईकाराद्विश्वकर्त्रीयं माया तुर्यात्मिका प्रिये ॥३४॥

सकार—'स'कार चन्द्र बीज है। 'स'कार से तारा-ग्रह और नक्षत्र-मण्डल सहित चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है।

'ह'कार—'ह'कार शिव-स्वरूप है। इससे व्योम मण्डल (अन्तरिक्ष) उत्पन्न हुआ है।

'ई'कार—मेरु-मन्त्र का चतुर्थ वर्ण 'ई'कार है। 'ई'कार माया-स्वरूप है। माया-तत्व है। माया से ही यह प्रपञ्च, स्थावर-जङ्गम रूप चराचर जगत उत्पन्न हुआ है ॥३३-३४॥

एकाराद्वैष्णवी शक्तिर्विश्वपालनतत्परा ।
रकारात्तेजसा युक्ता परं ज्योतिःस्वरूपिणी ॥३५॥

'ए'कार—'ए'कार शक्ति का, वैष्णवी-शक्ति का अभिव्यञ्जक है जो सम्पूर्ण विश्व का पालन-पोषण करती है। 'र'कार अग्नि-बीज है। अग्नि ऊष्मा है, ऊर्जा है—वह ऊर्जा (Energy) जिससे संसार का समस्त क्रिया-व्यापार चल रहा है। संसार के क्रिया व्यापार की संचालिका ऊर्जा रूपी 'अग्नि' परं ज्योति स्वरूपिणी भगवती महा-त्रिपुर सुन्दरी की विभूति है ॥३५॥

ककारात्कामदा कामरूपिणी स्फुरदव्यया ।
अर्धचन्द्रेण देवेशि विश्वयोनिरितीरिता ॥३६॥

'क'कार:-'मादन' 'क'कार है। 'क'कार काम-बीज है। राजराजेश्वरी-कामेश्वरी त्रिपुरा क्लीं कारिणी हैं, काम-रूपिणी हैं, कामदा हैं। प्राणि जगत् में जितनी कामनायें हैं, अभिलाषायें हैं, कामेश्वरी के प्रभाव वश हैं। वे नित्य स्फुरत् हैं, स्पन्दित हैं। उनकी स्फुरणा कभी समाप्त नहीं होती। सदैव चलती रहती हैं क्योंकि वे अव्यया हैं, व्यय-रहित हैं। कामरूपिणी के रूप में वे ही कामनाओं को स्फुरत् करती हैं, और 'कामदा' रूप में इन कामनाओं को पूरा करती हैं। यह समस्त प्राणि-जगत् स्त्री-पुरुष भाव से उनके काम-सूत्र में कामनाओं की माला में ग्रन्थित है गुथा हुआ है। इस तरह उन्होंने तीनों लोकों को आकर्षित एवं मोहित कर रखा है।

अर्ध-चन्द्र:-अर्ध-चन्द्र अनुस्वार है जो वर्णोद्भूत ब्रह्माण्ड का आदि रूप है। अतएव अर्ध-चन्द्र रूपिणी भगवती विश्व-योनि हैं—विश्व की उत्पत्ति की कारण हैं। विश्व की जननी हैं ॥३६॥

बिन्दुना शिवरूपेण शून्यरूपेण साक्षिणी ।
अनया सह सर्वत्र व्याप्तिनिश्चलताऽऽमना ॥३७॥

बिन्दु—'बिन्दु' शून्य रूप है । शून्य आकाश है और आकाश शिव की एक मूर्ति है । यह आकाश प्रलय के बाद की उस महाशून्यावस्था का भी द्योतक है, जब स्वयं शिव निश्चल और सुषुप्त होकर महाशक्ति के साथ व्याप्त रहते हैं । यह महा-शक्ति उस महा-शून्यावस्था की साक्षिणी है, दृष्टा है । अत: इसे शून्य-साक्षिणी कहा जाता है । साक्षिणी कहने से यह भी संकेत मिलता है कि उस महाशून्यावस्था में भी, जबकि समस्त चराचर ब्रह्माण्ड सहित स्वयं शिव भी सर्वथा निश्चल, और सुषुप्त रहते हैं, यह महा-शक्ति जागृत रहती है ॥३७॥

एवं परब्रह्मरूपा मेरुणाऽनेन सुव्रते ।
एभिर्नवात्मकैर्वर्णैर्जायते त्रिपुरामनुः ॥३८॥

हे सुव्रते ! इस मेरु के इन नव-वर्णों से परब्रह्म रूपा त्रिपुरा के मन्त्र उत्पन्न हुए हैं ॥३८॥

विमर्श—त्रिपुरा-मन्त्रों के 'मेरु' का ब्रह्माण्ड के समस्त क्रिया-कलाप एवं व्यवहार और उसकी सृष्टि आदि सभी अवस्थाओं के साथ जनक-जन्य वत् सम्बन्ध एवं साम्य का निरूपण करने के बाद इस मेरु के घटक वर्णों का 'श्री चक्र' के साथ अन्तर्सम्बन्धों का निरूपण अगले श्लोकों में किया गया है ।

अन्यथा नैव निष्पत्तिर्नास्ति श्रीत्रिपुरामनौ ।
श्रीचक्रमपि देवेशि मेरुरूपं न संशयः ॥३९॥

हे देवेशि ! इस **'मेरु'** के बिना किसी भी अन्य स्रोत से श्री त्रिपुरा के मन्त्रों की निष्पत्ति सम्भव नहीं है । यह 'मेरु' ही विस्तार पाकर भगवती त्रिपुरा के अनेकानेक मन्त्रों के रूप में व्यक्त होता है । भगवती त्रिपुरा के मन्त्र ही नहीं, अपितु श्री 'श्रीचक्र' का आविर्भाव भी उसी 'मेरु' से हुआ है । यह 'मेरु' ही श्री 'श्रीचक्र' के रूप में अभिव्यक्त है ॥३९॥

इस मेरु-मन्त्र में ९ वर्ण हैं और श्री 'श्रीचक्र' में ९ चक्र हैं । 'मेरु' के प्रत्येक वर्ण ने, श्री 'श्रीचक्र' के एक-एक चक्र के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त किया है, प्रकट किया है । यथा—

लकारः पृथिवीबीजं तेन भूबिम्बमुच्यते ।
सकारश्चन्द्रमा भद्रे कलाषोडशकात्मकः ॥४०॥

मेरु का प्रथम-वर्ण 'ल' कार है। 'ल' पृथ्वी-बीज है। श्री 'श्री चक्र' का प्रथम चक्र (आवरण) भू-पुर है। यह पृथ्वी बीज 'ल'कार श्री चक्र में भूपुर के रूप में स्थित है। दूसरे शब्दों में त्रिपुरा-मन्त्रों का 'ल'कार और श्री चक्र का भूपुर एक ही तत्व के वाचक हैं।

'स'कार चन्द्रमा का बीज है। मेरु का द्वितीय वर्ण है। चन्द्रमा की १६ कलायें है। श्री चक्र के षोडश-दल चक्र (द्वितीय चक्र) की उत्पत्ति इसी 'स' कार से हुई है ॥४०॥

तस्मात्षोडशपत्रं तु हकारः शिव उच्यते।
अष्टमूर्तिः सदा भद्रे तस्माद्वसुदलं भवेत् ॥४१॥

'ह'कार शिव का वाचक है। भगवान् शिव की आठ-मूतिर्यां (आकाश, वायु, अग्नि, सलिल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र और यजमान) हैं। अष्ट-मूर्ति शिव का वाचक, 'ह'कार श्री चक्र के अष्ट-दल कमल में स्थित हैं ॥४१॥

ईकारस्तु महामाया भुवनानि चतुर्दश।
पालयन्ती परा तस्माच्छक्रकोणं भवेत्प्रिये ॥४२॥

'ई'कार महा माया है, भुवनेश्वरी है, जो चतुर्दश भुवनों का पालन करती है। चतुर्दश-भुवनों की पालन-कर्त्री महामाया का वाचक 'ई'कार श्री चक्र में चतुर्दश-कोणों (चतुर्दशार) के रूप में अभिव्यक्त है ॥४२॥

शक्तिरेकादशस्थाने स्थित्वा सूतै जगत्त्रयम्।
विश्वयोनिरिति ख्याता सा विष्णुर्दशरूपकम् ॥४३॥

'उत्पत्तिः कारणं यस्माच्छक्तिरत्यभिधीयते'—तीनों लोकों की उत्पत्ति अर्थात् जन्म 'शक्ति' से होता है। इस महा शक्ति ने दश स्थानों में स्थित होकर तीनों लोकों को जन्म दिया। इसीलिये इसे विश्व-योनि (विश्व-माता, जगत् जननी) कहा जाता है। भगवान् विष्णु के दस अवतार भी इसी शक्ति के अभिव्यञ्जक हैं। इस महा शक्ति का वाचक 'ए'कार है। दस-संख्या का व्यञ्जक यह 'ए'कार श्री 'श्रीचक्र' में 'बहिर्दशार' के रूप में अभिव्यक्त है ॥४३॥

रकारात्परमेशानि चक्रं व्याप्य विजृम्भते।
दशकोणकरी यस्माद्रकारो ज्योतिरव्ययः ॥४४॥
कलादशान्वितो वह्निर्दशकोणप्रकारक।

'र'कार अग्नि बीज है। अग्नि ज्योतिः स्वरूप है, अव्यय है। अग्नि का एक विशिष्ट गुण है। वह शीघ्र ही फैल जाता है। छोटी सी चिंगारी देखते-देखते भीषण

दावानल के रूप में दशों-दिशाओं में फैल जाती है। अग्नि की दश-कलायें है। अग्नि का बीज 'र'कार श्री श्रीचक्र में अन्तर्दशार (दस-कोणों) के रूप में अभिव्यक्त है।

विजृम्भते अर्थात् बढता है, प्रसार पाता है। 'मूल श्री-श्रीचक्र' अष्ट-कोणों तक है। अष्ट-कोण सहित नव-योन्यात्मक है। भगवती बाला-त्रिपुरा का पूजन-मण्डल नव योन्यात्मक ही है। नव-योन्यात्मक मूल-चक्र का विस्तार अन्तर्दशार से प्रारम्भ होता है ॥४४-४५॥

ककारान्मदनो देवि शिवश्चाष्टस्वरूपकः ॥४५॥
योनिवश्यं तदा चक्रे वसुयोन्याङ्कितं भवेत्।
अर्धमात्रा गुणान्सूते नादरूपा यतस्ततः ॥४६॥

'क'कार काम-बीज है। काम-स्वरूप है। यह काम मूल त्रिकोण (योनि) में स्थित विश्व-सिसृक्षु 'शिव' का आदि-स्पन्द है जो श्री 'श्रीचक्र' में आठ-योनियों अर्थात् आठ-कोणों के रूप में अभिव्यक्त है ॥४५-४६॥

विमर्श—महा-शक्ति की इच्छा से परा-संवित् से सारे प्रपञ्च का उदय होता है। निष्कल और निष्पन्द परम शिव महा-शक्ति के योग से विश्वातीत स्थिति से निकलकर सकल-रूप को प्राप्त कर उन्मनी स्थिति में विश्व-उत्पादक हो जाते हैं। यही शिव का आदि-स्पन्द है। इसके पश्चात् वे क्रिया वान् होकर विश्वात्मक रूप को प्राप्त कर समनी स्थिति में सम्पूर्ण विश्व को प्रकट कर देते हैं। सम्पूर्ण विश्व परा-संवित् के परिवर्तन से ही (१) चित्, (२) चिति, (३) चित्त, (४) चैतन्य, (५) चेतना, (५) इन्द्रिय-कर्म, (६) देह, और (८) कला युक्त अष्ट-भूमिका से युक्त हो जाता है। (श्री चक्र रहस्य' से)

अर्ध-मात्रा अर्थात् अर्ध-चन्द्र नाद-रूपा है जिसने तीनों गुणों को प्रकट किया ॥४६॥

त्रिकोणरूपा योनिस्तु बिन्दुना बैन्दवं भवेत्।
कामेश्वरस्वरूपं तु विश्वाकारस्वरूपकम् ॥४७॥

योनि त्रिकोणरूपा है, त्रिकोण के आकार की है। बिन्दु त्रिकोण में स्थित वैन्दव चक्र है जो कामेश्वर स्वरूप है, विश्व के आकार और स्वरूप वाला है ॥४७॥

'मेरु'-मन्त्र के वर्णों के साथ श्री 'श्रीचक्र' की साम्यता बताने के बाद 'श्रीचक्र' लेखन की विधि अगले श्लोकों में बताई जा रही है।

श्रीचक्रं तु वरारोहे श्रीविद्यावर्णसंभवम्।
तत्र प्राङ्मुख आसीनश्चक्रराजं समालिखेत् ॥४८॥

हे वरारोहे ! श्री 'श्रीचक्र' 'श्रीविद्या' के वर्णों से उत्पन्न हुआ है। साधक को पूर्वाभिमुख होकर श्री 'श्रीचक्र' लिखना चाहिए ।।४८।।

भूप्रदेशे समे वर्ये सिन्दूररजसाऽथ वा।
कुङ्कुमस्य रजोभिस्तु भूमौ चक्रं समालिखेत् ।।४९।।
ऋजुरेखं नेत्ररम्यं संधिभेदसमं ऋजु।
अथ वा हेमरौप्याभ्यां ताम्रेण बहुधातुभिः ।।५०।।
पट्टं विरच्य श्रीखण्डरक्तचन्दनसम्भवे।
पट्टे संस्थाप्य विलिखेल्लेखन्या हेमया प्रिये ।।५१।।
रोचनाकुङ्कुमाभ्यां तु कस्तूरीचन्दनेन्दुभिः।

हे प्रिये ! उत्तम समतल भूमि पर सिन्दूर के रज अथवा कुंकुम के रज से श्री 'श्रीचक्र' लिखना चाहिए। चक्र की रेखायें सीधी-सरल होनी चाहिए। सन्धि भी सुन्दर एवं सुरम्य होना चाहिए। तात्पर्य यह कि रेखायें और सन्धियाँ मोटी और भदभदी नहीं होनी चाहिए। भूमि पर यन्त्र न बनाना हो तो सोना, चान्दी अथवा ताँबे के पत्र पर अथवा विकल्पतः चन्दन अथवा रक्त-चन्दन के पट्ट पर सोने की लेखनी से गोरोचन, कुंकुम, कस्तूरी, चन्दन और कपूर की स्याही से श्री 'श्रीचक्र' लिखना (बनाना) चाहिए ।।४८-५१।।

ईशानादग्निपर्यन्तमृजुरेखां समालिखेत् ।।५२।।
ईशादग्नेस्तदग्राभ्यां रेखे आकृष्य देशिकः।
एकीकृत्य च वारुण्यां शक्तिरेखा परा प्रिये ।।५३।।
त्रिकोणाकाररूपेयं तस्या उपरि संलिखेत्।
त्रिकोणाकाररूपं तु शक्तिद्वयमुदाहृतम् ।।५४।।
पूर्वशक्त्यग्रभागे तु मानयष्टिवदालिखेत्।
रेखा कृत्वा परमेशानि वायुराक्षसकोणगाम् ।।५५।।
संधिभेदक्रमेणैव तयोः शक्त्योस्ततः परम्।
रेखे आकृष्य कोणाभ्यां तदग्रात्पूर्वगे कुरु ।।५६।।
वह्निमण्डलमेतत्तु पूर्वाग्रं वीरवन्दिते।
चक्रत्रयमभूत्तत्र ततः शृणु वरानने ।।५७।।
पूर्वशक्तीशवह्निभ्यां कोणाभ्यां सुरवन्दिते।
पूर्वरेखां तु विस्तार्य तथा पश्चिमवह्नितः ।।५८।।
वायुराक्षसकोणाभ्यां रेखां पश्चिमगां तथा।
विस्तार्य योजयेद्देवि शक्ति भेदक्रमेण तु ।।५९।।

योन्यग्रगां पूर्वदेशे दक्षिणोत्तरतः क्रमात्।
तदा रेखे योनिसंस्थे पश्चिमस्यां दिशि क्रमात् ॥६०॥
कोणाग्रगां योजयित्वा दशकोणं तदा भवेत्।
तथैव देवदेवेशि द्वितीयं दशकोणकम् ॥६१॥
ईशानवह्नितो रेखे पूर्वयोन्यग्रयोः क्रमात्।
विस्तार्य योजयेत्पश्चात्पश्चिमायां दिशि क्रमात् ॥६२॥
वायुराक्षसकोणाग्रे रेखे विस्तार्य सुन्दरि।
पश्चिमाग्रे तथा देवि योजयेदिन्द्रदिग्गते ॥६३॥
एकाग्र पूर्वकोणाग्रचुम्बिनी तु मनोहराम्।
योजयेद्देवदेवेशि यथा यथाशक्त्युद्भवं भवेत् ॥६४॥
दक्षकोणेषु देवेशि त्यक्त्वा कोणचतुष्टयम्।
दशकोणान्तयोः देवि मध्ये रेखां प्रकाशयेत् ॥६५॥
द्वे दक्षिणे विभागे तु तथा चोत्तरभागके।
षट्कोणस्य ततो देवि संधिभेदक्रमेण तु ॥६६॥
योनिं वह्निं च संयोज्य शक्रारं जायते सदा।
कक्षामध्यगतां रेखां ऋजुरूपास्तु योजयेत् ॥६७॥
ऋज्वाकृतिः यथा देवि जायतेऽतिमनोहरम्।
संमुखं पञ्चशक्त्यग्रं प्रागग्रं चतुरग्निकम् ॥६८॥
बिन्दुत्रिकोण वस्वार चक्रमेतद्वरानने।
चक्रमध्य तु जानीहि दशारयुगलं तथा ॥६९॥
शक्रयोन्यङ्कितं देवि बाह्यमध्यगतं भवेत्।
एतच्चक्रं महेशानि सर्वसौभाग्यवर्धनम् ॥७०॥
सर्वसाम्राज्यदं देवि सर्वोपद्रवनाशनम्।
अनेकरत्नमाणिक्यसुवर्णपरिपूरकम् ॥७१॥
महामोक्षप्रदं देवि वाग्विलासकरं महत्।
एतत् बाह्ये महेशानि वृत्तं पूर्णेन्दुसंनिभम् ॥७२॥
तद्युक्तं कुरु मीनाक्षि वसुपत्रं मनोहरम्।
ततः षोडशपत्रं तु विलिखेत्सुरवन्दिते ॥७३॥
तद्बाह्ये देवदेवेशि त्रिवृत्तं मातृकान्वितम्।
चतुरस्त्रं चतुर्द्वारसहितं परमेश्वरि ॥७४॥
चतुःषष्टियुतः कोट्यो योगिनीनां महौजसाम्।
चक्रेऽस्मिन्संनिविष्टास्ताः साधकं मानयन्ति हि ॥७५॥

श्लोक संख्या ५२ से श्लोक संख्या ७५ तक २४ श्लोकों में श्री 'श्रीचक्र' बनाने की विधि बताई गई है । इन श्लोकों के शाब्दिक अनुवाद से श्री 'श्रीचक्र' लेखन की विधि स्पष्ट नहीं होगी । अत: परिशिष्ट में 'श्रीचक्र' लेखन की चरणबद्ध विधि सचित्र बताई गई है जिससे कोई भी साधक सहज ही श्री 'श्रीचक्र' बना सकता है ।

उपर्युक्त श्लोकों में नौ-चक्र युक्त श्री 'श्रीयन्त्र' के अंकन की विधि बताने के बाद प्रत्येक चक्र का नाम और वर्ण बताया गया है । यथा—

चतुरस्त्रं मातृकार्णैर्मण्डितं सिद्धिहेतवे ।
मुक्तामाणिक्यघटितं समस्थलविराजितम् ॥७६॥
त्रैलोक्यमोहनं नाम कल्पद्रुमफलप्रदम् ।

त्रैलोक्य मोहन चक्र—श्री 'श्रीयन्त्र' के प्रत्येक चक्र का पृथक-पृथक नाम है । चतुरस्त्र-भूपुर का नाम 'त्रैलोक्य मोहन चक्र' है । यह चक्र कल्प वृक्ष के समान फल प्रदान करता है । यदि समतल भूमि पर श्री 'श्रीयन्त्र'अंकित किया जाये तो इस चतुरस्त्र को मोती और मणियों से अलंकृत करना चाहिए ॥७६॥

षोडशारं चन्द्रबिम्बरूपं तु सकलालयम् ॥७७॥
सर्वाशापूरकं भद्रे स्त्रवत्पीयूषवर्षणम् ।

सर्वाशापूरक चक्र—षोडश कलाओं से युक्त अर्थात् पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह वलयाकार षोडश कमल दल युक्त षोडशार का नाम 'सर्वाशा-पूरक-चक्र' है । यह अमृत वर्षी और सभी आशाओं को पूरा करने वाला है ॥७७॥

अष्टपत्रं महेशानि जपाकुसुमसंनिभम् ॥७८॥
सर्वसंक्षोभणं नाम सर्वकामप्रपूरकम् ।
एतत्त्रयं महेशानि सृष्टिचक्रं सुखप्रदम् ॥७९॥
पूर्वाम्नायाधिदेव्या तु मण्डितं सर्वसिद्धिदम् ।

सर्व संक्षोभण चक्र—जपा कुसुम के समान लाल वर्ण वाला अष्ट दल कमल युक्त 'अष्टार' का नाम 'सर्वसंक्षोभण चक्र' है । यह चक्र सभी कामनाओं को पूरा करने वाला है ॥७८॥

त्रैलोक्य मोहन (भूपुर) सर्वाशा-पूरक (षोडशार) और सर्व-संक्षोभण (अष्टार) ये तीनों चक्र 'सृष्टि-चक्र' कहे जाते हैं । इस चक्र में पूर्वाम्नाय की देवियों की पूजा होती है ॥७९॥

चतुर्दशारं देवेशि दाडिमीकुसुमप्रभम् ॥८०॥
अनन्तफलदं भद्रे सर्वसौभाग्यसंप्रदम् ।

सर्वसौभाग्य दायक चक्र—हे देवेशि ! अनार के फूलों के समान अरुणाभ चतुर्दशत्रिकोण युक्त 'चतुर्दशार' सर्वसौभाग्य दायक' चक्र है ॥८०॥

दशारं तप्तहेमाभं सिन्दूरसदृशं प्रिये ॥८१॥
सर्वार्थसाधकं चक्रं मनश्चिन्तितदं सदा ।
द्वितीयमपि पङ्क्तयस्त्रं जपाकुसुमसंनिभम् ॥८२॥
सर्वरक्षाकरं चक्रं महाज्ञानमयं शिवे ।
एतत्त्रयं महेशानि स्थितिचक्रं सुखप्रदम् ॥८३॥
दक्षिणाम्नायपूज्यं तु यथेप्सितफलप्रदम् ।

सर्वार्थ-साधक चक्र—तपाये हुए सोने के समान जाज्वल्यमान सिन्दूर वर्ण वाला प्रथम दशार (दस-कोण) 'सर्वार्थ-साधक चक्र' है जो मनो चिन्तित कामनाओं को पूरा करने वाला है ।

सर्व-रक्षाकर-चक्र—प्रथम दशार के बाद की पंक्ति में स्थित जपा-कुसुम के वर्ण वाला द्वितीय दशार 'सर्व-रक्षाकर-चक्र' है जो महाज्ञानमय है ।

'सर्व-सौभाग्य दायक, सर्वार्थ-साधक और सर्व-रक्षा कर' ये तीनों चक्र **'स्थिति-चक्र'** हैं । दक्षिणाम्नाय में पूजिता देवियाँ इस चक्र में विराजमान् हैं । इस चक्र में उनकी पूजा करने से अभीष्ट फल मिलता है ॥८१-८४॥

अष्टकोणं वरारोहे बालार्ककिरणारुणम् ॥८४॥
पद्मरागसमप्रख्यं सर्वरोगहरं सदा ।
उद्यत्सूर्यसहस्राभं बन्धूककुसुमप्रभम् ॥८५॥
सर्वसिद्धिप्रदं चक्रं सकलालयमीश्वरि ।
त्रिकोणं सर्वसंभूतिकारणं भूतिदं सदा ॥८६॥
बिन्दुचक्रं वरारोहे सर्वानन्दमयं परम् ।
सदाशिवमयं चक्रनायकं परमेश्वरि ॥८७॥
एतच्चक्रं तु संहाररूपं ब्रह्ममयं सदा ।
पश्चिमाम्नायसंसेव्यं त्रयमुत्तरसेवितम् ॥८८॥

सर्व-रोगहर चक्र—बाल-सूर्य की किरणों के समान अरुण एवं पद्मराग मणि (पुखराज) के समान वर्ण वाला अष्टार (आठ-कोण युक्त) 'सर्व-रोगहर चक्र' है जो साधक को सभी रोगों से मुक्त करता है ।

सर्व-सिद्धिप्रद चक्र—हे ईश्वरि ! दुपहरिया के फूल के समान लाल वर्ण का एवं उदित होते हुए हजारों सूर्यो की तरह जाल्वल्यमान त्रिकोण, जो सभी सम्भूतियों का कारण है, 'सर्व-सिद्धिप्रद' चक्र है ।

सर्वानन्दमय चक्र—त्रिकोण के मध्य में स्थित बिन्दु चक्र 'सर्वानन्दमय चक्र' है। हे परमेश्वरि ! इस चक्र में सम्पूर्ण 'श्री चक्र' के नायक सदा शिव का वास है।

ये तीनों चक्र **संहार चक्र** हैं। पश्चिमाम्नाय के देवताओं का पूजन इस संहार-चक्र में होता है। उत्तर-आम्नाय के देवताओं का पूजन तीनों सृष्टि-स्थिति और संहार-इन तीनों चक्रों में होता है ॥८५-८८॥

षडध्व-निरूपणः—इसके बाद श्री 'श्रीचक्र' में क्रम से भुवनाध्वा, पदाध्वा, वर्णाध्वा, तत्वाध्वा, कलाध्वा एवं मन्त्राध्वा की संस्थिति का निरूपण किया गया है।

अस्मिश्चक्रे षडध्वानो वर्तन्ते वीरवन्दिते।
चक्रपत्रेषु देवेशि पदाध्वा तु निगद्यते ॥८९॥
चक्रत्रिसंधिभागेषु भुवनाध्वा व्यवस्थितः।
वर्णाध्वा मातृकारूपी कथयामि तवानघे ॥९०॥

हे वरारोहे ! मन्त्र-विद्या और मन्त्र-दीक्षा के सभी 'षडध्व' इस चक्र में संस्थित हैं। चक्र की तीनों सन्धियों में **'भुवनाध्वा'** और चक्र के पत्रों में **पदाध्वा** स्थिति हैं। हे अनघे ! मातृकारूपी 'वर्णाध्वा' की चक्र में संस्थिति बता रहा हूँ ॥८९-९०॥

विमर्श—९० वें श्लोक में पाठ-भेद हैं। 'चक्र-त्रि-सन्धि' भागेषु 'के स्थान पर' पत्र-सन्धि-विभेदे तु' पाठ है। इस पाठ के अनुसार भुवनाध्वा की संस्थिति पत्रों की सन्धियों में माननी होगी।

वर्गाष्टकं मातृकाया दिक्षु सिद्धं यतः क्रमात्।
पार्थिवं तन्मयं विद्धि षोडशारं कलात्मकम् ॥९१॥

भूपुर के भीतर और षोडशार के बाहर 'वृत्त' की दिशाओं और विदिशाओं में वर्गाष्टक अर्थात् 'अ' दर्ग से 'श' वर्ग आठों वर्गों की मातृकाएं अंकित है। इन्हें पार्थिव समझो ॥९१॥

अष्टपत्रं कादिवर्णैः क्षान्तैर्दिक्षु विदिक्षु च।
कादिढान्ताः शक्रवर्णाः शक्रकोणेषु संस्थिताः ॥९२॥
णकारादिभकारान्ता दशवर्णा दशारके।
मकारादिशकारान्ता द्वितीयेऽपि दशारके ॥९३॥
वर्णाष्टकं चाष्टकोणे त्रिकोणे कथयामि ते।
अकथादित्रिकोणान्तं हक्षयुग्मं तु मध्यम् ॥९४॥

षोडशार-कलात्मक है अर्थात् षोडशार के प्रत्येक दल में कला वर्ण अर्थात् 'अ से अः' तक १६ स्वर स्थित हैं। अष्ट-पत्र अर्थात् अष्टार के प्रत्येक कमल-दल में एक-एक कर 'क' वर्ग 'च' वर्ग आदि अष्ट-वर्ग स्थित हैं। शक्र-कोणों अर्थात् चतुर्दश कोणों में 'क'कार से 'ढ'कार पर्यत १४ वर्ण (यथा—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ') स्थित हैं। प्रथम दशार (दस कोणों) में 'ण'कार से 'भ'कार तक के दस-वर्ण (अर्थात् ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब और भ) तथा द्वितीय दशार में 'म'कार से 'क्ष'कार तक के दस वर्ण (अर्थात् म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह और क्ष) स्थित हैं। दोनों दशारों के बाद वाले 'अष्टार' (अर्थात् सर्वसिद्धिप्रदाचक्र) में अष्ट-वर्ण (अ-क-च-ट-त-प-य और श) और मूल-त्रिकोण के प्रत्येक कोण में क्रमशः 'अ' एवं 'क' एवं 'थ' स्थित हैं। मूल बिन्दु और बैन्दव-चक्र में 'ह' और 'क्ष' इन दो वर्णों की संस्थिति हैं ॥९२-९४॥

विमर्श—उपर्युक्त श्लोकों में पाठान्तर है। यथा ९२ वें श्लोक में 'कादिवर्णैः क्षान्तैः' के स्थान पर 'कादि वर्गैः शान्तम्'। मकारादि-'क्ष'कारान्ता। ९३ वें श्लोक में 'मकारादि शकारान्त' के स्थान में 'मकरादि-'क्ष'कारान्ता'। ये पाठ शुद्ध हैं। अतः इन पाठान्तरों के आधार पर अनुवाद किया गया है।

वर्णाध्वा कथितो देवि मातृकापीठरूपकः।
षट्त्रिंशत्तत्त्वभरितं चक्रं मूलानुसारतः ॥९५॥
तत्त्वाध्वा कथितो देवि तत्त्वरूपो वरानने।

हे देवि ! 'मातृका पीठ-रूपकः' अर्थात् मातृकाओं (अक्षरों) के पीठ 'वर्णाध्वा की श्री 'श्रीचक्र' में संस्थिति का निरूपण किया।

शैवागम के अनुसार 'शिव' से 'पृथ्वी' पर्यन्त कुल ३६ तत्व हैं। ये ३६ तत्व 'मूलानुसारतः अर्थात् मूल-बिन्दु से भूपुर पर्यन्त नौ चक्रों में स्थित हैं। मन्त्र-दीक्षा में ३६ तत्वों से युक्त इस अध्वा को 'तत्त्वाध्वा' कहा जाता है। नौ-चक्रों में इन सभी ३६ तत्वों की संस्थिति से श्री 'श्रीयन्त्र' का **'तत्त्वाध्वामय'** होना सिद्ध है।

विमर्श—अलग-अलग आगमों और दार्शनिक सिद्धान्तों में तत्वों की कुल संख्या अलग-अलग मानी गई है। शैवागम में ३६ तत्त्व माने गये हैं। श्री शारदा तिलक (पटल ५ श्लोक ८३ से ८५) में शैवागामोक्त इन ३६ तत्वों के नाम निम्नानुसार हैं:—

(१) शिव, (२) शक्ति, (३) सदा शिव, (४) ईश्वर और (५) विद्या। ये पाँच 'शुद्ध-तत्व' हैं। सात 'शुद्धाशुद्ध' तत्व हैं—यथा (६) माया, (७) काल, (८) नियति, (९) कला, (१०) विद्या (११) राग और (१२) पुरुष। ये सात तत्त्व कारण-

रूप में शुद्ध हैं और जब वे कार्य-रूप प्राप्त करते हैं, अशुद्ध हो जाते हैं। 'कार्य रूपत्वेन तदुक्तादशुद्धम्'।

(१३) प्रकृति, (१४) बुद्धि, (१५) अहंकार, (१६) मन, (१७) श्रोत, (१८) त्वचा, (१९) चक्षु, (२०) जिह्वा, (२१) नासिका, (२२) वाक्, (२३) पाणि, (२४) पाद, (२५) पायु, (२६) लिङ्ग, (२७) शब्द, (२८) स्पर्श, (२९) रूप, (३०) रस, (३१) गन्ध, (३२) आकाश, (३३) वायु, (३४) अग्नि, (३५) जल और (३६) पृथ्वी। ये अशुद्ध तत्व हैं। इनमें श्रोत आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, शब्द आदि पञ्च तन्मात्रायें और आकाश आदि पञ्च-भूत शामिल हैं।

पञ्चसिंहासनोन्नद्धकलाध्वा चक्रशासनात् ॥९६॥
सबाला भैरवीयुक्ता महात्रिपुरसुन्दरी।
त्रिपुरा त्र्यम्बिकान्साढ्या चक्रं प्राप्य विजृम्भते ॥९७॥
मन्त्राध्वाऽयं समाख्यातो निश्चयेन सदाऽनद्ये।
एवं षडध्वविमलं श्रीचक्रं परिचिन्तयेत् ॥९८॥

श्री 'श्रीचक्र' में पाँच सिंहासन हैं। कलाएं भी पाँच हैं, यथा (१) निवृत्ति, (२) प्रतिष्ठा, (३) विद्या, (४) शान्ति और (५) शान्त्यतीता। ये कलायें श्री चक्र-पर पञ्च सिंहासन के रूप में स्थित हैं। अत: श्री 'श्रीचक्र' कलाध्वामय हैं ॥९७-९८॥

बाला विद्या, भैरवी विद्या और महात्रिपुरसुन्दरी महाविद्या—ये भगवती त्रिपुरा के तीन विद्या रूप हैं। इनके ये तीनों ही रूप-भेद श्री 'श्रीचक्र' में प्रतिष्ठित हैं। इनसे 'श्रीचक्र' विकास प्राप्त करता है। इस तरह यह दिव्य श्री 'श्रीचक्र' 'मन्त्राध्वा-मय' है ॥९६-९८॥

विमर्श—दीक्षा/अभिषेक के समय स्वयं गुरुदेव दीक्षार्थी शिष्य के शरीर में 'निवृत्ति' आदि पाँच-कलाओं का न्यास करते हैं। यथा-निवृत्ति का पैरों में, प्रतिष्ठा का नाभि में, विद्या का हृदय में, शान्ति का मूर्ध्नि में और शान्त्यतीता का सोम-मण्डल में। भगवती त्रिपुरा के महा-सिंहासन के 'ब्रह्मा' आदि प्रेतों के साथ इनका सम्बन्ध है।

'मन्त्राध्वा' अर्थात् मन्त्र-विज्ञान का मार्ग। 'मननात् त्रायते इति मन्त्र:' जो मनन करने से सर्व-विध रक्षा करे, उद्धार करे, वह 'मन्त्र' है। मन्त्र-शास्त्र में कोटि-कोटि मन्त्र बताये गये हैं। 'मन्त्र' 'पदमय' हैं, और 'पद' वर्णमय। ये 'वर्ण' और 'मन्त्र' वाग्भव से उद्भूत हैं। 'वाग्भव' की अधिष्ठात्री भगवती त्रिपुरा का 'महा-विद्या त्रय'रूप श्री 'श्रीयन्त्र' में प्रतिष्ठित हैं। इस तरह सर्व समन्वित 'मन्त्राध्वा' इस महिमा-शाली 'श्री यन्त्र' में स्थित है। श्री 'श्री-यन्त्र' मन्त्राध्वा-मय' है।

दिशाओं का निर्धारण

पूर्व आदि दिशाओं तथा आग्नेय आदि विदिशाओं (कोणों) से सभी परिचित है। सामान्य-पूजा पाठ, एवं सभी कृत्यों में इन नैसर्गिक दिशाओं और विदिशाओं का विशिष्ट महत्व है। सभी कृत्य शुभ दिशाओं की ओर मुख करके किये जाते हैं, परन्तु श्री 'श्रीचक्र' पर भगवती त्रिपुरा की पूजन के समय पूर्व आदि दिशाओं की अलग से परिकल्पना करनी होती है। अगले चार श्लोकों में इस पर प्रकाश डाला गया है।

उत्तराशामुखो देवि यदा चक्रं समुद्धरेत्।
उत्तराशा तदा देवि पूर्वाशैव निगद्यते ॥९९॥
ईशानकोणं देवेशि तदाऽऽग्नेयं न संशयः।

यदि साधक उत्तराभिमुख होकर श्री 'श्री यन्त्र' का अंकन (पूजन) करे तो उक्त नैसर्गिक उत्तर-दिशा को 'पूर्व' दिशा मानना चाहिए। दूसरे शब्दों में उत्तर-दिशा को पूर्व-दिशा परिकल्पित किया जाये। तदनुसार नैसर्गिक-ईशान-कोण को आग्नेय कोण माना जाये ॥९९-१००॥

पश्चिमादिङ्मुखो मन्त्री यदा चक्रं समुद्धरेत् ॥१००॥
पश्चिमाशा तदा ज्ञेया पूर्वाशैव न संशयः।
वायुकोणं तदाग्नेयमैशानं राक्षसं भवेत् ॥१०१॥

यदि साधक पश्चिम-दिशा की ओर मुख करके श्री 'श्रीयन्त्र' का अंकन करता है तो नैसर्गिक-पश्चिम-दिशा को पूर्व दिशा कहा जाये। उस स्थिति में नैसर्गिक वायव्य कोण (North-East) परिकल्पित अग्नि-कोण (South-East) और नैसर्गिक ईशान कोण (North-East) परिकल्पित नैऋत्य कोण (South-West) होगा ॥१०१॥

दक्षिणाभिमुखो मन्त्री यदा चक्रं समुद्धरेत्।
पूर्वाशैव तदा सा दिग्रक्षःकोणं तु वह्निवत् ॥१०२॥

यदि साधक दक्षिण की ओर मुख करके श्री 'श्रीयन्त्र' की रचना करता है तो नैसर्गिक दक्षिण दिशा को 'पूर्व' और नैसर्गिक नैऋत्य कोण को (South-West) (परिकल्पित) अग्नि-कोण (South-East) माना जायेगा ॥१०२॥

विमर्श—श्री 'श्रीयन्त्र' पर भगवती त्रिपुरा के आवरण-अर्चन का क्रम 'त्रैलोक्य-मोहन चक्र' (भूपुर) की प्रथम-वीथी (रेखा) के पश्चिम-द्वार में 'अणिमा-सिद्धि' के पूजन से प्रारम्भ होता है। उपर्युक्त श्लोकों में यह तो स्पष्ट रूप से बताया गया है कि उत्तर, पश्चिम अथवा दक्षिण किसी भी दिशा की ओर मुख करके श्री 'श्री यन्त्र' पर भगवती का अर्चन किया जाये, परन्तु वह दिशा पूर्व-दिशा ही परिकल्पित

की जायेगी। यहाँ पश्चिम-दिशा की परिकल्पना का कोई संकेत नहीं दिया गया है। अत: एतदर्थ अन्य ग्रन्थों से इसे जानना समीचीन होगा।

तन्त्र-ग्रन्थों में यह प्रतिपादित किया गया है कि पूज्य और पूजक अर्थात् साधक और देवता के मध्य में पूर्व दिशा देवता के दाहिनी ओर, दक्षिण तथा उसके बायीं ओर, उत्तर दिशा एवं पृष्ठ-भाग में, पश्चिम होती है। यथा—'यामल' में—

पूज्यपूजकयोर्मध्यं प्राचीति कीर्त्यते बुधैः।
तद् दक्षिणं दक्षिणं स्यादुत्तरं चोत्तरं स्मृतम्॥
पृष्ठन्तु पश्चिमं ज्ञेयं, सर्वत्रैवं प्रयोजयेत्।

सभी देवताओं के आवरण-अर्चन में उपर्युक्त-नियम के अनुसार दिशाओं का निर्धारण किया जाता है, परन्तु ग्रन्थान्तरों में इसे और स्पष्ट किया गया है। यथा— 'शाक्त्यानन्द तरंगिणी में उद्धृत 'नव रत्नेश्वर-तन्त्र' के अनुसार 'यदि साधक पुरन्दर-मुख अर्थात् पूर्वाभिमुख होकर भगवती त्रिपुरा का पूजन करता है तो भगवती के समाने प्रतीची (पश्चिम) और उनके पृष्ठ भाग में प्राची (पूर्व) दिशा होती है—

पुरन्दरमुखो देवि! पूजयेत् त्रिपुरां यदि।
देवीपृष्ठं भवेत् प्राची, प्रतीची त्रिपुरापुरः॥

'विशुद्धेश्वर-तन्त्र' में भी कहा गया है—यदि साधक उत्तराभिमुख होकर चक्र (श्री-श्रीयन्त्र) का पूजन करता है तो (नैसर्गिक) उत्तर दिशा पूर्व दिशा होती है। नैसर्गिक दक्षिण-दिशा तब पश्चिम दिशा बन जाती है। देवी के दाहिने ओर उत्तर और बायीं ओर दक्षिण दिशा होती है। नैसर्गिक ईशान कोण परिकल्पित आग्नेय कोण हो जाता है—

उत्तराभिमुखो मन्त्री यदि चक्रं प्रपूजयेत्।
उत्तराशा तदा देवि! पूर्वाशैव न संशयः॥
दक्षिणं पश्चिमं प्रोक्तं देव्याः दक्षे तथोत्तरम्।
तद् वामं दक्षिणन्तु स्यात्, सर्वत्र नियमः स्मृतः॥
ईशानकोणं देवेशि! तदाग्नेयं न संशयः।

आचार्य प्रवर श्री भास्कर-राय ने 'नित्याषोडशिकार्णव' के प्रथम-विश्राम के 'अणिमा पश्चिम द्वारे, लघिमामपि चोत्तरे' आदि श्लोकों (संख्या १६६-१६८) की व्याख्या (सेतुबन्ध व्याख्या) करते हुए श्री 'ज्ञानार्णव' के उपर्युक्त चार श्लोकों तथा 'कुलार्णवं' के अधोलिखित श्लोक के आधार पर भगवती त्रिपुरा के अर्चन के सन्दर्भ में दिशाओं का स्पष्ट-निर्धारण किया है। 'कुलार्णव' (?) का उक्त श्लोक है—

यदाशाभिमुखो मन्त्री, त्रिपुरां परिपूजयेत्।
देवी पश्चात् तदा प्राची, प्रतीची त्रिपुरा पुरः॥

'कुलार्णव-तन्त्र' का उपर्युक्त श्लोक भगवती त्रिपुरा के अर्चन में दिशा-निर्धारण के सम्बन्ध में उद्धृत सभी श्लोकों का निचोड़ है। तदनुसार साधक के सामने वाली उत्तर आदि कोई भी दिशा परिकल्पित 'पूर्व' दिशा ही होगी। भगवती के सामने परिकल्पित पश्चिम और उनके पृष्ठ भाग में परिकल्पित पूर्व, उनके दाहिने हाथ की ओर उत्तर और बायें हाथ की ओर दक्षिण दिशा होगी। दिशाओं के इस प्रकार परिकल्पित निर्धारण से उपर्युक्त चार श्लोकों में बताया गया विदिशाओं का निर्धारण स्वतः हो जायेगा। यथा—उत्तराभिमुख पूजन में नैसर्गिक ईशान-कोण भगवती के दक्षिण पूर्व में स्थित होने के कारण परिकल्पित 'आग्नेय' कोण बन जायेगा। नैसर्गिक वायव्य कोण परिकल्पित ईशान, नैसर्गिक नैऋत्य कोण परिकल्पित 'वायव्य' एवं नैसर्गिक आग्नेय कोण परिकल्पित 'नैऋत्य' बन जायेगा।

एतच्चक्रं मेरूरूपं श्रीविद्यार्णैः समुद्धृतम्।
सर्वागममयं देवि कथितं वीरवंदिते॥१०३॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे दशमः पटलः॥१०॥

हे वीर वन्दिते! श्री विद्या के मेरु रूप वर्णों से उद्भूत यह श्री श्रीचक्र सर्वागम मय है॥१०३॥

श्री ज्ञानार्णव तन्त्र के दशम पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई॥१०॥

अथैकादशः पटलः

पञ्चदशी उद्धार एवं कादि विद्या निरूपण

ईश्वर उवाच-

एभिर्वर्णैस्तु देवेशि त्रिपुरा कथ्यतेऽधुना।
नवाक्षरो महामेरुरयं ब्रह्माण्डगोलकः ॥१॥

ईश्वर ने कहा—हे देवेशि ! नौ-अक्षरों का जो महामेरु है, वही ब्रह्माण्ड-गोलक है। इसी महामेरु से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है। इन नौ-वर्णो (ल-स-ह-ई-ए-र-क-अर्धचन्द्र और बिन्दु'—देखें दशम पटल का श्लोक ३०-३१) से त्रिपुरा-विद्या का उद्धार-क्रम बता रहा हूँ ॥१॥

चतुरस्त्रं च कोदण्डं त्रिकोणं तत्पुटं मुखम्।
निरालम्बं तवाऽऽख्यातमतेद्ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥२॥

यह हमने पहिले ही बता दिया है कि यह चतुरस्त्र है, कोदण्ड है, त्रिकोण है, षट्कोण रूप है और निरालम्ब है। यही ब्रह्माण्ड मण्डल है ॥२॥

लकारश्चतुरस्त्रं स्यात्पृथ्वीबीजतया प्रिये।
अर्धमात्रा तु कोदण्डं स्त्रवत्पीयूषवर्षिणी ॥३॥

हे प्रिये ! 'ल'कार पृथ्वी-बीज है, पृथ्वी बीज होने के कारण यह चतुरस्त्र है। अर्धमात्रा (चन्द्र-बिन्दु) कोदण्ड है जिससे अमृत की वर्षा होती है ॥३॥

त्रिकोणरूपी वह्निः स्यात्त्रिकोणत्वात्परा शिवा।
एकारश्च रकारश्च ईकारश्च त्रयं भवेत् ॥४॥
मायाविकाररूपेण षट्कोणाश्रयरूपिणी।
हकारो व्योमरूपत्वाद्बिन्दुश्च मुखमण्डले ॥५॥

त्रिकोण ही अग्नि है। इस त्रिकोण में 'ए'कार, 'र'कार, 'ई'कार ये तीन बीज हैं। यह त्रिकोण योनि-स्वरूप होने के कारण 'परा-शिवा' है—जगज्जननी है। माया-विकार के कारण यह 'परा-शिवा' षट्कोण का आश्रय लेती है। 'ह'कार आकाश स्वरूप है तथा बिन्दु मुख मण्डल में स्थित है ॥४-५॥

इच्छारूपेण कामस्तु सर्वत्र परमेश्वरि।
तस्मान्मादनव्याख्यातमेतद्वै मेरुमण्डलम् ॥६॥

हे परमेश्वरि ! इच्छा रूप होने के कारण 'काम' की सर्वत्र व्याप्ति है इसलिये मादन (क) स्वरूप है ।।६।।

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि बीजं कामेश्वरीमतम् ।
सकला भुवनेशानि कामेशीबीजमुत्तमम् ।।७।।

हे देवि ! अब मैं कामेश्वरी-बीज बता रहा हूँ । 'सकला' अर्थात् 'क' 'ल' सहित भुवनेशानी अर्थात् 'ह्रीं' ही कामेशी बीज है । (कल ह्रीं) ।।७।।

अनेन सकला विद्याः कथयामि विशेषतः ।
शक्त्यर्णस्तुर्यवर्णोऽयं कलमध्ये सुलोचने ।।८।।
वाग्भवं पञ्चवर्णं तु कामराजमथोच्यते ।
मादनं शिवचन्द्राद्यं शिवान्तं मीनलोचने ।।९।।
कामराजमिदं भद्रे षड्वर्णं सर्वमोहनम् ।
शक्तिबीजं वरारोहे चन्द्राद्यं सर्वसिद्धिदम् ।।१०।।

हे मीन लोचने ! इसी कामेशी बीज से कूट-त्रय सहित सभी-विद्याओं की उत्पत्ति हुई है । इस बीज से तीनों कूटों की निष्पत्ति इस प्रकार हुई है—

वाग्भव-कूट—कामेशी बीज (कलह्रीं) के प्रथम दो वर्णों ('क' और 'ल') के मध्य में 'शक्त्यर्ण' अर्थात् 'ए' तथा 'तूर्य-वर्ण' अर्थात् 'ई' की योजना करने से 'क ए ई ल ह्रीं'—इस पञ्च अक्षरी वाग्भव-कूट की निष्पत्ति हुई ।

कामराज-कूट—कामेशी कूट के प्रथम-वर्ण 'मादन' अर्थात् 'क' के पूर्व शिव (ह) और चन्द्र (स) तथा 'क' के अन्त में पुनः शिव (ह) की योजना करने से छै अक्षरों वाले कामराज कूट—'हसकहल ह्रीं' की निष्पत्ति हुई ।

शक्ति कूट—कामेशी बीज (कलह्रीं) के पूर्व में चन्द्र (स) की योजना करने से चार अक्षरों वाले तृतीय शक्ति-कूट—'सकल ह्रीं' की निष्पत्ति हुई ।

षडक्षरी काम कूट सर्व-मोहन सबको मोहित कर लेने वाला तथा शक्ति कूट सभी सिद्धियाँ प्रदान करने वाला है ।। ८-१०।।

चतुरक्षररूपं तु त्र्यक्षरी त्रिपुरा परा ।
सर्वतीर्थमयी देवि सर्वदेवस्वरूपिणी ।।११।।
सर्वशास्त्रमयी विद्या सर्वयोगमयी परा ।

सर्वयज्ञमयी संवित्सर्वज्ञानस्वरूपिणी ॥१२॥
सर्वदेवमयी साक्षात्सर्वसौभाग्यसुन्दरी ।
एनामुपास्य देवेशि कामः सर्वाङ्गसुन्दरः ॥१३॥
कामराजो भवेद्देवि नित्येयं ब्रह्मरूपिणी ॥१४॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे एकादशः पटलः ।।११।।

पाँच-छः-और चार अक्षरों वाले त्रिकूट रूपी त्र्यक्षरी त्रिपुरा विद्या सर्वतीर्थ मयी, सर्व देव स्वरूपिणी, सर्व शास्त्रमयी, सर्वयोग मयी, सर्वयज्ञमयी, सर्वदेवमयी सर्वसौभाग्य सुन्दरी परा-विद्या हैं। इनसे श्रेष्ठ और कोई विद्या नहीं है। इस विद्या के ज्ञान-ध्यान और जप से सभी तीर्थों की यात्रा, सभी देवताओं की पूजा, सर्व योग-साधना एवं समस्त यज्ञों के अनुष्ठान का फल समवेत रूप से प्राप्त होता है और साधक के जन्म-जन्मान्तर के सभी दुर्भाग्यों का अन्त होकर सौभाग्य का उदय होता है। हे देवि ! ब्रह्म-रूपिणी इस नित्या की उपासना करके कामदेव सर्वाङ्ग सुन्दर और समस्त 'कामों' के अधीश्वर 'कामराज' बन गये।

श्री ज्ञानार्णव नित्या तन्त्र के पञ्चदशी उद्धार-कादि विद्या निरूपण नामक
एकादश-पटल की 'सुदर्शना'-व्याख्या पूर्ण हुई ॥११॥

❋

अथ द्वादशः पटलः

श्री त्रिपुरेश्वरी द्वादश विद्या-भेद निरूपण

श्रीदेव्युवाच

एतस्या देवदेवेश भेदान्कथय सुन्दर।
केन केनोपासितेयं विशदी कुरु तत्त्वतः ॥१॥

श्री देवी ने कहा—हे देवदेवेश ! इस विद्या के कितने भेद हैं और किस-किस साधक ने इनकी उपासना की, इस इतिवृत्त का तत्त्वत: निरूपण करें ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि लोपामुद्राभिधां वराम्।
कामराजाख्याविद्यायाः शक्तिं तुर्यां च सुन्दरि ॥२॥
हित्वा मुखे शिवेन्द्वाढ्या लोपामुद्रा प्रकाशिता।
अगस्त्योपासिता विद्या त्रैलोक्यक्षोभकारिणी ॥३॥
एषा विद्या कामराजपूजितैव न संशयः।
विद्याद्वयमिदं भद्रे दुर्लभं भुवनत्रये ॥४॥

ईश्वर ने कहा—हे देवि ! अगस्त्य मुनि द्वारा उपासिता लोपामुद्रा (प्रथमा) के नाम से प्रसिद्ध श्री विद्या भेद का निरूपण कर रहा हूँ।

कामराज-विद्या के वाग्भव-कूट (क ए ई ल ह्रीं) के शक्ति (ए) और तूर्य स्वर (ई) को विलोपित करके कूट के प्रारम्भ में शिव (ह) और चन्द्रमा (स) की योजना करें। कामराज विद्या के शेष कूटों के यथावत् रखें। यह विद्या तीनों लोकों को विक्षुब्ध करने वाली है। कामराज-उपासिता और यह प्रथमा लोपामुद्रा—ये दोनों विद्यायें तीनों लोकों में दुर्लभ हैं ॥२-४॥

मन्त्र-स्वरूप—हसकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलहीं

कामराजाख्यविद्याया वाग्भवेन वरानने।
विद्योद्धारं प्रवक्ष्यामि शक्तिमादनमध्यगम् ॥५॥
शिवं कुर्याद्वाग्भवे तु शिवाद्यं कामराजकम्।
चन्द्राद्यं तु तृतीयं स्याद्विद्येयं मनुपूजिता ॥६॥

मनु उपासिता-विद्या—कामराज-विद्या के केवल वाग्भव-कूट से ही मनु-उपासिता विद्या का उद्धार होता है ॥५-६॥ यथा

प्रथम (वाग्भव) कूट—कामराज विद्या के वाग्भव-कूट (कएइलह्रीं) के मादन (क) और शक्ति (ए) अर्थात् 'क' 'ए' के बीच में शिव (ह) स्थापित करने से इस विद्या का वाग्भव- (प्रथम) कूट बनता है—कहएईलह्रीं।

द्वितीय (कामराज)—कामराज-विद्या के उपर्युक्त वाग्भव-कूट के आदि में शिव (ह) की योजना करने से इस विद्या का द्वितीय कूट बनता है—'हकएईलह्रीं'

तृतीय (शक्ति) कूट—कामराज-विद्या कें उपर्युक्त वाग्भव-कूट के आदि में चन्द्रमा (स) की योजना करने से इसका शक्ति-कूट बनता है—सकएईलह्रीं

विद्या (मन्त्र) स्वरूप—'कहएईलह्रीं, हकएईलह्रीं, सकएईलह्रीं'

सहाद्यं वाग्भवं देवि चन्द्राद्यं शिवमध्यगम्।
मादनं कामराजे तु शक्तिबीजं सहाननम्॥७॥
चन्द्राराधितविद्येयं भोगमोक्षफलप्रदा।

चन्द्र-आराधिता विद्या—कामराज विद्या के वाग्भव (प्रथम) कूट (क ए ई ल ह्रीं) के आदि में 'स' और 'ह' की योजना करने से चन्द्र-आराधित विद्या का प्रथम कूट बनता है—स ह क ए ई ल ह्रीं।

कामराज विद्या के द्वितीय—कूट (हसकहल ह्रीं) में शिव (अर्थात् 'ह') और मादन (अर्थात् 'क') के मध्यवर्ती चन्द्र (अर्थात् 'स') को आदि में स्थापित करने से इस विद्या का द्वितीय कूट बनता है—'स ह क ह ल ह्रीं'। इसका प्रथम कूट ही तृतीय शक्ति कूट है॥७-८॥

मन्त्र-स्वरूप—सहकएईलह्रीं सहकहलह्रीं सहकएईलह्रीं

हसाद्यं वाग्भवं विद्धि शिवाद्यं सहमध्यगम्॥८॥
मादनं कामराजे तु तार्तीयं शृणु पार्वति।
हसाद्यं शक्तिबीजं तु कुबेरेण प्रपूजिता॥९॥

कुबेरोपासिता-विद्या—कामराज विद्या के वाग्भव-कूट के प्रारम्भ में 'ह' और 'स' ये दो वर्ण जोड़ने से कुबेरोपासिता-विद्या का वाग्भव-कूट बनता है—ह स क ए ई ल ह्रीं।

शिव (ह) चन्द्र (स) मादन (क) शिव (ह) एकार, फिर 'ई'कार फिर 'ल'कार तत्पश्चात् महामाया (ह्रीं) की योजना करने से इसका द्वितीय (कामराज) कूट बनता है—हसकहएईलह्रीं।

तृतीय-कूट प्रथम कूट वत है॥८-९॥

मन्त्र-स्वरूप—हसकएईलह्रीं हसकहएईलह्रीं हसकएईलह्रीं

कामराजाख्यविद्यायास्तार्तीयं सुरवन्दिते।
शक्तिबीजं सहाद्यं स्याद्विद्याऽगस्त्यप्रपूजिता ॥१०॥
लोपमुद्रा प्रभावेन साक्षाद्ब्रह्मस्वरूपिणी।

अगस्त्योपासिता-विद्या—कामराज-विद्या के प्रथम और द्वितीय कूट यथावत्। तृतीय-कूट के आदि में 'स' और 'ह' इन दो वर्णों की योजना करने से इसका तृतीय (शक्ति) कूट बनता है—'सहसकलह्रीं'

मन्त्र-स्वरूप—कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सहसकलह्रीं

लोपा मुद्रा के प्रभाव से यह विद्या साक्षाद् स्वरूपिणी बन गई है ॥१०-११ $\frac{1}{2}$ ॥

'श्री विद्यार्णव कार के अनुसार'—'लोपामुद्रा प्रभावेन' से यह सूचना मिलती है कि यह विद्या लोपामुद्रा द्वारा भी उपासिता है। इसलिये इस विद्या को 'द्वितीय लोपामुद्रा विद्या' भी कहते हैं।

कामराजाख्यविद्याया वाग्भवे मादनं त्यज ॥११॥
चन्द्रं तत्रैव संयोज्य कामराजे ततः परम्।
हित्वा चन्द्रं मुखे कुर्याद्विद्येयं नन्दिपूजिता ॥१२॥

नन्दि पूजिता-विद्या—कामराज विद्या के वाग्भव-कूट में मादन (अर्थात् 'क') को हटाकर उसके स्थान में चन्द्र (अर्थात् 'स') स्थापित करने के नन्दि-पूजिता विद्या का वाग्भव कूट बनता है—'सएईलह्रीं'

कामराज-विद्या के द्वितीय (काम) कूट (हसकहल ह्रीं) में चन्द्र (अर्थात् 'स') को उसके स्थान से हटाकर शुरू में स्थापित कर देने से इस विद्या का द्वितीय (काम) कूट बनता है—'सहकहलह्रीं'। तृतीय कूट यथावत् रहता है ॥११-१२ $\frac{1}{2}$ ॥

मन्त्र-स्वरूप—सएईलह्रीं सहकहल ह्रीं सकल ह्रीं'

कामराजाख्यविद्याया हित्वा भूमिं तृतीयके।
शक्तिकण्ठे स्थितां देवि चन्द्राधः कुरु तत्र च ॥१३॥
इन्द्राराधितविद्येयं भुक्तिमुक्तिफलप्रदा।

इन्द्राराधिता-विद्या—कामराज विद्या के प्रथम और द्वितीय कूट यथावत्। तृतीय (शक्ति) कूट-अर्थात् 'सकल ह्रीं' में भूमि (अर्थात् 'ल') को उसके स्थान से हटाकर चन्द्र (स) के बाद में स्थापित करने से इन्द्र-आराधिता-विद्या का तृतीय कूट बनता है—यथा—'सलकह्रीं'। यह विद्या भोग और मोक्ष देने वाली है ॥१३॥

नवशक्ति ग्रन्थमाला—१०

ईश्वर प्रोक्तम्

ज्ञानार्णवतन्त्रम्

ज्ञानार्णवकल्लोल संवलितम् सुदर्शना टीका सहितम् च

सम्पादक एवं टीकाकार

मधुसूदन प्रसाद शुक्ल

नवशक्ति प्रकाशन

चौकाघाट, वाराणसी

प्रथम (वाग्भव) कूट—कामराज विद्या के वाग्भव-कूट (कएइलह्रीं) के मादन (क) और शक्ति (ए) अर्थात् 'क' 'ए' के बीच में शिव (ह) स्थापित करने से इस विद्या का वाग्भव- (प्रथम) कूट बनता है—कहएईलह्रीं।

द्वितीय (कामराज)—कामराज-विद्या के उपर्युक्त वाग्भव-कूट के आदि में शिव (ह) की योजना करने से इस विद्या का द्वितीय कूट बनता है—'हकएईलह्रीं'

तृतीय (शक्ति) कूट—कामराज-विद्या कें उपर्युक्त वाग्भव-कूट के आदि में चन्द्रमा (स) की योजना करने से इसका शक्ति-कूट बनता है—सकएईलह्रीं

विद्या (मन्त्र) स्वरूप—'कहएईलह्रीं, हकएईलह्रीं, सकएईलह्रीं'

सहाद्यं वाग्भवं देवि चन्द्राद्यं शिवमध्यगम्।
मादनं कामराजे तु शक्तिबीजं सहाननम्॥७॥
चन्द्राराधितविद्येयं भोगमोक्षफलप्रदा।

चन्द्र-आराधिता विद्या—कामराज विद्या के वाग्भव (प्रथम) कूट (क ए ई ल ह्रीं) के आदि में 'स' और 'ह' की योजना करने से चन्द्र-आराधित विद्या का प्रथम कूट बनता है—स ह क ए ई ल ह्रीं।

कामराज विद्या के द्वितीय—कूट (हसकहल ह्रीं) में शिव (अर्थात् 'ह') और मादन (अर्थात् 'क') के मध्यवर्ती चन्द्र (अर्थात् 'स') को आदि में स्थापित करने से इस विद्या का द्वितीय कूट बनता है—'स ह क ह ल ह्रीं'। इसका प्रथम कूट ही तृतीय शक्ति कूट है॥७-८॥

मन्त्र-स्वरूप—सहकएईलह्रीं सहकहलह्रीं सहकएईलह्रीं

हसाद्यं वाग्भवं विद्धि शिवाद्यं सहमध्यगम्॥८॥
मादनं कामराजे तु तार्तीयं शृणु पार्वति।
हसाद्यं शक्तिबीजं तु कुबेरेण प्रपूजिता॥९॥

कुबेरोपासिता-विद्या—कामराज विद्या के वाग्भव-कूट के प्रारम्भ में 'ह' और 'स' ये दो वर्ण जोड़ने से कुबेरोपासिता-विद्या का वाग्भव-कूट बनता है—ह स क ए ई ल ह्रीं।

शिव (ह) चन्द्र (स) मादन (क) शिव (ह) एकार, फिर 'ई'कार फिर 'ल'कार तत्पश्चात् महामाया (ह्रीं) की योजना करने से इसका द्वितीय (कामराज) कूट बनता है—हसकहएईलह्रीं।

तृतीय-कूट प्रथम कूट वत है॥८-९॥

मन्त्र-स्वरूप—हसकएईलह्रीं हसकहएईलह्रीं हसकएईलह्रीं

कामराजाख्यविद्यायास्तार्तीयं सुरवन्दिते ।
शक्तिबीजं सहाद्यं स्याद्विद्याऽगस्त्यप्रपूजिता ॥१०॥
लोपमुद्रा प्रभावेन साक्षाद्ब्रह्मस्वरूपिणी ।

अगस्त्योपासिता-विद्या—कामराज-विद्या के प्रथम और द्वितीय कूट यथावत्। तृतीय-कूट के आदि में 'स' और 'ह' इन दो वर्णों की योजना करने से इसका तृतीय (शक्ति) कूट बनता है—'सहसकलह्रीं'

मन्त्र-स्वरूप—कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सहसकलह्रीं

लोपा मुद्रा के प्रभाव से यह विद्या साक्षाद् स्वरूपिणी बन गई है ॥१०-११ $\frac{१}{२}$ ॥

'श्री विद्यार्णव कार के अनुसार'—'लोपामुद्रा प्रभावेन' से यह सूचना मिलती है कि यह विद्या लोपामुद्रा द्वारा भी उपासिता है। इसलिये इस विद्या को 'द्वितीय लोपामुद्रा विद्या' भी कहते हैं।

कामराजाख्यविद्याया वाग्भवे मादनं त्यज ॥११॥
चन्द्रं तत्रैव संयोज्य कामराजे ततः परम्।
हित्वा चन्द्रं मुखे कुर्याद्विद्येयं नन्दिपूजिता ॥१२॥

नन्दि पूजिता-विद्या—कामराज विद्या के वाग्भव-कूट में मादन (अर्थात् 'क') को हटाकर उसके स्थान में चन्द्र (अर्थात् 'स') स्थापित करने के नन्दि-पूजिता विद्या का वाग्भव कूट बनता है—'सएईलह्रीं'

कामराज़-विद्या के द्वितीय (काम) कूट (हसकहल ह्रीं) में चन्द्र (अर्थात् 'स') को उसके स्थान से हटाकर शुरू में स्थापित कर देने से इस विद्या का द्वितीय (काम) कूट बनता है—'सहकहलह्रीं'। तृतीय कूट यथावत् रहता है ॥११-१२ $\frac{१}{२}$ ॥

मन्त्र-स्वरूप—सएईलह्रीं सहकहल ह्रीं सकल ह्रीं'

कामराजाख्यविद्याया हित्वा भूमिं तृतीयके ।
शक्तिकण्ठे स्थितां देवि चन्द्राधः कुरु तत्र च ॥१३॥
इन्द्राराधितविद्येयं भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ।

इन्द्राराधिता-विद्या—कामराज विद्या के प्रथम और द्वितीय कूट यथावत्। तृतीय (शक्ति) कूट-अर्थात् 'सकल ह्रीं' में भूमि (अर्थात् 'ल') को उसके स्थान से हटाकर चन्द्र (स) के बाद में स्थापित करने से इन्द्र-आराधिता-विद्या का तृतीय कूट बनता है—यथा—'सलकह्रीं'। यह विद्या भोग और मोक्ष देने वाली है ॥१३॥

मन्त्र-स्वरूप—'कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सलकह्रीं'

लोपामुद्राख्यविद्याया द्वितीयाया: महेश्वरि ॥१४॥
कामराजे भृगुं हित्वा तार्तीये शक्रग: शिव: ।
एषा विद्या वरारोहे त्रिपुरा सूर्यपूजिता ॥१५॥

सूर्याराधिता-विद्या—सूर्य-उपासिता-विद्या की निष्पत्ति द्वितीया लोपामुद्रा उपासिता विद्या से बताई गई है। द्वितीया लोपामुद्रा उपासिता विद्या का स्वरूप १०वें श्लोक में बताया गया है। यह विद्या है—'कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सहसकलह्रीं'

उपर्युक्त लोपामुद्रा विद्या के कामराज (द्वितीय) कूट से भृगु (स) को विलोपित कर दें। तृतीय कूट (सहसकलह्रीं) में द्वितीय 'स'कार के पूर्व 'क'कार की योजना करें। ऐसा करने से मन्त्र का स्वरूप होगा—कएईलह्रीं हकहलह्रीं सहकसकलह्रीं।

टिप्पणी—उपर्युक्त मन्त्र 'श्रीविद्यार्णव' एवं 'वृहत्-तन्त्रसार' प्रभृति अन्य ग्रन्थों में बताये गये मन्त्र इसी मन्त्र से भिन्न है। साथ ही 'श्रीविद्यार्णव' एवं 'तन्त्रसार' में 'ज्ञानार्णव' से उद्धृत श्लोक भी उपर्युक्त श्लोकों से भिन्न हैं।

इन ग्रन्थों में 'ज्ञानार्णव' से उद्धृत श्लोकों का पाठ निम्नानुसार है—

लोपामुद्राख्य विद्याया: द्वितीयाया: महेश्वरि।
कामराजे भृगुं हित्वा, मुखे कुर्यात्तमेव हि॥
शिवं विना चतुर्थतुं तार्तीये शक्रग: शिव:।
एषा विद्या वरारोहे! त्रिपुरा सूर्यपूजिता॥

'वृहत्-तन्त्रसार' में उपर्युक्त श्लोकों की व्याख्या करते हुए कहा गया है—अस्यार्थ—'द्वितीया लोपामुद्राया: कामराज कूटे हकाराध: 'स'कारं त्यक्त्वा तमादौ कृत्वा द्वितीयं हकारं त्यजेत्। तृतीय कूटे अन्त्य 'स'कारोपरि 'क'कारं दद्यात्। विद्येयं सूर्य-पूजिता।

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार उक्त कामराज कूट (हसकहल ह्रीं) में 'स'कार को उसके स्थान से हटाकर कूट के प्रारम्भ में स्थापित करने और द्वितीय 'ह'कार को विलोपित करने से इस विद्या के कामराज (द्वितीय) कूट का स्वरूप होगा—'सहकल ह्रीं'

तृतीय (शक्ति) कूट (सहसकल ह्रीं) में अन्तिम 'स'कार के पूर्व 'क'कार की योजना करने से कूट का स्वरूप होगा—'सहकसकलह्रीं'

मन्त्र-स्वरूप—'कएईलह्रीं सहकलह्रीं सहकसकलह्रीं'

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि चतुष्कूटां च शांकरीम्।
लोपामुद्रां द्वितीयां तु विलिख्य सुरवन्दिते ॥१६॥

पुनर्विलिख्य तामेव चतुर्थे पञ्चमे स्थिताम्।
हित्वा तु भुवनेशानीमेकोच्चारेण प्रपूजिता ॥१७॥
चतुष्कूटा महाविद्या शंकरेण प्रपूजिता।

शङ्करोपासिता चतुष्कूटा—भगवान् शङ्कर के द्वारा उपासिता यह महाविद्या चतुष्कूटा है। द्वितीया लोपामुद्रा विद्या को पूरा लिखकर विद्या का चतुर्थ-कूट बनाने के लिये इसको पुनः एक साथ मिलाकर लिखें मगर इस चतुर्थ-कूट में मध्य में भुवनेश्वरी बीज (ह्रीं) नहीं लिखें ॥१६-१७॥

मन्त्र-स्वरूप—'कएईलह्रीं', हसकहलह्रीं, सहसकलह्रीं कएईलहसकहलसहसकलह्रीं'

लोपामुद्रां पुनर्देवि विलिख्य तदनन्तरम् ॥१८॥
नन्दिकेश्वरविद्यां च षट्कूटा वैष्णवी भवेत्।

विष्णूपासिता षट्कूटा वैष्णवी विद्या—द्वितीया लोपा मुद्रा विद्या के बाद नन्दिकेश्वर-आराधिता विद्या लिखने से षट्कूटा विष्णूपासिता वैष्णवी विद्या का उद्धार होता है।

मन्त्र-स्वरूप—'कएईलह्रीं, हसकहलह्रीं, सहसकलह्रीं, सएईलह्रीं, सहकहलह्रीं, सकलह्रीं,

टिप्पणी—उपर्युक्त श्लोक में 'लोपामुद्रां' के बाद जो 'पुनः' शब्द है, उसका अर्थ 'लोपामुद्रा' विद्या को दो बार लिखना नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्ववर्ती श्लोक संख्या १६ में जिस लोपामुद्रा द्वितीया का उद्धार बताया गया है, उसे फिर से लिखें।

दुर्वाससा पुरा देवी निष्करा (निष्कूटा) पूजिता परा ॥१९॥
कामराजाख्यविद्यायास्त्रिकूटेषु वरानने।
या स्थिता भुवनेशानि द्विधा कुरु महेश्वरी ॥२०॥
बिन्दुहीना नादहीना दुर्वासःपूजिता भवेत्।

दुर्वासा आराधिता विद्या—पुराण-प्रसिद्ध क्रोध-भट्टारक महर्षि दुर्वासा भगवती ललिता महा-त्रिपुर-सुन्दरी के अनन्य आराधक थे। दुर्वासा विरचित 'त्रिपुरा-महिम्न स्तोत्र' का त्रिपुरा-साधकों में वही महत्व है जो शिव-अर्चना में पुष्पदन्त विरचित 'श्री शिव महिम्न-स्तोत्र' का है।

ईश्वर कहते हैं—हे वरानने कामराज-विद्या के तीनों कूटों में भुवनेश्वरी बीज (ह्रीं) को नाद-बिन्दु विहीन करके शेष वर्णो का दो भागों में परिवर्तित कर दें—अर्थात् 'ह्रीं' को 'हरी' बना दें। यह दुर्वासा-आराधिता विद्या है ॥२०-२१॥

मन्त्र स्वरूप—कएईलहरी हसकहलहरी सकलहरी

'दक्षिणामूर्ति-संहिता' में स्पष्ट रूप से कहा गया है—माया स्थाने हरी वर्ण-युगले च क्रमाल्लिखेत्।

एतैर्द्वादशसंख्याकैर्मन्त्रैस्तु सुरवन्दिते ।।२१।।
द्वादशान्ता स्थिता देवि परब्रह्मस्वरूपिणी ।
राज्ञीयं सर्वविद्यानां सर्वाम्नायैस्तु सेविता ।।२२।।

हे सुरवन्दिते ! इन द्वादश-मन्त्रों से द्वादशान्त स्थिता पर ब्रह्म स्वरूपिणी भगवती ललिता महा त्रिपुरसुन्दरी की आराधना की जाती है, जो सभी विद्याओं की साम्राज्ञी है और सभी आम्नायों में पूजिता हैं ।।२१-२२।।

सर्वागममहामन्त्रवन्दिता देववन्दिता ।
सर्वयोगैर्नुता नित्या केवलं ब्रह्मरूपिणी ।।२३।।

टिप्पणी—आगम-ग्रन्थों में भगवती ललिता महात्रिपुर सुन्दरी के पच्चीस (२५) उपासक बताये गये हैं। इनमें से प्रथम १२ उपासकों द्वारा आराधिता विद्याओं का उद्धार इस पटल में बताया गया है। भगवती ललिता के मन्त्रों के तीन क्रम हैं। (१) कादि, (२) हादि और (३) सादि। इस पटल में जो १२ मन्त्र बताये गये हैं, उनमें से लोपामुद्रा और कुबेर आराधिता 'हादि' क्रम और चन्द्र एवं नन्दिकेश्वर-आराधिता सादि क्रम की विद्यायें है। शेष ८ कादि-क्रम की हैं। इनमें से शाङ्करी विद्या (शंकर-उपासिता विद्या) चतुष्कूटा और वैष्णवी (विष्णु-उपासिता) विद्या षट्कूटा है। शेष विद्यायें त्रिकूटा हैं। श्रीविद्या के शेष १३ भेद आगम-ग्रन्थों में इस प्रकार बताये गये हैं। यथा—

(१) उन्मनी श्रीविद्या—कएईलह्रीं हकहलह्रीं हसकलह्रीं
(२) वरुणोपासिता—कएइलह्रीं हकहलह्रीं सहकलह्रीं
(३) धर्मराज-उपासिता विद्या—कएकलह्रीं, हकहलह्रीं, सहकलह्रीं
(४) वह्नि-उपासिता विद्या—कसकलह्रीं, हसलकलहीं, सकलरलह्रीं
(५) नागराज उपासिता विद्या—हसकलह्रीं, हसकहलह्रीं, सकलरलहीं
(६) वायु-उपासिता विद्या—कएरलरह्रीं, हकलरहलह्रीं, सरकलरह्रीं
(७) बुध-उपासिता विद्या—कएईरलह्रीं, हकहरलह्रीं, सहकलरह्रीं
(८) ईशान-उपासिता विद्या—कहलह्रीं, हकलहललरह्रीं, सकलह्रीं
(९) रति उपासिता विद्या—कएईलह्रीं, हसकहलह्रीं, सकलह्रीं,
(१०) नारायण उपासिता विद्या—कएईलह्रीं, हसकहलह्रीं, सकलह्रीं, स्त्रकलह्रीं हसकहलह्रीं, कएईहलह्रीं,
(११) ब्रह्मा उपासिता विद्या—कएईलह्रीं, हकहसरह्रीं, हसकलह्रीं
(१२) जीव-उपासिता विद्या—हसकलह्रीं, हकहसरह्रीं, हसकलह्रीं
(१३) स्कन्द उपासिता विद्या—हसकहलह्रीं, सकहसकलह्रीं, सहकहलह्रीं

एवं त्रिधा महाविद्या विद्या त्रिपुरसुन्दरी।
इयमेव महादेवी त्रिकूटा परमेश्वरी ॥२४॥
वक्तुं न शक्यते सर्वैर्ब्रह्माविष्ण्वादिभिः सदा।
नो वाचा मनसा बुद्ध्या तुर्या वक्तुं न शक्यते ॥२५॥

सभी आगमों, सभी महामन्त्रों, सभी देवताओं, सभी योग-विद्याओं के द्वारा वन्दिता यही एक-मात्र ब्रह्म स्वरूपिणी नित्या हैं। वे विद्या हैं, महा-विद्या हैं, महादेवी हैं, त्रिकूटा हैं, और परमेश्वरी हैं। ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता भी मन, और बुद्धि से, वाणी से यहाँ तक चतुर्थी परा-वाक् से भी इनकी महिमा का पूर्णतया निरूपण नहीं कर सकते। वे भी भगवती के रहस्य और माहात्म्य से पूर्णतया अवगत नहीं है ॥२३-२५॥

साक्षाद्ब्रह्ममयी देवी षोडशार्णस्वरूपिणी।
मनसैव महेशानि स्मृत्वाऽहं तु सदाशिवः ॥२६॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे त्रिपुरसुन्दरी द्वादश विद्या भेद निरूपण नाम द्वादशः पटलः ।।१२।।

षोडशाक्षर स्वरूपिणी भगवती षोडशी साक्षात् परब्रह्ममयी हैं, मैं हृदय से उनका स्मरण करके सदाशिव बन गया हूँ ॥२६॥

श्री ज्ञानार्णव नित्या तन्त्र के श्री त्रिपुरसुन्दरी द्वादश विद्या भेद निरूपण नामक बारहवें पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥१२॥

❋

अथ त्रयोदशः पटलः

श्री षोडशी विद्या-निरूपण

पूर्ववर्ती द्वादश-पटल में भगवती ललिता महा त्रिपुर सुन्दरी के तीन कूट वाले पञ्च-दश अक्षरी मन्त्र का उसके भेदों सहित निरूपण किया गया है। इस पटल में भगवती षोडशी की महिमा एवं मन्त्रों का निरूपण किया जा रहा है।

श्रीदेव्युवाच–

परब्रह्मतया साक्षाच्छ्रीविद्या षोडशाक्षरी।
कथय त्वं महादेव यद्यहं तव वल्लभा ॥१॥

श्री देवी ने कहा—हे महादेव ! षोडशाक्षरी श्री विद्या साक्षात् परब्रह्म स्वरूपा है, स्वयं ही परब्रह्म हैं। हे नाथ ! यदि मैं आपकी वल्लभा हूँ, प्रेयसी हूँ अर्थात् यदि आप सचमुच में मुझे अपनी वल्लभा मानते हैं, तो कृपया षोडशाक्षरी श्रीविद्या का निरूपण कीजिए ॥१॥

त्रिकूटाः कथिताः सर्वाश्चतुष्कूटा च शांकरी।
षट्कूटा वैष्णवी चैव मनवः कथिता विभो ॥२॥

हे विभु ! आपने चार कूटवाली शांकरी, छः कूट वाली वैष्णवी विद्याओं सहित तीन कूट वाली सभी विद्याओं का निरूपण किया ॥२॥

एतास्तु सकला विद्यास्त्रिविधास्तु श्रुता मया।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि श्रीविद्यां षोडशाक्षरीम् ॥३॥

कलाओं सहित इन त्रिविधा-विद्याओं का निरूपण मुझे आपने सुनाया। अब मैं आपसे षोडशाक्षरी श्रीविद्या सुनना चाहती हूँ ॥३॥

ईश्वर उवाच–

शठत्वेन वरारोहे श्रीविद्यामन्त्रविद्बुधः।
योगिनीनां भवेद्भक्ष्यः श्रीगुरोः शासनात्प्रिये ॥४॥
षोडशार्णां महाविद्यां न दद्यात्कस्यचित्प्रिये।
राज्ञे राज्यप्रदायापि पुत्राय प्राणदाय वा ॥५॥
देयं तु सकलं भद्रे साम्राज्यमपि पार्वति।
शिरोऽपि प्राणसहितं न देया षोडशाक्षरी ॥६॥

ईश्वर ने कहा—'हे वरारोहे ! श्रीविद्या को जानने वाला व्यक्ति यदि इस विषय में शठता करता है, अर्थात् अनधिकारी व्यक्ति को इस विद्या का उपदेश करता है तो गुरुदेव का अनुशासन-भङ्ग करने के कारण, गुरु-आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण योगिनियाँ उसका भक्षण कर लेती है। राज्य प्रदान करने वाले राजा को यहाँ तक कि प्राण देने वाले पुत्र को भी, यदि वे इसके अधिकारी नहीं है, यह विद्या प्रदान नहीं करनी चाहिए। हे भद्रे ! हे पार्वति ! साम्राज्य दिया जा सकता है, प्राणों सहित शरीर दिया जा सकता है, परन्तु लोभ, मोह, भय आदि किसी भी जागतिक प्रयोजन के लिये यह षोडशाक्षरी विद्या कथमपि नहीं दी जा सकती ॥४-६॥

उच्चार्यमाणा ये मन्त्रास्ते सर्वे वाचिकाः प्रिये।
उच्चाररहितं वस्तु श्रीविद्या षोडशाक्षरी ॥७॥

हे प्रिये ! जो मन्त्र उच्चार्यमाण हैं, जिनका उच्चारण किया जा सकता है, वे सभी मन्त्र वाचिक है, परन्तु षोडशाक्षरी श्रीविद्या उच्चारण से रहित है। इसका उच्चारण नहीं किया जा सकता है ॥७॥

इसके उच्चारण रहित होने के कारण का निरूपण अगले दो श्लोकों में किया गया है।

सवर्णाऽपि वरारोहे वस्तु साक्षान्निरक्षरम्।
भृङ्गोपभुक्तपुष्पं तु शिवे योग्यं यथा भवेत् ॥८॥
तथा निरक्षरं वस्तु ह्यक्षरैरपि संयुतम्।
उदके लिखितं यद्वन्मन्त्रोच्चारस्तथा भवेत् ॥९॥

प्रयोग की गई, उपभोग की कोई भी वस्तु देवता को समर्पित नहीं की जाती परन्तु भ्रमर द्वारा उपभुक्त-रस-चूसा हुआ पुष्प देवता को चढ़ाया जाता है, चढाया जा सकता है, क्योंकि रस-ग्रहण रूप उपभोग के बावजूद वह अप्रयुक्त और अनुपभुक्त माना जाता है, होता है। उसी तरह षोडशक्षरी श्रीविद्या अक्षरमयी-अक्षर (वर्ण) युक्ता होने पर भी वस्तुत निरक्षर अर्थात् अक्षर-रहिता है। जिस तरह पानी में खींची गई लकीर खींची जाने के बावजूद अनभिव्यक्त है, उसी तरह यह षोडशाक्षरी श्री विद्या वर्णमयी-अक्षरमयी होने के बावजूद अक्षर रहिता है। वर्णातीता है—अतः यह अनुच्चार्य है। उच्चार्यमाण मन्त्रों की तरह वर्ण-उच्चारण पूर्वक इसका 'जप' नहीं किया जा सकता। तद्गत और तल्लीन होकर इसके दिव्य-पारमार्थिक तत्त्व-रूप के मनन-चिन्तन और निदिध्यासन से यह षोडशाक्षरी श्री विद्या फलवती होती है ॥८-९॥

भोगमोक्षप्रदा विद्या श्रीविद्या षोडशाक्षरी।
विना गुरुपदेशेन शापो भवति निश्चयात् ॥१०॥

उपर्युक्त-विधि से सतत रूप से मनन-चिन्तन और निदिध्यासन करने पर यह वरदात्री होकर भोग और मोक्ष-दोनों ही प्रदान करती है, परन्तु शर्त यह है कि इस-विद्या की साधना गुरुदेव से दीक्षा लेने के बाद ही की जाये। शिव-स्वरूप गुरुदेव ही इस विद्या के तत्त्व-रूप और पारमार्थिक रहस्य से अवगत कराकर साधना की समुचित विधि, साधना विधान के रहस्य सम्पादन पूर्वक शिष्य रूप साधक से यह साधना करा सकते हैं। गुरुदेव से दीक्षा लिये बिना कहीं से पढ़कर या किसी से सुनकर मनमाने ढंग से साधना करने पर व्यक्ति शाप का भागी होता है ॥१०॥

अगले श्लोकों में षोडशाक्षरी विद्या का उद्धार बताया गया है।

चन्द्रान्तं वारुणान्तं च शक्रादिसहितं पृथक्।
वामाक्षि बिन्दुनादाढ्यं विश्वमातृकलात्मकम् ॥११॥
चतुर्विधप्रकारेण शृणु देवि प्रकथ्यते।
त्वं मनोहारिणी यस्मात्कथ्यते भुवि दुर्लभम् ॥१२॥

चन्द्र अर्थात् 'स'—इसके बाद का वर्ण 'ह'। वरुण अर्थात् 'व'-इसके बाद का वर्ण—'श'। शक्र (इन्द्र) अर्थात् 'ल'—इसके पूर्व (आदि) का वर्ण 'र'। वामाक्षि अर्थात् 'ई'—बिन्दु नाद-अनुस्वार। 'ह'कार और 'श'कार इन दोनों वर्णों के साथ पृथक-पृथक रूप से 'र'कार एवं 'ई'कार तथा नाद-बिन्दु की योजना करने से क्रमश: 'ह्रीं' और 'श्री' ये दो 'बीज' सिद्ध होते हैं। ये दोनों बीज 'चतुर्विध' हैं अर्थात् इनके साथ योजना करने से पूर्वोक्त (द्वादश पटल में निरूपित) विद्यायें चार-चार स्वरूप वाली हो जाती हैं। हे मनोहारिणि! अब मैं इनका निरूपण कर रहा हूँ ॥११-१२॥

विद्यादौ योजयेद्देवि साक्षाज्जाग्रत्स्वरूपिणी।
उत्पत्तिर्जागरो बोधो व्यावृत्तिर्मनसः सदा ॥१३॥
कलाचतुष्टयं जाग्रदवस्थायां व्यवस्थितम्।
जाग्रत्सत्त्वगुणा प्रोक्ता केवलं शक्तिरूपिणी ॥१४॥

हे देवि! पूर्वोक्त विद्याओं के आदि में उपर्युक्त 'बीजों' को लगाने से वे साक्षाद् जाग्रत् स्वरूपिणी हो जाती हैं। जाग्रत्-अवस्था 'सत्त्वगुणा' है अर्थात् इसमें सतो गुण की प्रधानता है। यह शक्ति-स्वरूपिणी है।

(१) उत्पत्ति, (२) जागरण, (३) बोध, और (४) मन की व्यावृत्ति (विकास) इसकी चार कलाएं हैं ॥१३-१४॥

विमर्श—इसकी व्याख्या करते हुए 'स्वच्छन्द-संग्रह' से प्रमाण उद्धृत करके 'श्रीविद्यार्णव' (सप्तम-श्वास) में कहा गया है—

माया बीज अर्थात् 'ह्रीं' की आदि में योजना करने से पूर्वोक्त विद्याएं 'उत्पत्ति-रूपा' हो जाती हैं। कूटों के आदि में 'ह्रीं' लगाने से 'जागरण-रूपा' बनती हैं। कूटों के आदि में 'श्री' लगाने से 'मनो व्यावृत्तिरूपा' एवं विद्याओं के आदि में 'श्रीं' (रमा-बीज) लगाने से 'बोध-रूपा' हो जाती हैं। ये भेद जाग्रत्-स्वरूपा हैं।

लज्जाबीजादिका विद्याः प्रोक्ता उत्पत्तिरूपकाः।
लज्जा बीजादि कूटैस्तु प्रोक्ता जाग्रत् रूपकाः॥
एवं श्रीबीजयोगेन, बोध व्यावृत्ति रूपकाः।
जाग्रत् स्वरूपा श्री विद्या चतुर्द्धा सा प्रकीर्तिता॥

लज्जा बीज अर्थात् 'ह्रीं'। इसे माया-बीज, भुवनेश्वरी बीज, भुवना, देवी प्रणव आदि भी कहा जाता है।

त्रिकूटा सकला भेदाः पञ्चकूटा भवन्ति हि।
वैष्णवी वसुकूटा स्यात्षट्कूटा शांकरी भवेत्॥१५॥

पूर्व पटल में बताई गई द्वादश-विघ विद्याओं में से दस-विद्यायें 'त्रिकूटा' अर्थात् तीन कूट वाली हैं। वैष्णवी विद्या (श्लोक १८-१९) षट्-कूटा और शंकरोपासिता शांकरी विद्या (श्लोक १६ एवं १७) चतुष्कूटा हैं। 'ह्रीं' और 'श्री' ये बीजाक्षर भी दो कूट हैं। अतएव इन दो बीजों को आदि (प्रारम्भ) में लगाने से सभी त्रिकूटा विद्यायें पञ्च कूटा हो जाती हैं। षट्-कूटा वैष्णवी विद्या इन बीजाक्षरों के योग से अष्टकूटा और चतुष्कूटा शांकरी विद्या षट्कूटा हो जाती हैं॥१५॥

द्वितीयोऽयं प्रकारः स्याद्दुर्लभो भुवनत्रये।
एषैव शिवरूपा तु व्यापकत्वात्सुरेश्वरि॥१६॥
सर्वभूतेषु सदाशिवमयी परा।
सुषुप्तिरूपिणी साक्षाद्ब्रह्मरूपा यतः प्रिये॥१७॥
मरणं विस्मृतिर्मूर्छा निद्रा च तमसावृता।
सुषुप्तिस्तु कला ज्ञेया सुषुप्तिः शिवरूपिणी॥१८॥

इन श्लोकों में द्वितीय सुषुप्ति रूप का निरूपण किया गया है। निष्कल ब्रह्म निश्चल है, निस्पन्द है, स्थाणु है और सुषुप्त है। महादेवी त्रिपुरा सभी भूतों में—सभी जीवों में, आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त समस्त सृष्टि में 'निश्चल' रूप से विद्यमान है। इस 'निश्चलता' के कारण वे सुषुप्ति-स्वरूपिणी है। सुषुप्ति रूपा होने के कारण साक्षाद् ब्रह्म रूपिणी हैं। चूँकि वे सर्वत्र व्याप्त हैं, अतः अपनी व्यापकता के कारण शिव-

रूपा हैं। यह तमोगुण प्रधाना है। (१) मरण, (२) विस्मृति, (३) मूर्छा और (४) निद्रा-सुषुप्ति की चार कलायें हैं ॥१६-१७॥

इसकी व्याख्या करते हुए 'स्वच्छन्द-संग्रह' में कहा गया है—

वेदादि बीज युगल योगात् सर्वाः समीरिताः।
सुषुप्ति रूपा जायन्ते, सुषुप्तिः शिवरूपिणी॥
मारणं विस्मृतिर्मूर्छा निद्रा च तमसावृत्ता
सुषुप्तेस्तु कला ज्ञेयाश्चतस्त्रः परमेश्वरि!
तारमायादिकाश्चैव, माया तारादिकास्तथा

अर्थात् कूटों के आदि में क्रमशः (१) ॐ ह्रीं श्रीं, (२) ह्रीं ॐ श्रीं, (३) ॐ श्रीं ह्रीं और (४) श्रीं ॐ ह्रीं की योजना करने से सुषुप्ति की चतुष्कला रूपा विद्या होती है।

केवलत्वेन जाग्रत्स्यात्पञ्चकूटा च शांभवी।

'श्रीं' से युक्त पञ्च कूटा शाम्भवी विद्या 'केवलत्वेन' अर्थात् अकेले रहने पर जाग्रत् स्वरूपा होती है और जब कूट-आदि में उपर्युक्त बीजाक्षरों का योग होता है तब वह सुषुप्ति-कला रूपिणी हो जाती है ॥१८-१/२॥

सुषुप्त्यन्ते जागरादौ स्वप्नावस्था रजोमयी ॥१९॥
अभिलाषो भ्रमश्चिन्ता विषयेषु पुनः स्मृतिः।
कलाचतुष्टयं स्वप्नावस्थायां तु विधीयते ॥२०॥

सुषुप्ति के अन्त और जागरण के पूर्व अर्थात् इन दोनों के मध्य में रजोगुण प्रधाना स्वप्न-अवस्था होती है। (१) अभिलाषा (२) भ्रम (३) चिन्ता, और (४) विषयों का बार-बार स्मरण—ये चार स्वप्नावस्था की कलायें है ॥१९-२०॥

विमर्श—'ह्रीं' और 'श्रीं' इन दोनों बीजों की आदि में योजना करने से महाविद्यायें स्वप्न-रूपा हो जाती हैं—'स्वप्न रूपा महाविद्याः प्रोक्ताः बीजद्वयादिकाः'। ग्रन्थान्तर में भी कहा गया है—माया श्रीबीजपूर्वातु स्वप्नावस्था—स्वरूपिणी। 'स्वच्छन्द-संग्रह' में आगे कहा गया है—

माया लक्ष्म्यादिकाश्चैता अभिलाषा स्वरूपकाः॥
बीजद्वयादिककूटाश्चेद्, भ्रम रूपा प्रकीर्तिताः।
रमा-मायादिकाश्चिन्तारूपिण्यः कूटयोजिता॥
स्मृतिरूपाश्च कथितास्ता भेदाः महेश्वरि।

इस प्रकार 'स्वच्छन्द-संग्रह' में विद्या और कूटों के साथ उक्त बीजों की योजना बताई गई है।

शिवरूपा शक्तिरूपा महात्रिपुरदेवता।
वेदादिमण्डिता देवि शिवशक्तिमयी यदा ॥२१॥
तस्याः भेदास्तु सकलाः षट्कूटाः परमेश्वरि।
वैष्णवी नवकूटा स्यात्सप्तकूटा च शांकरी ॥२२॥
अस्याः स्मरणमात्रेण गजदानं शतं भवेत्।

श्री महात्रिपुर सुन्दरी देवता शिव-रूपा हैं और शक्तिरूपा भी। हे देवि! जब शिव-शक्ति मयी अर्थात् 'ह्रीं-श्रीं समन्विता' पूर्वोक्त विद्याओं के आदि में 'वेदादि' अर्थात् 'ॐ' कार युक्त हो जाता है तो 'त्रिकूटा' विद्यायें 'षट्कूटा' हो जाती हैं। षट्कूटा वैष्णवी विद्या 'नव-कूटा' और चतुष्कूटा शांकरी विद्या सप्त-कूटा हो जाती हैं। इनका स्मरण करने से एक सौ हाथियों का दान करने का फल मिलता है ॥२१-२३॥

भेदत्रयं तु कथितं तूर्यां विद्यां शृणु प्रिये ॥२३॥
यस्या विज्ञानमात्रेण ब्रह्म साक्षान्न संशयः।
सुषुप्त्यादौ जागरान्ते स्फुरत्तामात्रलक्षणा ॥२४॥

हे प्रिये! मैंने इस महाविद्या के जाग्रत-सुषुप्ति और स्वप्न रूप तीन भेदों का निरूपण किया। अब इनका चतुर्थ-भेद-'तूर्या विद्या' सुनिये, जिसका ज्ञान हो जाने परं निःसन्देह ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। जागरण के अन्त और सुषुप्ति के आदि में तूर्या-अवस्था होती है। केवल स्फुरित होते रहना इसका लक्षण है ॥२४॥

अवस्थाशेषतां प्राप्ता तुर्या तु परमा कला।
भावाभावविनिर्मुक्ता गुणातीता निगद्यते[१] ॥२५॥

टिप्पणी—'ज्ञानार्णव' की मुद्रित प्रति में उपर्युक्त २१वें श्लोक के अन्त में 'सदा' और २२ वें श्लोक के प्रारम्भ में 'सप्त-भेदाः' पाठ है। इन दोनों श्लोकों में यथा मुद्रित 'सदा' और 'सप्त-भेदाः' पाठ स्वीकार करने पर न तो इन श्लोकों का कोई अन्तर्सम्बन्ध बनता और न ही कोई अर्थ स्पष्ट होता है। 'वृहत् तन्त्रसार' में 'ज्ञानार्णव' से उद्धृत इन श्लोकों में 'सदा' के स्थान पर 'यदा' और 'सप्त-भेदाः' के स्थान पर 'तस्याः भेदाः' पाठ हैं। इस पाठ से दोनों श्लोकों में सम्बन्ध भी बन गया और अर्थ भी स्पष्ट हो गया। अतः यहाँ यही पाठ दिया गया है।

इसी तरह २३वें श्लोक के 'गजदानं-शतं भवेत्' के स्थान पर 'जगदानन्दितं-भवेत्' पाठ भी मिलता है। तदनुसार इस श्लोक का अर्थ होगा इसका स्मरण करने से सम्पूर्ण जगत् आनन्दित होता है।

पाठ-भेद। २५ वें श्लोक में तुर्यां तु परमा-कला-तूर्या तु परमेश्वरि!

२६वें श्लोक में ॥ शमादि विमलं मनः—समाधिर्विमलं मनः।

वैराग्यं च मुमुक्षत्वं शमादि विमलं मनः।
सदसद्वस्तुनिर्धारस्तुर्यायास्तु कला इमाः[२] ॥२६॥

यह अवस्था-विशेष में प्राप्त होती है। यह भाव और अभाव दोनों से परे है। यह गुणातीत है। सतोगुण-रजोगुण और तमोगुण से ऊपर है। (१) वैराग्य, (२) मुमुक्षत्व, (३) शम आदि से मन की विमलता और (४) सद् और असद् के निर्धारण का सामर्थ्य रूप विवेक इसकी चार कलायें है।

विमर्श—'तूर्या' अथवा 'तुरीया' विद्या का निरूपण करते हुए तन्त्रान्तर में कहा गया है—

श्रीमहाषोडशार्णा तु तुरीया सम्प्रकीर्तिता ॥
वैराग्यं च मुमुक्षत्वं समाधिर्विमलं मनः।
सदसद्वस्तुनिर्धारः तुरीयायाः इमाः कलाः ॥
वैराग्य रूपा तारादिः षोडशी परिकीर्तिता।
मायादि षोडशार्णा तु मुमुक्षत्व स्वरूपिणी ॥
कामादिः षोडशार्णा स्यात् सा समाधि स्वरूपिणी।
रमादिः षोडशी चित्त वैमल्लस्य स्वरूपिणी ॥
सदसद्वस्तु निर्धारस्वरूपा वाग्भवादिका।
पञ्चधा षोडशार्णा तु दुर्लभा भुवन-त्रये ॥
परादिः षोडशी विद्या तुर्यातीता प्रकीर्तिता।
भेदाः पूर्वोक्त रीत्या च ज्ञातव्यास्तन्त्रकोविदैः ॥

तार (ॐ) माया (ह्रीं) रमा (श्रीं) काम (क्लीं) वाग्भव (ऐं) परा (पराप्रसाद मन्त्र, इन्हें आदि में जोड़ने से तूर्या की विविध कला रूपा उपर्युक्त विद्याओं की निष्पत्ति होती है।

द्वादश-विधा विद्याओं के चतुर्विध स्वरूप बताने के बाद दो श्लोकों में षोडशाक्षरी विद्या' का उद्धार बताया गया है—

आद्यबीजद्वयं भद्रे विपरीतक्रमेण हि।
विलिख्य परमेशानि ततोऽन्यानि समुद्धरेत् ॥२७॥
अन्तर्मुखा वरारोहे कुमारी त्रिपुरेश्वरी।
एभिस्तु पञ्चसंख्याकैर्बीजैः संपुटिता यजेत् ॥२८॥
षट्कूटा परमेशानि विद्येयं षोडशाक्षरी।

आदि दो बीज—'ह्रीं श्रीं'—इन्हें विपरीत भाव से लिखें—यथा—श्रीं ह्रीं। कुमारी (बाला) विद्या—'ऐं क्लीं सौः' के मध्य बीज 'क्लीं' को इसके आदि में करें।

यथा—क्लीं ऐं सौः । विपरीत-भाव से लिखे गये आदि दो बीजों के साथ 'क्लीं ऐं सौः' को जोड़ दें । रूप बना-श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं सौः । इन पाँच बीजों के बाद वेदादि मण्डिता षट्कूट षोडशाक्षरी विद्या—ॐ ह्रीं श्रीं कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं लिखें । प्रारम्भ के पाँच बीजों को विपरीत क्रम (सौः ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं) से लिखें । यह महा षोडशाक्षरी विद्या है ॥ २७-२८॥ इसका स्वरूप हैं—

श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं सौः ॐ ह्रीं श्रीं कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं सौः ऐं क्ली ह्रीं श्रीं ॥

अक्षर या कूट गणना—प्रारम्भ के पाँच वर्ण (श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं सौः) ये पाँच कूट हुए । (६) ॐ, (७) ह्रीं, (८) श्रीं, (९) कएइलह्रीं, (१०) हसकहलह्रीं, (११) सकलह्रीं, (१२) सौः, (१३) ऐं, (१४) क्लीं, (१५) ह्रीं, और (१६) श्रीं ।

विमर्श—अन्य तन्त्र ग्रन्थों में इस षोडशाक्षरी विद्या का उद्धार इस तरह बताया गया है । यथा—'यामल' में—

श्रीर्माया मदनो वाणी परा तारं शिवप्रिया ।
हरिप्रिया त्रिकूटा सा परा वाणी मनोभवः ।
माया-लक्ष्मीर्महाविद्या श्रीविद्या षोडशाक्षरी ॥

श्री बीज (श्रीं) माया बीज (ह्रीं) कामबीज (क्लीं) वाग्भव बीज (ऐं) शक्ति-बीज (सौः) प्रणव (ॐ) माया-बीज (ह्रीं) श्री बीज (श्रीं) कामराज-विद्या (कएईल ह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं) विपरीत क्रम से बाला के कूट-त्रय, (सौः ऐं क्लीं) माया (ह्रीं) और लक्ष्मी बीज (श्रीं)

योगिनी-तन्त्र में

श्रीबीजमायास्मरयोनिशक्तिस्तारं च माया कमलाथ विद्या ।
शक्त्यादिबीजैश्च विलोमतः सा श्रीषोडशीयं च शिव प्रदिष्टा ॥

श्री बीज (श्रीं) माया (ह्रीं) स्मर (क्लीं) योनि (ऐं) शक्ति (सौः) तार (ॐ) माया (ह्रीं) कमला (श्रीं) विद्या अर्थात् कामराज आदि विद्या । इसके बाद शक्ति आदि बीजों को विलोमतः (सौः ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं) लिखें । यह शिव प्रदिष्टा श्री षोडशी विद्या है ।

त्रिकूटा सकला भद्रे षोडशार्णा भवन्ति हि ॥२९॥
वैष्णव्येकोनविंशर्णा शैवी सप्तदशाक्षरी ।

त्रिकूटा-सकला अर्थात् तीन कूट वाली सभी विद्यायें उनके आदि में 'श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं सौः ॐ ह्रीं श्रीं' इन आठ-कूटों की और विद्या के बाद 'सौः ऐं क्लीं श्रीं ह्रीं' इन पाँच कूटों की योजना करने से षोडशाक्षरी अर्थात् १६ कूटों वाली हो जाती है ।

आदि और अन्त में, क्रमशः उपर्युक्त ८ एवं ५ कूटों की योजना करने से षट्कूटा वैष्णवी विद्या १९ (उन्नीस) और चतुष्कूटा शाम्भवी-विद्या १७ (सतरह) अक्षरों (कूटों) वाली हो जाती हैं ।।३०।।

विमर्श—त्रिकूटा-विद्याओं में से एक-कामराज-विद्या के आदि अन्त में क्रमशः ८ और ५ कूटों की योजना करके षोडशाक्षरी का उद्धार पूर्ववर्ती श्लोक की व्याख्या में बताया गया है । १९ अक्षरों (कूटों) वाली वैष्णवी-विद्या तथा १७ अक्षरों वाली शाम्भवी विद्या के स्वरूप इस प्रकार हैं—

एकोनविंशति कूटा-वैष्णवी—श्रीं, ह्रीं, क्लीं, ऐं, सौः, ॐ, ह्रीं, श्रीं, कएईलह्रीं, हसकहलह्रीं, सहसकलह्रीं, सएईलह्रीं, सहकहलह्रीं, सकलह्रीं, सौः, ऐं, क्लीं, श्रीं ह्रीं ।

सप्तदशाक्षरा शाम्भवी—श्रीं, ह्रीं, क्लीं, ऐं, सौः, ॐ, ह्रीं, श्रीं, कएईलह्रीं, हसकहलह्रीं, सहसकलह्रीं, कएईलहसकहलसहसकलह्रीं, सौः, ऐं, क्लीं, ह्रीं, श्रीं ।।

पिछले पटल में उल्लिखित (१) कामराज विद्या, (२) अगत्स्य पूजिता लोपमुद्रा, (३) मनु, (४) चन्द्र, (५) कुबेर-पूजिता, (६) द्वितीय लोपामुद्रा, (७) नन्दि, (८) इन्द्र, (९) सूर्य, (१०) शङ्कर, (११) विष्णु और (१२) दुर्वासा पूजिता—इन बारह विद्याओं के आदि में 'ह्रीं श्रीं' या ॐ ह्रीं श्रीं लगाने से जो षोडशी-विद्यायें बनते हैं वे 'पारिभाषिकी-षोडशी' विद्यायें हैं ।

अन्य तन्त्र ग्रन्थों में षोडशी-विद्या (मन्त्र) के और भी स्वरूप बताये गये हैं । सुधी और जिज्ञासु पाठकों के लिये इनमें से कुछ प्रमुख षोडश-विद्याओं का स्वरूप लिखा जा रहा है ।

भुवन-सुन्दरी महाषोडशी—'ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं सौः ॐ ह्रीं श्रीं कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं सौः ऐं क्लीं श्रीं ह्रीं' (कुब्जिका तन्त्र)

इस मन्त्र के आदि में 'श्रीं' लगाने से कमलसुन्दरी, 'क्लीं' लगाने से काम-सुन्दरी, 'ऐं' लगाने से वाक्-सुन्दरी, 'सौः' लगाने से 'शक्ति-सुन्दरी', और 'ॐ' लगाने से तार-सुन्दरी' नामक महा-षोडशी मन्त्र बनते हैं ।

बीजावली-षोडशी—'रुद्र-यामल', 'ब्रह्म यामल' एवं 'तन्त्र-दीपनी' में श्री ह्रीं ऐं क्लीं सौः श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं ह्रीं श्रीं सौः क्लीं ऐं ह्रीं श्रीं'

गुह्य षोडशी—'सिद्ध-यामल' से 'तन्त्रसार' में उद्धृत-ॐ ह्रीं ॐ श्रीं ह्रीं सौः क्लीं ऐं हसकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं ॐ ह्रीं ॐ श्रीं ह्रीं'

तन्त्र ग्रन्थों में इनके अतिरिक्त और भी कई षोडशाक्षरी, सप्तदशाक्षरी, अष्टदशाक्षरी, विंशति-अक्षरी षोडशी मन्त्र बताये गये है ।

'षोडश-महाविद्या' का निरूपण करने के बाद अगले श्लोकों में इसकी महिमा बताई गई है ।

वक्त्रकोटिसहस्रैस्तु जिह्वाकोटिशतैरपि ॥३०॥
वर्णितुं नैव शक्येयं श्रीविद्या षोडशाक्षरी ।
वैष्णवी पञ्चमी चैव कः शक्तो गुणवर्णने ॥३१॥
(वैखरी वाच्यभावत्वादशक्ता गुणवर्णने)

सहस्र-कोटि मुखों और शतकोटि जिह्वाओं द्वारा भी षोडशाक्षरी श्रीविद्या का माहात्म्य कहा नहीं जा सकता । पञ्चमी वैष्णवी के गुणों का वर्णन करने में कौन समर्थ है ?* अर्थात् पञ्चमी-वैष्णवी विद्या के गुणों का यथा तथ्य वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है ॥३१॥

यतो निरक्षरं वस्तु परा तत्र तु कारणम् ।
मूकीभूता हि पश्यन्ति मध्यमा मध्यमा भवेत् ॥३२॥

वाणी की वैखरी-शक्ति कण्ठ में रहती है और पश्यन्ती और मध्यमा से पदों के रूप में प्राप्त मनोभावों और विचारों को मुखरित और अभिव्यक्त करती है । दूसरे शब्दों में वैखरी की क्षमता इन्द्रिय ग्राह्य विषयों और वस्तुओं तक सीमित है । अतएव वह महामहिमा शालिनी षोडशी-महाविद्या का वर्णन करने में अशक्त है, अक्षभ हैं । षोडशी विद्या इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है । उसका प्रतिपाद्य विषय तो निरक्षर-वस्तु है । अत: परा-शक्ति ही इसके गुणों का निरूपण कर सकती है । पश्यन्ती शक्ति इसके गुणों का वर्णन करने में मूक रह जाती है । मध्यमा शक्ति इसके गुण-वर्णन में प्रवृत्त तो होती है, परन्तु इस कार्य में असमर्थ एवं अक्षम होकर मौन हो जाती है, उदासीन हो जाती है ।३२॥

ब्रह्मविद्यास्वरूपेण भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ।
एकोच्चारेण देवेशि वाजपेयस्य कोटयः ॥३३॥

टिप्पणी—उपर्युक्त ३१वें श्लोक की दूसरी पंक्ति 'वैष्णवी.....गुण वर्णने' महिमा-निरूपण परक होने के बावजूद आगमी-श्लोकों की अर्थ दृष्टि से पूर्णत: संगत प्रतीत नहीं होती। 'श्रीविद्यार्णव' (सप्तम-श्वास) और 'वृहत् तन्त्रसार' में 'ज्ञानार्णव' से उद्धृत इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति है—'वैखरी वाच्य......गुणवर्णने' जिसे ऊपर कोष्ठक में लिखा गया है। अगले श्लोक की दृष्टि से यह पंक्ति सर्वथा संगत एवं सटीक है। इसे शुद्ध मानकर पाठ करने से अगले ३२वें श्लोक के साथ इसका अर्थ होगा।

अश्वमेधसहस्राणि प्रादक्षिण्यं भुवस्तथा।
काश्यादितीर्थयात्राश्च सार्धकोटित्रयान्विताः ॥३४॥
तुलां नार्हन्ति देवेशि नात्रकार्या विचारणा।
एकोच्चारेण गिरिजे किं पुनर्ब्रह्म केवलम् ॥३५॥

यह विद्या तो साक्षात् ब्रह्म विद्या स्वरूपिणी है जो मोक्ष और भोग प्रदान करने वाली है। इससे मनुष्य को सांसारिक और पारमार्थिक सुख मिलते हैं। शास्त्रों और पुराणों में वाजपेय एवं अश्वमेध आदि यज्ञों, काशी आदि तीर्थों की यात्रा का अनन्य पुण्य फल बताया गया है। इस षोडशाक्षरी विद्या का एक बार उच्चारण करने से जो फल मिलता है, उसकी समानता हजारों वाजपेय एवं अश्वमेध यज्ञों के अनुष्ठान, समस्त पृथ्वी की प्रदक्षिणा, काशी आदि साढ़े तीन करोड़ तीर्थों की यात्रा से प्राप्त फल नहीं कर सकता ॥३३-३५॥

षोडशार्णा महाविद्या न प्रकाश्या कदाचन।
गोपितव्या त्वया भद्रे स्वयोनिरिव पार्वति ॥३६॥
शिवशक्तिसमायोगाद्यद्यत्कर्म प्रजायते।
वेद्यं तत्र भवेत्तद्वच्छ्रीविद्यां षोडशाक्षरीम् ॥३७॥

हे भद्रे ! यह षोडशाक्षरी विद्या किसी को नहीं बतानी चाहिए। हे पार्वति ! इसे अपनी योनि के समान गुप्त और अप्रकटित रखनी चाहिए। शिव और शक्ति के समायोग से जो जो कर्म होते हैं, उन्हें कोई नहीं जान सकता। उसी तरह यह षोडशाक्षरी महाविद्या है ॥३६-३७॥

शिव-शक्ति समायोगात्—शिव और शक्ति वस्तुतः एक होते भी दो हैं—और दो होते हुए भी वस्तुतः एक है। द्वैतावस्था में उनके समायोग से कितने कर्म-कितनी क्रियायें सम्पन्न होती हैं, कोई नहीं जानता। शास्त्रों में सृष्टि-स्थिति-संहार-अनुग्रह और तिरोधान-उनके ये पाँच कर्म बताये गये हैं, इनमें से प्रत्येक में कितनी क्रियायें होती हैं, कोई नहीं जानता। इनके 'समायोग' से सृष्टि-(ब्रह्माण्ड की रचना) की क्रिया प्रारम्भ होती है। बिन्दु रूप में ब्रह्माण्ड का आविर्भाव होता है। बिन्दु से प्रारम्भ करके उसके अनन्त विस्तार की प्रक्रिया के अन्तर्गत लाखों वर्षों में रचना और विकास परक कितनी क्रियायें होती हैं, कितने कर्म सम्पादित होते हैं इनकी संख्या और क्रम का ज्ञान शिव-दम्पत्ति के अतिरिक्त किसी और को नहीं है। इसी तरह स्थिति-संहार-तिरोधान और अनुग्रह वर्ग में कितनी क्रियायें, होती हैं, इसका क्षुद्र मानवीय-बुद्धि से अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। मनुष्य तो क्षुद्र है 'अप्रमेय-

तत्व' शिव और शिवा की महत्ता और महिमा को पूर्णत: जानने का दावा तो ब्रह्मा और विष्णु भी नहीं कर सकते। वे भी इतना कह कर चुप हो जाते है—

अप्रमेयस्य तत्त्वस्य यथा विद्मः स्व-शक्तितः ।
कीर्तिंत तव माहात्म्यमपारं परमात्मनः ।। (वायु-पुराण)

अर्थात् हमने अपनी शक्ति भर अप्रमेय-तत्व परमात्मा (शिव) को जितना जाना है, समझा है उतना ही आपके माहात्म्य का गान किया है। भगवती महा त्रिपुर सुन्दरी 'शिव-शक्ति मयी' हैं।

विना गुरुपदेशेन श्रीविद्या षोडशाक्षरी।
दृष्ट्वा प्रजपते यस्तु स भक्ष्यो योगिनीगणैः ।।३८।।
श्रीगुरोः कृपया लब्ध्वा सर्वसाम्राज्यदायिनी।
भुवनत्रयसौभाग्यं ददाति विपुलां श्रियम् ।।३९।।

श्री गुरुदेव से षोडशी-महाविद्या की विधिवत् दीक्षा या उपदेश लिये बिना जो व्यक्ति पुस्तक आदि में पढ़कर षोडशी-विद्या का जप करता है, उसकी अनधिकार चेष्टा से क्रुद्ध होकर योगिनियाँ उसका भक्षण कर लेती हैं। श्री 'गुरुदेव' की कृपा से षोडशी-विद्या की दीक्षा प्राप्त करके साधना करने पर वे साम्राज्य और सौभाग्य तथा विपुल-लक्ष्मी प्रदान करती हैं ।।३८-३९।।

विमर्श—'गुरु' कौन है ? परम-सत्य यह है कि मनुष्य गुरु हो ही नहीं सकता। 'सुन्दरी तापनीय' में स्पष्ट कहा गया है—'जिस प्रकार घट, कुम्भ और कलश एकार्थ-वाचक हैं, उसी तरह मन्त्र, देवता और गुरु एकार्थ वाचक हैं। इसीलिये 'गुरु-गीता' में कहा गया है—नमोऽस्तु गुरवे तस्मै साक्षात् इष्ट-स्वरूपिणे।' इष्ट-देवता ही गुरु है। दूसरे शब्दों में स्वयं इष्ट-देवता ही गुरु-रूप में साधक को दीक्षा देकर अपने मन्त्र की साधना करने का अधिकार प्रदान करता है। 'श्री ललिता सहस्त्र-नाम' में भगवती को 'गुरु-मूर्ति' (नाम संख्या ६०३) कहा गया। इस तरह वे 'गुरु-मूर्ति' भगवती त्रिपुरसुन्दरी साधक को पञ्चदशाक्षरी अथवा षोडशी विद्या की दीक्षा देकर साधक को साधना का अधिकार प्रदान करती हैं। अधिकार प्राप्त साधक को यथाविध साधना करने पर वे भोग एवं मोक्ष रूप फल-प्रदान करती है, जैसा कि इन श्लोकों में बताया गया है।

साक्षान्मदनसौभाग्यं त्रैलोक्यमाकर्षणक्षमम्।
सुधातरङ्गिणीवेयं शब्दचातुर्यदायिनी ।।४०।।
सौभाग्यभाग्यसंपन्न कलापटलदायिनी।

तीनों लोकों को आकर्षित करने का सौभाग्य मदन अर्थात् कामदेव को प्राप्त है। कामदेव को यह सौभाग्य-पूर्ण सामर्थ्य भगवती महा-त्रिपुरा-सुन्दरी की कृपा से यह प्राप्त हुआ है। (दृष्टव्य-एकादशपटल श्लोक संख्या १२-१३)। यह सौभाग्य केवल कामदेव को ही नहीं मिला, एतत् अभिलाषी साधक भगवती महा-त्रिपुर-सुन्दरी की कृपा से त्रैलोक्य-आकर्षण रूप मदन-सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। आकर्षण के लिये आवाज का जादू, वाणी की मधुरता भी चाहिए। इनकी कृपा से अमृत की लहरों के समान शब्द-चातुर्य युक्त वक्तृत्व-क्षमता भी प्राप्त होती है। कलायें चौंसठ (६४) हैं। लौकिक सुख-सौभाग्य एवं यश प्राप्त करने में ये कलायें सहायक होती हैं। भगवती महा-त्रिपुर-सुन्दरी अपने तदभिलाषी भक्तों को इन कलाओं में प्रवीणता प्रदान करती हैं ॥४०॥

सन्दर्भ—'श्री सुन्दरी सेवन तत्पराणां भोगश्च मोहश्च करस्थैव' श्री महा-त्रिपुर-सुन्दरी की साधना से सम्पत्ति, यश, सम्मान और सन्तान-सुख रूप लौकिक सुख ही नहीं, इसके साथ मोक्ष भी प्राप्त होता है। इसका प्रतिपादन अगले श्लोकों में किया गया है ॥४०-४१॥

परब्रह्माणि लीनत्वं ददाति यश उत्तमम् ॥४१॥
प्रपञ्चसागरे लीनानुद्धरेद्वेदमातृका।
यस्याः सामर्थ्यतो देवि भुवनानि चतुर्दश ॥४२॥
अभूवन्परमेशानि तेषां कारणरूपिणी।
चतुःसागरसामर्थ्यं कृपालोकनतो भवेत् ॥४३॥
ब्रह्माण्डकोटिजननी महामोक्षप्रदायिनी।

हे परमेशानि ! ब्रह्माण्ड में सत्य-लोक आदि चतुर्दश (१४) भुवन हैं। ये समस्त भुवन भगवती त्रिपुरा के इच्छा-मात्र से प्रकट हुए हैं। वे ऐसे ऐसे करोड़ों ब्रह्माण्डों की जननी है, माता हैं। यह संसार-गतिशील है। प्रति-क्षण क्रिया मय है। इसी क्रिया-व्यापार से संसार का अस्तित्व है। वे संसार के सभी विगत-वर्तमान् और भावी कार्यों की कारण-भूता हैं। कारण के विना कार्य नहीं होता। अत: कारण-भूता भगवती के बिना संसार का समस्त कार्य व्यापार बन्द हो जायेगा।

आकाश, अन्तरिक्ष (मध्य-आकाश), पृथ्वी और समुद्र ब्रह्मा के चार चरण हैं। इन्हीं चरणों पर ब्रह्माण्ड टिका हुआ है। स्थापित है। यही भव-सागर है, प्रपञ्च है। भव-सागर में अपने अज्ञान-जन्य कर्मों के फलस्वरूप जीवात्मा डूबता-उतराता रहता है। वह भव-सागर से उबर नहीं पाता। जिसे तैरना नहीं आता, वह लाख हाथ-पाँव मारे, उद्योग करे वह पार नहीं लग सकता। जब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तब तक मुक्ति असम्भव है।

हे देवि ! श्री महा-त्रिपुरा-सुन्दरी वेद-मातृका है। वेदों की माता हैं और चारों वेद अक्षय-ज्ञान के भण्डार हैं। भगवती त्रिपुरा की अनुकम्पा से यथार्थ-ब्रह्म-ज्ञान मिलता हैं। यह परम ब्रह्म-ज्ञान प्रदान करके वेद-मातृका भगवती प्रपञ्च-सागर में लीन आत्मा का उद्धार कर उसे पर-ब्रह्म में विलीन कर देती हैं। मोक्ष या मुक्ति के अनेक स्वरूप हैं, भेद हैं। आत्मा का परमात्मा में विलीन हो जाना परम-मोक्ष है। यह परम-मोक्ष प्रदान करने के कारण वे महा-मोक्ष-दायिनी हैं ॥४२-४४॥

निःसरन्ति महामन्त्रा विस्फुलिङ्गा यथा प्रिये ॥४४॥
वह्नेः सकाशाद्बहवो विद्यास्तु बहवस्तथा।
वाग्भवात्तु समुत्पन्नास्तस्माद्वाग्भवमुच्यते ॥४५॥
मातृकार्णास्तथा भद्रे वाग्भवान्निसृताः क्रमात्।
अत एव महेशानि शब्दब्रह्ममयी प्रिये ॥४६॥

पूर्ववर्ती ४२वें श्लोक में कहा गया है कि ये 'वेद-मातृका' हैं। वेदों की माँ हैं। श्री 'ललिता सहस्त्र-नाम' में भी 'वेद-जननी' (नाम संख्या ३३८) कहकर इनका नमन किया गया है। वे 'वेद-माता' एवं 'वेद-जननी' हैं, क्योंकि तीनों वेदों की उत्पत्ति उनके वाग्भव बीज—'ऐं' से हुई है।

सन्धि-शास्त्र के नियमों के अनुसार 'ऐं' की उत्पत्ति—'अ'कार, ईकार और पुनः 'अकार' से होती है। 'अ' और 'इ' से 'ए' बनता है। जब यही 'ए' 'अ'कार से पुनः सन्धि करता है, तब 'ऐ' की निष्पत्ति होती है।

'अ'कार से ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है—अग्निमीळे पुरोहितम्'। 'इ'कार से यजुर्वेद का प्रथम-मन्त्र—'इजेत्वोर्जेत्वा.' और पुनः 'अ'कार से साम-वेद का प्रथम मन्त्र है—'अग्न आयाहि वीतये'। (अ + इ = ए। ए + अ = ऐ)

'वेद-जननी' श्री महात्रिपुर सुन्दरी की साधना का 'महामोक्ष' रूपी परम-फल' बताने के बाद इन श्लोकों में बताया गया है कि केवल वेद ही नहीं अपितु मातृकाओं सहित सभी मन्त्रों और विद्याओं की उत्पत्ति भी इसी 'वाग्भव' बीज से हुई है। जिस तरह आग से हजारों-लाखों चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी तरह उनके 'वाग्भव' बीज से सभी मन्त्रों, विद्याओं और मातृकार्णों (अक्षरों, वर्णों) की उत्पत्ति हुई है। ये सभी उनके 'वाग्भव-बीज' से निकले हैं, अतः इन्हें भी वाक् से उत्पन्न कहा जाता है। इस तरह भगवती षोडशी 'शब्द ब्रह्म मयी' है ॥४४-४६॥

पुराण में कहा गया है—

'यतः श्रृङ्गारककार-कुण्डलिन्याः समुद्‌गताः
स्वराश्च व्यञ्जनानीनि वेद माता ततः स्मृताः ।।

इस तरह वह परा-वाक् शक्ति जो कुण्डलिनी रूपा है, वेद-माता है। वह प्राणियों के शरीर में कुण्डलिनी के रूप में समाविष्ट होकर वर्णों के रूप में अभिव्यक्ति होती है।

पालयन्ती जगत्सर्वं तथा त्रैलोक्यमोहिनी।
मोहयन्ती कामकला पुत्रपौत्रप्रवर्धिनी ॥४७॥
स्त्रीपुंभावेन सकलं ग्रथितं कामसूत्रके।
तदा सौभाग्यसम्पन्ना ब्रह्मस्थाननिवासिनी ॥४८॥

ये सारे जगत् का पालन करती हैं, पुत्र-पौत्र प्रवर्धिनी (बढाने वाली) हैं, काम-कला स्वरूपा है, त्रैलोक्य-मोहिनी हैं। तीनों लोकों को इन्होंने मोहित कर रखा है। इनके ही मोहन प्रभाव से समस्त प्राणि-जगत स्त्री-पुरुष भाव से काम-सूत्र में गुंथा हुआ है। ये सभी सौभाग्य से सम्पन्न हैं और ब्रह्म स्थान में निवास करती हैं ॥४७-४८॥

सौभाग्यगर्वगहना विश्वयोनिरितीरिता।
चतुर्वाङ्मयनिष्ठेयं त्रैलोक्यवशकारिणी ॥४९॥
साक्षात्संविन्मयी ज्ञानरूपिणी भोगदायिनी।
महासंपत्प्रदा नित्या साक्षादक्षररूपिणी ॥५०॥

पति और पति की अनुकूलता नारी का परम सौभाग्य है, जिससे उसका मातृत्व चरितार्थ और फलीभूत होता है। भगवती त्रिपुरा तो 'शिव-कामेश्वराङ्कस्था-शिवा-स्वाधीन वल्लभा' हैं। वे कामेश्वर-शिव के अंक (गोद) में आसीना हैं और उनके शिव (पति) कामेश्वर-शिव उनके अनुकूल ही नहीं, सर्वथा उनके अधीन हैं, वश में हैं। वे विश्व-प्रसविनी हैं—सारे संसार को उन्होंने जन्म दिया है। अत: अपने सौभाग्य पर उन्हें गर्व है।

वाक् अर्थात् वाणी के चार भेद अथवा चार अवस्थायें है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। वे इन चारों वाक्-भेदों में परिनिष्ठित रूप से विराजमान हैं। तीनों लोक उनके वश में है। अत: वे सर्वोच्च हैं ॥४९॥

वे साक्षात् सम्बिद स्वरूपा, ज्ञान रूपिणी, भोगदायिनी, महासम्पत् प्रदा, नित्या और अक्षर-स्वरूपिणी हैं ॥५०॥

षोडशार्णा मया भद्रे श्रीविद्या कथिता परा।
निधानमिव चोरेभ्यो रक्षणीया तथा प्रिये ॥५१॥
न देया यस्य कस्यापि देया प्राणप्रदायिने।
निर्मलाय स्वभक्ताय प्राणेभ्योऽप्यधिकाय च ॥५२॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे षोडशीविद्याविवरणं
नाम त्रयोदशः पटलः ।।१३।।

हे भद्रे ! षोडशाक्षरी परा श्रीविद्या का मैंने निरूपण किया है। हे प्रिये ! जिस तरह चोरों से खजाने की रक्षा की जाती है, उसी तरह सजग होकर इसकी रक्षा करनी चाहिए कि कहीं अनधिकारी व्यक्ति उसे प्राप्त न कर लें। जो निर्मल स्वभाव का निष्कपट चित्त हो, अपने लिये प्राण समर्पण करने के लिये तत्पर हो, प्राणों से भी अधिक प्रिय हो, ऐसे व्यक्ति को ही यह विद्या प्रदान करनी चाहिए। किसी ऐसे गैरे को इसकी भनक तक नहीं लगने देना चाहिए ॥५१-५२॥

श्री ज्ञानार्णव नित्या तन्त्र के 'षोडशाक्षरी-विद्या-निरूपण नामक
तेरहवें पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥१३॥

अथ चतुर्दशः पटलः

श्री विद्या न्यास विधानम्

श्रीदेव्युवाच

चक्रमण्डलमाख्यातं न पूजा तत्र मण्डले।
कथिता परमेशान श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥१॥

श्री देवी ने कहा—हे परमेशान ! आपने चक्र-मण्डल का तो निरूपण किया परन्तु उस मण्डल पर पूजन की विधि नहीं बताई है। मैं चक्र-पूजन का विधान तत्त्वतः सुनना चाहती हूँ ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि पूजाविधिमनुत्तमम्।
तदङ्गकलशादीनां स्थापनं प्रथमं भवेत् ॥२॥
तद्विधानं शृणु प्राज्ञे यथाविधि समासतः।

ईश्वर ने कहा—हे देवि ! मैं उत्तमोत्तम पूजा की विधि बता रहा हूँ। पूजन के अङ्ग-भूत कलश आदि की स्थापना सर्व-प्रथम कार्य है। अतएव कलश आदि की स्थापना की विधि संक्षेप में यथा-विधि बता रहा हूँ ॥२-३॥

मण्डलं वामतः कृत्वा जलेन चतुरस्त्रकम् ॥३॥
बृहत्कराभ्यां देवेशि तत्राऽऽधारं मनोहरम्।
सौवर्णरौप्यताम्रादिरचितं पूजयेत्प्रिये ॥४॥

कलश-स्थापना—हे देवि ! कलश स्थापित करने के लिये सर्व-प्रथम अपने बायीं ओर भूमि पर एक बड़ा सा चौकोर मण्डल जल से बनाये। उस मण्डल की पूजा करके उस पर स्वर्ण, रजत या ताम्र आदि का 'आधार' (तिपाई आदि) स्थापित करें ॥३-४॥

विमर्श—पद्धति-ग्रन्थों के अनुसार एतदर्थ त्रिकोण-वृत्त-चतुरस्त्र युक्त 'मण्डल' बनाया जाता है। मण्डल का आकार उस पर स्थापित किये जाने वाले कलश से बड़ा रखा जाता है। मण्डल पर आधार-शक्ति आदि पीठ-देवताओं का अर्चन करके उस पर ताम्र आदि का आधार रखा जाता है। यह आधार यथा-इच्छा तिकोना या गोल होता है।

वह्निमण्डलरूपं तु कलादशकमर्चयेत्।
धूम्रा च नीलवर्णा च कपिला विस्फुलिङ्गिनी ॥५॥
ज्वाला हैमवती कव्यवाहिनी हव्यवाहिनी।
रौद्री संकर्षिणी चैव वैश्वानरकला दश ॥६॥
आभि कलाभिः सहितं वह्निं तत्र प्रपूजयेत्।

यह आधार वह्नि मण्डल रूप है। इस पर दश-कलाओं के सहित अग्नि का पूजन करें। अग्नि की कलायें हैं—(१) धूम्रा, (२) नीलवर्णा, (३) कपिला, (४) विस्फुल्लिङ्गिनी, (५) ज्वाला, (६) हैमवती, (७) कव्य वाहिनी, (८) हव्यवाहिनी, (९) रौद्री और (१०) संकर्षिणी ॥५-७॥

कलशं हेमजं वाऽन्यं स्थापयेत्तत्र सुन्दरि ॥७॥
पूजयेत्सूर्यरूपं तु कलाभिः परमेश्वरि।
तपिनी तापिनी चैव विबुधा बोधिनी तथा ॥८॥
कलिनी शोषणी चैव वारुण्याकर्षिणी तथा।
माया विश्वावती हेमा प्रभा सौरकला इमाः ॥९॥

इस आधार पर स्वर्ण आदि उत्तम धातु का बना हुआ सुन्दर कलश स्थापित कर उस पर अपनी द्वादश-कलाओं के साथ 'सूर्य-मण्डल' का अर्चन करें। सूर्य की द्वादश कलायें हैं (१) तपिनी, (२) तापिनी, (३) विबुधा, (४) बोधिनी, (५) कलिनी, (६) शोषणी, (७) वारुणी, (८) आकर्षिणी, (९) माया, (१०) विश्वावती, (११) हेमा, और (१२) प्रभा ॥८-९॥

कलशं तु समापूर्य जलेन कमलेक्षणे।
तत्रस्थममृतं साक्षाच्चन्द्ररूपं विचिन्तयेत् ॥१०॥

हे कमलेक्षणे ! उस कलश को शुद्ध-शीतल जल से पूर्ण करे। इस जल को अमृत रूप समझकर उसमें 'चन्द्र-मण्डल' की भावना करे ॥१०॥

चन्द्रमण्डलमभ्यर्च्य कलाभिः सुरवन्दिते।
अमृता मानसी तुष्टिः पुष्टिः प्रीती रतिस्तथा ॥११॥
श्रीश्च ह्रीश्च स्वधा रात्रिर्ज्योत्स्ना हैमवती तथा।
छाया च पूर्णिमा नित्या अमावास्या च षोडशी ॥१२॥

हे सुरवन्दिते ! कलशस्थ जल में अपनी षोडश-कलाओं के साथ चन्द्र-मण्डल का पूजन करे। चन्द्रमा की १६ कलायें हैं—(१) अमृता, (२) मानसी, (३) तुष्टि, (४) पुष्टि, (५) प्रीति, (६) रति, (७) श्री, (८) ह्री, (९) स्वधा, (१०) रात्रि, (११)

ज्योत्स्ना, (१२) हैमवती, (१३) छाया, (१४) नित्या, (१५) पूर्णिमा और (१६) अमावस्या ॥११-१२॥

एभिः समभ्यर्च्य मन्त्रैर्यजेदानन्दभैरवम् ।
शिवचन्द्रौ मातृकान्तं कालशक्राम्बुवह्नयः ॥१३॥
वायुश्च वामकर्णेन योजितो बिन्दुलाञ्छितः ।
बीजमेतत्समुच्चार्य तथा चाऽऽनन्दभैरवम् ॥१४॥
ङेन्तं शिखामन्त्रयुक्तं पुनर्बीजं तु संलिखेत् ।
चन्द्रं हित्वाऽऽदिमं कुर्यात्कर्णे वामाक्षि योजयेत् ॥१५॥
सुरादेव्यै ततो वौषडियमानन्दभैरवी ।
अनेन चन्द्रं संपूज्य पूजार्हः कलशो भवेत् ॥१६॥

आनन्द-भैरव का अर्चन—'चन्द्र-मण्डल' का पूजन करने के बाद कलशस्थ द्रव्य में आनन्द भैरव और आनन्द-भैरवी का पूजन उनके मन्त्रों से करना चाहिए। उनके मन्त्र हैं—

शिव (ह) चन्द्र (स) मातृकान्त (क्ष) काल (म) शक्र (ल) अम्बु (व), वह्नि (र) तथा वायु (य) जो बिन्दु लाञ्छित वाम-कर्ण से शोभित है, अर्थात् जिस पर बिन्दु सहित 'उ'कार की मात्रा लगी है। यह आनन्द भैरव का बीज है। इसके बाद आनन्द भैरव का 'चतुर्थ्यन्त' रूप, फिर शिखा-अर्थात् 'वषट्'। यह आनन्द भैरव का मन्त्र है।

मन्त्र-स्वरूप—हसक्षमलवरयूं आनन्द भैरवाय वषट्

आनन्द-भैरवी—आनन्द-भैरव के उपर्युक्त 'मन्त्र' को 'चन्द्राद्य' करें अर्थात् 'स'कार को शुरू में लगा दें। फिर मन्त्र—बीज के अन्त में जो वाम-कर्ण ('उ'स्वर की मात्रा) है, उसके स्थान पर 'वामाक्षि (ई) की योजना करें। मन्त्र के अन्त में 'वषट्' के स्थान पर 'वौषट्' स्थापित करें। इस तरह 'आनन्द-भैरवी' विद्या का उद्धार होता है।

मन्त्र-स्वरूप—सहक्षमलवरयीं आनन्द भैरव्यै सुरादेव्यै वौषट्

विधाय वामभागे तु चतुरस्रं तु मण्डलम् ।
यन्त्रिकां तत्र संस्थाप्य शङ्खं तत्र विनिक्षिपेत् ॥१७॥
शुद्धोदकेन संपूर्य पूजयेत्कारणान्वितम् ।
षडङ्गं तत्र संपूज्य सामान्यार्घ्यमिदं प्रिये ॥१८॥

सामान्यार्घ्य-स्थापन—अपने वाम-भाग में चौकोर-मण्डल का निर्माण करें। यथा—विधि आधार आदि शक्तियों का पूजन करें। उस पर प्रक्षालित आधार

स्थापित करके उस पर वह्नि मण्डल का पूजन करें। आधार पर शंख-स्थापित कर वक्ष्यमाण विधि से उस पर अर्क मण्डल का पूजन करें। उसे 'शुद्ध-जल' से पूरित कर जल में चन्द्र-मण्डल का यथा-विधि पूजन करे। शंख के जल में षडङ्ग मन्त्रों से पूजन करें। हे प्रिये ! यह सामान्यार्घ्य स्थापित करने की विधि है ॥१७-१८॥

अथ वक्ष्ये महेशानि विशेषार्घ्यस्य लक्षणम्।
आत्मश्रीचक्रयोर्मध्ये चतुरस्त्रं तु मण्डलम् ॥१९॥
सामान्यार्घ्यस्य तोयेन देशिको भूमिजानुकः।
बहत्करोर्ध्वपुटतो यन्त्रिकां तत्र योजयेत् ॥२०॥
त्रिकोणवृत्तषट्कोणं चतुरस्त्रं तु मण्डलम्।
वह्निं तत्र विचिन्त्याथ पूजयेद्यन्त्रिकामयम् ॥२१॥
पूर्ववत्परमेशानि त्रिकूटां मध्यगां यजेत्।
व्यस्तकूटैर्यजेत्तत्र त्रिकोणे परमेश्वरि ॥२२॥
द्विरावृत्त्या षडङ्गानि षट्कोणेषु प्रपूजयेत्।

विशेषार्घ्य-स्थापन—हे परमेश्वरि ! अब मैं 'विशेषार्घ्य'का लक्षण बता रहा हूँ। विशेषार्घ्य स्थापित करने के लिये श्री 'श्रीचक्र' और अपने मध्य में (अर्थात् अपने आसन एवं भगवती का श्री 'श्रीचक्र' जिस सिंहासन या चौकी पर स्थापित कर, उनके मध्य में) सामान्य-अर्घ्य के जल से 'त्रिकोण-वृत्त-षट्कोण एवं चतुरस्त्र युक्त' पूजन-मण्डल बनायें। विशेष-आधार मण्डल पर समग्र-रूप से पूजन करें।

तत्पश्चात् त्रिकोण के मध्य में 'मूल-मन्त्र' से पूजन करें। फिर मूल-मन्त्र के एक-एक कूट का उच्चारण करते हुए त्रिकोण के तीनों कोणों में पूजन करे। सर्व प्रथम अग्र-कोण, फिर वाम कोण एवं तत्पश्चात् दक्षिण कोण में अर्चन करने का नियम है।

इसके बाद मूल-मन्त्र के तीनों कूटों की दो बार आवृत्ति करके षट्कोणों में षडंग (न्यास) मन्त्रों से षडंग पूजन करके उस पर (आधार-मण्डल पर) प्रक्षालित 'यन्त्रिका' अर्थात् 'आधार' स्थापित करें। उक्त 'आधार' पर 'वह्नि-मण्डल' का पूर्ववत् पूजन करे ॥१९-२२॥

सौवर्णं राजतं वाऽपि पात्रं संस्थापयेत्प्रिये ॥२३॥
सूर्यरूपं प्रपूज्याथ यन्त्रं पूर्ववदालिखेत्।
समस्तव्यस्तकूटैस्तु पूजयेत्पूर्ववत्क्रमात् ॥२४॥

उक्त आधार पर स्वर्णादि-निर्मित 'पात्र' स्थापित करके उस पात्र पर वक्ष्यमाण विधि से 'सूर्य-मण्डल' का अर्चन करें ॥२३-२४॥

विशेषेण पयापूर्य चन्द्रं द्रवमयं प्रिये ।
पूर्ववद्यन्त्रमालिख्य त्रिकूटां यन्त्रमध्यगाम् ॥२५॥
त्रिकोणं चिन्तयेत्तत्तु त्रिकूटैः पूजितं प्रिये ।
अकथादित्रिरेखाढ्यं हक्षाभ्यन्तरमुत्तमम् ॥२६॥
द्विरावृत्त्या षडङ्गानि षट्कोणेषु प्रपूजयेत् ।
आत्मानं हंसमनुना आनन्देन च पूजयेत् ॥२७॥

अर्घ्य-पात्र को विशेष द्रव्य से पूरित करे । पात्रस्थ-द्रव्य में 'चन्द्र-मण्डल' का अर्चन करे । उक्त द्रव्य में पूर्ववत् भूपुर, वृत्त, षट्कोण एवं त्रिकोण युक्त पूजन-मण्डल बनायें । त्रिकोण की तीनों रेखाओं में 'अ क थ' वर्ण लिखें । त्रिकोण के मध्य में 'ह-क्ष' ये दो वर्ण लिखें । त्रिकोण के एक-एक कोण में मन्त्र का एक-एक 'कूट' लिखें । त्रिकोण के मध्य में 'मूल-मन्त्र' से भगवती का अर्चन करें । प्रत्येक कोण में तत् तत् कूट का अर्चन करें ।* 'मूल-मन्त्र' के तीनों कूटों में से प्रत्येक कूट की दो-दो बार आवृत्ति कर 'षडंग' पूजन 'षट्कोण' के ६ कोणों में करें । फिर उक्त द्रव्य में आनन्द-भैरव एवं आनन्द-भैरवी का पूजन उनके मन्त्रों से करें । 'हंस' मन्त्र से आत्म-पूजा करे ॥२५-२७॥

मूलविद्यां यजेत्तत्र षोडशार्णां जपेत्ततः ।
धूपदीपौ निवेद्याथ नमस्कृत्यार्घ्यकं बुधः ॥२८॥

वहाँ (कलशस्थ द्रव्य में) मूल-विद्या का धूप-दीप-नैवेद्य आदि उपचारों से पूजन करके बुद्धिमान् साधक यथा-शक्ति मन्त्र का जप करें ॥२८॥

मुद्राः संदर्शयेत्तत्र साक्षाद्ब्रह्ममयं भवेत् ।
प्रोक्षयेत्तेन चाऽऽत्मानं पूजोपकरणानि च ॥२९॥
सर्वत्र प्रोक्षणं कुर्यात्सर्वं ब्रह्ममयं भवेत् ।
आत्मानं तु समभ्यर्च्य भूतान्संत्रासयेत्ततः ॥३०॥

इसके बाद 'मुद्रायें' प्रदर्शित कर विशेष-अर्घ्य के द्रव्य से साधक स्वयं अपना और पूजा-उपकरणों का प्रोक्षण करें । ऐसा करने से साधक ब्रह्म स्वरूप हो जाता है । इसके बाद 'भूतापसारण' की क्रिया करे ॥२९-३०॥

मूलविद्यास्त्रमुच्चार्य दिग्बन्धं स्फोटनादिभिः ।
तन्मुखः संनतो देवि भूतशुद्धिं तु पूर्ववत् ॥३१॥

टिप्पणी—सामान्य-अर्घ्य एवं विशेष-अर्घ्य की स्थापना की क्रिया-विधि बहुत विस्तृत है । यहाँ इसका संक्षेप में संकेतात्मक-निदर्शन है ।

'मूल'मन्त्र के अन्त में अस्त्र (फट्) की योजना कर उसका उच्चारण करते हुए दशों दिशाओं में चुटुकी बजा कर 'दिग्बन्धन' करें। फिर भगवती को प्रणाम करें। तत्पश्चात् 'भूत शुद्धि' (साथ ही प्राण-प्रतिष्ठा) करें। इसकी विधि द्वितीय तरङ्ग (श्लोक २५ से ३५) में बताई गई है ॥३१॥

ततो न्यासादिकं कुर्यात्संनाहं तु शरीरके।
करशुद्धिकरीं विद्यां मध्यमादितलान्तकम् ॥३२॥
अङ्गुलीषु द्विरावृत्त्या करशुद्धिरियं प्रिये।
ततः आत्मासनं दद्यात्ततश्चक्रासनं प्रिये ॥३३॥
सर्वमन्त्रासनं दद्यात्साध्यसिद्धासनं यजेत्।
पादयोर्जङ्घयोर्जान्वोर्लिङ्गे न्यस्य चतुष्टयम् ॥३४॥
कुमार्यास्त्रिपुरेशान्याः षडङ्गानि च पूर्ववत्।

भूत-शुद्धि और प्राण-प्रतिष्ठा करने के बाद 'न्यास' करे। एतदर्थ सर्वप्रथम 'कर-शुद्धिकरी विद्या' (अं आं सौः) से कर-शोधन करे। 'मध्यमा' अंगुली से प्रारम्भ कर 'करतल' पर्यन्त 'कर-शुद्धि-विद्या' के एक-एक कूट का 'न्यास' करने से 'कर-शोधन' होता है।

तत्पश्चात् दोनों पैरों में, दोनों जंघाओं में, दोनों जानुओं में और लिङ्ग में क्रमशः आत्मासन, चक्रासन, सर्व मन्त्रासन और सिद्धासनों का न्यास करें। यथा—

ऐं ह्रीं श्रीं ह्रीं क्लीं सौः देव्यासनाय नमः पादयोः।

ऐ ह्रीं श्रीं हैं ह्क्लीं ह्सौः चक्रासनाय नमः जन्घयोः।

ऐं ह्रीं श्रीं ह्सै ह्स्क्लीं ह्स्सौः सर्व मन्त्रासनायनमः जान्वोः।

ऐं ह्रीं श्रीं ह्रीं क्लीं ब्लें साध्य सिद्धासनाय नमः लिङ्गे।

इसके बाद बाला-विद्या के तीनों-कूटों की दो बार आवृत्ति करके षडङ्ग-न्यास करें ॥३२-३४॥

अथ वक्ष्ये महेशानि श्रीविद्यान्यासमुत्तमम् ॥३५॥
सम्पूर्णां चिन्तयेद्विद्यां ब्रह्मरन्ध्रेऽरुणप्रभाम्।
स्रवत्सुधां षोडशार्णां महासौभाग्यदां स्मरेत् ॥३६॥
वामांसदेशे सौभाग्यदण्डिनीं भ्रामयेत्ततः।
रिपुजिह्वाग्रहां मुद्रां पादमूले न्यसेत्प्रिये ॥३७॥
त्रैलोक्यस्य त्वहं कर्ता ध्यात्वैवं तिलके न्यसेत्।
सम्पूर्णामिव वदने वेष्टनत्वेन विन्यसेत् ॥३८॥

पुनः सम्पूर्णया देहे गलोर्ध्वे विन्यसेत्ततः ।
पुनः सम्पूर्णया देहे व्यापकत्वेन विन्यसेत् ॥३९॥
व्यापकान्ते योनिमुद्रां मुखे क्षिप्त्वाऽभिवन्द्य च ।
श्रीविद्यापूर्णरूपोऽयं न्यासः सौभाग्यवर्धनः ॥४०॥

हे महेशानि ! अब मैं सर्वोत्तम **'श्रीविद्या न्यास'** का निरूपण कर रहा हूँ। यथा—

(१) अरूण प्रभावाली षोडशी विद्या, जिससे अमृत की बून्दें टपक रही हैं, का ध्यान करके मध्यमा और अनामिका से सम्पूर्ण विद्या (अर्थात् पूरे मन्त्र) का 'ब्रह्म-रन्ध्र' में न्यास करें। न्यास करते समय 'मन्त्र' के आदि में 'ॐ' और अन्त में 'नमः' की योजना कर लें। (यथा—ॐ मूल मन्त्र-नमः)

(२) सौभाग्य दण्डिनी मुद्रा से सम्पूर्ण 'विद्या' का बायें कन्धे पर न्यास करें।

(३) रिपु जिह्वाग्रहा मुद्रा से सम्पूर्ण 'विद्या'का पाद-मूल (बायें पैर के तल) में न्यास करें।

(४) यह भावना करते हुए कि 'मैं स्वयं त्रिलोक का कर्ता हूँ' सम्पूर्ण विद्या का ललाट में न्यास करें। (त्रिखण्ड-मुद्रा से)

(५) त्रिखण्डा मुद्रा से मुख का वेष्टन करते हुए सम्पूर्ण 'विद्या' का मुख पर न्यास करें।

(६) त्रिखण्डा मुद्रा से दाहिने-कान से बायें कान तक मुख का वेष्टन करते हुए सम्पूर्ण विद्या का न्यास करें।

(७) त्रिखण्डा मुद्रा से 'सम्पूर्ण विद्या' का गले के ऊर्ध्व भाग (कंठ) से मस्तक तक न्यास करे।

(८) त्रिखण्डा मुद्रा से सम्पूर्ण विद्या का मस्तक से पैर तक और पैर से मस्तक तक 'व्यापक-न्यास' करें।

(९) 'योनि' मुद्रा से सम्पूर्ण विद्या (मूल-मन्त्र) का मुख में न्यास करें।

(१०) व्यापक-न्यास के बाद मुख पर 'योनिः' मुद्रा स्थापित कर भगवती को प्रणाम करे। साधक का सौभाग्य बढ़ाने वाला यह श्रीविद्या का सम्पूर्ण न्यास है ॥३६-४०॥

विमर्श—'श्री विद्या' न्यास में प्रयुक्त मुद्राओं में से 'सौभाग्य दण्डिनी' और 'रिपुजिह्वाग्रहा' मुद्राओं का यहाँ उल्लेख हैं। 'त्रिखण्डा' मुद्रा का उल्लेख नहीं हैं, फिर

योनि मुद्रा का उल्लेख है, परन्तु मुद्रा-स्वरूप नहीं बताये गये हैं। मुद्राओं का स्वरूप पन्द्रहवें पटल (श्लोक ४७ से आगे) में बताया गया है। सुविधा के लिये यहाँ उनका स्वरूप बताया जा रहा है:—

(१) सौभाग्य दण्डिनी मुद्रा—बायें हाथ की मुट्ठी बाँधकर तर्जनी को सीधी रखकर बायें कान के पास घुमायें। यह सौभाग्य दण्डिनी मुद्रा है।

(२) रिपुजिह्वाग्रहा मुद्रा—दाहिने हाथ से अंगुष्ठ-गर्भिता मुट्ठी बाँधने से 'रिपुजिह्वाग्रहा मुद्रा बनती है।

(३) त्रिखण्डा-मुद्रा—दोनों हथेलियों को परस्पर जोड़ लें। तर्जनी अंगुली (दोनों हाथ की) को मोड़कर अनामिका पर स्थापित कर दें। मध्यमाओं को बीच में ही रखें। कनिष्ठाओं को मोड़कर उन्हें मध्यमाओं के नीचे से लायें और उन्हें मध्यमाओं के मूल में रखें। दोनों अंगूठों को भी जोड़ लें। दो-दो के क्रम से तीन रूपों में बनने वाली यह त्रिखण्डा मुद्रा है।

(४) योनि-मुद्रा—दोनों हाथों को परस्पर स्वाभिमुख मिलायें। दोनों तर्जनी अंगुलियों पर मध्यमाओं को तिरछा करके स्थापित कर दें। फिर दोनों कनिष्ठाओं को अनामिकाओं के मध्यमें रखकर सभी अंगुलियों को एकत्र मिलाते हुए अंगूठों द्वारा सभी अंगुलियों को दबायें। यह योनि मुद्रा है।

परिभ्राम्यानामिकां तु मूर्धानं परितः प्रिये।
ब्रह्मरन्ध्रे क्षिपेद्देवि मणिबन्धे न्यसेत्ततः ॥४१॥
ललाटेऽनामिका कुर्यात्षोडशार्णा स्मरन्बुधः।
संमोहनाख्यो देवेशि न्यासोऽयं क्षोभकारकः ॥४२॥
त्रैलोक्यमरुणं ध्यायेच्छ्रीविद्यां मनसि स्मरेत्।

सम्मोहन-न्यास—'श्रीविद्या-न्यास' करने के पूर्व 'श्रीविद्या'का ध्यान अरुण वर्ण में किया गया था। 'सम्मोहन-न्यास' करने के पूर्व यह ध्यान करें कि तीनों लोक श्रीविद्या के अरुण-रंग से शोभित हो रहे हैं, अरुणाभ हैं फिर न्यास करें। यथा—

दाहिने हाथ की अनामिका अंगुली को सिर के इर्द-गिर्द तीन बार घुमाकर (१) अनामिका से सम्पूर्ण विद्या (मूल-मन्त्र) का ब्रह्मरन्ध्र में न्यास करें। (मतान्तर (अनामिका और अंगूठों से) (२) मूल-मन्त्र का अनामिका (एवं अगूठे) से दोनों मणि बन्ध (कलाई) पर न्यास करें।

(३) अनामिका (एवं अंगूठे) से मूल-मन्त्र का 'ललाट' में न्यास करें। यह 'सम्मोहन-न्यास' है जो सारे संसार को क्षुब्ध करता है ॥४१-४२॥

विमर्श—'सम्मोहन-न्यास' के बाद 'ललाट' पर शक्ति तिलक लगाया जाता।

पादयोर्जङ्घयोर्जान्वोः कट्योरन्धुनि पृष्टके ॥४३॥
नाभौ पार्श्वद्वये चैव स्तनयोरंसयोस्तथा।
कर्णयोर्ब्रह्मरन्ध्रे च वदनेऽक्षिणि पार्वति ॥४४॥
ततः कण्ठप्रदेशे तु करवेष्टनयोः क्रमात्।
संहारोऽयं महान्यासो बीजैः षोडशभिः क्रमात् ॥४५॥

संहार-न्यास—हे पार्वति (१) दोनों पैरों में, (२) दोनों जांघों में, (३) दोनों जानुओं में, (४) कटि (कमर) के दोनों भागों में, (५) लिङ्ग में, (६) पीठ में, (७) नाभि में, (८) दोनों पार्श्व (बगल) में, (९) दोनों स्तनों में, (१०) दोनों कन्धों में, (११) दोनों कानों में, (१२) ब्रह्म-रन्ध्र में, (१३) मुख में, (१४) दोनों नेत्रों में, (१५) कण्ठ में, और (१६) कर-वेष्टनों मे (कर-तलों में) षोडशाक्षरी 'मूल-विद्या' के एक-एक वर्ण (कूट) का 'न्यास' करें। यह 'संहार' न्यास है ॥४३-४५॥

विमर्श—उपर्युक्त १६ अंगों में षोडशाक्षरी विद्या के जिन १६ वर्णों (कूटों) का क्रम से 'न्यास' किये जाने का निदेश है, उनका क्रम इस प्रकार है। (१) श्रीं, (२) ह्रीं, (३) क्लीं, (४) ऐं, (५) सौः, (६) ॐ, (७) ह्रीं, (८) श्रीं, (९) कएइलह्रीं, (१०) हसकलहलह्रीं, (११) सकलह्रीं, (१२) सौः, (१३) ऐं, (१४) क्लीं, (१५) ह्रीं, और (१६) श्रीं। न्यास के लिये षोडशाक्षरी विद्या को इस प्रकार १६ भागों में विभक्त किया जाता है।

न्यास-विधि—प्रत्येक कूट के आदि में 'ॐ ऐं ह्रीं श्रीं' और अन्त में 'नमः' की योजना करके विशिष्ट अंगों में उसका न्यास करें। यथा—ॐ ऐं ह्रीं श्रीं 'श्रीं' नमः—पादयोः। ॐ ऐं ह्रीं श्रीं 'ह्रीं' नमः—जघन्योः इत्यादि।

स्थान-भेद—उपर्युक्त श्लोकों में न्यास के लिये जो 'अंग' बताये गये हैं, उनमें कुछ भेद मिलता है। यथा—

(१) श्लोक ४३ के **'कट्योरन्धुनि'** के स्थान पर 'तन्त्रसार' में **'कट्यामुंगुलि पृष्ठवं'**

(२) श्लोक ४४ के **'कर्णयोब्रह्मरन्ध्रे च'** के स्थान पर 'श्रीविद्यार्णव' में **'करयोब्रह्मरन्ध्रे च'**

(३) 'मन्त्र-महोदधि' में **'कण्ठ'** का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार वहाँ **'करवेष्टनयोः'** के स्थान पर **'कर्ण वेष्टे'** है। कर्ण वेष्ट अर्थात् 'कान की लौ'

(४) श्रीविद्या रत्नाकर (पृष्ठ ११४) में भी **'करवेष्टनयोः'** के स्थान पर **'कर्णवेष्टनयोः'** है।

अतः यह न्यास अपनी-अपनी गुरु-परम्परा के अनुसार करना उचित होगा।

श्रीविद्यायाः षोडशार्णैर्न्यासैर्विश्वेश्वरो भवेत्।
सृष्ट्यन्तां विन्यसेद्देवि मातृकां पूर्ववत्प्रिये ॥४६॥

हे देवि ! श्रीविद्या के १६ अक्षरों का 'न्यास' करने से साधक 'विश्वेश्वर' स्वरूप हो जाता है। हे प्रिये ! मातृकाओं का 'सृष्ट्यन्त' न्यास करना चाहिए ॥४६॥

विमर्श—उपर्युक्त ५ श्लोकों में श्रीविद्या के १६ वर्णों का 'संहार-क्रम' से 'न्यास' करने की विधि बताई गई है। यह 'न्यास' तीन क्रमों से किया जाता है। यथा—संहार-क्रम, स्थिति-क्रम और सृष्टि-क्रम। उपर्युक्त ४६वें श्लोक में 'न्यास' सृष्टि-क्रम' पर्यन्त करने का निर्देश दिया गया है, परन्तु उसकी विधि-नहीं बताई गई है। ४७ से ५८ तक ११ श्लोकों में 'वाग्देवता-न्यास' की विधि बताई गई है।

मातृकार्णस्वरूपां च वर्गाष्टकसमन्विताम्।
वशिनीं मातृकां न्यस्येद्बीजाष्टकसमन्विताम् ॥४७॥
अवर्गान्ते लिखेद्बीजं वह्निफान्तं क्षमान्वितम्।
वामकर्णविशोभाढ्यं बिन्दुनादाङ्कितं प्रिये ॥४८॥
वशिनीं पूजयेद्वाचां देवतां देवि सुव्रते।

(१) वशिनी वाग्देवता न्यास—'वशिनी' आदि ८ 'वाग्देवता' है। वर्ण रूपा मातृका के अ-वर्ग, 'क' वर्ग आदि आठ वर्ग हैं। इनमें से एक-एक वर्ग के साथ 'वाग्देवताओं' के बीजों की योजना करके वशिनी आदि आठ वाग्देवताओं का न्यास किया जाता है। इनमें से प्रथम 'वशिनी' की विधि इस प्रकार है—

वह्नि (र) फान्त (ब) क्षमा (ल) बिन्दुनाद युक्त वाम कर्ण अर्थात् 'ऊं' की मात्रा यह 'वशिनी' का **बीज** है—'रब्लूं'।

'अ' वर्ग अर्थात् 'अ' से 'अः' तक १६ स्वरों के अन्त में उक्त 'बीज' के बाद 'वशिनी-वाग्देवता' का चतुर्थ्यन्तनाम और 'नमः' लगाने से 'वशिनी' का (न्यास) मन्त्र बनता है। यथा—

मन्त्र-स्वरूप—अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं ऐं ऐं ओं औं अं अ:' 'रब्लूं' वशिनी वाग्देवतायै नम: ।

'वशिनी' का न्यास शिर पर किया जाता है ।।४७-४८।।

कवर्गान्ते महेशानि कामेशीबीजमुत्तमम् ।।४९।।
मेरूद्धतं समुच्चार्य वाग्देवीं पूजयेत्ततः ।

कामेशी वाग्देवता—'क' वर्ग के अन्त में मेरु-मन्त्र में बताये गये कामेशी बीज (कलह्रीं) की योजना करने से 'कामेशी' का पूजन-मन्त्र बनता है ।।४७।।

मन्त्र-स्वरूप—'कं खं गं घं ड़ं कलह्रीं कामेश्वरी वाग्देवतायै नम:' कामेश्वरी वाग्देवता का 'न्यास' ललाट में किया जाता है ।

चवर्गान्ते धान्तलान्तं क्षमातुर्यस्वरान्वितम् ।।५०।।
मोदिनीं पूजयेद्वाचां देवतां तदनन्तरम् ।

(३) मोदिनी वाग्देवता—धान्त अर्थात् 'न्' लान्त अर्थात् 'व्' 'तूर्य स्वरान्विता अर्थात् 'ई' कार युक्त 'क्षमा' अर्थात् 'ल्' की योजना करने से मोदिनी के बीज 'न्ब्लीं' की निष्पत्ति होती है । 'च' वर्ग के अन्त में उक्त 'बीज' की योजना करके 'मोदिनी' वाग्देवता का न्यास (भ्रू-मध्य) में करना चाहिए ।।५०।। यथा—

'चं छं जं झं ञं न्ब्लूं मोदिनी वाग्देवतायै नम:भ्रू-मध्ये ।

टवर्गान्ते वायुतोयं मुखसंस्थं महेश्वरि ।।५१।।
वामकर्णेन्दुबिद्धाळ्यं विमलां वागधीश्वरीम् ।

(४) विमला वाग्देवता—वायु (य्) तोय (व्) मुखसंस्थ (ल्) जो अनुस्वार युक्त वाम-कर्ण 'ऊ' से युक्त हो । यह विमला का बीज है । 'ट' वर्ग के अन्त में उक्त बीज य्व्लीं की योजना करके 'विमला वाग्देवता' का न्यास 'कण्ठ' में करना चाहिए ।।५१।। यथा—

'टं ठं डं ढं णं य्व्लीं विमला वाग्देवतायै नम:'—कण्ठे

तवर्गान्ते जमक्ष्माद्यं वामनेत्रविभूषितम् ।।५२।।
बिन्दुनादाङ्कितं बीजं वाग्देवीमरुणां यजेत् ।

(५) अरुणा-वाग्देवता—'ज्' और 'म्' यथा स्वरूप । 'क्षमा' अर्थात् पृथ्वी बीज 'ल्' के पूर्व का वर्ण 'र्' जो बिन्दु-नाद युक्त वाम-नेत्र-'ई' से युक्त है । इन वर्णों की योजना से बीज-निष्पन्न हुआ 'ज्म्रीं' । 'त' वर्ग के अन्त में उक्त बीज की योजना करके 'अरुणा-वाग्देवता' का हृदय में न्यास करना चाहिए ।।५२।। यथा—

'तं थं दं धं नं ज्रीं अरुणा वाग्देवतायै नमः—हृदये'

पवर्गान्ते व्योमचन्द्रं क्षमातोयाग्निमुख्यकम् ॥५३॥
उकारस्वरसंयुक्तं बिन्दुनादकलाङ्कितम् ।
जयिनीं पूजयेद्वाचां देवतां वीरवन्दिते ॥५४॥

(६) जयिनी वाग्देवता—व्योम (ह्) चन्द्र (स) क्षमा (ल्) तोय (व्) अग्नि (र्) बिन्दु-नाद युक्त 'उ'कार। इनकी योजना करने से बीज-निष्पन्न हुआ—'हस्ल्व्रुं'। 'प' वर्ग के अन्त में इस बीज को जोड़कर 'जयिनी' वाग्देवता का 'नाभि' में न्यास करना चाहिए ॥५३-५४॥ यथा—

'पं फं बं भं मं हस्ल्व्रुं जयिनी वाग्देवतायै नमः'—नाभौ

यवर्गान्ते जान्तकालरेफवायुसमन्वितम् ।
ऊमाढ्यं देवतां वाचां सर्वेशीं परिपूजयेत् ॥५५॥

(७) सर्वेश्वरी-वाग्देवता—'ज'कार के बाद वाला वर्ण-'झ्'। काल अर्थात् 'म्'। रेफ यानी 'र्'। वायु अर्थात् 'य्' जो 'ऊ' कार से युक्त हो। इन वर्णों से 'बीज' निष्पन्न हुआ—'झ्म्र्यूं'। 'य' वर्ग के अन्त में उक्त बीज की योजना करके 'सर्वेश्वरी' वाग्देवता का 'नेत्रों' में न्यास करना चाहिए ॥५५॥ यथा—

'यं रं लं वं झ्म्र्यू सर्वेश्वरी वाग्देवतायै नमः—गुह्ये'

क्षमोवह्निगतं तुर्यं बीजेन परिमण्डितम् ।
बिन्दुनादकलाक्रान्तं कौलिनीं वाचमर्चयेत् ॥५६॥
शवर्गान्ते महेशानि न्यसेत्सर्वार्थसिद्धये ।

(८) कौलिनी-वाग्देवता—'क्ष्म्' स्वरूप अर्थात् ये वर्ण द्वय यथावत्। वह्नि अर्थात् 'र्' जो बिन्दु-नाद युक्त तुर्य-वर्ण 'ई' से युक्त हो। इन वर्णों की योजना से 'बीज' निष्पन्न हुआ—'क्ष्म्रीं'। 'श' वर्ग के अन्त में उक्त बीज की योजना करके 'कौलिनी' वाग्देवता का उर्वादि पदान्ते में न्यास करना चाहिए ॥५६-५७॥ यथा—

शं षं सं हं क्ष्म्रीं कौलिनी वाग्दैवतायै नमः

शिरोललाटभ्रूमध्यकण्ठहृन्नाभिगुह्यके ॥५७॥
आधारे व्यूहकं यावन्न्यसेद्देवीः क्रमात्प्रिये ।

इस श्लोक में 'वशिनी' आदि वाग्देवताओं के 'न्यास' के लिये 'अंगों' का निरूपण किया गया है। ईश्वर कहते हैं—हे प्रिये ! वशिनी आदि वाग्देवताओं का न्यास क्रमशः (१) शिर, (२) ललाट, (३) भ्रूमध्य, (४) कण्ठ, (५) हृदय, (६)

नाभि, (७) गुह्य और (८) पैर से सिर तक करना चाहिए। न्यास-मन्त्रों में यथा-स्थान इनकी योजना कर दी गई है ॥५७॥

विमर्श—'ज्ञानार्णव' की मूल मुद्रित प्रति में उक्त श्लोक में 'नाभि-गोचरे' पाठ मुद्रित है। 'नाभि' के बाद 'नेत्रों' में न्यास की परम्परा नहीं है। श्री 'त्रिपुरार्णव तन्त्र (३/६७) में इन देवताओं का न्यास क्रम निरूपित करते हुए कहा गया है—

......मूर्ध्नि फाले भ्रुवोऽन्तरे।

कण्ठहन्नाभिगुह्येषु, पादान्मूर्धान्तमेव च ॥६७॥

अतः 'नाभि' के बाद 'गोचरे' पाठ में मुद्रणगत अशुद्धि प्रतीत होती है। इसलिये 'गोचरे' को 'गुह्यके' होना चाहिए—यह समझकर पाठ का शोधन कर दिया गया है।

लघु-षोढ़ान्यास

षोढा न्यासं ततः कुर्याद्येन ब्रह्माण्डरूपकः ॥५८॥
विराट्स्वरूपी वर्णात्मा शिवः साक्षान्न संशयः।
गणेशः प्रथमो न्यासः सर्वविघ्नविनाशनः ॥५९॥

ततः—अर्थात् 'वाग्देवता-न्यास' के बाद 'षोढ़ान्यास' करना चाहिए। 'षोढ़ान्यास' करने से साधक विराट् स्वरूपी वर्णात्मा शिव स्वरूप हो जाता है। इनमें प्रथम' गणेश-न्यास' है। 'गणेश-न्यास' करने से साधना में आने वाले सभी विघ्नों का नाश हो जाता है ॥५८-५९॥

अरुणादित्यसंकाशान्गजवक्त्रांस्त्रिलोचनान्।
पाशाङ्कुशवराभीतिकराञ्शक्तिसमन्वितान् ॥६०॥
ध्यात्वा प्रविन्यसेद्देवि मातृकान्यासवत्ततः।

गणेश-ध्यान—अरुण वर्ण के सूर्य के समान आभा वाले, गज-मुख, त्रिलोचन, पाश-अंकुश, वर और अभय मुद्रा वाले तथा शक्तियों से युक्त गणेश-मूर्तियों का ध्यान करके हे देवि ! 'षोढ़ा-न्यास' के अन्तर्गत सर्वप्रथम 'गणेश-न्यास' करना चाहिए ॥६०-६१॥

गणेश मूर्तियाँ और उनकी शक्तियाँ

विघ्नेश्वरस्तथा श्रीश्च विघ्नराजस्तथा ह्रिया ॥६१॥
विनायकस्तथा तुष्टिः शान्तियुक्तः शिवोत्तमः।
विन्घ्नकृत्पुष्टियुक्तस्तु विघ्नहृच्च सरस्वती ॥६२॥

विघ्नराड्रतियुक्तस्तु मेधावान्गणनायकः ।
एकदन्तश्च कान्तिश्च द्विदन्तः कामिनीयुतः ॥६३॥
गजवक्त्रो मोहिनी च निरञ्जनजटा ततः ।
कपर्दी तु तथा तीव्रा दीर्घवक्त्रस्ततः प्रिये ॥६४॥
ज्वालिनीसहितः पश्चान्नन्दासंकर्षणौ ततः ।
वृषध्वजश्च शुभगा गणनाथेन संयुता ॥६५॥
कामरूपिणिका पश्चाद् गजेन्द्र शुभ्रया युतः ।
शूर्पकर्णस्तु जयिनी त्रिनेत्रः सत्ययाऽन्वितः ॥६६॥
लम्बोदरश्च विघ्नेशी महानादस्वरूपिणी ।
चतुमूर्तिः कामदा च सदाशिवयुता ततः ॥६७॥
मदविह्वलनाम्नी च आमोदविकटे ततः ।
दुर्मुखश्च तथा घूर्णा सुमुखो भूतिदांस्ततः ॥६८॥
प्रमोदश्च तथा भूमीरेकपादस्तथा सती ।
द्विजिह्वश्च रमायुक्तः शूरश्चैव तु मानुषी ॥६९॥
वीरेण सहिता पश्चाच्छैलजे मकरध्वजा ।
षण्मुखश्च विकर्णा च वरदो भृकुटी तथा ॥७०॥
वामदेवस्तथा लज्जा वक्रतुण्डस्तथा परम् ।
दीर्घघोणान्वितः पश्चाद्विरण्डकधनुर्धरा ॥७१॥
सेनानीर्यामिनीयुक्तो ग्रामणी रात्रिसंयुतः ।
मत्तश्च चण्डिकायुक्तो विमत्तश्च शशिप्रभा ॥७२॥
मत्तवाहनलोले च जटी च चपलेक्षणा ।
शुण्डि ऋज्वीयुतः पश्चात्खड्गी दुर्भगयाऽन्वितः ॥७३॥
वरेण्यश्चैव सुभगा वृषकेतुस्तथा शिवा ।
भक्ष्यप्रियश्च दुर्गा च मेघनादश्च कालिका ॥७४॥
गणेशः कालकुब्जा च गणपो विघ्नहारिणी ।
मातृवर्णैर्न्येसेद्देवि ग्रहन्यासं ततो न्यसेत् ॥७५॥

गणेश जी की ५१ मूर्तियाँ और इनमें से प्रत्येक गणेश-मूर्ति की शक्तियों के नाम उपर्युक्त १५ श्लोकों में बताये गये हैं। यथा—

(१) विघ्नेश्वर और श्री, (२) विघ्नराज और ह्री, (३) विनायक एवं तुष्टि, (४) शिवोत्तम एवं शान्ति, (५) विघ्नकृत् एवं पुष्टि, (६) विघ्नहत (हर्ता) और सरस्वती, (७) विघ्नराट् और रति, (८) गणनायक तथा मेघा, (९) एकदन्त एवं कान्ति, (१०) द्विदन्त एवं कामिनी, (११) गजवक्त्र एवं मोहिनी, (१२) निरञ्जन एवं जटा,

(१३) कपर्दी तथा तीव्रा (१४) दीर्घवक्त्र और ज्वालिनी, (१५) संकर्षण और नन्दा, (१६) वृषध्वज एवं शुभगा, (१७) गणनाथ एवं कामरूपिणी, (१८) गजेन्द्र एवं शुभ्रा, (१९) शूपकर्ण एवं जयिनी, (२०) त्रिनेत्र और सत्या (२१) लम्बोदर और विघ्नेशी, (२२) महानाद सुरूपिणी, (२३) चतुमूर्ति एवं कामदा, (२४) सदाशिव एवं मदविह्वला, (२५) आमोद एवं विकटा, (२७) दुर्मुख एवं घूर्णा (पूर्णा ?), (२७) सुमुख एवं भूतिदा, (२८) प्रमोद और भूमि, (२९) एकपाद एवं सती (शक्ति), (३०) द्विजिह्व तथा रमा, (३१) शूर तथा मानुषी, (३२) वीर और मकरध्वजा, (३३) षण्मुख और विकर्णा (वीरिणी), (३४) वरद एवं भृकुटी (३५) वामदेव तथा लज्जा, (३६) वक्रतुण्ड एवं दीर्घघोणा, (३७) द्विरण्डक (द्वितुण्ड) एवं धनुर्धरा, (३८) सेनानी एवं यामिनी, (३९) ग्रामिणी और रात्रि, (४०) मत्त एवं चण्डिका, (४१) विमत्त और शशिप्रभा, (४२) मत्तवाहन एवं लोला, (४३) जटी एवं चपलेक्षणा, (४४) शुण्डि एवं ऋज्वी, (४५) खड्गी तथा दुर्भगा, (४६) वरेण्य तथा सुभगा, (४७) वृषकेतु और शिवा, (४८) भक्ष्यप्रिय और दुर्गा, (४९) मेघनाद और कालिका, (५०) गणेश एवं कालकुब्जा, (५१) गणप और विघ्न हारिणी ।

एक एक मातृका (अ-आ........ळक्ष) से युक्त करके शक्ति-समन्वित एक-एक गणेश-मूर्ति का सृष्टि-मातृका न्यास के समान न्यास करना चाहिए । 'गणेश-न्यास' के बाद 'ग्रह-न्यास' करें ॥६१-७५॥

ग्रह-न्यास–

पद्मरागं सितं रक्तं श्यामं पीतं च पाण्डुरम् ।
धूम्रकृष्णं कृष्णधूम्रं धूम्रधूम्रं विचिन्तयेत् ॥७६॥
रविमुख्यान्कामरूपान्सर्वाभरणभूषितान् ।
वामोरुन्यस्तहस्तांश्च दक्षहस्ताभयप्रदान् ॥७७॥

ग्रह-ध्यान—कामरूप धारी, सर्व-आभरण भूषित, बायाँ हाथ बायें उरु पर रखे हुए और दाहिने हाथ से अभय प्रदान करते हुए सूर्य-आदि नव-ग्रहों का यथा-क्रम उनके अपने अपने वर्णों (रंग) में ध्यान करना चाहिए । सूर्य का वर्ण पद्मराग मणि (पुखराज) के समान, चन्द्रमा का श्वेत, मंगल का लाल, बुध का श्याम (दूर्वा के समान श्याम) बृहस्पति का पीला, शुक्र का पाण्डुर, शनि का धूम्रकृष्ण (धुयें के समान गहरा नीला) राहू का कृष्णधूम (काला-धुआं) और केतु का धूम्रधूम्र (......धुआं) है ॥७६-७७॥

स्वैरैरर्कं हृदि न्यस्य यवर्गेण शशी ततः ।
भ्रूमध्येऽथ कवर्गेण भौमं नेत्रत्रये न्यसेत् ॥७८॥

चवर्गेण बुधो हृत्स्थष्टवर्गेण बृहस्पतिः ।
हृदयोपरि देवेशि तवर्गेण गले भृगुः ॥७९॥
पवर्गेण शनिर्नाभौ राहुर्वक्त्रे शवर्गतः ।
लक्षाभ्यां तु गुदे केतुर्न्यसेदेवं वरानने ॥८०॥

न्यास-विधि—हे वरानने ! स्वर-वर्णों से सूर्य का हृदय में, 'य' वर्ग से चन्द्रमा का भ्रूमध्य में, 'क' वर्ग से मंगल का नेत्र-त्रय में, 'च' वर्ग से बुध का हृदय में (हृदय के नीचे) 'ट' वर्ग से बृहस्पति का हृदय के ऊपर, 'त' वर्ग से शुक्र का कण्ठ में, 'प' वर्ग से शनि का नाभि में, 'श' वर्ग से राहू का मुख में और 'लक्ष' से केतु का गुदा में न्यास करना चाहिए ॥७८-८०॥

विमर्श—चूँकि 'स्वरैर्क हृदि न्यस्य' कहकर 'हृदय' को सूर्य का 'न्यास-स्थान' निरूपित किया जा चुका है, अतएव 'च वर्गेण बुधा हृत्स्थः' का शाब्दिक अर्थ लेकर 'हृदय' में ही 'बुध' का न्यास करना असंगत और भ्रान्ति-मूलक होगा। सौर-मण्डल में बुध सूर्य का निकटतम ग्रह है। अतः 'गंगायां-घोषः' की तरह 'हृत्स्थ' पद का लक्षणा-अर्थ 'हृदय में' नहीं अपितु 'हृदय के पास' है। हृदय के पास, परन्तु किस ओर और कहाँ ? 'बृहस्पति हृदयोपरि' इस वाक्य से यह संकेत मिलता है कि बुध का न्यास हृदय के नीचे समीप में ही किया जाना चाहिए। इस 'लक्षणार्थ' की पुष्टि श्री त्रिपुरार्णव तन्त्र (उपासना खण्ड, तृतीय तरङ्ग, श्लोक संख्या १०७) से होती है, जिसमें बुध का न्यास 'हृदयादधः' अर्थात् 'हृदय के नीचे' करने का स्पष्ट निदेश दिया गया है।

ग्रहों की शक्तियाँ—उपर्युक्त श्लोकों में सूर्य आदि ग्रहों के नाम, न्यास-अंग, और प्रत्येक ग्रह के न्यास में प्रयुक्त वर्णों का उल्लेख है, परन्तु इनकी 'शक्तियों' के नाम का उल्लेख नहीं हैं। 'देवता' के साथ उसकी 'शक्ति' और 'शक्ति' के साथ उसके 'शिव' का नामोल्लेख पूर्वक पूजन आदि करने का सामान्य विधान है।

श्रीविद्यार्णव (षष्ठ श्वास) में श्री 'ज्ञानार्णव' से उद्धृत उपर्युक्त तीन श्लोकों के साथ ही ये अढ़ाई श्लोक भी हैं—

सूर्यश्च रेणुका चैव, सोमश्चैवामृता तथा ॥
मङ्गलो धामया युक्तो, बुधश्च ज्ञानरूपया ।
गुरुर्यशस्विनी युक्ताः, शाङ्करी सहितोभृगुः ॥
शनिः शक्ति समायुक्तो, राहू कृष्णासमन्वितः ।
धूम्रया सहितः केतुः, शक्त्योऽम्बिका स्मृता ॥

तदनुसार रेणुका, अमृता, धामा, ज्ञानरूपा, यशस्विनी, शाङ्करी, शक्ति, कृष्णा और धूम्रा-सूर्य आदि ग्रहों की शक्तियाँ हैं। अत: 'प्रयोग-क्रम' में सूर्य आदि-ग्रहों का न्यास उनकी 'शक्तियों' के साथ किया जाता है। यथा—

अं-आं.......अं अ: रेणुकाम्बा सहिताय सूर्याय नम:—हृदि इत्यादि।

नक्षत्र-मातृका न्यास

नक्षत्र-मातृका न्यास भी सृष्टि-मातृका न्यास के समान ललाट से प्रारम्भ होता है। मातृकायें हैं ५१ और नक्षत्र २७। प्रत्येक 'नक्षत्र' का न्यास 'एक' या 'एक से अधिक' मातृका (ओं) के साथ शरीर के २६ अवयवों में किया जाता है। इस 'न्यास-विधि' का निरूपण अगले श्लोकों में किया गया है।

अथ नक्षत्रवृन्दस्य न्यासं कुर्यात्सुखप्रदम्।
ज्वलत्कालाग्निसंकाशाः सर्वाभरणभूषिताः ॥८१॥
नतिपाण्योऽश्विनीमुख्या वरदाभयपाणयः।

कालाग्नि के समान प्रज्ज्वलित, सभी अलंकारों से विभूषित, नीचे के दोनों हाथों को जोड़कर ऊपर के दोनों हाथों से वर और अभय प्रदान करने वाले अश्विनी आदि नक्षत्र-वृन्द का ध्यान करके सुख प्रदान करने वाला 'नक्षत्र-मातृका न्यास' करना चाहिए ॥८१-८२॥

युग्मंयुग्मं तथा युग्मं युग्मयुग्मेन रोहिणीम् ॥८२॥
एकमेकं तथा द्वन्द्वमेकं पुष्यान्तमुच्यते।
ललाटे चक्षुषोः पश्चाद्वामदक्षिणकर्णयोः ॥८३॥
नासाद्वये च देवेशि तथा कण्ठे क्रमान्न्यसेत्।

युग्म (दो) युग्म (दो) तथा पुन: युग्म (दो) एवं युग्मयुग्म (दो और दो अर्थात् चार) वर्णों के साथ अश्विनी, भरणी, कृत्तिका तथा रोहिणी का, 'एक' वर्ण के साथ मृगशिरा का, 'एक' वर्ण के साथ आर्द्रा का और दो वर्णों के साथ पुनर्वसु का एवं 'एक' वर्ण के साथ पुष्य नक्षत्र का क्रमश: ललाट, दोनों नेत्र, दोनों कान, दोनों नासापुट (नथुन) और कण्ठ (गला) में 'न्यास' करें ॥८२-८४॥

विमर्श—इन श्लोकों में क्रमश: दो, दो, दो, चार, एक, एक, दो और एक अर्थात् कुल १५ वर्णों के साथ अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु और पुष्य इन आठ नक्षत्रों का शरीर के आठ स्थानों अर्थात् ललाट, दोनों नेत्र, दोनों कान, दोनों नासापुट और कण्ठ में 'न्यास' करने का विधान बताया गया है, जो स्पष्ट होने के बावजूद कुछ क्लिष्ट है। इसकी संगति इस प्रकार है—

प्रथम दो वर्णो अर्थात् 'अ-आ' के साथ 'अश्विनी' का ललाट में, 'इ-ई' इन दो वर्णों के साथ भरणी का दाहिने नेत्र में, 'उ-ऊ' इन दो वर्णों के साथ कृत्तिका का वाम-नेत्र में न्यास करें। यद्यपि 'वाम-दक्षिण-कर्णयो:' से पहिले 'वाम' और फिर 'दक्षिण' वर्ण की प्राप्ति होती है, परन्तु 'न्यास-क्रम' में चूँकि पहिले दाहिने और उसके बाद बायें अंग में न्यास करने का विधान है, अत: मातृका न्यास के साथ संगति स्थापित करने के लिये इसे 'दक्षिण' और 'वाम' ही समझना चाहिए। अत: युग्मयुग्म अर्थात् 'ऋ ॠ ऌ ॡ' इन चार वर्णों के साथ 'रोहिणी' का दाहिने कान पर न्यास करें। फिर 'एक' वर्ण। 'ॡ' के बाद का वर्ण है—'ए'। अत: 'ए' के साथ मृगशिरा का बायें-कान में, एतत् परवर्ती एक वर्ण अर्थात् 'ऐ' के साथ 'आर्द्रा' का दक्षिण-नासा पुट में और फिर 'ऐ' के बाद वाले दो वर्णों 'ओ औ' के साथ पुनर्वसु का वाम-नासा पुट में न्यास करें।

'एकं पुष्यान्तमुच्यते'—एक वर्ण के साथ 'पुष्य' नक्षत्र का न्यास किया जाये। 'ओ-औं' के बाद के वर्ण हैं—'अं-अ:'। आगामी ९४ वें श्लोक में (क्षकारेण ततो बिन्दुविसर्गाभ्यां तु रेवती') बिन्दु और विसर्ग अर्थात् 'अं' और 'अ:' के साथ रेवती-नक्षत्र के न्यास का स्पष्ट निदेश है, अत: 'अं'—'अ:' के बाद वाले 'एक वर्ण' के साथ पुष्य-नक्षत्र के न्यास की सम्प्राप्ति होती है। इनके बाद का वर्ण है—'क'। अतएव 'क' के साथ 'पुष्य' नक्षत्र का 'कण्ठ' में न्यास किया जाये। 'खगार्णाभ्यां तु सार्पकम्' से भी 'पुष्य' के साथ 'क' की अभिव्यञ्जना होती है।

पुष्यान्तं च प्रविन्यस्य खगार्णाभ्यां तु सार्पकम् ॥८४॥
दक्षस्कन्धे घङाभ्यां तु मघां स्कन्धे द्वितीयके।
चपूर्वाफाल्गुनीं दक्षे कूर्परे छजसंयुताम् ॥८५॥
उत्तराफाल्गुनीं वामे कूर्परे विन्यसेत्प्रिये।

पुष्य के बाद 'ख ग' वर्णों के साथ आश्लेषा का दक्षिण-स्कन्ध (कन्धे) में, 'घ' 'ङ' के साथ 'मघा' का वाम-स्कन्ध में, 'च' वर्ण के साथ पूर्वाफाल्गुनी का दाहिने हाथ की कोहनी में और 'छ ज' वर्णों के साथ उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का बायें हाथ की कोहनी में न्यास करें ॥८४-८६॥

झञवर्णास्थितो हस्तो मणिबन्धेऽथ दक्षिणे ॥८६॥
चित्रां टठस्थां वामे च मणिबन्धे न्यसेत्प्रिये।
डकारेण युतां स्वातीं दक्षहस्ते प्रविन्यसेत् ॥८७॥

'झज' के साथ 'हस्त' नक्षत्र का दक्षिण-मणिबन्ध (कलाई) में, 'ट ठ' के साथ चित्रा का वाम-मणिबन्ध में और 'ड' के साथ 'स्वाती' का दाहिने हाथ में न्यास करें ॥८६-८७॥

ढणयुक्तां विशाखां तु वामहस्ते प्रविन्यसेत्।
तथदस्थानुराधां तु नाभौ विन्यस्य पार्वति ॥८८॥
धकारेण युतां ज्येष्ठां न्यसेद्दक्षकटौ प्रिये।
नपफस्थं तथा मूलं न्यसेद्वामकटौ प्रिये ॥८९॥

हे पार्वति ! 'ढण' से युक्त 'विशाखा' का बायें हाथ में, 'तथद' के साथ 'अनुराधा' का नाभि में, 'ध' के साथ 'ज्येष्ठा' का दाहिनी कमर में और 'न प फ' के साथ 'मूल' नक्षत्र का बायीं कमर में 'न्यास' करें ॥८८-८९॥

पूर्वाषाढं वकारेण दक्षोरौ विन्यसेत्प्रिये।
भकारेणोत्तराषाढं वामोरौ तदनन्तरम् ॥९०॥
मकारयुक्तं श्रवणं दक्षजानुनि विन्यसेत्।
यरस्थितां धनिष्ठां तु वामजानुनि विन्यसेत् ॥९१॥

'ब' के साथ 'पूर्वाषाढा' का दक्षिण उरु में, 'भ' के साथ उत्तराषाढ़ा का वाम 'उरु' में, 'म' के साथ 'श्रवण' का दक्षिण-जानु में तथा 'य र' के साथ 'धनिष्ठा' का वाम-जानु में न्यास करें ॥९०-९१॥

लकारेण ततो देवि शतभिषं न्यसेत्प्रिये।
दक्षजङ्घागतां पश्चात्पूर्वाभाद्रपदां ततः ॥९२॥
वशवर्णस्थितां न्यस्य वामजङ्घामतां क्रमात्।
षसहस्थोत्तराभाद्रपदां दक्षिणपादके ॥९३॥
क्षकारेण ततो बिन्दुविसर्गाभ्यां च रेवती।
वामपादे प्रविन्यस्य योगिनीन्यासमाचरेत् ॥९४॥

'ल' के साथ 'शतभिषा' का दाहिनी जांघ में, 'व-श' के साथ पूर्वा-भाद्रपदा का बायीं जांघ में, 'षसह' के साथ 'उत्तराभाद्रपदा' का दाहिने पैर में और 'क्ष अं अः' के साथ 'रेवती' का बायें पैर में 'न्यास' करना चाहिए। 'नक्षत्र-मातृका न्यास' करने के बाद 'योगिनी-न्यास' करें ॥९२-९४॥

योगिनी मातृका न्यास

मानव-शरीर में गुह्य-प्रदेश (गुदा) से भ्रूमध्य पर्यन्त क्रमशः मूलाधारादि ६ चक्र हैं। ये चक्र 'मेरु-दण्ड' (रीढ़) में स्थित हैं। इन चक्रों में ५० कमल दल हैं। कण्ठ-क्षेत्र वर्ती विशुद्ध-चक्र से मूलाधार और भ्रूमध्य वर्ती आज्ञा-चक्र के इन ५० कमल-दलों में 'अ'कार से 'क्ष'कार पर्यन्त ५० मातृकायें स्थित हैं। प्रत्येक चक्र में गणेश आदि देवताओं के साथ जो 'चक्र-शक्तियाँ' स्थित हैं, उन 'चक्र-शक्तियों' को पारिभाषिक रूप से 'योगिनी' कहा जाता है। प्रत्येक चक्र की अधिष्ठात्री शक्ति का

तत्-तत् चक्र में स्थित मातृकाओं के सहित प्रबोधन 'योगिनी मातृका न्यास' है, जिसका विधान अगले श्लोकों में बताया गया है। यथा—

सितासितारुणा बभ्रूचित्रापीताश्च चिन्तयेत्।
चतुर्भुजाः समैर्वक्त्रैः सर्वाभरणभूषिताः ॥९५॥

योगिनियों का वर्ण—षट्-चक्रों में स्थित इन योगिनियों का वर्ण (रंग) क्रमशः (१) श्वेत, (२) श्याम, (३) अरुण अर्थात् लाल, (४) बभ्रू अर्थात् गहरा-भूरा (५) चित्र अर्थात् धब्बेदार चित्तकबरा और (६) पीला है। तदनुसार कण्ठ क्षेत्र वर्तिनी डाकिनी का रंग श्वेत, हृदय क्षेत्र वर्ती अनाहत-चक्र की डाकिनी का रंग श्याम, (३) नाभि क्षेत्रवर्ती मणिपूरक चक्र की 'लाकिनी' का रंग लाल, (४) लिंग मूल वर्ती 'स्वाधिष्ठान-चक्र' की 'काकिनी' का रंग गहरा-भूरा (बभ्रू), (५) गुह्य क्षेत्रवर्ती मूलाधार-चक्र की 'हाकिनी' का रंग-चितकबरा' और (६) भ्रूमध्य क्षेत्रवर्ती 'हाकिनी' का रंग 'पीला है। ब्रह्मरन्ध अर्थात् सहस्त्रार में निवास करने वाली 'याकिनी' का रंग 'शुक्ल' है। ये सभी योगिनियाँ सभी आभूषणों से विभूषिता हैं। न्यास करने के पूर्व इनका यथोक्त 'चक्र' में ध्यान करना चाहिए ॥९५॥

डांडींबीजद्वयं चोक्त्वा डमला वरयाः प्रिये।
वामकर्णेन्दुनादाढ्यं डाकिन्यै नमः इत्यपि ॥९६॥
स्वरान्ते तु प्रवक्तव्यं मान्ते रक्षपदद्वयम्।
त्वगात्मने कण्ठदेशे विशुद्धौ विन्यसेत्प्रिये ॥९७॥

डाकिनी—'डां-डीं' ये दो बीज हैं। 'डमलवरय्' कूट है जो बिन्दु समन्वित 'ऊं' (वाम-कर्ण) से युक्त है—अर्थात् 'डमलवरयूं'। उक्त बीजद्वय के बाद 'डमलवरयूं'। फिर 'डाकिन्यै नमः' के बाद स्वर वर्ण और उनके बाद 'माम्' फिर दो बार 'रक्ष' (अर्थात् रक्ष-रक्ष) त्वगात्मने नमः।' यह 'डाकिनी योगिनी' का मातृकाओं सहित 'न्यास-मन्त्र' है।

मन्त्र-स्वरूप—डां डीं डमलवरयूं डाकिन्यै नमः अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः माम् रक्ष रक्ष त्वगात्मने नमः

उक्त मन्त्र से कण्ठ देश वर्ती 'विशुद्धि-चक्र' में डाकिनी का न्यास करें ॥९६-९७॥

विमर्श—श्री 'नित्याषोडशिकार्णव' के अष्टम-विश्राम के ३५वें श्लोक की 'सेतुबन्ध' व्याख्या करते हुए श्री भास्कर-राय ने श्री 'ज्ञानार्णव तन्त्र के इन्हीं दो श्लोकों को निम्नानुसार उद्धृत किया है—

डां डीं बीज द्वयं चोक्त्वा, डमला वरयाः प्रिये।
वामकर्णेन्दु नादाढ्या डाकिन्यै नमः इत्यपि॥
ह्रीं श्रीं स्वरान्ते वक्तव्य मान्ते रक्ष पद द्वयम्।
त्वगात्मने कण्ठदेशे विशुद्धौ विन्यसेत् प्रिये॥

तदनुसार उक्त 'न्यास-मन्त्र' में 'डाकिन्यै नमः' के बाद और 'अं-आं' के पूर्व 'ह्रीं श्रीं' की योजना की जानी चाहिए।

श्री भास्कर-राय ने उपर्युक्त 'मन्त्रोद्धार' से मन्त्र-स्वरूप बताया है—'डां डीं डमलवरयूं डाकिन्यै नम ह्रीं श्रीं अं आं मां रक्ष रक्ष त्वगात्मने नमः' (इति मन्त्र सिध्यति)

'स्वरान्ते'—यह समस्त पद है। 'स्वर के अन्त में' और 'स्वरों के अन्त में' इसके दोनों ही अर्थ हैं। इनमें से प्रथम एक वचन वाला अर्थ ग्रहण करने से 'अं-आं' का ग्रहण होगा। द्वितीय बहुवचन वाला अर्थ ग्रहण करने से सभी स्वर वर्णों (अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः') का ग्रहण होगा। यह दूसरा रूप ही प्रचलित है। श्री भास्कर-राय ने इस प्रचलित रूप का खण्डन नहीं किया है।

इस न्यास के 'विस्तृत-क्रम' में उपर्युक्त 'मन्त्र' से 'डाकिनी' का न्यास करने के बाद १६ दल वाले विशुद्धि-चक्र के प्रत्येक दल में अन्तर्मातृका न्यास के समान एक-एक स्वर के साथ 'अमृता' आदि देवताओं का न्यास किया जाता है।

(१) अमृता, (२) आकर्षिणी, (३) इन्द्राणी, (४) ईशानी, (५) उमा, (६) ऊर्ध्वकेशी, (७) ऋद्धिदा, (८) ऋकारा, (९) ऌकारा, (१०) ॡकारा, (११) एकपदा, (१२) ऐश्वर्यात्मिका, (१३) ओंकारी, (१४) औषधी, (१५) अम्बिका और (१६) अक्षरा—ये १६ अमृतादि षोडश-देवता हैं। एक एक स्वर के साथ इनका विशुद्ध-चक्र के एक एक दल में न्यास किया जाता है। यथा 'अं अमृतायै नमः, आं आकर्षिण्यै नमः आदि। डाकिनी के समान अन्य योगिनियों के साथ तत् तत् चक्रों में भी एक-एक वर्ण के साथ देवताओं का न्यास किया जाता है। विस्तार-भय से इन्हें यहाँ नहीं लिखा जा रहा है।

कण्ठवर्णै राकिनीं तु रकाराद्यक्षरैः क्रमात्।
पूर्ववद्बीजसंयुक्तैरसृगात्माऽत्र संवदेत्॥९८॥
अनाहते न्यसेत्पश्चात्डकारादिफकारकैः।
लाकिनी च तथा देवि मांसात्मा मणिपूरके॥९९॥
बलंवर्णैः काकिनीं तु स्वाधिष्ठाने तथाविधाम्।
मेदस्वरूपां विन्यस्य वसवर्णैस्तु साकिनीम्॥१००॥

अस्थिरूपां च पूर्वोक्तबीजेनाऽऽधारके न्यसेत्।
हक्षवर्णास्थितां तद्वन्मज्जारूपिणिकां यजेत् ॥१०१॥
भुवोर्मध्ये महेशानि हाकिनीं द्विदले न्यसेत्।
पूर्ववद्वीजसंयुक्तां तद्वच्छुक्रात्मिकां यजेत् ॥१०२॥
सर्वधातुगतां देवीं शुक्लवर्णां तु याकिनीम्।
ब्रह्मरन्ध्रे महेशानि न्यासोऽयं योगिनीयुतः ॥१०३॥

(२) राकिनी—डाकिनी बीज द्वय (डां डीं) में 'ड' कार के स्थान पर 'र' का और 'कूट' (डमलवरयूं) में भी 'ड'कार के स्थान पर 'र'कार स्थापित कर योगिनी के 'नमः' युक्त चतुर्थ्यन्त नाम (अर्थात् राकिन्यै नमः) के बाद 'कण्ठ वर्ण' अर्थात् 'क' कार से 'ठ'कार पर्यन्त द्वादश वर्ण और इनके बाद मां रक्षरक्ष असृगात्मने नमः की योजना करने से द्वितीय योगिनी 'राकिनी का' न्यास मन्त्र सिद्ध होता है। यथा—

'रां रीं रमलवरयूं राकिन्यै नमः कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं माम् रक्ष रक्ष असृगात्मने नमः'

उक्त मन्त्र से १२ दल वाले अनाहत-चक्र में राकिनी का न्यास करें। अनाहत चक्र हृदय-क्षेत्र में है।

(३) लाकिनी—उक्त बीज और कूट में 'ल'कार स्थापित कर योगिनी के 'नमः' युक्त चतुर्थ्यन्त नाम (लाकिन्यै नमः) के बाद 'ड'कार से 'फ'कार पर्यन्त १० वर्ण, फिर पूर्ववत् 'मां रक्ष रक्ष' के बाद 'मांसात्मने नमः'की योजना करने से तृतीय-योगिनी 'लाकिनी' का न्यास मन्त्र बनता है। यथा—

'लां लीं लमलवरयूं लाकिन्यै नमः डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं' मां रक्ष रक्ष मांसात्मने नमः'

उक्त मन्त्र से दश दल वाले मणिपूरक चक्र (नाभि) में लाकिनी का न्यास करें।

(४) काकिनी—'बीज' और 'कूट' में 'क'बार स्थापित कर योगिनी के 'नमः' युक्त चतुर्थ्यन्त नाम (काकिन्यै नमः) के बाद 'ब'कार से 'ल'कार पर्यन्त ६ वर्ण, फिर पूर्ववत् 'मां रक्ष रक्ष' के बाद 'मेदात्मने नमः की योजना करने से 'काकिनी' का न्यास मन्त्र बनता है। यथा—

कां कीं कमलवरयूं काकिन्यै नमः बं भं मं यं रं लं मां रक्ष रक्ष मेदात्मने नमः'

उक्त मन्त्र से ६ दल वाले स्वाधिष्ठान चक्र (लिंग-मूल) में 'काकिनी' का न्यास करें।

(५) साकिनी—'बीज' और 'कूट' में यथा क्रम, यथा स्थान 'स'कार स्थापित कर योगिनी के 'नमः' युक्त चतुर्थ्यन्त नाम (साकिन्यै नमः) के बाद 'वं शं

षं सं' इन चार वर्णों के बाद 'मां रक्ष-रक्ष' और इसके बाद 'अस्थ्यात्मने नमः' की योजना करने से अस्थिरूपा 'साकिनी' का न्यास मन्त्र बनता है। यथा—

'सां सीं समलवरयूं साकिन्यै नमः वं शं षं सं मां रक्ष-रक्ष-अस्थ्यात्मने नमः'

उक्त मन्त्र से चार दल वाले मूलाधार चक्र में 'साकिनी' का न्यास करें।

(६) हाकिनी—'बीज' द्वय और कूट में यथा-क्रम, यथा-स्थान 'ह'कार स्थापित कर योगिनी के 'नमः' युक्त चतुर्थ्यन्त नाम (हाकिन्यै नमः) के बाद 'हक्ष'—फिर पूर्ववत् 'मां रक्ष-रक्ष' के बाद 'मज्जात्मने नमः की योजना करने से हाकिनी का न्यास-मन्त्र बनता है। यथा—

'हां हीं हमलवरयूं हाकिन्यै नमः हं क्षं मां रक्ष रक्षं मज्जात्मने नमः'

उक्त मन्त्र से दो दल वाले आज्ञा चक्र (भ्रूमध्य) में 'हाकिनी' का न्यास करें।

(७) याकिनी—'बीज' और 'कूट' में पूर्ववत् 'य'कार स्थापित कर याकिनी के 'नमः' युक्त चतुर्थ्यन्त नाम के बाद 'अ' से 'क्ष' पर्यन्त समस्त पचास वर्ण, इनके बाद 'मां रक्ष रक्ष' फिर 'शुक्रात्मने नमः' की योजना करने से 'याकिनी' का न्यास-मन्त्र' बनता है। यथा—

'यां यीं यमलवरयूं याकिन्यै नमः अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं बं भं मं यं रं लं वं शं षं सं हं क्षं मां रक्ष रक्ष शुक्रात्मने नमः'

उक्त मन्त्र से सहस्त्र दल वाले ब्रह्म रन्ध्र में याकिनी का न्यास करें ॥९८-१०३॥

विमर्श—(१) कई ग्रन्थों में 'बीज-द्वय' के स्थान पर 'बीज-मन्त्र' मिलते हैं। यथा—'डां डीं डूं' आदि। मूल-ग्रन्थ की भावना एवं निदेश के अनुरूप उपर्युक्त मन्त्र-स्वरूपों में केवल 'दो बीज' लिखे गये हैं।

(२) कई ग्रन्थों में 'याकिनी' के न्यास का विधान नहीं है। 'योगिनी मातृका न्यास' के बाद राशि-न्यास बताया गया है।

राशि-मातृका न्यास

राशिन्यासं ततः कुर्यात्सर्वरक्षाकरं सदा।
रक्तश्वेतहरिद्वर्णपाण्डुचित्रासितान्स्मरेत् ॥१०४॥
पिशङ्गपिङ्गलौ बभ्रूकर्बुरासितधूम्रकान्।

'योगिनी मातृका-यास' करने के बाद राशि-न्यास करना चाहिए। यह न्यास भी आपदाओं से रक्षा करने वाला है। यह 'न्यास' करने के पूर्व राशियों का वर्णात्मक

ध्यान करना चाहिए। मेष आदि राशियों के वर्ण (रंग) क्रमशः इस प्रकार हैं। (१) रक्त (लाल), (२) श्वेत, (३) हरित, (४) पाण्डु (पीत धवल), (५) चित्र (चितकबरा), (६) असित अर्थात् काला, (७) पिशङ्ग (खाकी), (८) पिंगल (ललिमायुक्त भूरा), (९) बभ्रू (गहरा-भूरा), (१०) कर्बूर (कबूतर के समान मटमैला), (११) असित, और (१२) धूम्र ॥१०४॥

अकारादिचतुष्केण विन्यसेत्सुरवन्दिते ॥१०५॥
मेषं दक्षिणपद्गुल्फे ततो द्वंद्वेन वै वृषम्।
न्यसेज्जानुनि वेदैस्तु मिथुनं वृषणे ततः ॥१०६॥
द्वाभ्यां कर्काटकं कुक्षौ द्वाभ्यां स्कन्धे च सिंहकम्।
अनुस्वारविसर्गाभ्यां शवर्गेण च कन्यकाम् ॥१०७॥
दक्षिणे तु शिरोभागे विन्यसेद्वीरवन्दिते।
तथा वामशिरोभागे कवर्गेण तुलाभृतम् ॥१०८॥
चवर्गेण तथा स्कन्धे वृश्चिकं विन्यसेत्प्रिये।
टवर्गेण तथा कुक्षौ धन्विनं विन्यसेत्प्रिये ॥१०९॥
मकरं तु तवर्गेण वृषणे विन्यसेत्क्रमात्।
पवर्गेण तथा कुम्भं वामनाजुनि विन्यसेत् ॥११०॥
यवर्गेणं क्षकारेण मीनं गुल्फेऽथ वामके।
अथ पीठानि विन्यस्येत्सर्वतीर्थमयानि हि ॥१११॥

न्यास-विधि—इस 'न्यास' में प्रथम ६ राशियों का न्यास दक्षिण-अंगों में और तुला से मीन पर्यन्त ६ राशियों का न्यास शिर के वाम भाग से प्रारम्भ कर वाम गुल्फ तक किया जाता है। यथा—

अकारादि चार वर्णों (अ, आ, इ, ई) से मेष राशि का दक्षिण पद गुल्फ में, दो वर्णों (उ ऊ) से वृष राशि का दक्षिण जानु में, चार वर्णों (ऋ, ॠ, ऌ, ॡ) से मिथुन का दक्षिण वृषण (अण्डकोश) में, दो वर्णों (ए-ऐ) से कर्क का दक्षिण कुक्षि में, अनुस्वार एवं विसर्ग (अं अः) से सिंह का दक्षिण-स्कन्ध (कन्धा) में, 'श' वर्ग (श ष स ह) से कन्या का सिर के दाहिने भाग में, 'क' वर्ग (क ख ग घ ङ) से तुला का सिर के वाम भाग में, 'च' वर्ग (च छ ज झ ञ) से वृश्चिक का वाम स्कन्ध में, 'ट' वर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण) से धनु का वाम-कुक्षि में, 'त' वर्ग (त थ द ध न) से मकर का वाम-वृषण में, 'प' वर्ग (प, फ, ब, भ, म) से कुम्भ का वाम-जानु में तथा 'य' वर्ग और 'क्ष' कार (य र ल व क्ष) से मीन का वाम गुल्फ में न्यास करना चाहिए। इसके बाद सर्व तीर्थ मय पीठ-न्यास करें।

पीठ-न्यास

पीठों की उत्पत्ति—दक्ष के यज्ञ में शिव के अपमान से विक्षुब्ध भगवती सती ने आत्मदाह कर लिया। इससे शिव क्रुद्ध हो गये। दक्ष के यज्ञ का विध्वंस कराकर वे सती के मृत देह को कन्धे पर रखकर नाचने लगे। शिव को सामान्य अवस्था में लाने के लिये विष्णु ने चक्र से सती के मृत देह को काट दिया। सती के अंग-अवयव जिन जिन स्थानों पर गिरे, वहाँ-वहाँ एक-एक पीठ बन गया। इनमें से प्रत्येक पीठ से एक-एक 'मातृका' उत्पन्न हुई। मातृका सहित पीठों का न्यास करने से साधक-शरीर सर्वपीठ मय बन जाता है। षोढ़ा-के अन्तर्गत यह छठवां-न्यास है। न्यास-क्रम में सर्वप्रथम पीठों का वर्ण (रंग) बताया गया है—

सितासितारुणाश्यामहारित्पीतान्यनुक्रमात् ।
पुनः पुनः क्रमाद्देवि पञ्चाशत्पीठसंचयः ॥११२॥
पीठानि संस्मरेद्विद्वान्सर्वमातृकया युतान् (?) ।
मातृकार्णैर्न्यसेद्विद्वान्सर्वकामार्थसिद्धये ॥११३॥

हे देवि ! इन पचास पीठों का वर्ण (रंग) क्रम-क्रम से श्वेत, काला, लाल, नीला, हरा और पीला है। सभी कामनाओं की सिद्धि के लिये पीठों का पुण्य-स्मरण करते हुए एक-एक मातृका के साथ एक-एक पीठ का न्यास करना चाहिए ॥११२-११३॥

विमर्श—'पञ्चाशत् पीठ संचयः' इस कथन से पीठों की संख्या ५० प्रतीत होती है जबकि पीठों की संख्या ५१ है और अगले ११ श्लोकों में ५१ पीठों के नाम भी बताये गये हैं। इससे पीठों की संख्या के बारे में भ्रमित नहीं होना चाहिए। यहाँ 'पञ्चाशत्' (५०) एक पञ्चाशत (५१) का उपलक्षक है।

कामरूपं महापीठं पीठं वाराणसीं ततः ।
नेपालं च तथा पीठं तथा वै पौण्ड्रवर्धनम् ॥११४॥
पुरस्थिरं तथा पीठं चन्द्रस्थिरमतः परम् ।
पूर्णशैलं महापीठमर्बुदं च ततः परम् ॥११५॥
आम्रातकेश्वरं पीठमेकाम्रं च ततः परम् ।
विस्रोतःपीठमनघं कामकोटं ततः परम् ॥११६॥
कैलासभृगुकेदारं पीठं चन्द्रपुरं ततः ।
श्रीपीठं च तथोंकारं जालंधरमतः परम् ॥११७॥
मालवं च ततः पीठं कुलान्तं देवकोटकम् ।
गोकर्णं महापीठं मारुतेश्वरमेव च ॥११८॥

अट्टहासं च विरजं राजगेहं महापथम्।
पीठ कोल्लगिरिं प्रोक्तमेलापुरमतः परम् ॥११९॥
कामेश्वरं महापीठं महापीठं जयन्तिका।
पीठमुज्जयनी चैव चरित्रं क्षीरकाभिधम् ॥१२०॥
हस्तिनापुरपीठं च उड्डीशं च प्रयागकम्।
षष्ठीशं पीठं श्रीशैलं मायापूरजलेश्वरम् ॥१२१॥
मलयं च महापीठं श्रीशैलं मेरुकं गिरिम्।
महेन्द्रं वामनं चैव हिरण्यपुरमेव च ॥१२२॥
महालक्ष्मीमयं पीठामुड्डीयानमतः परम्।
छायाच्छत्रपुरं पीठं तथैव परमेश्वरि ॥१२३॥
पञ्चाशत्पीठविन्यासं मातृकावन्न्यसेत्सदा।
षोढा न्यासो महादेवि न्यस्त्वा साक्षात्स्वयं शिवः ॥१२४॥

एक पञ्चाशत् (५१) पीठ हैं—(१) कामरूप, (२) वाराणसी, (३) नेपाल, (४) पौन्ड्रवर्धन, (५) पुरस्थिर, (६) चन्द्रस्थिर, (७) पूर्ण शैल (पूर्णगिरि), (८) अर्बुद, (९) आम्रातकेश्वर, (१०) एकाम्र, (११) त्रिःस्रोत, (१२) कामकोटि, (१३) कैलाश, (१४) भृगु, (१५) केदार, (१६) चन्द्रपुर, (१७) श्रीपीठ, (१८) ओंकार, (१९) जालन्धर, (२०) मालव, (२१) कूलान्त, (२२) देवीकोट, (२३) गोकर्ण, (२४) मारूतेश्वर, (२५) अट्टहास, (२६) विरज, (२७) राजगृह, (२८) महापथ, (२९) कोल्लगिरि, (३०) एलापुर, (३१) कामेश्वर, (३२) जयन्तिका, (३३) उज्जयनी, (३४) चरित्र, (३५) क्षीरिका, (३६) हस्तिनापुर, (३७) उड्डीश, (३८) प्रयाग, (३९) षष्ठीश, (४०) मायापुर, (४१) जलेश्वर, (४२) मलय, (४३) श्री शैल, (४४) मेरुक गिरि, (४५) गिरिश्वर, (४६) महेन्द्र, (४७) वामन, (४८) हिरण्यपुर, (४९) महालक्ष्मीपुर, (५०) उड्डीयान और (५१) छाया छत्रपुर।

एक एक मातृका के साथ एक-एक पीठ का न्यास सृष्टि-मातृका न्यास की तरह करना चाहिए। यथा—'अं कामरूप पीठाय नमः ब्रह्मरन्ध्रे'

ईश्वर कहते हैं—हे देवि ! षोढा-न्यास करने के साधक साक्षात् शिव हो जाता है ॥११४-१२४॥

विमर्श—'षोढ़ा-न्यास' के दो भेद हैं। प्रथम लघु षोढ़ा और द्वितीय महा षोढ़ा।' यहाँ बताया गया न्यास 'लघु-षोढ़ा है, जो सर्वाम्नाय विषयक है। 'महाषोढ़ान्यास' ऊर्ध्वाम्नाय विषयक है।

'षोढ़ान्यासो महादेवि ! न्यस्त्वा साक्षात् स्वयं शिवः'—यह इसकी काव्यात्मक प्रशंसा नहीं है। यह देखा गया सत्य है कि 'षोढ़ा-न्यास सिद्ध साधक' यदि निर्जीव-

वस्तु को भी प्रणाम कर देता है तो वह विदीर्ण हो जाती है। इतिहास में ऐसी घटनायें हो चुकी हैं।

'षोढा-न्यास' अन्तर्मातृका और यथा क्रम बहिर्मातृका न्यास के बाद किया जाता है, और प्रत्येक 'न्यास-मन्त्र' के पूर्व त्रितार (ऐं ह्रीं श्रीं') की योजना की जाती है। यथा—'ऐं ह्रीं श्रीं 'अं'........इत्यादि।

काम रति-मातृका न्यास

गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी, राशि एवं पीठ-न्यास समन्वित षोढ़ा-न्यास की विधि बताने के बाद अगले १६ श्लोकों में 'काम-रति-मातृका-न्यास' विधान बताया जा रहा है। यह 'न्यास' करने के पूर्व साधक को 'काम' और 'रति' की युगल-मूर्तियों का समष्टि रूप से ध्यान करना चाहिए। यथा—

अथ कामान्न्यसेद्देवी दाडिमीकुसुमप्रभान्।
वामाङ्कशक्तिसहितान्पुष्पबाणेक्षुकार्मुकान् ॥१२५॥
शक्तयः कुङ्कुमनिभाः सर्वाभरणभूषिताः।
नीलोत्पलकरा ध्येयास्त्रैलोक्याकर्षणक्षमाः ॥१२६॥

काम मूर्तियों का वर्ण अनार के फूल के समान लाल है। उनके हाथ में पुष्प-बाण और इक्षु (गन्ना) का धनुष हैं। कुंकुम-वर्ण उनकी शक्तियाँ अर्थात् रति-मूर्तियाँ उनके वाम भाग में संश्लिष्ट हैं। रति-मूर्तियाँ सभी आभूषणों से विभूषिता हैं और उनके हाथों में नील-कमल हैं ॥१२५-१२६॥

काम और रति की ५१ युगल मूर्तियाँ हैं जिनके नाम अगले श्लोकों में बताये गये हैं। इनमें से प्रत्येक युग्म-मूर्ति का एक-एक मातृका के साथ सृष्टि-मातृका वत् न्यास करना चाहिए।

न्यसेत्कामरतिं पश्चात्कामप्रीतिं सुरेश्वरि।
कान्तश्च कामिनीयुक्तो भ्रान्तो वै मोहिनीयुतः ॥१२७॥
कामाङ्गः कमले[1] तद्वत्कामचारो विलासिनी।
कर्णकल्पलते[2] तद्वत्कोमलश्यामले तथा ॥१२८॥
कामवर्धन[3] संयुक्ता विज्ञेया तु शुचिस्मिता।
कामश्च विस्मिता[4] युक्तो विशालाक्षीयुतो रमः[5] ॥१२९॥

'ज्ञानार्णव-तन्त्र' की प्रकाशित प्रति में और 'वृहत्-तन्त्रसार' में 'ज्ञानार्णव-तन्त्र' से उद्धृत उपर्युक्त श्लोकों में 'काम-रति' मूर्तियों के नाम में कुछ भेद हैं, जिन्हें आगे बताया गया है।

रमणो लेलिहायुक्ता रतिनाथदिगम्बरे ।
रतिप्रियश्च वामा[६] च रात्रिनाथश्च कुब्जिका ॥१३०॥
स्मरेण च युता कान्ता रमणः सत्यया युतः ।
निशाचरश्च कल्याणी नन्दनो भोगिनी तथा ॥१३१॥
नन्दकः कामदायुक्तो[७] मदनश्च सुलोचना ।
सुलावण्यायुतो देवि तथा नन्दसुताभिधः[८] ॥१३२॥
निशाचरश्च मर्दिन्या रतिर्हंसस्ततः परम् ।
कलहः प्रियया युक्तः[९] पुष्पधन्वा च काङ्क्षिणी ॥१३३॥
महाधनुश्च सुमुखा ग्रामणीर्नलिनीयुतः ।
भीमश्च जटिनीयुक्तो भ्रामणः पालिनीयुतः[१०] ॥१३४॥
भ्रमणः शिशिनीयुक्तो शान्तमुग्धे[११] ततः परम् ।
भ्रामणो रमया युक्तो भृगुर्भूमा[१२] तत परम् ॥१३५॥
भ्रान्तश्चामरलोला[१३] च भ्रमावहसुचञ्चले ।
मोहनो दीर्घजिह्वा च मोचकश्च तथा सती[१४] ॥१३६॥
तथा मुग्धश्च लोलाक्षी मोहमर्दनभृङ्गिणी[१५] ।
मोहकश्च चपेटा च मन्मथो नाथया युतः ॥१३७॥
मातङ्गमालिनीयुग्मं भृङ्गा[१६] च कलहंसिनी ।
गायकेन समायुक्ता वै विश्वतोमुखी ॥१३८॥
गजनन्दिकया युक्तो गीतिश्च तदनन्तरम् ।
नर्तकः सह रञ्जिन्याः खेलः कान्तिसमन्वितः[१७] ॥१३९॥
उन्मत्तः कलकण्ठे च मत्तकश्च वृकोदरी[१८] ।
मेघः श्यामान्वितो देवी विमलश्रीः क्रमा[१९]त्प्रिये ॥१४०॥
मातृकार्णैर्न्यसेद्देवी (वि) मातृकावत्सदाऽनघे[२०] ।

'काम' और 'रति' की ५१ युग्म-मूर्तियों के नाम यथा-क्रम (काम मूर्ति के नाम के पश्चात् रति-मूर्ति का नाम) इस प्रकार हैं। (कोष्ठक में लिखे गये नाम 'वृहत् तन्त्रसार' में यथा-निरूपित काम-रति मूर्तियों के नाम-भेद हैं)

---

(१) कामधुक्-कमला, (२) कन्दर्प-कल्पलता, (३) कामवर्धक-शुचिस्मिता, (४) काम-विजया, (५) विशालाक्षी-रण, (६) रतिप्रिया-रमा, (७) नन्दीश-कामदा, (८) स्वलावण्या-नन्दयिता (नन्दयितृ), (९) कलहंसप्रिया (रतिहंस एवं कलहंसप्रिय), (१०) भ्रामण-ज्वालिनी, (११) श्याम-मुग्धा, (१२) भृगु-भ्रमा, (१३) भ्रान्त-कामकला, (१४) मेषक-महामति, (१५) मोहवर्द्धन-भृङ्गिणी, (१६) भृङ्गीश-कलहंसिनी, (१७) मेष-कान्ति, (१८) संवर्तक-वृकोदरी, (१९) विमल-श्रीमती॥ (२०) पाठ-भेद—'मातृका-स्थान एव च'

(१) काम-रति, (२) काम-प्रीति, (३) कान्त-कामिनी, (४) भ्रान्त-मोहिनी, (५) कामाङ्ग-कमला (कामधुक्-कमला), (६) कामाचार-विलासिनी, (७) कर्ण-कल्पलता (कन्दर्प-कल्पलता), (८) कोमल-श्यामला, (९) कामवर्द्धन-शुचिस्मिता (कामवर्द्धक-शुचिस्मिता), (१०) काम-विस्मता (काम-विजया), (११) रम-विशालाक्षी (रण-विशालाक्षी), (१२) रणम-लेलिहा, (१३) रतिनाथ-दिगम्बरा, (१४) रतिप्रिय-वामा (रतिप्रिय-रमा), (१५) रात्रिनाथ-कुब्जिका, (१६) स्मर-कान्ता, (१७) रमण-सत्या, (१८) निशाचार-कल्याणी, (१९) नन्दन-भोगिनी, (२०) नन्दक-कामदा (नन्दीश-कामदा), (२१) मदन-सुलोचना, (२२) नन्दसुत-सुलावण्या (नन्दयितृ-स्वलावण्या), (२३) निशाचर-मर्दिनी, (२४) रतिहंस-कलहप्रिया (रतिहंस-कलहंस प्रिया), (२५) पुष्पधन्वा-कांक्षिणी, (२६) महाधनु-सुमुखी, (२७) ग्रामणी-नलिनी, (२८) भीम-जटनी, (२९) भ्रामण-पालिनी, (३०) भ्रमण-शिखनी, (३१) शान्त-मुग्धा (श्याम-मुग्धा), (३२) भ्रामण-रमा, (३३) भृगु-भूमा (भृगु-भ्रमा), (३४) भ्रान्त-चामरलोला (भ्रान्त-कामकला), (३५) भ्रमावह-सुचञ्चला, (३६) मोहन-दीर्घजिह्वा, (३७) मोचक-सती (मेषक-महामति), (३८) मुग्ध-लोलाक्षी, (३९) मोहमर्दन-भृङ्गिणी (मोहवर्द्धक-भृङ्गिणी), (४०) मोहक-चपेटा, (४१) मन्मथ-नाथा, (४२) मातङ्ग-मालिनी, (४३) भृङ्ग-कलहंसिनी (भृङ्गीश-कलहंसिनी), (४४) गायक-विश्वतोमुखी, (४५) गीति-गजनन्दिका, (४६) नर्तक-रञ्जिनी, (४७) खेल-कान्ति (मेष-क्रान्ति), (४८) उन्मत्त-कलकण्ठा, (४९) मत्तक-वृकोदरी (संवर्तक-वृकोदरी), (५०) मेघ-श्यामा और (५१) विमल-श्री (विमल एवं श्रीमती) ॥ १२९-१४०॥

विमर्श—इनकी न्यास विधि निम्नानुसार हैं—ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं अं कामरतीभ्यां नमः शिरसि (२) ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं आं कामप्रीतीभ्यां नमः—मुख वृत्ते आदि।

'ज्ञानार्णव' की मुद्रित-प्रति में काम और रति मातृकाओं के जो नाम बताये गये हैं, वे ग्रन्थान्तरों में बताये गये काम-रति नामों से बहुत कुछ भिन्न हैं। अन्य ग्रन्थों में बताये गये 'काम' और 'रति' मूर्तियों के नाम निम्नानुसार हैं। यथा—

कामेशः कामदः कान्तः कान्तिमान् कामगस्तथा।
कामाचारश्च कामी च कार्मुकः कामवर्धनः॥
वामोश्च रमणो रतिनाथो रतिप्रियः।
रात्रिनाथो रमाकान्तो, रमयाणो निशाचरः॥
नन्दको नन्दनो नन्दी ततो नन्दयिता ततः।
पञ्चबाणो रतिसखः पुष्पधन्वा महाधनुः॥
भ्रामणो भ्रमणश्चैव भ्रममाणो भ्रमस्तथा।
भ्रान्तौ भ्रामकभृङ्गौ च भ्रान्तचारो भ्रमावहः॥

मोहनो मोहको मोहो मोहवर्द्धन एव च।
मदनो मन्मथश्चैव मातङ्गो भृङ्गनायकः ॥
गायकश्चैव गीती च नर्तकः खेलकस्तथा।
उन्मत्तो मत्तकश्चैव विलासी लोभवर्द्धनः ॥
कामस्य मूर्तयः प्रोक्ता अकाराद्यर्ण सञ्चये।

और 'रति-मूर्तियों' के नाम हैं—

रतिः प्रीतिश्च तदनु कामिनी मोहिनी ततः।
कमला सुविलासिन्यौ ततः कल्पलता तथा॥
श्यामा शुचिस्मिता चैव विस्मिता तदनन्तरम्।
विशालाक्षी लेलिहाना ततश्चैव दिगम्बरा॥
वामा च कुब्जिका कान्ता, नित्या, कुल्या च भोगिनी।
कामदा चैव तत्पश्चात् प्रोच्यते च सुलोचना॥
सुलापिनी मर्दिनी चैव पाटला-मदना तथा।
वराक्षी सुमुखी चैव नलिनी जटिनी तथा।
पालिनी च शिवा मुग्धा, ततश्चैव रमा-भ्रमा।
लोला च चञ्चला चैव, दीर्घ जिह्वा रतिप्रिया।
लोलाक्षी भङ्गिनी चैव पाटला मदना तथा।
माला च हंसिनी चैव ततः स्याद् विश्वतोमुखी।
जगदानन्दिनी चैव, रमणी कान्तिरेव च।
ततः स्याच्च कलङ्कघ्नी वृकोदर्पपिसा तथा।
मेघश्यामा तथा लोभवर्द्धनी शक्तयस्तथा।
ततः कामान् स्मरेन्मर्त्यो दाडिमी कुसुमोपमान्।

जिज्ञासु-जनों के नाम लाभ के लिये तन्त्रान्तर से उद्धृत करके ५१ काम मूर्तियों के नामों का निरूपण किया गया है।

अनेन न्यासयोगेन त्रैलोक्यक्षोभको भवेत् ॥१४१॥

काम-रति मातृका न्यास की फल-श्रुति बताते हुए श्री ईश्वर कहते हैं यह न्यास-सम्पन्न साधक तीनों लोकों को क्षुब्ध कर सकता है ॥१४१॥

नवयोनि-न्यास–

बालायास्त्रिपुरेशान्या नवयोन्यङ्कितं न्यसेत्।
श्रोत्रयोश्चुबुके चैव शङ्खास्येषु दृशोर्नसि ॥१४२॥
असंद्वये च हृदये न्यसेत्कूर्परकुक्षिषु।
जान्वन्ध्रुपादगुह्येषु पार्श्वहृत्सु स्तनद्वये ॥१४३॥

कण्ठे च नवयोन्याख्यं न्यसेद्बीजत्रयात्मकम् ।

हे देवि ! इसके बाद श्री बाला-त्रिपुरा का नव योन्यात्मक न्यास करें । इसकी विधि द्वितीय पटल (श्लोक संख्या ७१-७३) में बताई जा चुकी है । (१) दोनों कान और चिबुक (ठुड्डी) में, (२) दोनों गण्डस्थल और मुख, (३) दोनों नेत्र और नाक, (४) दोनों कन्धे और हृदय, (५) दोनों कूर्पर और नाभि, (६) दोनों जानु और लिंग, (७) दोनों पैर और गुदा, (८) दोनों पार्श्व एवं हृदय तथा (९) दोनो स्तन और कण्ठ में श्री बाला त्रिपुरा के एक-एक कूट का क्रमशः न्यास करने से 'नव-योन्यात्मक-न्यास' सम्पन्न होता है ॥१४१-१४३॥

पुनर्बालां समुच्चार्य षोडशार्णां प्रविन्यसेत् ॥१४४॥
पुनर्बालां समुच्चार्य चतुरस्रं च चिन्तयेत् ।
गोलकं न्यासयोगेन श्रीचक्रं परिचिन्तयेत् ॥१४५॥
षट्चक्रेषु ललाटे च सीमन्ते च शिरोबिले ।
नव स्थानानि संकल्प्य न्यसेद्देवि ततः परम् ॥१४६॥

बाला त्रिपुरा के तीनों कूटों के साथ षोडशाक्षरी विद्या के षोडश-वर्णों का न्यास करें ।

बाला त्रिपुरा के तीनों कूटों का उच्चारण करते हुए 'चतुरस्र' न्यास करें ।

मूलाधार आदि षट्चक्रों, ललाट, सीमान्त और ब्रह्म रन्ध्र में गोलक-न्यास योग से अपने शरीर में 'श्रीचक्र' की भावना करें ॥१४५-१४६॥

श्रीविद्यां ब्रह्मरन्ध्रे च पृष्ठतो गुरवः क्रमात् ।
तिथिनित्यास्ततो देवि मातृकास्वरसंयुताः ॥१४७॥
मातृकावन्न्यसेद्वक्त्रे सर्वसौभाग्यदायकाः ॥१४८॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे श्रीविद्यान्यासविधानं नाम चतुर्दशः पटलः ॥१४॥

हे देवि ! श्री विद्या का ब्रह्म-रन्ध्र में और साथ ही ब्रह्मरन्ध्र में ही श्रीविद्या के पृष्ठ भाग में गुरुओं (गुरु-मण्डल) का न्यास करें । मातृका-न्यास के समान तिथि-नित्याओं का एक एक स्वर वर्ण के साथ मुख-मण्डल के विभिन्न अवयवों में न्यास करें ॥१४७-१४८॥

श्री ज्ञानार्णव-नित्यातन्त्र में श्रीविद्यान्यास विधान नामक चतुर्दश पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥१४॥

अथ पञ्चदशः पटलः

श्रीविद्यान्यास विवरणम्

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि नित्यामण्डलमुत्तमम्।

ईश्वर ने कहा—हे देवि ! मैं उत्तम-नित्या-मण्डल, नित्या-समुच्चय का निरूपण कर रहा हूँ।

प्रथमा सुन्दरी नित्या, महात्रिपुर सुन्दरी।
कामेश्वरी समाख्याता, तथैव भगमालिनी॥
नित्य क्लिन्नाश्च भेरुण्डा, तथैव वह्निवासिनी।
वज्रेश्वरी च दूती च, त्वरिता कुल-सुन्दरी॥
नित्या नील पताका च, विजया सर्वमङ्गला।
ज्वाला माला विचित्रान्ता, पञ्चदश प्रकीर्तिता॥

'वृहत्-तन्त्रसार' में 'ज्ञानार्णव' से उद्धृत उपर्युक्त तीन श्लोकों में, जो 'ज्ञानार्णव' की प्रकाशित प्रति में उपलब्ध नहीं है, भगवती महा-त्रिपुर-सुन्दरी की पन्द्रह (१५) नित्याओं के नाम बताये गये हैं। ईश्वर कहते हैं—स्वयं श्री महात्रिपुर सुन्दरी प्रथमा-नित्या हैं। प्रथम-नित्या अर्थात् आदि-नित्य हैं, महानित्या हैं, मूल नित्या हैं। (१) कामेश्वरी, (२) भग-मालिनी, (३) नित्य क्लिन्ना, (४) भेरुण्डा, (५) वह्नि-वासिनी, (६) वज्रेश्वरी, (७) दूती (शिवदूती), (८) त्वरिता, (९) कुल-सुन्दरी, (१०) नित्या, (११) नील-पताका, (१२) विजया, (१३) सर्व-मङ्गला, (१४) ज्वाला मालिनी, और (१५) विचित्रा-ये भगवती महा त्रिपुर सुन्दरी की १५ नित्यायें हैं।

द्वितीय श्लोक से पैंतीसवें श्लोक पर्यन्त ३४ श्लोकों में 'नित्याओं' के 'मन्त्र' बताने के बाद षोडश-पटल के ३५-३६ श्लोक में बताया गया है कि कामेश्वरी आदि 'तिथि-नित्या' हैं, और 'प्रतिपदा से प्रारम्भ करके पूर्णिमा' तक 'तिथि रूपा इन नित्याओं' का पूजन करना चाहिए।

एतस्मिन्समये देवि ! तिथि-नित्यां प्रपूजयेत्।
कामेश्वर्यादिका नित्या विचित्रान्ता परेश्वरि।
प्रतिपत्पौर्णमास्यन्त तिथिरूपाः प्रपूजयेत्।'

इसके बाद ४१वें श्लोक में 'नित्या-मण्डल' को 'तिथि-मण्डल' (पूजयेत् तिथि-मण्डलम्) और ४२वें श्लोक में कामेश्वरी आदि नित्याओं को 'षोडश-चन्द्र-कला ('कला: षोडश देवेशि ! यस्तु चन्द्रकला: क्रमात्') कहा गया है ।

इस तरह यह 'नित्या-मण्डल' 'तिथि-मण्डल' है और कामेश्वरी आदि तिथि-नित्यायें 'षोडश-चन्द्र-कला-रूपा' हैं । तिथियों से काल के परिणाम का अवलोकन होता है—'पञ्च दश तिथि-रूपेण कालस्यपरिणामावलोकनम्' । गायत्री-तन्त्र के अनुसार तिथियाँ महामाया-स्वरूपा हैं—

या तिथिः सा महामाया, आद्या-मूर्ति जगन्मयी ।
कृष्ण पक्षे कृष्ण वर्णा, शुक्ले चन्द्र-सम-प्रभा ।

तात्पर्य यह है कि कृष्ण-पक्ष और शुक्ल पक्ष की तिथियाँ भगवती महामाया श्री महात्रिपुरसुन्दरी के काल-स्वरूप की अभिव्यञ्जिका कला-रूपा हैं । कामेश्वरी आदि तिथि-नित्यायें स्वयं भी 'विद्या-रूपा' हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ के अगले ३५ श्लोकों में नित्याओं के मन्त्रों का उद्धार बताया गया है ।

कामेश्वरी महाविद्या सर्वलोकवशंकरी ॥१॥
बालां तारं च हृत्प्रान्ते कामेश्वरिपदं लिखेत् ।
इच्छाकामफलप्रान्ते प्रदेसर्वपदं लिखेत् ॥२॥
ततः सत्त्ववशं ब्रूयात्करिसर्वजगत्प्रदम् ।
क्षोभणान्ते करि ब्रूयात् हुंकारत्रितयं लिखेत् ॥३॥
पञ्च बाणान्समालिख्य संहारेण कुमारिकाम् ।
एषा कामेश्वरी नित्या प्रसङ्गात्कथिताऽद्रिजे ॥४॥

ईश्वर ने कहा—हे देवि ! सभी तीनों लोकों को अपने वश में करने वाली श्री कामेश्वरी नित्या सभी पन्द्रह नित्याओं में प्रथम हैं ।

(१) कामेश्वरी-नित्या का मन्त्र—बाला (ऐं क्लीं सौ:) तार (ॐ) हृत् (नम:) के बाद क्रमश: 'इच्छा-काम-फल' के बाद क्रमश: 'प्रदे' फिर 'सर्व', फिर 'सत्ववशं' तत्पश्चात् 'करि' के बाद 'सर्व-जगत्' के बाद 'क्षोभण' फिर 'करि' । इसके बाद तीन बार 'हुं', इसके बाद पञ्च बाण बीज (द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं स:) फिर संहार-क्रम (विलोम क्रम) से कुमारिका (सौ: क्लीं ऐं) की योजना करने से श्री कामेश्वरी-विद्या के मन्त्र की निष्पत्ति होती है ॥१-४॥

मन्त्र स्वरूप—'अं' ऐं क्लीं सौ: ॐ नम: कामेश्वरि इच्छाकामफलप्रदे सर्वसत्त्ववशंकरि सर्वजगत् क्षोभणकरि हुं हुं हुं द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं स: सौ: क्लीं ऐं ।' यह ४६ अक्षरों का मन्त्र है ।

विमर्श—'अथ वक्ष्ये महेशानि ! नित्या-विवरणं महत्। कामेश्वरी महाभेदा: बहव: सन्ति पार्वति ।' तन्त्रान्तर में उक्त ऋषि-वाक्य के अनुसार 'कामेश्वरी' के अनेक भेद हैं। यथा (१) नित्या-कला कामेश्वरी, (२) अति रहस्य योगिनी कामेश्वरी, जो जाग्रत्-दशा की अधिष्ठात्री हैं, और (३) स्वयं श्री महा-त्रिपुर-सुन्दरी।

कामेश्वरी-नित्या के उपर्युक्त-मन्त्र के ऋषि-आदि कामेश्वरी वत् हैं। अर्थात् - ऋषि-दक्षिणामूर्ति। छन्द-पंक्ति। देवता-श्री कामेश्वरी नित्या। बीज-ऐं। शक्ति: सौ:। कीलक-क्लीं। पूजन-तिथि-शुक्ल प्रतिपदा एवं अमावस

श्री कामेश्वरी-नित्या का ध्यान है—

रक्तां रक्तदुकूलाङ्गलेपनां रक्तभूषणाम्।
पाशाङ्कुशौ धनुर्बाणान् पुस्तकं चाक्षमालिकाम्॥
वराभीतिञ्च दधतीं दधतीं त्रैलोक्य वशकारिणीम्।
एवं कामेश्वरीं ध्यायेद् वश्यसौभाग्यवाक्प्रदाम्॥

श्री कामेश्वरी नित्या का 'बालार्कसंकाशां......वरदं विभ्रतीं करै' ध्यान भी है मगर उसमें मन्त्र-भिन्न है। इस एकादशाक्षरी मन्त्र के सम्मोहन ऋषि, छन्द त्रिष्टुप हैं।

वाग्भवं भगशब्दान्ते भुगे भगिनि चाऽऽलिखेत्।
भगोदरि भगान्ते च भगमाले भगावहे॥५॥
भगगुह्ये भगप्रान्ते योनिप्रान्ते भगान्तिके।
निपातिनि च सर्वान्ते ततो भगवशंकरि॥६॥
भगरूपे ततो लेख्यं नीरजायतलोचने।
नित्यक्लिन्ने भगप्रान्ते स्वरूपे सर्व चाऽऽलिखेत्॥७॥
भगानि मे ह्यानयेति वरदेति समालिखेत्।
रेते सुरेते भग च क्लिन्ने क्लिन्नद्रवे ततः॥८॥
क्लेदय द्रावयाथो च सर्वसत्त्वान्भगेश्वरि।
अमोघे भगविच्चे च क्षुभ क्षोभय सर्व च॥९॥
सत्त्वान्भगेश्वरि ब्रूयाद्वाग्भवं ब्लूंजमादिमम्।
भेब्लूं भोब्लूं च हेंब्लूं च हें क्लिन्ने च ततः परम्॥१०॥
सर्वाणि च भगान्यन्ते मे वशं चाऽऽनयेति च।
स्त्रीबीजं च हर प्रान्ते बले मात्मकमक्षरम्॥११॥
भुवनेशीं समालिख्य विद्येयं भगमालिनी।
प्रसङ्गात्कथिता पञ्चचत्वारिंशच्छताक्षरी॥१२॥

(२) भग-मालिनी—हे नीरजायत लोचने ! द्वितीया नित्या-श्री भग-मालिनी का मन्त्र सुनिये—

वाग्भव (ऐं) के बाद 'भग' फिर 'भुगे भगिनि' के बाद क्रमशः—'भगोदरि, भगमाले, भगावहे, भग गुह्ये, भगयोनि, भगनिपातिनि' के बाद सर्वभगवशङ्करि 'भगरूपे' के बाद 'नित्य क्लिन्ने भगस्वरूपे सर्वभगानि मे आनय वरदे रेते सुरेते भगक्लिन्ने क्लिन्नद्रवे' के बाद 'क्लेदय द्रावय सर्वसत्त्वान्भगेश्वरि अमोघे भगविच्चे क्षुभ क्षोभय सर्वसत्त्वान् भगेश्वरि' के बाद वाग्भव (ऐं) ब्लूं, फिर 'जं' भेब्लूं भोब्लूं हेंब्लूं हें क्लिन्ने के बाद सर्वाणि भगानि में वशमानय के बाद 'स्त्रीं' के बाद हरब्लें के बाद भुवनेशी (ह्रीं) की योजना करने से १४५ अक्षरों का मन्त्र निष्पन्न होता है ।।५-१२।।

मन्त्र-स्वरूप—'ओं' ऐं भग भुगे भगिनि भगोदरि भगमाले भगावहे भगगुह्ये भगयोने भगनिपातिनि सर्वभगवशङ्करि भगरूपे नित्यक्लिन्ने भगस्वरूपे सर्वभगानि मे आनय वरदे रेते सुरेते भंगक्लिन्ने क्लिन्नद्रवे क्लेदय द्रावय सर्वसत्त्वान् भगेश्वरि अमोघे भगविच्चे क्षुभ क्षोभय सर्वसत्त्वान् भगेश्वरि ऐं ब्लूं जं भेब्लूं भोब्लूं हें ब्लूं हें क्लिन्ने सर्वाणि भगानि मे वशमानय स्त्रीं हरब्लें ह्रीं ।

विमर्श—उपर्युक्त स्पष्ट-मन्त्र में १४५ अक्षर नहीं है । 'वृहत्-तन्त्र सार' में 'ज्ञानार्णव' से उद्धृत इन श्लोकों में निम्नानुसार पाठ-भेद हैं ।

(१) श्लोक संख्या ५ में—भगोदरीति भगान्ते के स्थान पर भृगोदरीति भगाङ्के ।

(२) श्लोक संख्या १० में 'हें क्लिन्ने' के स्थान पर केवल 'क्लिन्ने' ('हें' नहीं है) 'भगोदरि' के बाद 'भगाङ्के' की योजना करने और 'हें क्लिन्ने' से 'हें' को विलोपित करने से उक्त मन्त्र १४५ अक्षरों का हो जाता है ।

सुभग ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, भगमालिनी देवता, 'हरब्लें' बीज हैं, 'स्त्रीं' शक्ति है और 'ब्लूं' कीलक है । 'हरब्लां' हरब्लीं, हरब्लूं, हरब्लैं, हरब्लौं और 'हरब्लः' से षडङ्ग-न्यास । भगवती भग-मालिनी की तिथियाँ है—शुक्ला द्वितीया और कृष्णा-चतुर्दशी । उनका ध्यान है—

कदम्बवनमध्यस्थामुद्यत्सूर्यसमद्युतिम् ।
नाना भरण सम्पन्नां त्रैलोक्याकर्षणक्षमाम् ।
पाशांकुशौ पुस्तकं च लौलिकी नखलेखनीम् ।
वरदं चाभयं चैव दधतीं विश्व मातरम् ॥

तृतीया नित्या नित्यक्लिन्ना

पराबीजं समुच्चार्य नित्यक्लिन्ने मदद्रवे।
अग्निजायान्वितो मन्त्रो नित्यक्लिन्नेयमीरिता ॥१३॥
सर्वसौभाग्यदात्री च सर्वैश्वर्यप्रदायिनी।

(३) नित्य-क्लिन्नाः—पराबीज (ह्रीं) के बाद 'नित्य क्लिन्ने मदद्रवे' के बाद वह्निजाया (स्वाहा) की योजना करने से सर्वसौभाग्य दायिनी एवं सर्व ऐश्वर्य प्रदायिनी श्री नित्य-क्लिन्ना का एकादश अक्षरी मन्त्र निष्पन्न होता है ॥१३॥

मन्त्र-स्वरूप—'इं ह्रीं नित्याक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा'

विमर्श—इस मन्त्र के ऋषि-'ब्रह्मा' छन्द-विराट्, देवता-नित्यक्लिन्ना 'ह्रीं' बीज, 'स्वाहा' शक्ति है। पूजन तिथियाँ हैं—शुक्ल पक्ष की तृतीया और कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी। ध्यान है—

रक्तां रक्ताङ्गवसनां चन्द्रचूडां त्रिलोचनाम्।
विद्युत्वक्त्रां महाघूर्णलोचनां रत्नभूषिताम्॥
पाशांकुशौ कपालं च महाभीतिहरं तथा।
दधतीं संस्मरेन्नित्यां पद्मासन विराजिताम्॥

अथ चतुर्थी नित्या भेरुण्डा का मन्त्र बता रहे हैं—

प्रणवं पूर्वमुच्चार्य तथाऽङ्कुशयुगं लिखेत् ॥१४॥
तन्मध्ये विलिखेद्देवि भरोमात्मकक्षरम्।
चवर्गमन्त्यहीनं तु विलिखेद्वह्निसंस्थितम् ॥१५॥
चतुर्दशस्वरोपेतं बिन्दुनादाङ्कितं पृथक्।
वह्निजायान्वितो मन्त्रो भेरुण्डायाः फलप्रदः ॥१६॥

(४) भेरुण्डा—प्रणव (ॐ) के बाद दो बाद अंकुश (क्रों) इन दोनों के बीच में 'भ्रों'। इस तरह चार-वर्ण हुए 'ॐ क्रों भ्रों क्रों'। इनके बाद 'च' वर्ग के प्रथम चार अक्षर-अर्थात् च, छ, ज, एवं झ जो रेफ (र) एवं बिन्दु नादसमन्वित चतुर्दश स्वर (औं) से युक्त हैं—अर्थात् 'च्रौं छ्रौं ज्रौं झ्रौं'। इनके बाद स्वाहा। इस प्रकार भेरुण्डा का १० अक्षरों वाला मन्त्र निष्पन्न होता है ॥१४-१६॥

मन्त्र-स्वरूप—'ईं' ॐ क्रों भ्रों क्रों च्रौं छ्रौं ज्रौं झ्रौं स्वाहा'

विमर्श—उक्त मन्त्र के ऋषि 'महाविष्णु' छन्द-गायत्री, देवता 'पराशक्ति' 'भ्रों' बीज, स्वाहा-शक्ति, एवं 'क्रों' कीलक है। यह मन्त्र 'महाविषहर' है। षड् दीर्घ स्वर युक्त बीज (यथा—भ्रां, भ्रीं, भ्रू, भ्रैं, भ्रौं, भ्रौः) से षडङ्ग न्यास करें। श्री भेरुण्डा नित्या की पूजन तिथियाँ हैं—शुक्लाचतुर्थी-कृष्णा-द्वादशी। ध्यान है—

चन्द्रकोटि प्रतीकाशांस्त्रवंतीममृतद्रवैः ।
नीलकण्ठां त्रिनेत्रां च नानाभरण भूषिताम् ॥
इन्द्र नील स्फुरत्कान्ति शिखिवाहन शोभिताम् ।
पाशांकुश कपालं च छुरिकां वरदाभये ॥
विभ्रतीं हेमसम्बद्ध गरुडाङ्गद भूषिताम् ।

भेरुण्डा के बाद पाँचवीं नित्या 'वह्नि-वासिनी' के मन्त्र का उद्धार बता रहे हैं—

भुवनेशीं समुच्चार्य चतुर्थ्या वह्निवासिनीम् ।
हृदन्तोऽयं मनुर्देवि नित्येयं वह्निवासिनी ॥१७॥

(५) वह्नि-वासिनी—भुवनेशी (ह्रीं) के बाद चतुर्थ्यन्त वह्नि-वासिनी अर्थात् 'वह्नि-वासिन्यै' । इसके बाद हृद् (नमः) की योजना करने से वह्नि-वासिनी का मन्त्र बनता है ॥१७॥

मन्त्र-स्वरूप—'उं' ह्रीं वह्नि वासिन्यै नमः

विमर्श—वह्नि-वासिनी विद्या के ऋषि-वसिष्ठ, छन्द-गायत्री, बीज 'ह्रीं' शक्ति 'नमः' और 'वह्नि-वासिन्यै' कीलक हैं । इन तीन कूटों की दो बार आवृत्ति करके षडङ्ग-न्यास करें । पूजन तिथियाँ शुक्ला पंचमी एवं कृष्ण एकादशी इनका ध्यान है—

ध्यायेत्तां च सुवर्णाभां नानालंकारभूषिताम् ।
पाशांकुशौ स्वस्तिकं च शक्तिं च वरदाभये ॥
दधतीं रत्न मुकुटां त्रैलोक्य तिमिरापहाम् ।

'वह्नि-वासिनी' के बाद छठवीं नित्या 'महा विद्येश्वरी' के मन्त्र का उद्धार बता रहे हैं—

प्रणवं भुवनेशानि फरेमात्मकमक्षरम् ।
सविसर्गः शशी पश्चान्नित्यक्लिन्ने मदद्रवे ॥१८॥
वह्निजायान्विता विद्या सर्वैश्वर्यप्रदायिनी ।
महाविद्येश्वरी नित्या प्रसङ्गेन मयेरिता ॥१९॥

(६) महाविद्येश्वरी—प्रणव (ॐ) भुवनेशानि (ह्रीं) 'फ्रें' के बाद विसर्ग युक्त शशि (स) अर्थात् 'सः' । इसके बाद 'नित्यक्लिन्ने मदद्रवे' फिर वह्नि जाया अर्थात् स्वाहा । यह सर्व ऐश्वर्य-प्रदायिनी महाविद्येश्वरी का मन्त्र है ॥१८-१९॥

मन्त्र-स्वरूप—'ऊं' ॐ ह्रीं फ्रें सः नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहा

विमर्श—इस मन्त्र के ऋषि ब्रह्मा, छन्द-गायत्री, देवता-परमेश्वरी महाविद्येश्वरी, बीज 'ॐ' शक्ति 'स्वाहा' और कीलक-'ह्रीं' । मन्त्र के क्रमशः चार, दो, दो, दो, दो,

दो वर्णों से षडंग-न्यास किया जाता है। पूजन तिथियाँ शुक्ला षष्ठी एवं कृष्णा दशमी। इनका ध्यान है—

जपाकुसुमसंकाशां, रक्तांशुक-विराजिताम्।
माणिक्य भूषणां नित्यां, नानाभूषा भूषिताम्।
पाशांकुशौ कपालस्यसुधापान विघूर्णिताम्॥
अभयं दधतीं ध्यायेत्, महाविद्येश्वरीं नित्याम्॥

कतिपय ग्रन्थों में इनका नाम 'महावज्रेश्वरी' बताया गया है। 'वृहत्-तन्त्रसार' में उद्धृत १९वें श्लोक की द्वितीय पंक्ति है—'चतुर्दशाक्षरी विद्या ज्ञेया वज्रेश्वरी तथा'। अब इसके बाद सप्तमी नित्या दूती (शिवदूती) का मन्त्र बता रहे हैं।

पराबीजं समुच्चार्य शिवदूतीं च ङेयुताम्।
हृदन्तोऽयं मनुर्देवि दूतीयं सर्वकामदा॥२०॥

(७) शिव-दूती—पराबीज (ह्रीं) के बाद ङेयुता शिवदुती अर्थात् 'शिवदूत्यै' के बाद 'नमः'। यह सर्वकामदा शिव-दूती का मन्त्र है॥२०॥

मन्त्र-स्वरूप—'ॠं' 'ह्रीं शिव-दूत्यै नमः'

विमर्श—इस मन्त्र के ऋषि 'रुद्र', छन्द-गायत्री, देवता-शिवा, बीज ह्रीं, शक्ति—'नमः' और कीलक—'शिवदूत्यै' है। मन्त्र के तीनों कूटों की दो बार आवृत्ति करके षडङ्ग-न्यास करें। पूजन तिथियाँ शुक्ला सप्तमी एवं कृष्णा नवमी। इनका ध्यान है—

दूर्वानिभां त्रिनेत्रां च महासिंह समासनाम्।
शंखारि बाण चापांश्च, सृणि पाशौ वराभये॥
दधतीं चिन्तयेन्नित्यां, शिवदूतीं महाकलाम्।

अब आठवीं नित्या 'त्वरिता' का मन्त्र बता रहे हैं—

ओंकारबीजमुचार्य परां कवचमालिखेत्।
खे च छे क्षः समालिख्य स्त्रीबीजं च समालिखेत्॥२१॥
हुंकारं क्षे परा चास्त्रं विद्येयं द्वादशाक्षरी।
त्वरिता नाम नित्येयं त्रिषु लोकेषु दुर्लभा॥२२॥

(८) त्वरिता—'ॐ' के बाद परा (ह्रीं) कवच (हुं) 'खे च छे क्षः' ये चार वर्ण, फिर स्त्रीबीज (स्त्रीं), फिर 'हुं' 'क्षे' परा (ह्रीं) और अस्त्र (फट्) की योजना करने से त्वरिता-नित्या का द्वादशाक्षरी मन्त्र निष्पन्न होता है, जो तीनों लोकों में दुर्लभ है॥२१-२२॥

मन्त्र-स्वरूप—'ॠं' ॐ ह्रीं हुं खे च छे क्षः स्त्रीं हुं क्षे ह्रीं फट्'

विमर्श—इस मन्त्र के ऋषि-ईश (ईश्वर), छन्द-विराट्, देवता-पार्वती, बीज-ह्रीं, शक्ति-स्त्रीं और कीलक—'हुं' हैं। षडङ्ग-न्यास क्रमशः (१) च छे, (२) छेक्षः, (३) क्षः स्त्री, (४) स्त्रीं हूं, (५) हूं क्षे और (६) क्षे-फट् से। ध्यान—

श्यामाङ्गीं रक्तसत्पाणि-चरणाम्बुज शोभितां।
वृषलाहि-सुमञ्जीरां फटारत्न विभूषितां॥
स्वर्णांशुकां स्वर्ण-भूषां वैश्याहि द्वन्द्व मेखलां।
तनु मध्यां पीन-वृत्त-कुच-युग्मां वराभये॥
दधतीं शिखि-पिच्छानां वलयाङ्गद-शोभितां।
गुञ्जारुणां नृपाहीन्द्र केयूरां-रक्त भूषणाम्॥
द्विज-नाग-स्फुरत् कर्णभूषां मत्तारूणेक्षणां।
नील-कुञ्चित्-धम्मिल-वन-पुष्प-कलापिनीम्॥
कैरातीं शिखि पत्राढ्य निकेतन विराजिताम्।
स्फुरत्-सिंहासन-प्रौढां स्मरेद् भयविनाशिनीम्॥

'प्रपञ्च-सार' और 'वृहत्-तन्त्र-सार' में मन्त्र के ऋषि 'अर्जुन' बताये गये है। ध्यान भी भिन्न बताया गया है। पूजन तिथियाँ शुक्ला अष्टमी, कृष्णा अष्टमी

सर्व सिंहासन मयी बालेव कुल-सुन्दरी

(९) कुल-सुन्दरी—सर्व सिंहासन मयी श्री बाला त्रिपुरा ही कुल-सुन्दरी है॥२३॥

मन्त्र-स्वरूप—ऌं ऐं क्लीं सौ।

ऋषि-आदि-श्री बाला त्रिपुरावत्।

विमर्श—भगवती 'कुल-सुन्दरी' के मन्त्र के ऋषि श्री दक्षिणा मूर्ति, छन्द-पंक्ति देवता 'कुलसुन्दरी बाला त्रिपुरा, बीज—'ऐं', शक्ति-सौः, कीलक-क्लीं है। मन्त्र के तीनों अक्षरों की दो बार आवृत्ति कर 'षडङ्ग-न्यास'। भगवती कुल-सुन्दरी का ध्यान है—

ध्यायेद् देवीं महेशानीं कदम्ब वन मध्यगाम्।
रत्नमण्डप मध्ये तु महाकल्प वनान्तरे॥
मुक्तातपत्रच्छायायां रत्न सिंहासने स्थिताम्।
अनर्घ रत्नघटित मुकुटां रत्न कुण्डलाम्॥
हारग्रैवेय सद्रत्नचित्रितां कंकणोज्ज्वलाम्।
हीरमुक्तालसद् भूषां शुक्लक्षौम विराजिताम्॥

हीरमञ्जीरसुभगा, रक्तोत्पल पदाम्बुजाम् ।
शुभ्राङ्गराग सुभगां, कर्पूर शकलोज्ज्वलाम् ॥
पुस्तकञ्चाभयं वामे, दक्षिणे चाक्षमालिकाम् ।
वरदानरतां दिव्यां महासारस्वत प्रदाम् ॥
एवं ध्यायेन्महानित्यां देवेशीं कुल-सुन्दरीम् ।

नेपाल के सिद्ध-साधक प्रवर एवं तन्त्र-शास्त्र के चूड़ान्त विद्वान् मेजर-जनरल श्री धन शमशेर बहादुर जंग राणा ने भगवती कुल-सुन्दरी का एक और ध्यान बताया है—

अति मधुर चाप-हस्तामपरिमितामोद बाण सौभाग्याम् ।
अरुणामतिशय-करुणामभिनव कुल सुन्दरीं वन्दे ॥

श्री कुल-सुन्दरी की पूजन-तिथियाँ शुक्ल पक्ष में नवमी और कृष्ण-पक्ष में सप्तमी हैं । पूजन-न्यास के समय मन्त्र के आदि में 'लं' की योजना कर लेनी चाहिए । यथा—'ऐं ह्रीं श्रीं लं ऐं क्लीं सौः कुलसुन्दरी नित्यायै नमः' ।

बालया पुटितां कुर्यात्तथा वै नित्यभैरवी ॥२३॥
पञ्च बाणाश्च देवेशी नित्या शक्राक्षरी भवेत् ।
त्रैलोक्यविमला विद्या नित्याख्या परमेश्वरी ॥२४॥

(१०) नित्या—नित्य-भैरवी के मन्त्र के साथ पञ्च-बाण बीजों की योजना करके उन्हें बाला-त्रिपुरा के त्र्यक्षरी मन्त्र से क्रम-उत्क्रम विधि से सम्पुटित करने देने पर श्री 'नित्या' नित्या का चतुर्दशाक्षरी मन्त्र बनता है ॥२३-२४॥

मन्त्र स्वरूप—'लूं' ऐं क्लीं सौः हसकलरडैं हसकलरडीं हसकलरडौः द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः सौः क्लीं ऐं'

विमर्श—ऋषि आदि बाला-त्रिपुरा के समान । ध्यान हैं—

तप्त-काञ्चन संकाशां सर्वालङ्कार भूषिताम् ।
वराभय करां नित्यां, विमलां प्रणमाम्यहम् ॥

भगवती 'नित्या' का दूसरा-मन्त्र बता रहे हैं—

पञ्चाक्षरी बाणबीजैर्नित्येयमपरा प्रिये ।

पञ्चबाण बीजों की योजना से भगवती नित्या का दूसरा मन्त्र बनता है । यथा—

मन्त्र-स्वरूप—'द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः'

ग्रन्थान्तर में इनका नाम—'विमला' भी मिलता है। पूजन और न्यास के समय मन्त्र के आदि में स्वर-वर्ण 'ॡं' की योजना कर लेनी चाहिए। इनकी पूजन-तिथियाँ शुक्ल पक्ष में दशमी और कृष्ण पक्ष में षष्ठी है।

प्रणवं भुवनेशानि फरेमात्मकमक्षरम् ॥२५॥
स्रूमात्मकं द्वितीयं च भुवनेश्यङ्कुशं ततः।
नित्यशब्दं समुद्धृत्य संबुद्धया तु मदद्रवाम् ॥२६॥
कवचं चाङ्कुशं पञ्चदशैर्नीलपताकिनी।

(११) नील पताकिनी—प्रणव (ॐ) भुवनेशानी (ह्रीं) के बाद 'फ्रें'—इसके बाद दो बार 'स्रूं' तत्पश्चात् भुवनेशीं (ह्रीं), अंकुश (क्रों) फिर 'नित्यमदद्रवे' के बाद कवच (हुं) और अंकुश (क्रों) इनकी योजना करने से 'नील-पताकिनी' का पन्द्रह-अक्षरों का मन्त्र बनता है ॥२५-२७॥

मन्त्र-स्वरूप—'एं' ॐ ह्रीं फ्रें स्रूं स्रूं ह्रीं क्रों नित्यमदद्रवे हुं क्रों'

विमर्श—भगवती नील पताकिनी का ध्यान हैं—

रक्तां रक्तांशुक प्रौढां नानारत्न विभूषिताम्।
इन्द्रनील स्फुरन्नील पताकां कमले स्थिताम् ॥
काम-ग्रैवेय संलग्न सृणी च वरदाभये।
दधतीं परमेशानीं त्रैलोक्याकर्षणक्षमाम् ॥

पूजन-न्यास के समय मन्त्र के आदि में 'एं' की योजना कर लेनी चाहिए। इनकी पूजन-तिथियाँ शुक्ल पक्ष में एकादशी और कृष्ण-पक्ष में पंचमी है।

'श्रीविद्यार्णव' में इनका ६० अक्षरों का मन्त्र बताया गया हैं—

ॐ हत् कामेश्वरि कामांकुशो कामपताતिके भगवति नीलपताके भगवति नमोऽस्तु मे परमगुह्ये ह्रीं ह्रीं ह्रीं मदने मदनगेहे त्रैलोक्यमावेशय हुं फट् स्वाहा'

'सुभगोदय' नित्याषोडाशिकार्णव' में १७ अक्षरों का मन्त्र हैं—

'ह्रीं फ्रें स्रूं भ्रूं क्लीं आं ह्रीं क्रों नित्यमदद्रवे हुं फ्रें ह्रीं'

'मन्त्र महोदधि' में चौदह अक्षरों का मन्त्र है—

'ॐ ह्रीं फ्रें स्रं ह्रीं क्रों नित्यमदद्रवे हुं क्रों'

बान्तं कालसमायुक्तं वह्निवायुगतं ततः ॥२७॥
पृथक्पञ्चसमायुक्तं ततः शक्रस्वरान्वितम्।
बिदुनादाङ्कितं बीजं नित्येयं विजया प्रिये ॥२८॥

(१२) विजया—'ब' के बाद वाला वर्ण 'भ' और काल अर्थात् 'म' । वह्नि (र) एवं वायु (य) । इनके बाद बिन्दु नाद कला युक्त शक्र स्वर-अर्थात् 'औं' । उनकी योजना करने से भगवती विजया-नित्या का मन्त्र बनता है ॥२७-२८॥

मन्त्र-स्वरूप—'भमरयौं'

विमर्श—'श्रीविद्यार्णव' और 'वृहत्-तन्त्रसार' में 'ज्ञानार्णव' से उद्धृत दो श्लोकों का पाठ निम्नानुसार हैं—

बान्त काल समायुक्तं रेफं शक्र स्वरान्विताम् ।
बिन्दु नादाङ्कितं देवि ! विद्येयं विजया भवेत् ॥

इस श्लोक के आधार पर वहीं मन्त्र स्पष्ट किया गया है—'भमरौं'—

बान्तं कालाग्निवायुश्च शक्रस्वर विभूषितः ।
नाद बिन्दु कला युक्तो विद्येयं विजया भवेत् ॥

इस उद्धार के अनुसार मन्त्र-स्पष्ट दिया गया है—**'भमरयौं'**

'श्रीविद्यार्णव' और 'वृहत्-तन्त्रसार' जैसे प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थों में श्री 'ज्ञानार्णव तंत्र' से उपर्युक्त जिन दो श्लोकों को उद्धृत किया गया है, वे श्लोक 'ज्ञानार्णव' के प्रकाशित संस्करण में यथा-क्रम उपलब्ध नहीं हैं । साथ ही उपर्युक्त दो श्लोकों के साथ तुलनात्मक मिलान करने पर 'ज्ञानार्णव' के प्रकाशित-संस्करण में क्रमांक २७ और २८ पर प्राप्त श्लोकों में कुछ अस्पष्टता की प्रतीति होती है ।

'श्रीविद्यार्णव' में उपर्युक्त श्लोकों के आधार जहाँ पर स्पष्ट-मन्त्र स्वरूप क्रमशः 'भमरौं' और 'भमरयौं' बताया गया है, वहीं 'वृहत्-तन्त्रसार' में स्पष्ट-मन्त्र क्रमशः 'भ्म्रौं' और 'भ्म्र्यौं' लिखा गया है ।

पूज्यपाद श्री करपात्र स्वामी ने 'श्रीविद्यारत्नाकर' (पृष्ठ १६६) में भगवती विजया नित्या का मन्त्र—'भ्म्र्यूं' बताया है ।

इस तरह इन मन्त्रों के पाँच स्वरूप प्राप्त होते हैं । (१) भमरौं, (२) भमरयौं, (३) भ्म्रौं, (४) भ्म्र्यूं और (५) भ्म्र्यूं' ।

श्रीविद्यार्णव (१४ वें श्वास) में ही 'रसो नमः तथा दाहो व्याप्तं क्ष्मा । स्वेन युक्ता भवेन्नित्या विजया एकाक्षरा मता' मन्त्रोद्धार बताकर स्पष्ट मन्त्र 'भमरयउऔं' लिखा गया है । इस मन्त्र के ऋषि—'अहिः' छन्द-गायत्री, देवता-विजया है । मन्त्र के एक-एक वर्ण से षडंग-न्यास करने का विधान भी बताया गया है ।

तन्त्रान्तर में भगवती विजया नित्या का एक और मन्त्र-बताया गया है । 'हस्ख्फ्रें-विजयायै नमः' (श्रीविद्यार्णव सप्तम श्वास और मन्त्र-महोदधि द्वादश तरंग) ।

इस मन्त्र के ऋषि शिव, छन्द-गायत्री, देवता-'विजया', बीज 'हस्ख्फ्रें', शक्ति 'विजयायै' और कीलक—'नमः' हैं। षड्दीर्घ स्वर युक्त 'बीज' से षडङ्ग न्यास का विधान है। भगवती विजया-नित्या का **'ध्यान'** है—

एक वक्त्रां दशभुजां सर्प यज्ञोपवतिनीम्।
दन्ष्ट्रा कराल-वदनां, नर-माला विभूषिताम्॥
अस्थि चर्मावशेषां तां वह्नि-कूट-सम-प्रभाम्।
व्याघ्राम्बरां महाप्रौढ़ शवासन-विराजिताम्॥
रणे स्मरण मात्रेण भक्तेभ्यो विजय-प्रदाम्।
शूलं सर्पं च टङ्कासि-सृणि-घण्टाशनि द्वयम्॥
पाशमग्निमभीतिं च दधानां विजयां स्मरेत्।

भगवती विजया नित्या के और भी ध्यान ग्रन्थों में मिलते हैं। इन्हे विस्तार-भय से यहाँ उद्धृत नहीं किया जा रहा है।

पूजन और न्यास करते समय मन्त्र के आदि में 'ऐं' की योजना करनी चाहिए। श्री 'श्रीचक्र' में नित्या-अर्चन क्रम में इनके पूजन की तिथियाँ शुक्ल पक्ष में द्वादशी और कृष्ण-पक्ष में चतुर्थी है।

चन्द्रवारुणसंयुक्तं तारबीजं समालिखेत्।
चतुर्थ्या तु ततो देवि विलिखेत्सर्वमङ्गलाम्॥२९॥
हृदन्तोऽयं मनुर्देवि नित्ययें सर्वमङ्गला।

(१३) सर्वमङ्गला—चन्द्रमा (स) वरुण (व) इन्हें तार(ओं) से संयुक्त कर 'सर्वमङ्गला' का चतुर्थी का रूप और अन्त में 'नमः' लिखने से 'सर्वमङ्गला' का मन्त्र बन जाता है॥२९-३०॥

मन्त्र-स्वरूप—'ओं' 'स्वौं सर्वमङ्गलायै नमः'

विमर्श—इस मन्त्र के ऋषि-चन्द्र, छन्द-गायत्री और देवता-सर्वमंगला हैं। मन्त्र के तीन कूटों की दो-दो बार आवृत्ति करके षडङ्ग-न्यास करें। ध्यान है—

शुभ्रपद्मासने रम्यां चन्द्रकुन्दसमद्युतिम्।
सुप्रसन्नां शशिमुखीं नानारत्न विभूषिताम्॥
अनन्त मुक्ताभरणां स्रवन्तममृतद्रवम्।
वरदाभयशोभाढयां स्मरेत् सौभाग्यवर्धिनीम्॥

पूजन और न्यास के समय मन्त्र के आदि में 'ओं' की योजना कर लें। पूजन-तिथि-शुक्ल पक्ष में त्रयोदशी और कृष्ण-पक्ष में तृतीया।

तारं हृद्भगवत्यन्ते ज्वालामालिनि देवि च ॥३०॥
द्विरुच्चार्य च सर्वान्ते भूतसंहारकारिके।
जातवेदसि संलिख्य ज्वलन्तिपदयुग्मकम् ॥३१॥
ज्वलेतिप्रज्वलद्वंद्वं हुंकारद्वितयं लिखेत्।
वह्निबीजत्रयं हुं च अस्त्रस्वाहान्वितो मनुः ॥३२॥
इयं नित्या महादेवि ज्वालामालिनिका परा।

(१४) ज्वालामालिनी—तार (ॐ) हृदय (नमः) भगवति के बाद ज्वालामालिनी देवि (दो बार) फिर 'सर्व' 'भूतसंहारकारिके', 'जातवेदसि' 'ज्वलन्ति' 'ज्वलन्ति' 'ज्वल' 'प्रज्ज्वल-प्रज्ज्वल' 'हुं हुं' 'रं रं रं' अस्त्र (फट्) और अन्त में 'स्वाहा' की योजना करने से देवी ज्वामामालिनी का मन्त्र बनता है ॥३०-३३॥

मन्त्र-स्वरूप—'औं' ॐ नमो भगवति ज्वालामालिनी देवि, ज्वालामालिनी देवि सर्वभूत संहार कारिके जातवेदसि ज्वलान्ति ज्वलन्ति ज्वल प्रज्ज्वल प्रज्ज्वल हुं हुं रं रं रं हुं फट् स्वाहा'।

विमर्श—'उक्त मन्त्र के ऋषि कश्यप, छन्द गायत्री, देवता ज्वालामालिनी नित्या, बीज 'रं', शक्ति-फट्, कीलक-'हुं' हैं। ध्यान है—

उद्यद् विद्युल्लता कान्ति स्वर्णाभरण भूषितां।
महासिंहासन प्रौढां ज्वाला-माला करालिनीम्॥
अरि-शंखौ, खड्ग-खेटे, त्रिशूलं डमरुं तथा।
पान पात्रं च वरदं दधतीं संस्मरेद् यजेत्॥

पूजन और न्यास के समय मन्त्र के आदि में 'औं' लगा लें। पूजन-तिथि शुक्ल पक्ष में चतुर्दशी और कृष्ण-पक्ष में द्वितीया है।

कवर्गान्तं स्वरान्तं च शक्रस्वरविभूषितम् ॥३३॥
बिन्दुनादकलाक्रान्तं विचित्रा परमेश्वरी।

(१५) विचित्रा—'क' वर्ग के बाद वाला वर्ण-अर्थात् 'च', स्वरों के बाद वाला वर्ण अर्थात् 'क' जो बिन्दु नाद से युक्त शक्र-स्वर (औ) से समन्वित है। इन अक्षरों की योजना से पन्द्रहवीं नित्या 'विचित्रा' का मन्त्र बनता है।

मन्त्र-स्वरूप—'च्कौं'

विमर्श—इस मन्त्र के ऋषि 'ब्रह्मा', छन्द-गायत्री, देवता-विचित्रा, बीज 'कं' शक्तिः 'ॐ' कीलक 'चं' है। षड् दीर्घ स्वर युक्त 'बीज' से षडङ्ग-न्यास। ध्यान—

शुभ्रांगी ज्ञानदा नित्यं विचित्र वसना सदा।
विचित्र तिलका नित्यं विचित्र कुसुमोज्ज्वला॥

'श्रीविद्यार्णव' और 'वृहत् तन्त्रसार' में स्पष्ट-मन्त्र 'चक्रौ' बताया गया है जबकि 'मन्त्र-महोदधि' में इसे एकाक्षरी 'च्क्रौं' लिखा गया है।

अकारादिषु सर्वेषु स्वरेषु क्रमतो न्यसेत्॥३४॥
अःस्वरे परमेशानि श्रीविद्यां विश्वमातृकाम्।
स्वरवद्विन्यसेन्नित्या नीरजायतलोचने॥३५॥

न्यास-विधि—हे नीरजायत लोचने! प्रत्येक नित्या के मन्त्र के आदि में 'अ-आ' आदि स्वरों में से एक-एक स्वर की योजना करके स्वरों के न्यास स्थान में उनका (नित्याओं) का न्यास करना चाहिए।

हे परमेशानि! विश्वमातृका श्रीविद्या का 'अ:' स्वर के साथ न्यास करना चाहिए॥३५॥

विमर्श—नित्याओं के मन्त्र के साथ 'अ' 'आ' स्वरों की यथा-क्रम योजना 'विमर्श' में कर दी गई है। सृष्टि-मातृका न्यास क्रम में स्वरों का न्यास जिस-जिस अंग में किया जाता है, उन-उन स्थानों (अंगों) पर नित्याओं का न्यास किया जाता है। पूजन-क्रम में 'नित्याओं' का 'न्यास' तो प्रतिदिन किया जाता है, परन्तु जिस तिथि की जो नित्या है, उस तिथि को उस नित्या का और 'अ: स्वर युक्त' मूल-मन्त्र' से श्री विद्या का पूजन किया जाता है।

योगिनी-न्यास–

प्रकटाद्या न्यसेत्पश्चादाधारादिषु मन्त्रवित्।

नित्याओं का न्यास करने के बाद 'प्रकट' आदि योगिनियों का मूलाधार आदि चक्रों में न्यास करें।

विमर्श—श्री 'श्रीचक्र' के ९ (नौ) चक्रों में भूपुर से मूल-त्रिकोण तक ९ कोटि की योगिनियों की संस्थिति है। भूपुर वर्ती त्रैलोक्य मोहन चक्र में प्रकट-योगिनियों का वास है। यहाँ सूत्र-रूप से यह बताया गया है कि मूलाधार से प्रारम्भ कर ब्रह्म-रन्ध्र पर्यन्त प्रकट आदि योगिनियों का न्यास करना चाहिए। यथा—

मूलाधारे—ऐं ह्रीं श्रीं प्रकटयोगिनीभ्यो नम:।

स्वाधिष्ठाने—ऐं ह्रीं श्रीं गुप्त योगिनीभ्यो नम:।

मणिपूरके—ऐं ह्रीं श्रीं गुप्ततर योगिनीभ्यो नम:।

अनाहते—ऐं ह्रीं श्रीं सम्प्रदाय योगिनीभ्यो नमः ।

आज्ञा चक्रे—ऐं ह्रीं श्रीं निगर्भ योगिनीभ्यो नमः ।

नादे—ऐं ह्रीं श्रीं रहस्य योगिनीभ्यो नमः ।

नादान्ते—ऐं ह्रीं श्रीं अतिरहस्य योगिनीभ्यो नमः ।

ब्रह्मरन्ध्रे—ऐं ह्रीं श्रीं परमाति रहस्य योगिनीभ्यो नमः ।

'श्री विद्या' के १६ वर्णों (कूटों) का शरीर में संहार-क्रम से न्यास करने की विधि चतुर्दश-पटल (श्लोक संख्या ४३-४५) में बताई गई है। ४६वें श्लोक में निर्देश दिया गया है—'सृष्ट्यन्तां विन्यसेत् देवि ! मातृका पूर्ववत् प्रिये' । संहार-क्रम से न्यास करने के बाद श्रीविद्या के १६ वर्णों का 'सृष्ट्यन्त' न्यास करना चाहिए। 'सृष्ट्यन्त' का अर्थ है—संहार, फिर स्थिति और इसके बाद सृष्टि-क्रम से न्यास। ३६वें श्लोक से प्रारम्भ कर साढ़े तीन श्लोकों में स्थिति क्रम से और इसके बाद साढ़े तीन श्लोकों में सृष्टि-क्रम से 'न्यास' के स्थान बताये जा रहे हैं।

स्थितिन्यासं ततः कुर्याच्छ्रीविद्याषोडशाक्षरैः ॥३६॥
पञ्चाङ्गुलीषु करयोर्ब्रह्मरन्ध्रे मुखे हृदि ।
त्रयं विन्यस्य नाभ्यादिपादान्ते चैकमद्रिजे ॥३७॥
गलादिनाभिपर्यन्तमपरं हि ततः परम् ।
ब्रह्मरन्ध्रादिकंठान्तमेकं विन्यस्य पादयोः ॥३८॥
अङ्गुलीषु च विन्यस्य न्यासोऽयं स्थितिकारकः ।

स्थिति-न्यास—'श्रीविद्या' के प्रथम पाँच वर्णों का एक-एक कर दोनों हाथों की पाँचों अंगुलियों में, फिर तीन वर्णों का एक-एक कर ब्रह्मरन्ध्र, मुख और हृदय में, एक-वर्ण का नाभि से पैर पर्यन्त, एक वर्ण का गले से नाभि पर्यन्त, एक वर्ण का ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ पर्यन्त न्यास करके शेष पाँच वर्णों का एक-एक कर पैरों की अंगुलियों में न्यास करें। हे अद्रिजे ! यह 'स्थिति-न्यास' है ॥३६-३९॥

सृष्टिन्यासं ततः कुर्यात्सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥३९॥
ब्रह्मरन्ध्रेऽलिके नेत्रश्रुतिघ्राणोष्ठकेषु च ।
दन्तान्तरोर्ध्वके देवि जिह्वायां गलकूपके ॥४०॥
पृष्ठे सर्वाङ्गहृदयस्तनकुक्षिषु लिङ्गके ।
श्रीविद्यार्णैर्न्यसेद्देवि मन्त्रं सर्वसमृद्धये ॥४१॥

सृष्टि-न्यास—हे देवि ! ब्रह्मरन्ध्र, ललाट, नेत्र, कान, नाक, ओठ, उर्ध्व दन्त पंक्ति, अधो दन्त पंक्ति, जिह्वा, गलकूपक (चिबुक) पीठ, सर्वाङ्ग, हृदय, स्तन, कुक्षि और लिङ्ग-इन १६ स्थानों में श्रीविद्या के १६ वर्णों का एक-एक कर न्यास करना चाहिए। यह सर्वसिद्धि दायक, सर्व समृद्धि प्रद सृष्टि न्यास है ।।४०-४१।।

सर्वाङ्गे विन्यसेत्पश्चाद्व्यापकत्वेन सुन्दरि।
प्राणानायम्य विधिवन्मुद्रासंनद्धविग्रहः ।।४२।।

व्यापक-न्यास—हे सुन्दरि ! इसके बाद पूरे शरीर में सम्पूर्ण-विद्या का व्यापक 'न्यास' करके प्राणायाम करे। इसके बाद मुद्रायें दिखाए ।।४२।।

संक्षोभद्रावणाकर्षवश्योन्मादमहाङ्कुशाः ।
खेचरी बीजरूपा च योनिमुद्रेत्यनुक्रमात् ।।४३।।

संक्षोभिणी, द्रावणी, आकर्षणी, वशीकरिणी, उन्मादिनी, महाङ्कुशा, खेचरी, बीज, और योनि क्रम से ९ मुद्रायें हैं ।।४३।।

बीजानि वक्ष्ये क्रमतो मुद्राणां परमेश्वरि।
पञ्चबाणैः पञ्च मुद्राः करोमात्मकमक्षरम् ।।४४।।
आद्यं तु रुद्रभैरव्या बीजं सदाशिवं ततः।
ततस्तु वाग्भवं देवि क्रमेण हि चतुष्टयम् ।।४५।।
चतुर्मुद्रासु बीजानि नवमुद्रास्वनुक्रमात्।
अथ वक्ष्ये महेशत्नि मुद्राविवरणं क्रमात् ।।४६।।

हे परमेश्वरि ! पञ्च बाण-बीज (द्रां द्रीं क्लीं, ब्लूं और सः) क्रम से पाँच मुद्राओं के बीज हैं। क्रों, रुद्रभैरवी का प्रथम कूट, सदाशिव-बीज और वाग्भव-ये शेष चार-मुद्राओं के बीज हैं। हे महेशानि ! अब मुद्राओं का स्वरूप बता रहा हूँ ।।४४-४६।।

मुद्रा-विवरण

वामहस्तेन मुष्टिं तु बद्ध्वा कर्णप्रदेशके।
तर्जनीं सरलां कृत्वा भ्रामयेत्तन्त्रवित्तमः ।।४७।।
सौभाग्यदण्डिनी मुद्रा न्यासकाले तु सूचिता।
अन्तरङ्गुष्ठमुष्ट्या तु निरुध्य जगतीमिमाम् ।।४८।।
रिपुजिह्वाग्रहा मुद्रा न्यासकाले तु सूचिता।

बायें हाथ की मुट्ठी बाँधकर तर्जनी को सीधे रखकर कान के पास घुमाने से **सौभाग्य-दण्डिनी** मुद्रा बनती है।

दाहिने हाथ से अंगुष्ठ-गर्भिता मुट्ठी बाँधने से **'रिपुजिह्वाग्रहा'** मुद्रा बनती है। इन दोनों का उल्लेख न्यास-विधान (चतुर्दश-मण्डल) में किया गया है ।।४७-४८।।

पाणिद्वयं महेशानि परिवर्तनयोगतः ।।४९।।
योजयित्वा तर्जनीभ्यामनामे वारयेत्प्रिये।
मध्यमे योजयेन्मध्ये कनिष्ठे तदधस्तथा ।।५०।।
अङ्गुष्ठावपि संयोज्य त्रिधा युग्मक्रमेण तु।
त्रिखण्डा नाम मुद्रेयं त्रिपुराह्वानकर्मणि ।।५१।।

त्रिखण्डा-मुद्रा—दोनों हथेलियों को परस्पर जोड़ दें। तर्जनी-अंगुली (दोनों हाथ) को मोड़कर अनामिका पर स्थापित कर दें। मध्यमाओं को बीच में ही रखें। दोनों कनिष्ठाओं को मोड़कर उन्हें मध्यमाओं के नीचे से लायें। कनिष्ठाओं के अग्र पर्वों को मध्यमाओं के मूल में रखें। दोनों अंगूठों को भी परस्पर जोड़ लें। दो-दो के क्रम से तीन रूपों में बनने वाली यह 'त्रिखण्डा-मुद्रा' है ।।५०-५१।।

विरलौ तु करो कृत्वा मध्यमे मध्यमे कुरु।
अङ्गुष्ठाभ्यां कनिष्ठे च संपीड्य सरले ततः ।।५२।।
तर्जन्यौ दण्डवत्कुर्यान्मध्यमस्थ ह्यनामिके।
सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा त्रैलोक्यक्षोभकारिणी ।।५३।।

सर्व संक्षोभिणी मुद्रा—दोनों हाथों को पास लाकर दोनों मध्यमाओं को मध्य-स्थल में रखें। दोनों कनिष्ठाओं को मोड़कर अंगूठों से दबा दें। अनामिकाओं को मध्यमाओं पर स्थापित कर दें। दोनों तर्जनियों को डण्डे के समान सीधा रखें। तीनों लोकों को क्षुब्ध करने वाली यह 'सर्व-संक्षोभिणी मुद्रा है ।।५२-५३।।

मध्यमे तर्जनीयुक्ते सरले स्यात्तदा भवेत्।
सर्वविद्राविणी मुद्रामोहयेत्सचराचरम् ।।५४।।

सर्व-विद्राविणी मुद्रा—दोनों मध्यमाओं को और दोनों तर्जनियों को एक में मिलाकर सीधी रखें तो 'सर्व विद्राविणी' मुद्रा बन जाती है। (इस मुद्रा में अन्य अंगुलियाँ 'सर्व संक्षोभिणी मुद्रा' के समान रहती हैं।) ।।५४।।

मध्यमे तर्जनीयुग्मे वक्रे कुर्यात्सुलोचने।
एतस्या एव मुद्रायास्तदा कर्षणकारिणी ।।५५।।

आकर्षिणी मुद्रा—मध्यमा और तर्जनी को अंकुशाकार टेढी करने से आकर्षिणी मुद्रा बनती है। सबका आकर्षण करने के कारण इसे 'आकर्षिणी' मुद्रा कहा जाता है ।।५५।।

विमर्श—इस मुद्रा में अनामिका और कनिष्ठा को सम-भाव में रखकर मध्यमा को अंगूठे को और अनामिका पर कनिष्ठा को लगायें जैसा कि कहा गया है—

अंकुशाकार रूपाभ्यां मध्यमे परमेश्वरि ।
अंगुष्ठन्तु नियुञ्जीत कनिष्ठानामिकोपरि ।
इत्यमाकर्षिणी मुद्रा त्रैलोक्यकर्षिणी परा ॥

विपरीतौ तलौ कृत्वा चाङ्गुली ह्नन्मुखा यजेत् ।
परिवर्तनमार्गेण क्रमेण निबिडास्ततः ॥५६॥
अङ्गुष्ठावग्रदेशे तु तर्जन्यावङ्कुशाकृती ।
सर्वा एकत्र संयोज्य सर्ववश्यकरी भवेत् ॥५७॥

सर्ववश्यकरी मुद्रा—नमस्कार करने की मुद्रा के समान दोनों हाथों (हथेली) को जोड़ लें। तर्जनी को अंकुश के समान टेढ़ी करें। शेष तीनों अंगुलियों को मोड़कर अंगूठों के अग्र-भाग से जोड़ दे। ऐसा करने से 'सर्ववश्यकरी' मुद्रा बन जाती है ॥५६-५७॥

पुटाञ्जलिकरौ कृत्वा मध्यमागर्भसंस्थिते ।
परस्परकनिष्ठे तु तर्जन्यग्रगते ततः ॥५८॥
अनामिके तु सरले मध्यमामुखदेशगौ ।
अङ्गुष्ठौ परमेशानि सर्वोन्मादनकारिणी ॥५९॥

सर्वोन्मादिनी मुद्रा—दोनों हाथों को सम्पुटाकार बनाकर दोनों कनिष्ठाओं को मध्यमा के मध्य-भाग से मिला दें। दोनों अनामिकाओं को सीधी रखते हुए दोनों तर्जनियों को उनके ऊपर स्थापित कर दें। दोनों अंगूठों को दण्डाकार मोड़कर मध्यमाओं के नख-प्रदेश पर स्थापित करें। यह सर्वोन्मादनकारिणी नामक मुद्रा है ॥५८-५९॥

एतस्या एव मुद्राया अनामातर्जनीक्रमात् ।
अङ्कुशाकाररूपा तु मुद्रेयं तु महाङ्कुशा ॥६०॥

महाङ्कुशा-मुद्रा—इसी सर्वोन्मादनकारिणी मुद्रा में अनामिका और तर्जनी को क्रम से अंकुशाकार बनाने से महाङ्कुशा-मुद्रा बनती है ॥६०॥

विमर्श—यह मुद्रा बनाने के लिये अनामिकाओं को पहले अंकुशाकार बनाया जाता है। इसके बाद दोनों तर्जनियों को अंकुशाकार बनाकर उन पर स्थापित किया जाता है। दूसरे शब्दों में अंकुशाकार अनामिकाओं पर अंकुशाकार तर्जनियाँ स्थापित रहती हैं।

वामं भुजं दक्षभुजे दक्षिणं वामदेशतः ।
निवेश्य योजयेत्पश्चात्परिवर्त्य क्रमेण हि ॥६१॥
कनिष्ठानामिकायुग्मे तर्जनीभ्यां निरोधयेत् ।
मध्यमे सरले कृत्वा योनिवत्सरलौ ततः ॥६२॥
अङ्गुष्ठौ खेचरी मुद्रा पार्थिवस्थानयोजिनी ।
प्रियेयं सर्वदेवानां खेचरत्वप्रदायिनी ॥६३॥

खेचरी-मुद्रा—बायें हाथ को दाहिनी ओर तथा दाहिने हाथ को बायीं ओर करके हथेलियों को मोड़कर परस्पर जोड करें। बायें हाथ की कनिष्ठा और अनामिका को दाहिने हाथ की कनिष्ठा और अनामिका से जोड़ दें। मध्यमाओं को सीधी रखते हुए उन्हें तर्जनियों से दबायें। अंगूठों को सीधी रखें। सभी देवताओं को प्रिय यह खेचरी मुद्रा खेचरत्वप्रदायिनी हैं ॥६१-६३॥

परिवत्याञ्जलिं कृत्वा कनिष्ठाग्रगते ततः ।
मध्यमे स्थापयेद्देवि कनिष्ठा धारयेत्ततः ॥६४॥
अनामिकाभ्यां सुदृढं तर्जनीमध्यमायुगम् ।
अङ्गुष्ठाभ्यां समायोज्यमर्धचन्द्राकृतिं प्रिये ॥६५॥
बीजमुद्रेयमाख्याता सर्वानन्दकरी प्रिये ।

बीज-मुद्रा—हे देवि ! दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर दोनों मध्यमाओं के निचले भाग को कनिष्ठाओं से दबायें। दोनों तर्जनी और मध्यमा को अंगूठों से जोड़े। सभी अंगुलियों के अधोभाग में दोनों अनामिकाओं को तिरछा रखकर उन्हें मध्यमा से मिलाये। यह सबको आनन्द देने वाली बीज मुद्रा है।

परिवर्त्य करौ सम्यक्तर्जनीवामने समे ॥६६॥
मध्यमे कुरु तन्मध्ये योजयेत्तदनन्तरम् ।
अन्योन्यानामिके देवि कनिष्ठे तु यथास्थिते ॥६७॥
अङ्गुष्ठाभ्यां योजिताभ्यां योन्याकारं तु कारयेत् ।
योनिमुद्रेयमाख्याता परा त्रैलोक्यमातृका ॥६८॥

योनि मुद्रा—दोनों हाथों को मोड़कर तर्जनी को सीधी रखें। मध्यमाओं को तर्जनी के मध्य भाग में रखें। परस्पर स्वाभिमुख मिलायें। दोनों तर्जनी अंगुलियों पर मध्यमाओं को तिरछा करके स्थापित कर दें। फिर दोनों कनिष्ठाओं को अनामिकाओं के मध्य में रखकर सभी अंगुलियों को एकत्र मिलाते हुए सभी अंगुलियों को अंगूठों से दबायें। यह योनि मुद्रा है।

एवं विन्यस्तदेहः सन्मुद्रासंनद्धविग्रहः ।
अन्तर्यागविधिं कुर्याद्येन साक्षात्स्वयं विभुः ॥६९॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे श्रीविद्यान्यासविवरणं
नाम पञ्चदशः पटलः ।।१५।।

हे देवि ! इस प्रकार न्यास सम्पन्न साधक मुद्रा दिखाकर अन्तर्याग करे। अन्तर्याग सम्पन्न करके साधक साक्षात् विभु बन जाता है ॥६९॥

श्री ज्ञानार्णव-नित्या-तन्त्र के श्रीविद्या न्यास विवरण नामक
'पञ्चदश पटल' की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥१५॥

अथ षोडशः पटलः

श्रीविद्या यजन विधि

श्रीदेव्युवाच

अन्तर्यागविधिं देव बहिर्यागविधिं तथा।
सकलं कथयेशान यद्यहं तव वल्लभा ॥१॥

श्री देवी ने कहा–हे देव ! हे ईशान ! यदि मैं आपकी वल्लभा हूँ, प्रिया हूँ, अर्थात् आप मुझे अपनी प्रिया मानते और समझते हैं, तो अन्तर्याग और बहिर्याग का विधान सम्पूर्ण रूप से कहिये ॥१॥

विमर्श—'याग' का अर्थ है 'पूजन' और 'यजन'। अपने शरीर को इष्ट-देवता का पीठ मानकर हृदय क्षेत्रवर्ती अष्ट-दल कमल में देवता का ध्यान-पूर्वक स्थापन करके साधक मनः संकल्पित उपचारों से 'देवता' का 'अर्चन', 'अक्ष-माला' से गुरु-प्रदत्त 'मन्त्र' का जप एवं 'मूलाधार' में चिदग्नि-युक्त कुण्ड में सभी संकल्पों एवं विकल्पों, पाप-पुण्य आदि कृत्यों और सभी तत्त्वों का हवन रूप जो 'यजन' करता है, उसे 'अन्तर्याग' कहते हैं। 'अन्तर्याग' की यह विधि प्रारम्भिक-साधकों के लिये विहित है। तन्त्र-साधना में साधक को यथा-क्रम यथा-अधिकार आगे बढ़ाना होता है, अतः तन्त्र-ग्रन्थों में प्रारम्भिक, मध्यम और उत्तम अधिकारियों के लिये यथा—अधिकार अन्तर्याग की तीन विधियाँ बताई गई है।

हृदय में स्थापित 'देवता' को श्वास-मार्ग से बाहर लाकर उसे 'यन्त्र' या 'मूर्ति' में प्रतिष्ठित करके चन्दन, पुष्प, गन्ध, नैवेद्य आदि भौतिक उपचारों से जो पूजा और हवन-कुण्ड या 'स्थण्डिल' पर जो 'हवन' किया जाता है, वह 'बहिर्याग' है।

तन्त्र-साधना में लक्ष्य की दृष्टि से 'अन्तर्याग' प्रमुख और 'बहिर्याग' गौण है, फिर भी 'बहिर्याग' आवश्यक एवं गृहस्थ साधकों के लिये 'अनिवार्य' है, क्योंकि 'बहिर्यागि' की अभ्यास की दृढ़ता से 'अन्तर्याग' दृढ़ होता है—तो दूसरी ओर 'अन्तर्याग' के मनो-आध्यात्मिक तत्त्वों के संयोजन से बहिर्याग की क्रिया भावना एवं ज्ञानमयी हो जाती है। यदि देवता की यह 'बहिर्पूजा' ज्ञानमयी और भावनामयी नहीं है तो वह लक्ष्य प्राप्ति में सहायक नहीं होगी। इस तरह 'अन्तर्याग' एवं 'बहिर्याग' क्रमशः प्रधान एवं गौण होने के साथ ही परस्पर पूरक एवं परस्पर संवर्धक है।

चूँकि 'अन्तर्याग' ही मुख्य है, अत: श्री ईश्वर ने यहाँ प्रथम 'अन्तर्याग' और इसके बाद 'बहिर्याग' की विधियों का निरूपण किया है । यहाँ बताई गई 'अन्तर्याग' की विधि, 'साधना' के उच्चतम सोपान पर पहुँचे उत्तमकोटि के साधकों के लिये है ।

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यजनं चाऽऽन्तरं महत् ।
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं बिसतन्तुतनीयसीम् ॥२॥
उद्यत्सूर्यप्रभाजालविद्युत्कोटिप्रभामयीम् ।
चन्द्रकोटिप्रभाद्रावां त्रैलोक्यैकप्रभामयीम् ॥३॥
अशेषजगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणीम् ।
ध्यायेन्मनो यथा देवीं निश्चलं जायते तथा ॥४॥

ईश्वर ने कहा—हे देवि ! अन्तर्याग की महान् विधि का निरूपण कर रहा हूँ । उसे सुनिये ।

मूलाधार से ब्रह्म रन्ध्र पर्यन्त व्याप्त, कमल-नाल के रेशे के समान सूक्ष्म, उदित हो रहे सूर्य के समान प्रभावाली, करोड़ों बिजलियों के समान चमकीली तथापि करोड़ों चन्द्रमा के समान सुखद-शीतल प्रभा समन्विता, तीनों लोकों को आलोकिल करने वाली, अशेष अर्थात् सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और संहार की कारण-भूता भगवती का तद्गत और तत् चित्त होकर यथा-अर्थात् इस प्रकार ध्यान करना चाहिए कि मन की समस्त चञ्चलता और चपलता समाप्त होकर मन सर्वथा पूर्णत: स्थिर हो जाये ॥२-४॥

विमर्श—'मनो निश्चलं जायते'—अशेष जगत् उत्पत्ति-स्थिति संहार-कारिणी ब्रह्म-शक्ति का तद् गत, तच्चित होकर ध्यान करने से वह मन निश्चल हो जाता है जो मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है । मन के, चित्त के निश्चल हो जाने से उनकी सारी वृत्तियों का निरोध हो जाता है, और चित्त-वृत्तियों का निरोध ही 'योग' है—'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:' । आत्मस्थ परमात्मा का ध्यान करने से उस परम-आत्म तत्त्व में मन का तल्लीन-हो जाना ही 'समाधि' है, जैसा कि कहा गया है—

ध्यायत: परमात्मानमात्मस्थं यस्य योगिन: ।
मनस्तल्लयतां याति समाधिस्थ: स: कीर्तित: ॥

परमात्मा और परमात्म शक्ति में तत्त्वत: कोई भेद नहीं है । परमात्म शक्ति: स्वरूपिणी भगवती में मन के तल्लीन हो जाने से प्राप्त समाधि अवस्था के फल का निरूपण अगले श्लोक में किया गया है ।

सहजानन्दसंदोहमन्दिरं भवति क्षणात् ।
मनो निश्चलतां प्राप्तं शिवशक्तिप्रभावतः ॥५॥

जब मन निश्चल होकर परमात्म-शक्ति में तल्लीन हो जाता है, वह शिव-शक्ति के प्रभाव से सहज-आनन्द राशि (सन्दोह) का मन्दिर बन जाता है। आत्मा को आनन्द-रस की अनुभूति होने लगती है ॥५॥

विमर्श—'शिव-शक्ति-प्रभावतः'—अर्थात् शिव और शक्ति के प्रभाव से आनन्द की प्राप्ति होती है। चन्द्रमा और चांदनी की तरह शिव और शक्ति अपृथक्-अपृथक् हैं। शिव-परम तत्व हैं और भगवती परम-तत्त्व की शक्ति। उनके 'संयोग' से आनन्द की निष्पत्ति होती है। इसीलिये 'मूलादि ब्रह्मरन्ध्रान्तम्' (मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त) ध्यान का निदेश दिया गया है। परमात्म-शक्ति कुल-कुण्डलिनी के रूप में मूलाधार में स्थित हैं और 'ब्रह्म रन्ध्र' शिव का स्थान है। मूलाधार से कुल-कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर षट्-चक्र का भेदन करते हुए ब्रह्म-रन्ध्र में शिव-स्थान तक ले जाना 'शिव' से 'शक्ति' का संयोग कराना है। कुल-कुण्डलिनी को जाग्रत करने में और षट्चक्रों का भेदन करते हुए उसे शिव-स्थान ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त ले जाने तथा शिव के साथ कुण्डलिनी-शक्ति का संयोग कराने में साधक को अपने अशेष मनोबल का प्रयोग करना पड़ता है। जब मन इस कार्य में अपने अशेष बल के साथ लग जाता है, उसकी संसार-उन्मुखी प्रवृत्ति रूप चञ्चलता समाप्त हो जाती है तथा शिव और शक्ति के संयोग जन्य रस रूप आनन्द में डूब कर वह तल्लीन हो जाता है। मन की यही तल्लीनता 'समाधि' है। यही समाधि-अवस्था है। इस समाधि-अवस्था के दो भेद हैं, जिनका निरूपण अगले श्लोकों में किया गया है।

समाधिर्जायते तत्र संज्ञाद्वयविजृम्भितः ।
स्वयंप्रज्ञातनामैको ह्यसंप्रज्ञातनामधृत् ॥६॥

मन की तल्लीनता से जो समाधि लगती है, उसके दो भेद या दो रूप हैं। एक है 'स्वयं-प्रज्ञात' और द्वितीय है'असंप्रज्ञात' ॥६॥

विमर्श—योग-शास्त्र में भी समाधि के दो भेद बताये गये हैं—सविकल्प और निर्विकल्प।

स्वयंप्रज्ञातसंज्ञस्तु शक्त्याधिक्येन जायते ।
असंप्रज्ञातनामैको शिवाधिक्येन वै भवेत् ॥७॥

शक्ति की अधिकता से जो समाधि होती है, वह 'स्वयं प्रज्ञात' समाधि है, और शिव की अधिकता अर्थात् शिव का प्रभाव अधिक होने पर 'असंप्रज्ञात' समाधि होती है ॥७॥

स्वयंप्रज्ञातभेदस्तु तीव्रस्तीव्रतरो भवेत् ।
असंप्रज्ञातभेदस्तु मन्दो मन्दतरस्तथा ॥८॥

शक्ति का अधिक प्रभाव से होने वाली 'स्वयं-प्रज्ञात' समाधि के दो भेद है—(१) तीव्र और (२) तीव्रतर । शिव के प्रभावाधिक्य वाली 'असम्प्रज्ञात' समाधि के भी इसी तरह दो भेद हैं—(१) मन्द और (२) मन्दतर ॥८॥

संज्ञा प्रज्ञान यत्रैवं स्वयंप्रज्ञोऽभिधीयते ।
असंप्रज्ञो हि भूयस्तु स्थितप्रज्ञः प्रतिष्ठितः ॥९॥

जिसमें 'संज्ञा' का बोध बना रहता है, वह 'स्वयं-प्रज्ञात' समाधि है, और जिसमें 'संज्ञा' का बोध भी समाप्त हा जाता है, वह 'स्थिर-प्रज्ञ' रूपा 'असम्प्रज्ञात' समाधि है ॥९॥

विमर्श—(१) संज्ञा-बोध और (२) संज्ञा-बोध की समाप्ति—समाधि की ये दो अवस्थायें है । इस अवस्था-भेद के कारण ही 'समाधि' के दो भेद या रूप हैं । संज्ञा-बोध वाली 'स्वयं प्रज्ञात' समाधि योग-शास्त्र की 'सविकल्प' और संज्ञा बोध विहीन असम्प्रज्ञात समाधि निर्विकल्प समाधि से मिलती जुलती हैं ।

प्रज्ञाप्रज्ञानमेवेदमसंस्मयमिति द्वयम् ।
संज्ञाद्वयमिदं देवि शिवतत्त्वेन वै भवेत् ॥१०॥

हे देवि ! शिव प्रभाव विशेषा 'असम्प्रज्ञात' समाधि के 'प्रज्ञा-प्रज्ञान' और 'असंस्मय' ये दो और नाम हैं ॥१०॥

हास्यरोदनरोमाञ्चकम्पस्वेदादिलक्षणः ।
तीव्रस्तीव्रतरो देवि समाधिरुपलक्षितः ॥११॥

लक्षण—हे देवि ! हास्य, रोदन, रोमाञ्च, कम्पन और स्वेद—ये शक्ति विशेष स्वयं प्रज्ञात के तीव्र और तीव्रतर भेदों के लक्षण हैं ॥११॥

निमेषवर्जिते नेत्रे वपुस्तल्लक्षणं स्थिरम् ।
मन्दो मन्दतरो देवि समाधिः परिकीर्तितः ॥१२॥

लक्षण—पलकों का न गिरना और शरीर का स्थिर एवं निश्चल (जड़ता) हो जाना मन्द और मन्दतर समाधि के लक्षण हैं ॥१२॥

विमर्श—हास्य, रुदन, निर्निमेषिता एवं वेपथु आदि शारीरिक चेष्टायें हैं, शारीरिक-क्रियायें है । शरीर का सारा क्रिया-व्यापार मन के अधीन है; समाधि की अवस्था में 'मन' का ही क्रिया-व्यापार बन्द हो जाता है, अतः समाधि के समय शारीरिक-चेष्टायें और क्रियायें हो नहीं सकतीं । इन शारीरिक-चेष्टाओं को समाधि की

विभिन्न अवस्थाओं का 'लक्षण' बताने का आशय यह है कि समाधि की उक्त अवस्थाओं में पहुँचे हुए साधकों में अकारण ही ये शारीरिक चेष्टायें होने लगती है। दूसरे शब्दों में जब किसी साधक में स्वाभाविक तथा अनायास ही ये शारीरिक चेष्टायें दिखें तो यह समझना चाहिए कि वह समाधि की उक्त-उक्त अवस्थाओं तक पहुँच गया है।

शाम्भवेन च वेद्येन सुखी भूयान्निरन्तरम्।
अन्तर्यागविधिं कृत्वा बहिर्यजनमाचरेत् ॥१३॥

यह अवस्था शिव की कृपा से प्राप्त होती है। यह अवस्था प्राप्त करके साधक सदैव सुखी रहता है। हे देवि ! इस विधि से 'अन्तर्याग' करके साधक बहिर्याग करे ॥१३॥

विमर्श—'अन्तर्याग' के बाद 'बहिर्याग' का विधान अत्यन्त उद्देश्यपूर्ण है— 'अन्तर्याग' इष्ट-देवता का 'मनोमय' एवं 'भावनापूर्ण' दिव्य-अर्चन है, जिससे 'साधक' को आत्मिक-'आनन्द' की प्राप्ति होती है। 'अन्तर्याग' करके साधक 'आनन्द-विभोर' हो जाता है। अतः 'अन्तर्याग' करने के बाद 'बहिर्याग' करने से 'बहिर्याग' में भी वही 'आनन्दावस्था' बनी रहती है और इस तरह 'बहिर्याग' भी 'आनन्दमय' एवं 'भावनामय' बना रहता है तथा उसमें 'यांत्रिकता' नहीं आने पाती।

महात्रिपुर सुन्दरी ध्यान

एवं विन्यस्तदेहः सन्सर्वात्मा साधकोत्तमः।
ध्यायेन्निरामयं वस्तु जगत्त्रयविमोहिनीम् ॥१४॥
अशेषव्यवहाराणां स्वामिनीं संविदं पराम्।
उद्यत्सूर्यसहस्राभां दाडिमीकुसुमप्रभाम् ॥१५॥
जपाकुसुमसंकाशां पद्मरागमणिप्रभाम्।
स्फुरत्पद्मनिभां तप्तकाञ्चनाभां सुरेश्वरीम् ॥१६॥

इस प्रकार 'न्यास-सम्पन्न' एवं अन्तर्याग से आनन्द-विभोर साधक बहिर्याग के लिये सुरेश्वरी का ध्यान करे जो सर्वथा निरामय हैं, तीनों लोकों को मोहित करने वाला हैं, जो समस्त सृष्टि-व्यवहार की कारण भूता हैं, संविद-स्वरूपा-परा-विद्या हैं, जिनकी आभा उदीयमान हजारों सूर्यों, अनार-पुष्पों और जपा-कुसुम तथा पुखराज के समान अरुणाभ हैं, जिनकी देह-कान्ति तपाये हुए कञ्चन के समान दीप्तमान है, और जो खिले हुए कमल के समान प्रमुदित हैं ॥१४-१६॥

परम-भट्टारक शिव की प्राणेश्वरी परम-भट्टारिका महात्रिपुर-सुन्दरी की ध्येय देह-कान्ति का निरूपण करने के बाद उनके दिव्य-अंगों की शोभा-श्री का वर्णन अगले श्लोकों में किया जा रहा है

रक्तोत्पलदलाकारपादपल्ल्वराजिताम् ।
अनर्घ्यरत्नखचितमञ्जीरचरणद्वयाम् ॥१७॥
पादाङ्गुलीयकक्षिप्तरत्नतेजोविराजिताम् ।
कदलीललितस्तम्भसुकुमारोरुकोमलाम् ॥१८॥
नितम्बबिम्बविलसद्रक्तवस्त्रपरिष्कृताम् ।
मेखलाबद्धमाणिक्यकिङ्किणीनादविभ्रमाम् ॥१९॥

जिनके चरणश्री रक्त-कमल के दलों के समान सुडौल, मसृण एवं अरुणाभ हैं, पैरों में रत्न-रचित मञ्जीर (पाजेब) हैं, पैरों की अंगुलियों में रत्न-जटित पादाङ्गुलीय (बिछिया) हैं, उरु-द्वय कदली (केले) के स्तम्भ के समान सुडौल एवं मसृण है, साड़ी का वर्ण चटखदार लाल है, कमर में माणिक्यों की मेखला (करधन) है, जिसमें छोटे-छोटे घुंघरू लगे हैं ॥१७-१९॥

अलक्ष्यमध्यमां निम्ननाभिं शातोदरीं पराम् ।
रोमराजिलतोद्भूतमहाकुचफलान्विताम् ॥२०॥
सुवृत्तनिबिडोत्तुङ्गकुचमण्डलराजिताम् ।
अनर्घ्यमौक्तिकस्फारहारभाराविराजिताम् ॥२१॥

कटि-प्रदेश सूक्ष्म हैं, नाभि-गहरी हैं, उदर-कृश है, रोम-राजि रूपी लता में कुच-द्वय फल लगे हैं, स्तन-द्वय गोल, घने और उत्तुंग है, उन पर बहु-मूल्य मोतियों की माला शोभा दे रही है ॥२०-२१॥

चरण-कमल से वक्ष-स्थल पर्यन्त शोभाश्री का निरूपण करने के बाद ग्रीवा, कर्ण, मुख, ललाट, एवं शिरो-प्रदेश की शोभा-श्री बताई जा रही है ।

नवरत्नप्रभाराजद्ग्रैवेयकविभूषणाम् ।
श्रुतिभूषामनोरम्यकपोलस्थलमञ्जुलाम् ॥२२॥
उद्यदादित्यसंकाशताटङ्कसुमुखप्रभाम् ।
पूर्णचन्द्रमुखीं पद्मवदनां वरनासिकाम् ॥२३॥

गले में नव-रत्न निर्मित ग्रैवेयक हैं, कानों में सुन्दर कुण्डल हैं, जो गण्ड-स्थल को प्रदीप्त कर रहे है, कानों की लौ में मणि-रचित 'ताटंक' (तरौना या कर्ण-फूल) हैं जो पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान भासित मुख-कमल को भी शोभित कर रहे हैं, सुडौल एवं सुन्दर नासिका है ॥२२-२३॥

स्फुरन्मदनकोदण्डसुभ्रुवं पद्मलोचनाम् ।
ललाटपट्टसंराजद्रत्नाढ्यतिलकाङ्किताम् ॥२४॥
मुक्तामाणिक्यघटितमुकुटस्थलकिंङ्किणीम् ।
स्फुरच्चन्द्रकलाराजन्मुकुटां च त्रिलोचनाम् ॥२५॥

आँखें कमल के समान और भौहें कामदेव के धनुष के समान हैं, ललाट पर रत्न जटित तिलक हैं, शिर पर मुकुट है, जिस पर मोती और मणियों की लड़ियाँ है, वे त्रिलोचना हैं ॥२४-२५॥

प्रवालवल्लीविलसद्बाहुवलीचतुष्टयाम् ।
इक्षुकोदण्डपुष्पेषुपाशाङ्कुशचतुर्भुजाम् ॥२६॥

उनकी चार-भुजायें हैं जो प्रवाल-लता के समान अरुणाभ हैं । वे चारों हाथों में क्रमशः इक्षु का (गन्ना) का धनुष, पुष्पों के बाण, पाश और अंकुश धारण किये हुए हैं ॥२४-२६॥

विमर्श—चरण से प्रारम्भ करके शिर तक सौन्दर्य-वर्णन करना काव्य-शास्त्र की विहित परम्परा है । तदनुसार यहाँ भी भगवती की सकल-मूर्ति का सौन्दर्य-वर्णन चरण से शिर पर्यन्त किया गया है । आचार्य पाद ने 'सौन्दर्य-लहरी' में भगवती का सौन्दर्य-वर्णन शिर से प्रारम्भ कर पद नख तक किया है उसका अलग रहस्य है ।

सर्वदेवमयीमम्बां सर्वसौभाग्यसुन्दरीम् ।
सर्वतीर्थमयीं दिव्यां सर्वकामप्रपूरिणीम् ॥२७॥
सर्वमन्त्रमयीं नित्यां सर्वागमविशारदाम् ।
सर्वक्षेत्रमयीं देवीं सर्वविद्यामयीं शिवाम् ॥२८॥
सर्वयागमयीं विद्यां सर्वदेवस्वरूपिणीम् ।
सर्वशास्त्रमयीं नित्यां सर्वागमनमस्कृताम् ॥२९॥
सर्वाम्नायमयीं देवीं सर्वायतनसेविताम् ।
सर्वानन्दमयीं ज्ञानगह्वरां संविदं पराम् ॥३०॥
एवं ध्यात्वा परामम्बां वहन्नासापुटं क्रमात् ।
आवाह्य चक्रमध्ये तु मुद्रया हि त्रिखण्डया ॥३१॥

'एवं-ध्यात्वा'—इस प्रकार ध्यान करके सर्वदेवमयी, सर्व-सौभाग्य सुन्दरी, सर्व तीर्थ मयी, सर्वकाम प्रपूरिणी, सर्वतीर्थमयी, नित्या, सर्वागम विशारदा सर्वक्षेत्रमयी, सर्वविद्यामयी, सर्वयागमयी, सर्वदेवस्वरूपिणी, सर्वशास्त्रमयी, सर्वागम-नमस्कृता, सर्व-आम्नायमयी, सर्वायतनसेविता, सर्वानन्दमयी, ज्ञान-गह्वरा, पर-संवित् पराम्बा, दिव्या, शिवा का वृहन् नासापुट क्रम से त्रिखण्डा-मुद्रा से श्री 'श्रीचक्र' के मध्य में आवाहन करें ॥२७-३१॥

संस्थितां चिन्तयेत्तत्र श्रीपीठान्तर्निवासिनीम्।
मुद्राः संदर्शयेद्देवि तर्पणैस्तु त्रिधा यजेत् ॥३२॥

हे देवि ! यह भावना करते हुए कि श्रीपीठान्तनिवासिनी भगवती श्री 'श्रीचक्र' में समासीना हो गई हैं, आवाहनी, संस्थापिनी, आदि मुद्रायें दिखाकर तीन बार तर्पण करें ॥३२॥

विमर्श—इस अवसर पर आवाहनी, संस्थापिनी, सन्निधापनी, संन्निरोधनी, सम्मुखी एवं अवगुण्ठनी मुद्रायें मन्त्र पूर्वक दिखाई जाती हैं। मुद्रा प्रदर्शन पूर्वक हृदयादि षडंग न्यास करके सकली करण, धेनु मुद्रा से अमृती करण, पश्चात् परमीकरण मुद्रा से परमीकरण करके बाण-आदि आयुध मुद्रायें दिखाई जाती हैं।

लयाङ्गं कल्पयेद्देहे देव्यास्तु परमेश्वरि।
गन्धपुष्पाक्षतादींश्च देव्यै सम्यङ् निवेदयेत् ॥३३॥
उपचारैः षोडशभिः सम्पूज्य परदेवताम्।
तर्पणानि पुनर्दद्यात्त्रिवारं मूलविद्यया ॥३४॥

देवी के देह में अंगों के लय हो जाने के बाद गन्ध-पुष्प-अक्षत आदि सोलह उपचारों से देवी की पूजा करके मूल-मन्त्र से तीन बार तर्पण करें ॥३३-३४॥

विमर्श—(१) आसन, (२) स्वागत, (३) पाद्य, (४) अर्घ्य, (५) आचमन, (६) मधुपर्क, (७) आचमन, (८) स्नान, (९) वस्त्र-उपवस्त्र, (१०) आभूषण, (११) गन्ध, (१२) पुष्प, (१३) धूप, (१४) दीप, (१५) नैवेद्य और (१६) वन्दना पूजा के ये १६ उपचार हैं।

एतस्मिन्समये देवि तिथिनित्यां प्रपूजयेत्।
कामेश्वर्यादिका नित्या विचित्रान्ताः परेश्वरि ॥३५॥
प्रतिपत्पौर्णमास्यन्ततिथिरूपाः प्रपूजयेत्।

हे देवि ! इसी समय शुक्ल प्रतिपदा से प्रारम्भ करके पूर्णिमा पर्यन्त कामेश्वरी से विचित्रा पर्यन्त तिथि रूपा **नित्याओं का पूजन** करे ॥३५-३६॥

विभाव्य च महात्र्यस्रं पूर्वदक्षोत्तरं क्रमात् ॥३६॥
रेखासु विलिखेत्तत्र पञ्चपञ्च क्रमेण हि।
अकाराद्या उवर्णान्ता दक्षिणस्यां विचिन्तयेत् ॥३७॥
ततश्च पूर्वरेखायामूकारादिकपञ्चकम्।
विलिख्योत्तररेखायां शक्त्यादि विलिखेत्ततः ॥३८॥
अनुस्वारान्तमन्त्रस्तु विसर्गे षोडशीं यजेत्।
वामावर्तेन देवेशि नित्याः षोडश कीर्तिताः ॥३९॥

महात्र्यस्त (मूल-त्रिकोण) की तीनों रेखाओं में से प्रत्येक रेखा पर पाँच-पाँच स्वर लिख कर (लिखे होने की भावना कर) नित्या के मन्त्र के आदि में यथा-निर्दिष्ट स्वर की योजना करके तिथि-नित्या का पूजन-तर्पण करे। विसर्ग (अः) के साथ श्री महात्रिपुर सुन्दरी के मन्त्र की योजना करके बिन्दु पर भगवती का प्रत्येक-तिथि को पूजन करे।

त्रिकोण की रेखाओं पर स्वर-लेखन की विधि इस प्रकार है। (१) दक्षिण-रेखा पर 'अ, आ, इ, ई, उ' ये पाँच वर्ण। पूर्व रेखा (ऊपर-वाली रेखा) पर 'ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ' ये पाँच वर्ण और (३) उत्तर-रेखा (बायीं ओर) पर 'ऐ-ऐं-ओ-औं एवं अं' ये पाँच वर्ण तथा बिन्दु चक्र पर सोलहवाँ स्वर 'अः' लिखे। नित्याओं का पूजन 'वामावर्त' क्रम से करना चाहिए ॥३७-३९॥

प्रतिपत्तिथिमारभ्य पौर्णमास्यन्तमद्रिजे।
एकैकां पूजयेन्नित्यां महासौभाग्यमाप्नुयात् ॥४०॥
कृष्णपक्षे महेशानि पूजयेत्तिथिमण्डलम्।
विचित्राद्या वरारोहे यावत्कामेश्वरी भवेत् ॥४१॥
पूजनीया विलोमेन भक्त्या तु परमेश्वरी।
कलाः षोडश देवेशि यस्तु चन्द्रकलाः क्रमात् ॥४२॥

हे अद्रिजे! जो साधक शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ कर प्रत्येक तिथि को एक-एक तिथि-नित्या का पूजन करता है, वह महान् भाग्यशाली हो जाता है ॥४०॥

हे महेशानि! कृष्ण-पक्ष में विचित्रा से प्रारम्भ कर प्रत्येक-तिथि को एक-एक नित्या का पूजन करना चाहिए ॥४१॥

हे परमेश्वरि! इस तरह कृष्ण-पक्ष में विलोम-क्रम से चन्द्र-कला रूपा षोडश-कलाओं का पूजन करना चाहिए ॥४२॥

तिथिनित्यां त्रिधा देवि पूजयेद्भाग्यहेतवे।
पुनः श्रीत्रिपुरानित्यां यजेत्सौभाग्यहेतवे ॥४३॥
स सौभाग्यं महादेवि प्राप्नोति गुरुशासनात्।
कामेश्वर्यादिका नित्याः पूजयित्वा क्रमात्ततः ॥४४॥

हे देवि! पहले उक्त तिथि नित्या का तीन बार पूजन तर्पण करके मूल-बिन्दु-पर प्रतिदिन श्री त्रिपुरा-नित्या का फिर से अर्चन करना चाहिए ॥४३॥

जो साधक गुरु के उपदेशानुसार इस क्रम से नित्याओं का पूजन करता है, उसे सर्व सौभाग्य प्राप्त होता है ॥४४॥

विमर्श—नित्या-मन्त्रों के आदि में योजनीय स्वर-वर्ण तथा दोनों पक्षों में उनके पूजन की तिथियों का निरूपण पन्द्रहवें पटल में किया जा चुका है। पूजन के समय-मन्त्र का स्वरूप होगा। यथा—

ऐं ह्रीं श्री 'अं' ऐं क्लीं सौः ॐ नमः कामेश्वरि इच्छाकाम फल प्रदे सर्वसत्त्व वशङ्करि सर्वजगत् क्षोभणकरि हुं हुं हुं द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः सौः क्लीं ऐं नमः कामेश्वरी नित्या कलायै नमः। श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' इत्यादि।

कभी कभी 'तिथि-क्षय' और कभी-कभी 'तिथि-वृद्धि' का क्रम प्राप्त होता है। इस स्थिति में तिथि-क्षय में दो-नित्याओं की और तिथि-वृद्धि में एक ही नित्या की दो दिन पूजा करनी चाहिए-जैसा कि त्रिपुरार्णव-तन्त्र (उपासना-खण्ड, अध्याय सात) में कहा गया है—

क्षये नित्याद्वयं वृद्धावेकां नित्यां दिन-द्वये।
ततो नित्या-मण्डलन्तु पूजयेत् पूर्ववत् क्रमात् ॥८॥

केवल 'श्रीविद्या' के ही साधक नहीं, 'गायत्री-तन्त्र' के अनुसार साधक-मात्र को अपनी दैनन्दिन-पूजा में भी संकल्प के बाद तिथि की पूजा और तिथि-मन्त्र का जप आवश्यक बताया गया है।

इस सन्दर्भ में एक और 'तथ्य' ज्ञातव्य है। 'श्रीकुल' और 'काली-कुल' दोनों ही कुलों के तन्त्र-साधक दैनिक-अर्चन एवं पारायण आदि का संकल्प 'तान्त्रिक-पञ्चाङ्ग' के अनुसार करते हैं। यह 'तांत्रिक-पञ्चाङ्ग' सामान्य पञ्चाङ्गों से सर्वथा भिन्न होता है। दोनों ही कुलों के साधक अपने अपने 'कुल' की 'तिथि-नित्याओं' का ध्यान करते हैं। 'श्री-कुल'की 'नित्याओं' का ध्यान पन्द्रहवें पटल में बताया गया है। 'काली-कुल' की 'काली-कपालिनी, कुल्ला, कुरुकुल्ला, विरोधिनी, विप्रचित्ता, उग्रा, उग्र-प्रभा, दीप्ता, नीला, घना, बलाका, मात्रा, मुद्रा, मिता और 'असिता' इत्यादि का ध्यान भिन्न हैं।

गुरु-मण्डल का पूजन

एतस्मिन्समये देवि गुरुन्संपूजयेद्बुधः।
पुष्पसंकोचयोगेन कथयामि तवानघे ॥४५॥

हे देवि ! इसी समय बुद्धिमान् साधक गुरुओं का पूजन करे। पुष्प संकोच योग से गुरुओं की पूजन-विधि बता रहा हूँ ॥४५॥

रश्मिवृन्दं दलमितं गुरवस्तु शताधिकाः।
तस्मात्संकोचयेत्पुष्पममिताः सिद्धिहानिदाः ॥४६॥

नष्टसंततिविज्ञेया मिताः सर्वसमृद्धिदाः ।
पुष्पं संकोचयेन्नोचेद्द्वादशे नष्टसंततिः ॥४७॥

'रश्मि' और 'दल' के समान गुरुओं की संख्या सौ से भी अधिक है। शताधिक गुरुओं की पूजा सिद्धि के लिये हानि-प्रद है क्योंकि इनकी परम्परा-छिन्न-भिन्न हो गई है। परम्परा के छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण इन्हें नष्ट-संतति समझना चाहिए। अतः गुरु-परम्परा को पुष्प के समान संकुचित करके गुरुओं की संख्या सीमित कर लेना चाहिए। सीमित संख्या में गुरुओं का पूजन समृद्धि दायक होता है ॥४६-४७॥

संतत्या नष्टरूपः सन्न भवेद्देवताप्रियः ।
अत एव मया सम्यक्पुष्पं संकुचितं प्रिये ॥४८॥

चूँकि परम्परा के छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण नष्ट-सन्तति क्रम देवताओं को प्रिय नहीं है, इसलिये हे प्रिये, मैंने गुरु-परम्परा को पुष्प के समान संकुचित किया है ॥४८॥

कामराजाख्यविद्याया गुरवस्तु समृद्धिदाः ।
मध्यप्राक्त्र्यश्रमध्ये हि गुरुपङ्क्तिं त्रिधाऽर्चयेत् ॥४९॥

कामराज-विद्या के 'गुरु' समृद्धि-दायक हैं। मूल-त्रिकोण और मध्य-त्रिकोण के मध्य में 'गुरु-पंक्ति' का तीन बार पूजन तर्पण करना चाहिए ॥४९॥

परारब्धान्पूजयेदादौ परापरविभक्तिकान् ।
ततोऽपरांस्त्रिधा देवि गुरुन्संपूजयेत्प्रिये ॥५०॥

हे देवि ! 'गुरु-पंक्ति' का पूजन 'पर गुरुओं से प्रारम्भ करना चाहिए। 'पर' गुरुओं के बाद 'परापर' और फिर 'अपर'—इस प्रकार तीन प्रकार के 'गुरुओं' का पूजन करना चाहिए ॥५०॥

दिव्यौघे तु परान्विद्धि सप्तसंख्यान्वरानने ।
आनन्दनाथशब्दान्ता गुरवः पुरुषाः प्रिये ॥५१॥
स्त्रियः पराम्बाशब्दान्ता विज्ञेया वीरवन्दिते ।

हे वरानने ! 'पर' गुरुओं की संख्या सात (७) है। ये 'दिव्यौघ' गुरु हैं। हे वीरवन्दिते ! पुरुष-मूर्ति 'गुरुओं' के नाम के अन्त में 'आनन्दनाथ' और 'स्त्री मूर्ति' गुरुओं के नाम के अन्त में 'पराम्बा' की योजना करके गुरु-पंक्ति का पूजन करना चाहिए ॥५१-५२॥

परप्रकाशो देवेशिः ततः परशिवो मतः ॥५२॥
परा शक्तिस्तथा देवि कौलेश्वर इति प्रिये ।

शुक्ला देवि कुलेशानकामेश्वर्यम्बिकाः क्रमात् ॥५३॥
मुनिसंख्यास्तु गुरवः पराख्या दिव्यरूपिणः ।
भोगक्लिन्नस्तु समयो वेदाख्यः सहजस्तथा ॥५४॥
परापराख्यसिद्धौघे मानवौघे शृणु प्रिये ।
गगनो विश्वविमलौ मदनो भुवनस्तथा ॥५५॥
लीला स्वात्माप्रियः पश्चान्नागसंख्यास्तु मानवाः ।
अपराः परमेशानि नियता अक्षरा इमे ॥५६॥

हे देवि ! (१) पर प्रकाश, (२) पर-शिव, (३) परा-शक्ति, (४) कौलेश्वर, (५) शुक्ला देवी, (६) कुलेशान, और (७) कामेश्वरी—ये सात 'पर' संज्ञक 'दिव्यौघ' गुरु हैं । (१) भोग, (२) क्लिन्न, (३) समय, (४) और सहज—ये 'परापर' संज्ञक 'सिद्धौघ' गुरु हैं । (१) गगन, (२) विश्व, (३) विमल, (४) मदन, (५) भुवन, (६) लीला, (७) स्वात्मा और (८) प्रिय—ये आठ अपर संज्ञक 'मानवौघ' गुरु हैं ॥५३-५७॥

विमर्श—'दिव्यौघ' में पाँच पुरुष और दो स्त्री गुरु हैं । सिद्धौघ में सभी पुरुष गुरु हैं । 'मानवौघ' में ७ पुरुष और १ स्त्री गुरु हैं । पूजन तर्पण के साथ उनके नाम के आदि में 'ह्रीं श्रीं' अथवा 'ऐं ह्रीं श्रीं' की और पुरुष गुरु के नाम के अन्त में 'आनन्द-नाथ' और 'स्त्री गुरु' के नाम के अन्त में 'अम्बा' शब्द की योजना करनी चाहिए । यथा—

ऐ ह्रीं श्रीं परप्रकाशानन्द नाथ श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः । परशिवानन्द नाथ, पराशक्ति पराम्बा, कौलेश्वरानन्द नाथ, शुक्ला देवी पराम्बा, कुलेशानन्दनाथ, एवं कामेश्वरी पराम्बा । दिव्यौघ ।

ऐं ह्रीं श्रीं भोगानन्द नाथ, क्लिन्नानन्द नाथ, समयानन्द नाथ, एवं सहजानन्द नाथ । सिद्धौघ ।

ऐं ह्रीं श्रीं गगनानन्द नाथ, विश्वानन्द नाथ, विमलानन्द नाथ, मदनानन्दनाथ भुवनानन्दनाथ, लीलापराम्बा, स्वात्मानन्दनाथ एवं प्रियानन्दनाथ । मानवौघ ।

एतत्त्रयं तु नियतं देशिकानां हिताय च ।
मयोद्धृतं महेशानि पुष्पं संकुचितं प्रिये ॥५७॥

हे महेशानि ! साधक-वर्ग के हित के लिये पुष्प-संकोच कर गुरुओं की ये तीन पंक्तियाँ निर्धारित की हैं ॥५७॥

मानवौघान्तिके पश्चात्स्वगुरुत्रितयं यजेत् ।
परमेष्ठी गुरुः पश्चाद्गुरुः परमसंज्ञितः ॥५८॥

स्वगुरुश्च महेशानि पूजयेत्तु गुरुत्रयम्।
अथ वा मानवौघान्त एकं स्वगुरुमर्चयेत् ॥५९॥

हे परमेशानि ! मानवौघ गुरुओं के समीप ही अपने परमेष्ठी गुरु, परमगुरु और स्व गुरु का पूजन करना चाहिए अथवा मानवौघ गुरुओं के पास केवल अपने ही 'गुरुदेव' का पूजन करना चाहिए ॥५८-५९॥

अयं प्रकारः कथितः प्रकारान्तरमुच्यते।
वन्द्यं सर्वप्रकाराणां मानवौघाष्टकादश ॥६०॥
गुरवो नवसंख्याका इह यावद् भवन्ति हि।
नवचक्रेश्वरी यस्मात्तावत्पुष्पं प्रकाशयेत् ॥६१॥
मानवौघे तदा देवि दशसप्त भवन्ति हि।
पश्चात्संकोचयेत्पुष्पं नवमं श्रीगुरुं यजेत् ॥६२॥

मानवौघ गुरुओं के अन्त में केवल 'स्व-गुरु' का पूजन दूसरा प्रकार हैं 'चक्रेश्वरियों की संख्या नौ (९) है और 'मानवौघ' आठ हैं। ये दोनों मिलाकर (९-८) सत्रह (१७) होते हैं। 'मानवौघ-अष्टक' में केवल 'स्वगुरु' की योजना करने से 'मानवौघ' में ९ 'गुरु' हो जाते हैं। अतः 'चक्रेश्वरियों' की संख्या के समतुल्य (अर्थात् ९ तक) पुष्प का संकोच करना चाहिए ॥६०-६२॥

विमर्श—'पद्धति' ग्रन्थों में दूसरा प्रकार प्रचलित नहीं है। 'मानवौघ' गुरुओं के बाद अपने 'गुरुत्रय' की पूजा का विधान प्रचलित है।

अज्ञातगुरुशिष्याणां कथयामि वरानने।
गुरुभ्यो नम उच्चार्य पादुकाभ्यो नमो लिखेत् ॥६३॥
गुर्वन्ते परमान्ते च गुरुभ्यो नम इत्यपि।
एतेषां पादुकास्तद्वदाचार्येभ्यो नमो वदेत् ॥६४॥
आचार्यपादुकास्तद्वत्पूर्वसिद्धास्तु पादुकाः।
सामान्यगुरुशिष्याणां गुरुपङ्क्तिरियं भवेत् ॥६५॥

'अज्ञात गुरु शिष्याणां' अर्थात् यदि साधक को अपनी 'गुरु-पंक्ति' का ज्ञान न हो तो 'गुरु' पूजन के लिये 'गुरुभ्यो नमः' के बाद 'गुरु-पादुकाभ्योः नमः' और 'परमगुरुभ्योः नमः' के बाद 'परमगुरु पादुकाभ्योः' नमः की योजना करके इनका पूजन मन्त्र बना ले। इसी प्रकार 'परापर गुरुभ्योः नमः'—'परापरगुरुपादुकाभ्यो नमः' एवं परमेष्ठि गुरुभ्योनमः'—परमेष्ठी गुरु पादुकाभ्योः नमः' मन्त्रों से क्रमशः 'परापर गुरु' और 'परमेष्ठी गुरु' की पूजा की जा सकती है। ये सभी गुरु आदि की 'पादुकायें' हैं। इसी प्रकार 'आचर्येभ्योः नमः'—'आचार्यपादुकाभ्योः नमः' आचार्य की पादुका

है। 'आचार्य-पादुका' भी पूर्ववत् अर्थात् 'गुरु-पादुका' के समान सिद्ध और पूज्य है। यह सामान्य-गुरु पंक्ति है ॥६३-६५॥

गुरुपङ्क्तिं प्रपूज्याथ स्वयं श्रीत्रिपुरा भवेत्।
गुरुपङ्क्तिविहीनस्तु पुरुषः पङ्क्तिवर्जितः ॥६६॥
सामान्यगुरुपङ्क्तित्वान्न भवेत्पङ्क्तिवर्जितः।
पुष्पसंकोचमार्गोऽयं मया सिद्धः कृतः प्रिये ॥६७॥
कृपया परमेशानि साधकानां हिताय च।
कामराजाख्यगुरवः श्रीविद्याविषये क्रमात् ॥६८॥

'गुरु-पंक्ति' की पूजन करने से साधक स्वयं त्रिपुरा बन जाता है और जो 'गुरु-पंक्ति' का पूजन नहीं करता वह 'पंक्ति-वर्जित' है। 'सामान्य गुरु पंक्ति' का भी पूजन करने से साधक 'पंक्ति-वर्जित' नहीं होता। हे प्रिये ! साधकों के हित के लिये मैंने कृपा करके श्रीविद्या के विषय में कामराज-विद्या के गुरु-मण्डल का पुष्प-संकोच मार्ग से प्रकटन किया है ॥६६-६८॥

लोपामुद्राख्यविद्यायाः गुरूञ्शृणु वरानने।
परमाद्यशिवश्चाऽऽद्या कामेश्वर्यम्बिका तथा ॥६९॥
दिव्यौघश्च महौघश्च सर्वानन्दस्ततः परम्।
प्रज्ञादेव्यम्बिका पश्चात्प्रकाशः सप्तमो भवेत् ॥७०॥
दिव्याः पराख्यगुरवो लोपामुद्राप्रभामयाः।

हे वरानने ! लोपामुद्रा विद्या के गुरु-क्रम का निरूपण कर रहा हूँ। परमशिव, कामेश्वरी, दिव्यौघ, महौघ, सर्वानन्द, प्रज्ञादेवी तथा प्रकाश-ये सात 'पर' संज्ञक 'दिव्यौघ' गुरु हैं ॥६९-७०॥

दिव्यश्चित्रश्च कैवल्यदेव्यम्बा च महोदयाः ॥७१॥
सिद्धाः परापरा ज्ञेया मानवौघे शृणु प्रिये।

हे प्रिये ! दिव्य, चित्र, कैवल, देव्यम्बा, महादेव-ये 'परापर' संज्ञक-'सिद्धौघ' गुरु हैं। अब 'मानवौघ' गुरुओं के नाम सुनिये ॥७२॥

विद्या शक्तिश्च विश्वश्च चतुर्थः कोमलो भवेत् ॥७२॥
पञ्चमस्तु परानन्दो मनोहर इति प्रिये।
स्वात्मानन्दः सप्तमस्तु प्रतिभोऽष्टम् उच्यते ॥७३॥
अपराख्या इमे देवि गुरवः परिकीर्तिताः।

विद्या, शक्ति, विश्व, कोमल, परानन्द, मनोहर, स्वात्मानन्द, और प्रतिभ-ये आठ 'अपर' संज्ञक 'मानवौघ' गुरु हैं ॥७३-७४॥

पूर्ववद्योजयेत्पश्चादष्टानन्तरमेव च ॥७४॥
त्रयं वा स्वगुरुं वाऽपि नवान्तं वाऽब्जलोचने ।
दक्षिणामूर्तिशिष्याणां गुरुक्रम उदाहृतः ॥७५॥

हे अब्ज लोचने । 'मानवौघ' गुरुओं के साथ पूर्ववत् अपने 'गुरु-त्रय' अथवा केवल अपने 'गुरुदेव' की योजना करके गुरु-मण्डल का पूजन करना चाहिए । इस प्रकार हमने श्री दक्षिणामूर्ति के शिष्यों की 'गुरु-परम्परा' का निरूपण किया ।

विमर्श—ग्रन्थान्तर में कुछ नाम-भिन्नता है । यथा—सिद्धौघ क्रम में 'देव्यम्बा'—के स्थान पर 'दिव्याम्बा' । मानवौघ में लगभग सभी नाम भिन्न है—चिद्विश्वशक्ति, ईश्वर (रमानन्द), कमल, परमानन्द, मनोहर, स्वात्मानन्द (सुखानन्द) एवं प्रतिभा ।

सम्प्रदाया अनेके च ज्ञातव्याः स्वगुरुक्रमात् ।
सम्प्रदायविहीनस्य न दद्यात्पङ्क्तिमुत्तमाम् ॥७६॥
साधारणास्तु गुरवः सर्वभेदेषु वै समाः ।
गुरुक्रमं प्रपूज्याथ यजेदाम्नायदेवताः ॥७७॥

'श्रीविद्या' के अनेक सम्प्रदाय हैं । अपनी गुरु-परम्परा से अपना सम्प्रदाय-क्रम जानना चाहिए । जो सम्प्रदाय-विहीन हैं, उन्हें सम्प्रदाय-क्रम और उत्तम-गुरु-पंक्ति नहीं देनी चाहिए । सभी भेदों में सभी साधारण (सामान्य) गुरु एक समान हैं । गुरु-क्रम अर्थात् गुरु-मण्डल का अर्चन करने के बाद आम्नाय-देवताओं का पूजन-तर्पण करना चाहिए ॥७६-७७॥

आम्नाय-देवता-अर्चन

त्रैलोक्यमोहने देवि सर्वाशापरिपूरके ।
सर्वसंक्षोभणे चक्रे पूर्वाम्नायं प्रपूजयेत् ॥७८॥

हे देवि ! त्रैलोक्य मोहन चक्र, सर्वाशा परिपूरक चक्र और सर्व-संक्षोभण चक्र अर्थात् भूपुर, षोडश-दल-कमल और अष्ट-दल कमल में 'पूर्वाम्नाय देवताओं' का पूजन करना चाहिए ॥७८॥

सर्वसौभाग्यदे चक्रे तथा सर्वार्थसाधके ।
सर्वरक्षाकरे चक्रे दक्षाम्नायं प्रपूजयेत् ॥७९॥

'सर्व सौभाग्य दायक चक्र' (चतुर्दशार) 'सर्वार्थ-साधक-चक्र' (बहिर्दशार) और 'सर्व-रक्षा-कर चक्र (अन्तर्दशार) में दक्षिण-आम्नाय के देवताओं का पूजन करना चाहिए ॥७९॥

मध्यचक्रत्रये देवि पश्चिमाम्नायमर्चयेत् ।
नवचक्रेषु देवेशि कौबेराम्नायमर्चयेत् ॥८०॥

हे देवि ! मध्य के तीन चक्रों (सर्व रोगहर चक्र-अष्टार, सर्व सिद्धि प्रद चक्र-त्रिकोण और सर्वानन्दमय चक्र-बिन्दु) में पश्चिम-आम्नाय देवताओं का पूजन करना चाहिए ।

फिर सभी नौ-चक्रों में कौबेर अर्थात् उत्तर-आम्नाय के देवताओं का पूजन करना चाहिए ॥८०॥

बैन्दवे परमेशानि मध्यसिंहासनं यजेत् ।
अनेनैव प्रकारेण पूजयेत्पञ्च पञ्चिकाः ॥८१॥

हे परमेशानि ! 'बिन्दु' पर महासिंहासन का अर्चन करना चाहिए । इसी प्रकार बिन्दु-चक्र में **पञ्च-पञ्चिकाओं का पूजन** करना चाहिए ॥८१॥

विमर्श—'पञ्च-पञ्चिका' अर्थात् पाँच-पाँच देवियों के पाँच समूह या वर्ग । उनके नाम हैं—(१) कोश-पञ्चिका, (२) लक्ष्मी पञ्चिका, (३) कल्पलता पञ्चिका, (४) कामधेनु पञ्चिका और (५) रत्न-पञ्चिका । पञ्च-देवता मय प्रत्येक पञ्चिका में प्रथम देवता स्वयं 'श्री-विद्या' है । अगले पाँच श्लोकों में प्रत्येक पंचिका के देवताओं के नाम बताये गये हैं ।

श्रीविद्या च परं ज्योतिः परा निष्कल शांभवी ।
अजपा मातृका चेति पञ्च कोशाः प्रकीर्तिताः ॥८२॥

(१) कोश-पञ्चिका—(१) श्रीविद्या, (२) परं-ज्योति, (३) परा-निष्कल शाम्भवी, (४) अजपा और (५) मातृका—ये पाँच 'कोश पञ्चिका' की देवता हैं ॥८२॥

श्रीविद्या च तथा लक्ष्मीर्महालक्ष्मीस्तथैव च ।
त्रिशक्तिः सर्वसाम्राज्या पञ्च लक्ष्म्यः प्रकीर्तिताः ॥८३॥

(२) लक्ष्मी-पञ्चिका—(१) श्रीविद्या, (२) लक्ष्मी, (३) महालक्ष्मी, (४) त्रिशक्ति और (५) सर्व-साम्राज्या—ये पाँच लक्ष्मी कही गई हैं ॥८३॥

श्रीविद्या त्वरिता चैव पारिजातेश्वरी तथा ।
त्रिपुटा पञ्चबाणेशी पञ्च कल्पलताः स्मृताः ॥८४॥

(३) कल्पलता पञ्चिका—(१) श्रीविद्या, (२) त्वरिता, (३) पारिजातेश्वरी, (४) त्रिपुटा और (५) पञ्च-बाणेशी ये पाँच 'कल्पलतायें' हैं ॥८४॥

श्रीविद्या मूलपीठेशी सुधा श्रीरमृतेश्वरी ।
अन्नपूर्णेति विख्याताः पञ्चैताः कामधेनवः ॥८५॥

(४) कामधेनु-पञ्चिका—(१) श्री विद्या, (२) मूलपीठेशी, (३) सुधाश्री, (४) अमृतेश्वरी और (५) अन्नपूर्णा—ये पाँच 'कामधेनु' कही जाती हैं ॥८६॥

श्रीविद्या सिद्धलक्ष्मीश्च मातङ्गी भुवनेश्वरी ।
वाराहीति च संप्रोक्ताः पञ्च रत्नाः प्रकीर्तिताः ॥८६॥

(५) पञ्चरत्ना-पञ्चिका—(१) श्रीविद्या, (२) सिद्ध-लक्ष्मी, (३) मातङ्गी, (४) भुवनेश्वरी और (५) वाराही—ये पाँच 'पञ्च-रत्न' कही जाती हैं ॥८६॥

विमर्श—प्रत्येक पञ्चिका 'वर्ग' की देवताओं के नाम बताने के बाद अगले श्लोकों में इन देवताओं के मन्त्रों का उद्धार बताया गया है । सर्व प्रथम 'लक्ष्मी-विद्याओं' के मन्त्र हैं ।

मूलविद्या महेशानि श्रीविद्या परिकीर्तिता ।

(१) श्री-विद्या—हे महेशानि ! 'मूल-विद्या' (मूल-मन्त्र) ही 'श्री विद्या' हैं ।

वारुणान्तं वह्निसंस्थं बिन्दुनादसमन्वितम् ॥८७॥
वामनेत्रसमायुक्तं लक्ष्मीबीजमुदाहृतम् ।
श्रीबीजं तु पराबीजं लक्ष्मीबीजमुदाहृतम् ॥८८॥

(२) एकाक्षरी-लक्ष्मी—'वरुणान्त' अर्थात् 'व' के बाद का वर्ण 'श', वह्नि (र) बिन्दु नाद समन्वित वाम-नेत्र 'ई' । इनकी योजना करने से एकाक्षरी लक्ष्मी विद्या का उद्धार होता है ॥८७-८८॥

मन्त्र-स्वरूप—'श्रीं'

विमर्श—इस मन्त्र के ऋषि-भृगु, छन्द-निचृत् , देवता-श्री, बीज-'शं', शक्ति-'ई' और कीलक 'र' हैं । षड्दीर्घ स्वर युक्त बीज (शां शीं इत्यादि) से षडङ्ग-न्यास । भगवती का 'ध्यान' है—

ध्यायेत् ततः श्रियं रम्यां सर्व देव नमस्कृताम् ।
तप्त कार्त स्वराभासां दिव्य रत्न विभूषिताम् ॥
आसिंच्यमानाममृतैर्मुक्ता रत्न द्रवैरपि ।
शुभ्राभ्राभेभ युग्मेन मुहुर्मुहुरपि,
रत्नौघबद्ध मुकुटां शुद्ध क्षौमांग रागिणीं,
पद्माक्षीं पद्मनाभेन हृदि चिंत्यां स्मरेद् बुधः

एवं ध्यात्वा जपेद् देवीं पद्म-युग्म धरां सदा,
वरदाभय शोभाढ्यां चतुर्बाहुं सुलोचनाम् ॥

बिन्दु पर भगवती 'श्रीविद्या' का पूजन-तर्पण करने के बाद उनके पूर्व-भाग में 'लक्ष्मी' का पूजन करना चाहिए। इनका पूजन-मन्त्र है—'श्रीं' लक्ष्मी-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

प्रणवं पूर्वमुच्चार्य ह्रीमात्मकं समुच्चरेत् ।
श्रीपुटा च नु कमले कमलाये प्रसीदतु ॥८९॥
लाये मध्यगतां भूमिं रुद्रस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसीद युगलं दद्याच्छ्रीबीजं भुवनेश्वरीम् ॥९०॥
श्रिया बीजं ततो दद्यान्महालक्ष्मी च (श्च) हृन्मनुः ।
सप्तविंशतिवर्णात्मा महालक्ष्मीमनुर्मतः ॥९१॥

(२) महालक्ष्मी—प्रणव (ॐ) के बाद 'श्रीं' से सम्पुटित 'ह्रीं' अर्थात् 'श्रीं ह्रीं श्रीं'। इसके बाद 'कमले', फिर 'कमलाये'—'ला' और 'ये' के मध्य में रुद्र-स्थान अर्थात् मन्त्र के ग्यारहवें अक्षर के रूप में 'भूमि' (ल) को स्थापित करे। रूप बना—'कमले-कमलालये'। फिर दो बार 'प्रसीद'। इसके बाद क्रमशः 'श्रीं ह्रीं श्रीं' फिर 'महालक्ष्मि' एवं 'नमः'। इस प्रकार श्री महालक्ष्मी का २७ वर्णों का मन्त्र निष्पन्न हुआ ॥८९-९१॥

मन्त्र-स्वरूप—'ॐ श्रीं ह्रीं श्रीं कमले कमलालये प्रसीद प्रसीद महालक्ष्मि नमः'।

विमर्श—'कमलाये' अर्थात् 'कमलालये' प्रसीदतु 'प्रसीद युगलं' से यह प्रतीत होता है कि मन्त्र में प्रसीद की तीन बार आवृत्ति की जानी है। ऐसे नहीं है। इसे इस तरह पढ़ा जाना चाहिए—'कमलाये (कमलालये) 'प्रसीद प्रसीद युगलं'।

श्रीविद्यार्णव (सप्तम-श्वास) में यह मन्त्र २८ अक्षरों का बताया गया है और मन्त्रोद्धार भी लगभग यही है—यथा—

प्रणवं पूर्वमुच्चार्य हरीमात्मकमक्षरम् ।
श्रीपुटं चाथ कमले-कमलाये प्रसीद च ॥
लाये मध्यगतां भूमिं रुद्र-स्थाने तु योजयेत् ।
प्रसीद पूर्व बीजानि सम्पुटत्वेन योजयेत् ॥
महालक्ष्मीहृदन्तोऽणुरष्टाविंशति-वर्ण वान् ।

'पूर्व बीजानि सम्पुटत्वेन' अर्थात् पूर्वके चार-बीजों 'ॐ श्रीं ह्रीं श्रीं' की योजना करने से मन्त्र २८ वर्णों का हो जाता है। वहीं स्पष्ट-मन्त्र में 'महालक्ष्मी' के स्थान पर 'महालक्ष्म्यै' है। मन्त्र-स्वरूप हैं—

ॐ श्रीं ह्रीं श्रीं कमले कमलालये प्रसीद प्रसीद श्रीं ह्रीं श्रीं ॐ महालक्ष्म्यै नमः' 'मन्त्र-महोदधि' में भी २८ अक्षरों का उक्त मन्त्र बताया गया है।

इस मन्त्र के ऋषि-दक्ष प्रजापति, छन्द-गायत्री, देवता-'लक्ष्मी', बीज—'श्री', शक्ति—'ह्रीं' और कीलक 'ॐ' हैं। ध्यान—

रत्नोद्यद्-वसु-पात्रं च पद्म-युग्मं च हेमजं।
अग्र-रत्नावलीं राजदादर्शं दधतीं पराम्॥
चतुर्भुजां स्फुरद् रत्न-नूपुरां मुकुटोज्ज्वलाम्
ग्रैवेयाङ्गद हाराढ्य-कङ्कणां-रत्न-कुण्डलाम्
पद्मासन समासीनां दूतीभिर्मण्डितां सदा।
शुक्लाङ्ग-राग रसनां महादिव्याङ्गना-नताम्।

भगवती महा-लक्ष्मी का पूजन श्री 'श्रीविद्या' के दक्षिण भाग में करना चाहिए। पूजन मन्त्र है—उक्त 'मूल मन्त्र' फिर श्री महालक्ष्मी श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

वृहत् तन्त्र सार (लक्ष्मी प्रकरण) 'मेरु-तन्त्र' एवं 'पुरश्चर्यार्णव' में श्री महालक्ष्मी का उक्त २७ अक्षरों का मन्त्र बताया गया है। ध्यान भिन्न-भिन्न हैं।

श्रीबीजं च पराबीजं कामराजं समालिखेत्।
इयं त्रिशक्तिर्देवेशि त्रिषु लोकेषु दुर्लभा॥९२॥

(४) त्रिशक्ति-लक्ष्मी—श्री बीज (श्रीं) परा बीज (ह्रीं) और कामराज (क्लीं) की योजना करने से 'त्रिशक्ति' लक्ष्मी का मन्त्र बनता है॥९२॥

मन्त्र-स्वरूप—'श्रीं' ह्रीं क्लीं'

विमर्श—इस मन्त्र के ऋषि-ब्रह्मा, छन्द-गायत्री, देवता-त्रिशक्ति हैं। मन्त्राक्षरों की द्विरावृत्ति से षडङ्ग-न्यास। ध्यान—

नवहेमस्फुरद् भूमौ रत्न-कुट्टिम-मण्डपे।
महाकल्पवनान्तःस्थे रत्न-सिंहासने वरे॥
कमलासन शोभाढ्यां, रत्न-मञ्जीर मण्डितां।
स्फुरद्-रत्न-लसन्मौलिं रत्न कुण्डल मण्डिताम्॥
अनर्घ्य-रत्न-घटित-नाना-मण्डन-भूषिताम्।

दधतीं पद्म युगलं पाशांकुश-धनुः शरान् ॥
षड्-भुजामिन्दु वदनां दूतीभिः परिवारिताम् ।
चारु-चामर हस्ताभी रत्नादर्श-सुपाणिभिः ॥
ताम्बूल स्वर्ण-पात्रीभिर्भूषा पेटी सुपाणिभिः
ध्यायेत् सर्व-समृद्धिदां तप्त-कार्तस्वराभासाम् ॥

भगवती 'त्रिशक्ति-लक्ष्मी' का पूजन श्री 'श्रीविद्या' के पश्चिम-भाग में करें। पूजन-मन्त्र—श्रीं ह्रीं क्लीं त्रिशक्ति-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

चन्द्रेश मादन क्ष्मेश वह्नि दीर्घाक्षि मण्डितम् ।
विध्वक्रूरेश्वरी युक्तं विद्येयं वैष्णवी प्रिये ॥९३॥
श्रीबीजं सम्पुटं कुर्यात् सर्वसाम्राज्यदायिनी ।

(५) सर्वसाम्राज्या लक्ष्मी—चन्द्र (स) ईश (ह) मादन (क) क्षमा (ल) ईश (ह) वह्नि (र) 'दीर्घाक्षि (ई) विधु-अक्रूरेश्वरी (बिन्दु-कला) जो 'श्रीबीजं से सम्पुटित हो। इन वर्णों की योजना करने से श्री सर्व साम्राज्य लक्ष्मी का मन्त्र निष्पन्न होता है ॥९३-९४॥

मन्त्र-स्वरूप—'श्रीं सहकलह्रीं श्रीं'

विमर्श—इस मन्त्र के ऋषि हरि, छन्द-गायत्री, देवता—'महा साम्राज्य दायिनी मोहिनी लक्ष्मी', बीज—'सहकलह्रीं' और शक्ति 'श्रीं' है। 'श्रां-श्रीं' इत्यादि से षडङ्ग-न्यास। ध्यान—

अतसी पुष्प संकाशां रत्न-भूषण भूषितां
शङ्ख-चक्र गदा पद्म, शार्ङ्ग-बाण-धरां करैः ॥
षड्भिः कराभ्यां देवेशि! वरदाभय शोभितां।
एवमष्ट भुजां ध्यायेत् महासाम्राज्य दायिनीम् ॥

भगवती 'सर्व साम्राज्य लक्ष्मी' का पूजन श्री 'श्रीविद्या' के उत्तर-भाग में करें। पूजन-मन्त्र—श्रीं सहकलह्रीं श्रीं—सर्व साम्राज्य लक्ष्मी श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

'मन्त्र-महोदधि' में इस मन्त्र को 'त्र्यक्षरी' कहा गया है। तदनुसार मन्त्र-स्वरूप है—'श्रीं स्हक्लह्रीं श्रीं'।

श्री 'ज्ञानार्णव' के एतत् पूर्व प्रकाशित संस्करणों में उपर्युक्त श्लोकों में कुछ मुद्रण गत त्रुटियाँ थीं, उन्हें यहाँ शुद्ध कर दिया गया है।

पञ्च लक्ष्मी विद्या के मन्त्र बताने के बाद पञ्च कोश विद्याओं के मन्त्रों का उद्धार बताया जा रहा है। पञ्च कोश विद्याओं में प्रथम स्वयं 'श्री विद्या' हैं।

१. श्रीविद्या कोशेश्वरी—श्रीविद्या कोशेश्वरी का पूजन 'मूल-मन्त्र' ही है। पूजन-मन्त्र हैं—

'महाकोशेश्वरी वृन्द मण्डितासन संस्थिता सर्वसौभाग्य जननी श्रीपादुकां पूजयामि नमः'

प्रणवं पूर्वमुच्चार्य परा हंसं समुद्धरेत् ॥९४॥
ततः सोऽहं शिरो देवि वसुवर्णोऽयमीरितः।

(२) परं ज्योति—प्रणव (ॐ) 'परा ह्रीं हंस' के बाद 'सोऽहं' और अन्त में 'शिर' अर्थात् 'स्वाहा' की योजना करने से 'परं-ज्योति' कोशाम्बा का मन्त्र निष्पन्न होता है। यथा—

मन्त्र-स्वरूप—ॐ ह्रीं हंसः सोऽहं स्वाहा'

विमर्श—ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द, परंज्योतिमयी-देवता, 'ॐ' बीज, स्वाहा-शक्ति, 'ह्रीं हंसः सोऽहं' कीलक।

(१) स्वाहा, (२) सोऽहं, (३) हंसः, (४) ह्रीं, (५) ॐ, (६) पूरे मन्त्र से षडंगन्यास करें।

यस्मादतिशयः क्वापि तेजसां नैव विद्यते।
परं पदेव तत्प्रोक्तं परं ज्योतिश्च देवता॥

उपर्युक्त ध्यान करके 'ॐ ह्रीं हंसः सोऽहं स्वाहा। परं ज्योति श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' मन्त्र से श्री श्रीविद्या के पूर्व भाग में पूजन करें।

वेदादिकेवला देवी परा निष्कलशांभवी ॥९५॥

(३) पर निष्कलां शाम्भवी—नाम के साथ (आगे) प्रणव की योजना करने से पर निष्कल शाम्भवी का मन्त्र निष्पन्न हो जाता है ॥९५॥

मन्त्र-स्वरूप—ॐ परा निष्कल शाम्भवी

विमर्श—इस मन्त्र के 'ब्रह्मा' ऋषि। गायत्री छन्द। देवता 'ब्रह्म'। अं—बीज, 'ॐ' शक्ति, 'मं' कीलक। ध्यान—

शुक्लाम्बर परीधाना शुक्ल माल्यानुलेपना।
ज्ञान मुद्राकिंता योगि-पति वृन्देन सेविता॥

'ॐ पर निष्कल शाम्भवी श्रीपादुकां पूजयामि नमः' मन्त्र से श्री 'श्रीविद्या' के दक्षिण भाग में पूजन करें।

हंसोऽजपाणान्तिः त (वर्णवस्त) त्र मातृकेति प्रकीर्तिता (तः)।

इस श्लोकार्ध में 'अजपा' और 'मातृका' दो कोश-विद्याओं के मन्त्र बताये गये हैं। यथा—

(४) अजपा—'हंसः'

(५) मातृका—अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं बं भं मं यं रं लं वं शं षं सं हं क्षं'

विमर्श—(१) 'हंस':—इस मन्त्र के ऋषि—अव्यक्त हंस, छन्द-गायत्री, देवता-परम हंस, बीज-'हं' शक्ति 'सः' कीलक 'सोऽहं'

(१) सूर्याय स्वाहा, (२) सोमाय स्वाहा, (३) निरञ्जनाय स्वाहा, (४) निराभासाय स्वाहा, (५) अनन्त-तनु सूक्ष्माय स्वाहा, (६) अव्यक्त नयन प्रबोधानात्मने स्वाहा—से षडङ्ग-न्यास करें। ध्यान—

अस्य हंसस्य देवेशि! निगमागम पक्षकौ।
अग्नीषोमतावथो वापि पक्षौ तारः शिरो भवेत्॥
बिन्दुत्रयं शिखा नेत्रे मुखे नादः प्रतिष्ठितः।
शिव-शक्ति पद द्वन्द्वं कालाग्नि पार्श्व युग्मकम्॥
अयं परम हंसस्तु सर्व व्यापी प्रकाशवान्।
सूर्य कोटि प्रतीकाशः स्वप्रकाशेन भासते॥

'हंसः अजपा श्रीपादुकां पूजयामि नमः'—इस मन्त्र से श्री 'श्रीविद्या' के पश्चिम भाग में पूजन करें।

(२) 'अं आं.........हं लं क्षं' मातृका श्रीपादुकां पूजयामि नमः' मन्त्र से श्री 'श्रीविद्या' के उत्तर भाग में पूजन करें।

'कल्पलता पञ्चिका'

'पञ्च कोश-विद्याओं' का निरूपण करने के बाद 'कल्पलता विद्याओं' का उद्धार बताया जा रहा है। (१) श्रीविद्या, (२) त्वरिता, (३) पारिजातेश्वरी, (४) त्रिपुटा और (५) पञ्चबाणेशी—कल्प लता विद्यायें है। परन्तु मन्त्रोद्धार (१) पारिजातेश्वरी, (२) पञ्चबाणेश्वरी, (३) त्रिपुटा और (४) पञ्च कामेश्वरी विद्याओं का बताया गया है।

श्लोक संख्या ८४ में 'त्वरिता' का नाम है, परन्तु यहाँ त्वरिता विद्या का उद्धार नहीं बताया गया है। यहाँ मन्त्रोद्धार 'पञ्च कामेश्वरी' का बताया है, परन्तु श्लोक संख्या ८४ में 'पञ्चकामेश्वरी' का कल्पलता विद्याओं में उल्लेख नहीं है।

(१) श्रीविद्या—'मूल विद्या महेशानि श्रीविद्या परिकीर्तिता' के अनुसार मूल विद्या (मूल-मन्त्र) ही 'श्रीविद्याकल्पलतेश्वरी' हैं। मध्य-बिन्दु में 'ऐं ह्रीं श्रीं 'मूल-मन्त्र'—महाकल्पलतेश्वरी-वृन्द मण्डितासन-संस्थिता सर्व सौभाग्य जननी श्री विद्या कल्पलता श्रीपादुकां पूजयामि नमः'—इस मन्त्र से उनका पूजन करे।

ध्यान एवं न्यास मूल-मन्त्र वत्'

प्रणवं भुवनेशानी वियच्चन्द्राग्निवाग्भवम् ॥९६॥
भुवनेशी ध्रुवं चैव सरस्वत्यै नमो लिखेत्।
इयं तु पारिजातेशी पारिजातरतोपमा ॥९७॥

(२) पारिजातेश्वरी—प्रणव (ॐ) भुवनेशानी (ह्रीं) वियत् (ह) चन्द्र (स) अग्नि (र) और वाग्भव (ऐं) पुनः भुवनेशी (ह्रीं), ध्रुव (ॐ) के बाद 'सरस्वत्यै नमः'। कल्प वृक्ष के समान सभी कामनाओं को पूरा करने वाला यह श्री 'पारिजातेश्वरी' का मन्त्र है ॥९७॥

मन्त्र-स्वरूप—'ॐ ह्रीं हस्रैं ह्रीं ॐ सरस्वत्यै नमः'

विमर्श—श्री 'ज्ञानार्णव-तन्त्र' के एतत् पूर्व प्रकाशित संस्करण में ९६वें श्लोक में 'वियच्चन्द्राग्निवायम्' पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि इससे 'कूट' का स्पष्ट उद्धार नहीं होता। इसे 'वियच्चन्द्राग्निर्वाग्भवम्' होना चाहिए ताकि 'हस्रैं' की निष्पत्ति हो सके।

इस मन्त्र के ऋषि-दक्षिणामूर्ति, छन्द-गायत्री, देवता-'पारिजातेश्वरीं वाणी' बीज-'हस्रैं' शक्ति 'ह्रीं' और कीलक 'ॐ' हैं। 'हस्रां'—'हस्रीं' आदि से षडङ्ग-न्यास। भगवती का ध्यान है—

हंसारूढां लसन्मुक्ता धवलां शुभ्र वाससम्।
शुचि स्मितां चन्द्र मौलिं वज्र मुक्ता विभूषणाम्।
विद्यां-वीणां सुधा कुम्भमक्ष-मालां च विभ्रतीम् ॥

'ॐ ह्रीं हस्रैं ह्रीं ॐ सरस्वत्यै नमः' पारिजातेश्वरी-श्रीपादुकां पूजयामि नमः से श्री 'श्रीविद्या' के पूर्व-भाग में पूजन करें।

काण्डबाणेश्वरी विद्या प्रसङ्गात् कथिता मया ।

(३) पञ्च बाणेश्वरी—पञ्च बाणेश्वरी विद्याओं का निरूपण प्रसंगवश पहिले ही किया जा चुका है—

मन्त्र-स्वरूप—'द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः'

विमर्श—द्वितीय पटल (श्लोक संख्या ४२-४४) में पञ्च बाणेश्वरी विद्याओं का निरूपण किया जा चुका है । इस मन्त्र के ऋषि-मदन, छन्द-गायत्रीं, देवता-पञ्च बाणेश्वरी हैं । ध्यान—

उद्यद्-दिवाकाराभासां नानालङ्कार भूषिताम् ।
बन्धूक कुसुमाकार रक्त-वस्त्राङ्गरागिणीम् ।
इक्षु-कोदण्ड-पुष्पेषु विराजत भुज-द्वयाम् ॥

'द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः पञ्च बाणेशी श्रीपादुकां पूजयामि नमः' से श्री 'श्री विद्यां' के उत्तर-भाग में पूजन करें ।

त्रिबीजं च पराबीजं सकामा त्रिपुटोदिता ॥९८॥

(४) त्रिपुटा—श्रीबीज (श्रीं) पराबीज (ह्रीं) और कामबीज (क्लीं) यह त्र्यक्षरी 'त्रिपुटा' विद्या है ॥९८॥

मन्त्र-स्वरूप—'श्रीं ह्रीं क्लीं'

इस मन्त्र के 'सम्मोहन' ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, 'त्रिपुटा' देवता हैं । मन्त्र के तीन कूटों की द्विरावृत्ति से षडङ्ग-न्यास ।

षञ्चकामेश्वरीविद्या बालान्यासे समीरिता ।

(५) पञ्चकामेश्वरी—'बाला-न्यास' (पटल २ श्लोक ४७) में कामेश्वरी का मन्त्र बताया गया है ।

मन्त्र-स्वरूप—'ह्रीं क्लीं ऐं ब्लूं स्त्रीं'

विमर्श—ऋषि-सम्मोहन छन्द-गायत्री, देवता-कामदा-पञ्च कामेश्वरी । ध्यान—

रक्तां-रक्त दुकूलाङ्ग लेपनां रक्त-भूषणाम् ।
पाशांकुशौ धनुर्बाणान् पुस्तकं चाक्ष मालिकाम् ॥
वराभीतीं च दधतीं त्रैलोक्य वशकारिणीम् ॥

'ह्रीं क्लीं ऐं ब्लूं स्त्रीं पञ्च कामेशी श्रीपादुकां' पूजयामि नमः' से पूजन करें ।

टिप्पणी—पञ्च-पञ्चिका विद्याओं के पूजन-स्थान 'मन्त्र-महोदधि' के अनुसार हैं । किन्हीं ग्रन्थों में इनका पूजन-स्थान ईशान आदि विदिशाओं में भी बताया गया है ।

पञ्च-कामदुधा

'पञ्च-कल्प-लता' विद्याओं का उद्धार-बताने के बाद 'काम-दुधा' विद्याओं का निरूपण अगले श्लोकों में किया गया है। काम दुधा या काम-धेनु विद्यायें हैं—(१) श्रीविद्या, (२) मूल पीठेशी, (३) सुधा श्री और, (४) अमतेश्वरी (५) अन्नपूर्णा।

(१) श्रीविद्या-कामदुधा—'मूल-विद्या महेशानि श्री विद्या परिकीर्तिता' के अनुसार 'श्रीविद्या' ही 'कामदुधा' विद्याओं में प्रथम हैं।

'ॐ ऐं ह्रीं श्रीं'—मूल-मन्त्र' महाकामदुधेश्वरी वृन्दा मण्डितासन संस्थिता सर्वसौभाग्य जननी श्रीविद्या कामदुधा श्रीपादुकां पूजयामि नमः' इस मन्त्र से बिन्दु पर उनका पूजन करें।

वाग्भवं वामनेत्रं च ध्रुवान्तं बिन्दुसंयुतम् ॥९९॥
मूलपीठेश्वरीविद्या सुगुप्ता कथिता मया।

(२) मूल पीठेशी—वाग्भव (ऐं) बिन्दु संयुक्त वामनेत्र (ईं) और अन्त में ध्रुव (ॐ) यह अत्यन्त गुप्त मूल पीठेशी का मन्त्र है ॥९९-१००॥

मन्त्र-स्वरूप—ऐं ईं ॐ

विमर्श—'श्रीविद्यार्णव'—मन्त्र-महोदधि' आदि अन्य ग्रन्थों में द्वितीया कामदुधा विद्या का नाम 'अमृत-पीठेश्वरी' बताया गया है। मन्त्र भी भिन्न-भिन्न हैं। यथा—'श्रीविद्यार्णव' में—

'ह्रीं हंसः सञ्जीवनि जूं जीव प्राण ग्रथिस्थं कुरु कुरु सः स्वाहा'। 'मन्त्र-महोदधि' में त्र्यक्षरी-मन्त्र है—

'ऐं क्लीं सौः'

ऋष्यादि का उल्लेख नहीं हैं। श्री 'श्रीविद्या' के पूर्व-भाग में 'ऐं क्लीं सौः अमृत पीठेशी श्रीपादुकां पूजयामि नमः' मन्त्र से पूजन का निदेश हैं।

पराबीजं तु श्रीबीजं बालायाराद्यमक्षरम् ॥१००॥
राज्यदे राजलक्ष्मीति चन्द्रः सर्गविभूषितः।
विलोमन्यादिबीजानि सुधा श्रीश्च प्रकीर्तिताः ॥१०१॥

(३) सुधाश्री कामदुधा—परा-बीज (ह्रीं) श्री बीज (श्रीं) बाला का प्रथम-अक्षर (ऐं) 'राज्यदे' फिर 'राज्यलक्ष्मी' फिर विसर्ग युक्त चन्द्र (सः) के बाद प्रारम्भ के बीजों की विलोम क्रम से योजना करने से 'सुधाश्री' का मन्त्र बनता है ॥१००-१०१॥

मन्त्र-स्वरूप—'ह्रीं श्रीं ऐं राज्यदे राज्यलक्ष्मि स: ऐं श्रीं' ह्रीं

विमर्श—'श्री विद्यार्णव' में सुधाश्री (सुधासू:) का विवरण नहीं दिया गया है। 'मन्त्र-महोदधि' में 'सुधाश्री' का मन्त्र बताया गया है—हस्त्रीं स्ह्रीं श्रीं क्लीं'। ऋष्यादि का उल्लेख नहीं है। श्री 'श्रीविद्या' के दक्षिण-भाग में 'हस्त्रीं स्ह्रीं श्रीं क्लीं-सुधाश्री श्रीपादुकां पूजयामि नम:' से पूजन का निर्देश है।

'स्वच्छन्द-पद्धति' नामक एक प्राचीन पद्धन्ति ग्रन्थ (अप्रकाशित) में इनके दो मन्त्र बताये गये हैं। यथा—

(१) ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्रीं ऐं वद वद वाग्वादिनि ह्सौ: क्लिन्ने क्लेदिनी महाक्षोभं कुरु कुरु ह्सौ:'

(२) 'हस्त्रीं स्ह्रीं श्रीं क्लीं'

इस पद्धति ग्रन्थ में सुधाश्री का पूजन श्री श्रीविद्या के अग्नि कोण में करने का विधान बताया गया है।

(४) अमृतेश्वरी—पाँच कामदुधा विद्याओं में चतुर्थ-क्रम पर 'श्री-अमृतेश्वरी-कामदुधा' का नामोल्लेख है, परन्तु यहाँ उनका 'मन्त्रोद्धार' नहीं मिलता।

'श्रीविद्यार्णव' में श्रीअमृतेश्वरी का मन्त्र बताया गया है—

'ऐं ब्लूं ॐ जूं स: अमृते अमृतोद्भवे अमृतेश्वरि अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय स्रावय स्वाहा'

'मन्त्र-महोदधि' में तीन-अक्षरों का मन्त्र बताया गया है—'सौ: क्लीं हैं'।

श्री 'श्रीविद्या' के पश्चिम-भाग में पूजन का निर्देश है। पूजन-मन्त्र—'सौ: क्लीं हैं' अमृतेश्वरी श्रीपादुकां पूजयामि नम:'

(५) अन्नपूर्णा—पाँचवीं काम-दुधा विद्या-भगवती अन्नपूर्ण का मन्त्र यहाँ नहीं मिलता। आगे श्लोक संख्या १०५ की दूसरी पंक्ति में इनका उल्लेख है—'अन्नपूर्णा च देवेशि ! उत्तराम्नाय कीर्तिता'। तात्पर्य यह कि उत्तराम्नाय क्रम में (पटल ९ श्लोक १७-१८) श्री अन्नपूर्णा का २० अक्षरों का मन्त्र-यथा—

'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं नमो भगवति माहेश्वरि अन्नपूर्णे स्वाहा'

'श्रीविद्यार्णव और 'मन्त्र-महोदधि' में भी यही मन्त्र बताया गया है। इस मन्त्र के ऋषि 'ब्रह्मा', छन्द-'उष्णिक', देवता-अन्नपूर्णेश्वरि, 'बीज' ह्रीं, शक्ति 'श्रीं' और कीलक 'क्लीं' है। 'ह्रां-ह्रीं' इत्यादि से षडङ्ग-न्यास। ध्यान—

उद्यत् सूर्य समाभासां विचित्र वसनोज्ज्वलाम् ।
चन्द्र-चूडामन्न-दान-निरतां, रत्न-विभूषिताम् ॥
सुवर्ण-कलाशाकार स्तन-भार-लतां पराम् ।
रुद्र-ताण्डव सानन्दां, द्विभुजां परमेश्वरीम् ॥
वरदाभय शोभाढ्यामन्न-दान-रतां सदा ॥

'मन्त्र-महोदधि' के अनुसार श्री 'श्रीविद्या' के उत्तर-भाग में पूजन करें। 'मूल-मन्त्र' श्री अन्नपूर्णा श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः इनका पूजन-मन्त्र है।

पञ्च रत्नेश्वरी विद्या

(१) श्रीविद्या-रत्नेश्वरी—स्वयं श्री 'श्रीविद्या' ही प्रथम रत्नेश्वरी (श्रीविद्या-रत्नेश्वरी) हैं। उनका पूजन मन्त्र है—'मूल-मन्त्र' महारत्नेश्वरी वृन्द मण्डितासन संस्थिता सर्व सौभाग्य जननी श्रीविद्यारत्नेश्वरी श्रीपादुकां पूजयामि नमः'।

वाग्भवं भुवनेशानि श्रीबीजं तदनन्तरम् ।
वियत्तदादिखफरेमित्यवर्णं समालिखेत् ॥१०२॥
वियत्तदादिकं तं च फ्रानित्येव मनुर्मतः ।
चवर्गतृतीयं तुर्यं मायारेफेन्दुसंयुतम् ॥१०३॥
महाचण्डं समुद्धृत्य संकर्षणीति संलिखेत् ।
कालमहान इत्युक्त्वा वियदिन्दुसमन्वितः (?) ॥१०४॥
मायाबीजं तु कथितः सिद्ध लक्ष्म्याः महामनुः ।
अन्नपूर्णा च देवेशि उत्तराम्नायकीर्तिता ॥१०५॥

(२) सिद्ध-लक्ष्मी—वाग्भव (ऐं) भुवनेशानि (ह्रीं) श्री बीज (श्रीं)। इसके बाद वियत् (ह) 'तदादि' अर्थात् 'ह' का पूर्ववर्ती वर्ण 'स' फिर 'ख्फ्रें'। इसके बाद नित्या-भैरवी का मन्त्र जो 'वियत् तदादि (ह्स्रैं) से प्रारम्भ होता है। इसके बाद 'च' वर्ग का तृतीय वर्ण 'ज' फिर माया (ई) रेफ (र) और इन्दु (अनुस्वार) से युक्त 'च' वर्ग का चतुर्थ वर्ण 'झ' अर्थात् 'झ्रीं'। फिर 'महाचण्ड' के बाद 'संकर्षणी'। इसके बाद 'कालमहान' फिर इन्दु (अनुस्वार) युक्त वियत् (ह) अर्थात् 'हं' और अन्त में माया बीज 'ह्रीं' यह सिद्ध लक्ष्मी का मन्त्र है ॥१०२-१०४॥

मन्त्र-स्वरूप—ऐं ह्रीं श्रीं हस्ख्फ्रें हस्रैं हसकलरीं ह्स्त्रौं ज्झ्रीं महाचण्ड (तेजः) संकर्षिणी कालमहान हं ह्रीं'

विमर्श—'श्रीविद्यार्णव' में भगवती सिद्ध-लक्ष्मी का दूसरा-मन्त्र बताया गया है—

'ॐ ऐं ह्रीं श्रीं फ्रें फ्रें ख्क्रें ऐं क्षमरीं महा-चण्ड तेज: संकर्षिणि ! काल-मन्थिनि ! ह्रीं स: स्वाहा, ख्क्रें ह्रीं श्रीं सर्व-सिद्धि योगिनि ! हसख्क्रें ह्रीं श्रीं नित्योदितायै सकल-कुल-नायिकायै भगवत्यै चण्डि ! कपालिन्यै ह्रीं श्रीं हूं ख्क्रें ह्रीं हूं हं फ्रें क्ष्रैं क्रों क्लीं स: खफ्वयरें परम हंसि ! निर्वाण-मार्गदे ! विषमोपप्लव प्रशमनि ! सकल दुरितारिष्ट-क्लेश दमनि ! सर्वापदम्भोधि-तारिणि ! सकल-शत्रु-प्रमथनि ! देवि ! आगच्छ, आगच्छ, हस, हस, बल, बल, नर-रुधिरान्त्र वसा भक्षिणि ! मम शत्रून् मर्दय, मर्दय, खाहि खाहि, त्रिशूलेन भिन्धि भिन्धि, छिन्दि छिन्दि, खड्गेन ताडय ताडय, छेदय-छेदय, वदकवलह्रीं, हसक्षमलवरयूं, हसक्षमलवरयीं, सहक्षमलवरयीं, मम सकल-मनोरथान् साधय साधय, परम-कारुणिके ! देवि ! भगवति ! महा-भैरव रूप धारिणि ! त्रिदश-वर-नमिते ! महा-मन्त्र मात: ! प्रणत-जन-वत्सले ! देवि ! महातिकाल नाशिनि ! ह्रीं प्रसीद, मदनातुरां कुरु-कुरु, सुरासुरकन्यकां ह्रीं श्रीं क्रों फट् ठ: ठ: हस्ख्क्रें फ्रें फ्रें महा रत्नेश्वरी वृन्द-मण्डितासन-संस्थिता-सर्व-सौभाग्य जननी श्री सिद्ध-लक्ष्मी-श्रीपादुकां पूजयामि ।

इस मन्त्र के ऋष्यादि का उल्लेख वहाँ नहीं किया गया है । 'मन्त्र-महोदधि' में एकादशाक्षरी मन्त्र बताया गया है—

'ऐं क्लिन्ने क्लीं मद-द्रवे कुले हस्त्रौ:'

श्री 'श्रीविद्या के पूर्व-भाग में पूजन का निर्देश है । उपर्युक्त 'मूल मन्त्र' के बाद 'सिद्ध-लक्ष्मी-श्रीपादुकां पूजयामि' नम:—भगवती का पूजन-मन्त्र है ।

'स्वच्छन्द-पद्धति' में उपर्युक्त दोनों मन्त्र बताये गये हैं ।

श्री 'श्रीविद्या रत्नाकर' में बताया गया मन्त्र है—'ज्झ्रीं महाचण्ड तेज: सङ्कर्षिणी कालमन्थाने ह:' । पूजन की दिशा—'वायव्य'

'अन्नपूर्णा च देवेशि ! उत्तराम्नाय कीर्तिता'

श्लोक संख्या १०५ की इस प्रथम-पंक्ति के आधार पर 'पञ्च-कामदुधा' में भगवती अन्नपूर्णा का मन्त्र लिखा जा चुका है ।

मातङ्गिन्येति चांशं वाङ्मायाश्रीसम्पुटं लिखेत् ।
इयं मातङ्गिनी विद्या द्वादशार्णा प्रकीर्तिता ॥१०६॥

मातङ्गिनी—'मातङ्गिनी' पद को वाक् (ऐं) माया (ह्रीं) और श्री बीज (श्रीं) सम्पुटित करने से 'मातङ्गिनी' का द्वादश अक्षरी मन्त्र निष्पन्न होता है—

ऐं ह्रीं श्रीं मातङ्गिन्यै नमः श्रीं ह्रीं ऐं

विमर्श—'श्रीविद्यार्णव' और 'मन्त्र-महोदधि' में ७३ अक्षरों का मन्त्र बताया गया है—

'ऐं क्लीं सौ: ऐं ह्रीं श्रीं ॐ नमो भगवति मातङ्गीश्वरि सर्वजन-मनोहारि सर्व राज वशङ्करि सर्व मुख रञ्जिनि सर्व स्त्रीपुरुष वशङ्करि सर्व दुष्ट मृग वशङ्करि सर्वलोक वशङ्करि ह्रीं श्रीं क्लीं ऐ'

७३ अक्षरों के उक्त मन्त्र के ऋषि-भगवान् मतङ्ग, छन्द-'गायत्री' देवता-'नाद मूर्ति मातङ्गी परमेश्वरी, बीज-'क्लीं', शक्ति 'ऐं' और कीलक—'सौ:' है। 'ऐं' क्लीं सौ: की द्विरावृत्ति से षडङ्ग न्यास। ध्यान—

अम्भोजार्पित दक्षांघ्रि-क्षौमां ध्यायेन्मातङ्गिनीम्
क्वणद् *वीणा लसन्नाद श्लाघान्दोलित कुण्डलाम्॥*
दन्त पंक्ति प्रभा रम्यां शिवां सर्वाङ्ग सुन्दरीम्।
कदम्ब पुष्प दामाढ्यां वीणा वादन तत्पराम्॥
श्यामाङ्गीं शङ्ख-वलयां ध्यायेत् सर्वार्थ सिद्धये।

श्री 'श्रीविद्या' के दक्षिण भाग में पूजन का निर्देश। मूल-मन्त्र—मातङ्गिनी श्रीपादुकां पूजयामि नम:'

वियदग्निसमायुक्ता वामनेत्रविभूषितम् (ता)।
भुवनेशी महेशानि दुर्लभा भुवनत्रये॥१०७॥

(४) भुवनेश्वरी—हे महेशानि ! वियत् (ह्) अग्नि (र्) वाम-नेत्र (ई) इन्दु (अनुस्वार) से विभूषिता यह भुवनेश्वरी विद्या तीनों लोकों में दुर्लभा है॥१०७॥

मन्त्र-स्वरूप—'ह्रीं'

ऋष्यादि का उल्लेख नहीं मिलता। 'ह्रीं' भुवनेश्वरी-पादुकां पूजयामि नम: इस पूजन-मन्त्र से श्री 'श्रीविद्या' के पश्चिम-भाग में पूजन करें।

वाग्भवं पूर्वमुद्धृत्य सम्बुद्ध्या भगवत्यपि।
वार्ताली द्वे च वाराही युग्मवाराहमुख्यपि॥१०८॥
अन्धे अन्धिन्यै नत्यन्तं रुन्धिनी तत्परः परम्।
जम्भे जम्भिन्यै नत्यन्तं मोहे मोहिन्ये युतं नमः॥१०९॥
स्तम्भे स्तम्भिन्यै हृद्युक्तममुकं स्तम्भयद्वये।
सर्वदुष्टप्रदुष्टानां सर्वेषां सर्वमुच्चरेत्॥११०॥
जिह्वास्तम्भं कुरु द्वंद्वं शीघ्रवश्यं कुरु द्वयम्।

वाग्कूट त्रयं वाचं मन्त्रपावकवल्लभा ॥१११॥
महाविद्येयमाख्याता सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।

(५) श्री वाराही—वाग्भव (ऐं) सम्बुध्यन्त 'भगवति', 'वार्तालि' 'वार्तालि' 'वाराहि-वाराहि' 'वाराहमुखि' 'अन्धे अन्धियै नमः' रुन्धिनि जम्भे जम्भिन्यै नमः' 'मोहे मोहिन्यै नमः' स्तम्भे स्तम्भिन्यै नमः' 'अमुकं स्तम्भय स्तम्भय' 'सर्वदुष्ट प्रदुष्टानां सर्वेषां सर्वजिह्वा स्तम्भं कुरु-कुरु' 'शीघ्रवश्यं कुरु-कुरु' के बाद 'वाक् आदि कूट त्रय' (ऐं क्लीं सौः) 'वाचं-मन्त्र' (ऐं) 'पावक-वल्लभा' (स्वाहा) की योजना करने से (वाराही) महाविद्या का मन्त्र निष्पन्न होता है, जो सब-तन्त्रों में गुप्त है ॥१०८-१११॥

मन्त्र-स्वरूप—ऐं भगवति वार्तालि वार्तालि वाराहि वाराहि वाराह मुखि अन्धे अन्धिन्यै नमः, रुन्धनि जम्भे जम्भिन्यै नमः, मोहे-मोहिन्यै नमः, स्तम्भे स्तम्भिन्यै नमः, 'अमुकं' स्तम्भय-स्तम्भय सर्व दुष्ट-प्रदुष्टानां सर्वेषां सर्वजिह्वा स्तम्भं कुरु-कुरु, शीघ्र-वश्यं कुरु-कुरु, ऐं क्लीं सौः ऐं स्वाहा'

विमर्श—'वाक्-कूट त्रयं' से तात्पर्य साधक को दीक्षा में प्राप्त मन्त्र के वाक्-आदि तीन-कूटों से है ।

'श्रीविद्यार्णव' और 'मन्त्र-महोदधि' में ११४ अक्षरों के मन्त्र बताये गये हैं, जो उपर्युक्त मन्त्र से मिलता-जुलता है ।

'मन्त्र-महोदधि' में बताया गया 'ध्यान' है—

रक्ताम्भोरुह कर्णिकोपरि गते शवासने संस्थिताम् ।
मुण्ड-स्त्रक्-परिराजमान-हृदयां नीलाश्म सद् रोचिषम् ॥
हस्ताब्जैर्मुसलं हलाभयवरान् सम्बिभ्रतीं सत्कुचाम् ।
वार्तालीमरुणम्बरां त्रिनयनां वन्दे वराहाननाम् ॥

श्री 'श्रीविद्या' के उत्तर-भाग में पूजन करें । 'मूल-मन्त्र'—वाराही श्रीपादुकां पूजयामि नमः'

पञ्च-पञ्चिका देवताओं का मन्त्रोद्धार बताने के बाद अगले १६ श्लोकों में 'मन्त्र-शोधन' की विधि बताई जा रही है । 'मन्त्र-साधना' में 'मन्त्र-शोधन' अनिवार्य है क्योंकि एक ही 'मन्त्र व्यक्ति-भेद से अलग-अलग फल देता है । अतः 'मन्त्र-साधना' में प्रवृत्त होने के पूर्व साधक को अपने लिये अनुकूल एवं सद्यः फलदायी मन्त्र का चयन करना चाहिए । यही मन्त्र-शोधन है ।

मन्त्र-शोधन की विधि

श्रीदेव्युवाच

मन्त्रास्तु कथिता देव सर्वतन्त्रेषु गोपिताः ॥११२॥
तानाराध्य कथं लोका जायन्ते भुवि दुर्लभाः ।
एतत्सर्वं महादेव कथय त्वं सुविस्तरम् ॥११३॥

श्री देवी ने कहा—हे देव ! अभी तक जो मन्त्र तन्त्र-शास्त्र में अत्यन्त गुप्त थे, जिन्हें कोई नहीं जानना था, उन मन्त्रों का आपने मुझे उपदेश दिया, बताया। मन्त्र-साधना करने से मनुष्य को सभी लौकिक एवं पारलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। प्रश्न यह है कि मनुष्य किस प्रकार इन मन्त्रों की आराधना करे ताकि संसार में दुर्लभ सभी सिद्धियाँ उसे प्राप्त हो जायें। किस तरह ये मन्त्र मनुष्य के लिये सिद्धि-दायक बनते हैं। मन्त्र-साधना का यह अविज्ञात रहस्य मुझे बताइये ॥११२-११३॥

ईश्वर उवाच

साधु पृष्टं त्वया भद्रे लोकानां हितकाम्यया।
अविज्ञातमनस्तत्त्वं भजता दुःसुता यथा (?) ॥११४॥

श्री ईश्वर ने कहा—हे देवि ! हे भद्रे ! लोक-कल्याण की इच्छा से आपने यह अत्यन्त उत्तम प्रश्न पूछा है। मन्त्र-साधना का तत्त्व अविज्ञात है। मन्त्र-साधना करने पर भी प्रतिकूल फलों की प्राप्ति होती है, दुःख उठाना पड़ता है। लगातार साधना करने पर भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इसलिये मन्त्र-साधना का रहस्य जानकर ही मन्त्र-साधना में प्रवृत्त होना चाहिए। इसमें प्रथम है अनुकूलतम तथा शीघ्र फलदायी मन्त्र का चयन ॥११४॥

कथ्यतेऽत्र तथा देवि सर्वतन्त्रेषु गोपितम्।
मन्त्रविशोधनं कुर्यान्मन्त्राणां च विशुद्धये ॥११५॥

हे देवि ! मन्त्रों की विशुद्धि के लिये सभी तन्त्रों में मन्त्र-विशोधन की जो गुप्त-विधि है, मैं उस विधि का निरूपण कर रहा हूँ। साधक को इस विधि से मन्त्र का विशोधन करना चाहिए ॥११५॥

विमर्श—सभी मन्त्र अपने तात्त्विक रूप में विशुद्ध हैं। अतः 'मन्त्राणां विशुद्धये' मन्त्रों की विशुद्धि की बात विरोधाभासी है। तथ्य तो यह है कि 'वस्तु' की 'विशुद्धता' व्यक्ति या पात्र सापेक्ष्य होती है। तत्त्वतः विशुद्ध वस्तु भी यदि व्यक्ति विशेष के लिये अनुकूल न हो तो वह अपनी समस्त तात्त्विक विशुद्धता के बावजूद उस व्यक्ति के लिये 'विशुद्ध' नहीं होगी। अतः 'मन्त्र की विशुद्धि' का अभिप्रेत अर्थ-

साधक के लिये मन्त्र की अनुकूलता है। मन्त्र शोधन है—अनुकूल-मन्त्र की खोज, तलाश। इसकी विधि का निरूपण करते हुए ईश्वर कहते हैं—

चतुरस्त्रभुवं भित्त्वा कृत्वा रेखात्रयं त्रयम्।
वृत्तः षोडशके चैव ततो वर्णान्समालिखेत् ॥११६॥

सर्व-प्रथम एक 'चतुरस्त्र' अर्थात् चौकोर वर्ग बनाये। फिर इसमें पूर्व से पश्चिम तीन रेखायें खीचे। इसी प्रकार उत्तर से दक्षिण तीन रेखायें खीचें। ये रेखायें परस्पर समान दूरी पर होनी चाहिए। इस तरह इसमें १६ कोष्ठक अथवा वर्ग हो जायेंगे। फिर इन १६ वर्गों में वर्ण-माला के अक्षरों को अकारादि क्रम से इस तरह लिखे ॥११६॥

इन्द्वग्निरुद्रनवनेत्रयुगार्क दिक्षु
ऋत्वष्टषोडशचतुर्दशभौतिकेषु ।
पाताल पञ्चदश वह्निहिमांशु कोष्ठे
वर्णाल्लिंखेल्लिपिभवान्क्रमशस्तु धीमान् ॥११७॥

इन्दु (प्रथम), अग्नि (तृतीय), रुद्र (एकादश) नव (नवम) नेत्र (द्वितीय) युग (चतुर्थ) अर्क (द्वादश) दिक् (दशम) ऋतु (षष्ठ) अष्ट (अष्टम) षोडश (सोलहवां) चतुर्दश (चौदहवाँ) भौतिक (पञ्चम) पाताल (सप्तम) पञ्चदश (पन्द्रहवाँ) एवं वह्नि-हिमांशु (तेरहवाँ) ॥११७॥

विमर्श—इसका अर्थ यह है कि 'वर्ण माला' के प्रथम अक्षर 'अ' को प्रथम कोष्ठक में, द्वितीय वर्ण 'आ' को तृतीय कोष्ठक में, तृतीय वर्ण 'इ' को ग्यारहवें कोष्ठक में, और चतुर्थ वर्ण 'ई' को नवम कोष्ठक में लिखे। इसके बाद पञ्चम वर्ण 'उ' को द्वितीय कोष्ठक में, षष्ठ वर्ण 'ऊ' को चतुर्थ कोष्ठक में, सप्तम वर्ण 'ऋ' को बारहवें कोष्ठक में और अष्टम वर्ण 'ॠ' को दशम कोष्ठक में लिखे। आगे के वर्णों को भी इसी प्रकार लिखा जाये। इसमें 'ह'कार के बाद वाले वर्णों ('ळ' एवं क्ष) को नहीं लिखा जाता।

चूँकि उपर्युक्त क्रम से 'अ'कार से 'ह'कार तक सभी वर्णों को लिखे जाने से प्रथम कोष्ठक में 'अ' 'क' 'थ' और 'ह' ये चार वर्ण आते हैं, अतएव इसका नाम 'अकथह' चक्र है। इसका रूप निम्नानुसार है।

'अकथह चक्र'

१ अ क थ ह	२ उ ङ प	३ आ ख द	४ ऊ च फ
५ ओ उ ब	६ ऌ झ म	७ औ ढ श	८ ॡ ञ य

९ ई ध न	१० ऋ ज भ	११ इ ग ध	१२ ऋ छ व
१३ अः त स	१४ ऐ ट ल	१५ अं ण ष	१६ ए ट र

मन्त्राद्यसाधकानां तु नामार्णः पतति ध्रुवम्।
सिद्धिस्थान चविज्ञेयं द्वितीयं साध्यनामकम् ॥११८॥
सुसिद्धं तु तृतीयं स्याच्चतुर्थमरिसंज्ञकम्।

इस चक्र की सहायता से यह जाना जाता है कि कोई मन्त्र-विशेष किसी व्यक्ति विशेष के लिये अनुकूल और ग्राह्य है अथवा नहीं। यह जानने के लिये इस चक्र के जिस कोष्ठक में मन्त्र-लेने वाले व्यक्ति के नाम का प्रथम-अक्षर है, उस कोष्ठक से गणना प्रारम्भ की जाती है। यह गणना उस कोष्ठक तक की जाती है जिसमें 'मन्त्र' का प्रथम अक्षर है।

यदि साधक/मन्त्र-ग्रहीता के नाम का प्रथम अक्षर और मन्त्र का प्रथम अक्षर एक ही कोष्ठक (वर्ग) में हैं तो वह मन्त्र साधक के लिये सिद्ध-मन्त्र है। यदि मन्त्र का प्रथम अक्षर दूसरे कोष्ठक में है तो वह मन्त्र 'साध्य' है, तीसरे कोष्ठक में है तो 'सुसिद्ध' और चतुर्थ कोष्ठक में हैं तो अरि (शत्रु) है ॥११८-११९॥

सिद्धः सिध्यति कालेन साध्यः सिध्यति वा न वा ॥११९॥
सुसिद्धस्तत्क्षणादेव साधकं भक्षयेदरिः।

अब इनका फल बता रहे हैं। 'सिद्ध' मन्त्र यथा-काल सिद्ध से जाता है। 'साध्य' मन्त्र में सिद्धि मिल भी सकती है और नहीं भी मिलती है। 'सुसिद्ध' मन्त्र तत्क्षण अर्थात् शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है और 'अरि' (शत्रु) संज्ञक मन्त्र साधक के लिये घातक होता है ॥१२०॥

सिद्धसिद्धो जपात्सिद्धिर्द्विगुणात्सिद्धसाध्यकः ॥१२०॥
सिद्धसुसिद्धः संग्राहात्सिद्धारिर्हन्ति वै द्विजान्।

यह बताया जा चुका है कि 'साधक' के नाम का प्रथम अक्षर जिस कोष्ठक में हो, उस कोष्ठक से गणना प्रारम्भ करके उस कोष्ठक तक गिनना चाहिए, जिस कोष्ठक में 'मन्त्र का प्रथम अक्षर हो। अब यदि 'मन्त्र' का प्रथम अक्षर 'प्रथम चतुष्टय' में से अर्थात् 'सिद्ध-चतुष्टय' में हो तो क्रमशः उसकी संज्ञा (१) सिद्ध-सिद्ध, (२) सिद्ध-साध्य, (३) सिद्ध-सुसिद्ध और (४) सिद्ध-अरि है। अब इनके फलों का निरूपण कर रहे हैं। यथा—

(१) 'सिद्ध-सिद्ध' संज्ञक मन्त्र 'जप' करने अर्थात् यथा-विहित संख्या में जप करने से सिद्ध हो जाता है। (२) 'सिद्ध-साध्य' मन्त्र दुगुने जप से सिद्ध होता है (३)

'सिद्ध-सुसिद्ध' मन्त्र ग्रहण करने अर्थात् 'दीक्षा' लेकर सामान्य साधना करने से सिद्ध हो जाता है, और (४) 'सिद्ध-अरि' 'द्विजों' के लिये अर्थात् भाई-बन्धुओं के लिये घातक होता है ॥१२१॥

साध्यः सिध्यति संक्लेशात्साध्यसाध्योऽतिदुःखकृत् ॥१२१॥
साध्यः सुसिद्धो भजनात्साध्यारिः स्वाश्रयं हरेत् ।

प्रथम चार-कोष्ठकों के बाद वाले चार-कोष्ठकों (पाँचवें से आठवें) की संज्ञा 'साध्य-चतुष्टय' है। यदि मन्त्र का प्रथम अक्षर इस चतुष्टय के प्रथम-द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ कोष्ठक (अर्थात् प्रथम से पंचम, षष्ठ, सप्तम अथवा अष्टम) में हो तो क्रमशः उसकी संज्ञा (१) साध्य सिद्ध, (२) साध्य-साध्य, (३) साध्य-सुसिद्ध और (४) साध्य-अरि है। इनका फल इस प्रकार है—

(१) 'साध्य-सिद्ध' बहुत क्लेश से सिद्ध होता है। (२) साध्य-साध्य अत्यन्त दुःखदायी है। (३) साध्य-सुसिद्ध भजन करने से अर्थात् अनेक उपायों द्वारा बहु-विध कई पुरश्चरण करने से सिद्ध होता है। (४) साध्य-अरि-मन्त्र अपने आश्रय दाताओं के प्राणों का हरण कर लेता है ॥१२२॥

सुसिद्धसिद्धोऽध्ययनात्फलं दद्युर्यथेप्सितम् ॥१२२॥
सुसिद्धसाध्यो जपाद्यैः सिद्धिर्यस्मादतोऽन्यथा ।
सुसिद्धे तु सुसिद्धस्तु पूर्वजन्मकृतश्रमात् ॥१२३॥
सस्मात्तु सर्वं सिद्धानां साधको यो जपेन्मनुः ।
अभिचारे रिपोरवं यदि स्यान्भुविपन्नयोः (?) ॥१२४॥
ससिद्धेऽरिविशेषण स्वकुलान्नाशयेद्ध्रुवम् ।

तीसरा चतुष्टय 'सुसिद्ध-चतुष्टय' कहलाता है। इस चतुष्टय के प्रथम-द्वितीय-तृतीय और चतुर्थ (अर्थात् प्रथम से गणना करने पर नवम, दशम, एकादश और द्वादश) कोष्ठकों की संज्ञा क्रम से (१) सुसिद्ध-सिद्ध, (२) सुसिद्ध-साध्य, (३) सुसिद्ध-सुसिद्ध और (४) सुसिद्ध-अरि' है।

(१) 'सुसिद्ध-सिद्ध' मन्त्र 'अध्ययन-मात्र' से सभी अभीष्ट-फल प्रदान करता है। (२) सुसिद्ध साध्य मन्त्र बहुत जप करने से फल देता है। (३) सुसिद्ध-सुसिद्ध-मन्त्र पूर्व-जन्म में किये गये परिश्रम (जप-पुरश्चरण आदि) के कारण जपने मात्र से अतिशय फलदायी होता है। (४) सुसिद्ध-अरि मन्त्र का जप अभिचार कर्म के समान होता है जो विपरीत फल देता है। यह अपने कुल के लिये घातक होता है ॥१२२ $\frac{१}{२}$ -१२४॥

अरिसिद्धस्तु संहन्यादरिसाध्यं तु योषितः ॥१२५॥
अरिसिद्धस्वमन्त्रश्च कुलाच्छादनकृच्छलैः ।
अर्यरिस्वामहामन्त्रप्राप्तेन सुनिश्चितम् (?) ॥१२६॥

चतुर्थ चतुष्टय में अर्थात् प्रथम कोष्ठक से तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें कोष्ठक में जिन मन्त्रों के प्रथम वर्ण होते हैं, वे क्रम से (१) अरि सिद्ध, (२) अरि साध्य, (३) अरि सुसिद्ध और (४) अरि-अरि संज्ञक होते हैं।

उपर्युक्त श्लोकों में अरि-संज्ञक मन्त्रों की साधना के जो फल बताये गये हैं, वे स्पष्ट नहीं है। 'रुद्र-यामल' के अनुसार (२) अरि सिद्ध मन्त्र की दीक्षा/साधना से पुत्र, (२) अरि साध्य मन्त्र से कन्या, (३) अरि सुसिद्ध से पत्नी और (४) अरि-अरि मन्त्र से स्वयं साधक का विनाश होता है।

विमर्श—उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि जो मन्त्र अमित-सिद्धि-दायक हैं, वे ही मन्त्र प्रतिकूल होने पर विनाशकारी और घातक हो जाते हैं। अतः मन्त्र-ग्रहण करते समय बहुत सावधानी रखनी चाहिए। अन्य तन्त्र-ग्रन्थों में 'अकथह' चक्र के साथ ही अकडम चक्र, कुलाकुल चक्र, नक्षत्र-चक्र, राशि-चक्र, ऋणी-धनी चक्र आदि विभिन्न चक्रों के द्वारा मन्त्र की ग्राह्यता का निरूपण किया गया है। फिर भी, यदि किसी व्यक्ति ने अज्ञानतावश या धोखे से 'अरि' या 'प्रतिकूल' मन्त्र ग्रहण कर लिया है, तो उसके 'त्याग' करने की विधि भी तन्त्र-ग्रन्थों में बताई गई है। 'रुद्र-यामल' में बताई गई विधियों में से सबसे सरल-विधि यह है कि वट-पत्र पर अरि-मन्त्र को लिखकर बहती हुई नदी में प्रवाहित कर दिया जाये तो उक्त अरि-मन्त्र का त्याग हो जाता है—

वटपत्रे लिखित्वारि मन्त्रं स्रोतसि निक्षिपेत्।
एवं मन्त्रविमुक्तः स्यान्ममाज्ञा वशहेतुना ॥५/१९॥

'मन्त्र शोधन' में जो उपर्युक्त निषेध बताये गये हैं, इनके बावजूद इस सम्बन्ध में कुछ अपवाद भी हैं। ईश्वर कहते हैं—

एतदुक्तं महेशानि त्यक्त्वाऽन्यमतमुत्तमम्।

हे महेशानि ! अन्य-मतों को छोड़कर मन्त्र-शोधन की इस उत्तम विधि का हमने निरूपण किया, परन्तु

स्वप्नलब्धे स्त्रिया दत्ते मालामन्त्रे त्रिबीजके ॥१२७॥
सिद्धादिशोधनं देवी न वै तेषां तु विद्यते।

जो मन्त्र स्वप्न में प्राप्त हुआ हो, जिस मन्त्र की दीक्षा स्त्री-गुरु से प्राप्त हुई हो, जिस मन्त्र में तीन 'बीज' हैं, और सभी माला-मन्त्रों के सम्बन्ध में सिद्धादि शोधन की आवश्यकता नहीं है ॥१२७-१२८॥

'मन्त्र-शोधन' की विधि बताने के बाद पुनः अर्चन-विधि का निरूपण करते हुए तीन-श्लोकों में 'पञ्च-पञ्चिका' देवताओं का पूजन-मन्त्र बताया गया है—

श्रीविद्यापूजनस्थाने चक्रराजे महेश्वरि ॥१२८॥
महाकोशेश्वरी वृन्दमण्डितासनसंस्थिता ॥१२९॥
सर्वसौभाग्यजननीपादुकां पूजयामि च ।
इत्युच्चार्य परं ज्योतिःकोशाद्यां पूजयेत्सुधीः ॥१३०॥
अनेनैव प्रकारेण पूजयेत्पञ्चपञ्चिकाः ।

हे महेशानि ! श्री 'श्रीचक्र' में 'श्री श्रीविद्या' के पूजा-स्थान में ही 'परं-ज्योतिः' आदि कामेश्वरी विद्याओं का पूजन-इस मन्त्र से किया जाना चाहिए—

'महाकोशेश्वरी-वृन्द-मण्डितासन-संस्थिता-सर्वसौभाग्य-जननी (श्री) पादुकां पूजयामि (नमः)

इसी प्रकार पञ्च-पञ्चिका विद्याओं का भी अर्चन किया जाना चाहिए ॥१२८-१३०॥

विमर्श—श्री 'श्रीचक्र' में श्री 'श्रीविद्या' के समीप 'पञ्च-पञ्चिका' विद्याओं के पूजन-स्थान का उल्लेख उनके मन्त्र-स्वरूप के साथ व्याख्या में कर दिया गया है ।

'महाकोशेश्वरी........परं ज्योतिः कोशाद्यां पूजयेत्' के बाद 'अनेनैव प्रकारेण पूजयेत् पञ्च-पञ्चिकाः' से यह संकेत (निर्देश) मिलता है कि पञ्च-पञ्चिका की प्रत्येक विद्या का पूजन उपर्युक्त पूजन मन्त्र से किया जाना चाहिए । एतदर्थ इस पूजन मन्त्र में 'महाकोशेश्वरी' के स्थान पर यथा-स्थिति (१) महा-लक्ष्मीश्वरी, (२) महा कल्प-लतेश्वरी, (३) महा-कामदुधेश्वरी, (४) महा-रत्नेश्वरी की योजना कर लेनी चाहिए । प्रत्येक 'पञ्चिका' में प्रथम-पूज्या श्री 'श्रीविद्या' के पूजन-मन्त्र में इन पदों की यथा क्रम से योजना पूर्ववर्ती श्लोक संख्या ८७ से १११ की व्याख्या में कर दी गई है । इस पूजन मन्त्र के आदि में 'त्रि-तार' (ऐं ह्रीं श्रीं') के साथ 'मूल-मन्त्र' की योजना कर लेनी चाहिए ।

षड्-दर्शन-अर्चन

पञ्च-पञ्चिका पूजन-मन्त्र बताने के बाद सार्धत्रय श्लोकों में 'षड्-दर्शन' के पूजन का विधान बताया जा रहा है । ये षड् दर्शन वेदान्त इत्यादि दर्शनों से भिन्न हैं । इनकी एक अन्य पारिभाषिक-संज्ञा 'आयतन-विद्या' है ।

शैवं तु दर्शनं देवि बैन्दवे पूजयेत्प्रिये ॥१३१॥
परितो दर्शनं शाक्तं चक्रस्य परमेश्वरी।
ब्राह्मं तु दर्शनं पूज्यं भूबिम्बे प्रथमे प्रिये ॥१३२॥
शिवस्य वामतो देवि वैष्णवं दर्शनं यजेत्।
सृष्टिचक्रे भवेत्सूर्यदर्शनं कमलेक्षणे ॥१३३॥
स्थितिचक्रे तु सम्पूज्यं बौद्धदर्शनमुत्तमम्।
एवं सम्पूज्य सकलं श्रीविद्यां परितोषयेत् ॥१३४॥

हे देवि ! बिन्दु-स्थान (बैन्दवचक्र) में 'शैव-दर्शन' का, बैन्दव चक्र के चतुर्दिक 'शाक्त-दर्शन' का, भूबिम्ब (भूपुर) में 'ब्राह्म-दर्शन' का, शैव-दर्शन के बायीं ओर वैष्णव दर्शन का, सृष्टि चक्र (भूपुर-षोडशार और अष्टपत्र) में 'सौर (सूर्य) दर्शन' का, और स्थिति-चक्र (चतुर्दशार और दोनों दशार) में 'बौद्ध-दर्शन' का पूजन करके श्री 'श्रीविद्या' को संतुष्ट करना चाहिए ॥१३१-१३४॥

विमर्श—'मन्त्र-महोदधि' के अनुसार उक्त 'दर्शनों' के नाम के अन्त में 'श्री पादुकां पूजयामि नमः' की योजना से उनका पूजन-मन्त्र बन जाता है। यथा—'शैव-दर्शन श्रीपादुकां पूजयामि नमः' आदि।

अन्य ग्रन्थों में इनमें से प्रत्येक दर्शन का विनियोग, षडङ्ग-न्यास, ध्यान और मन्त्र आदि का विस्तृत विधान भी मिलता है। वहाँ इनका पूजन-स्थान भिन्न बताया गया है।

'रुद्र-यामल' में इनका पूजन-स्थान कुछ भिन्न बताया गया है—

चतुरस्त्रं बौद्धभेदं ब्राह्मं वै षोडशच्छदम्।
वैष्णवं शैवभेदश्च, मन्वस्त्रं सौर मुच्यते॥
अष्टारं द्विदशारन्तु मध्यं शाक्तं समीरितम्।

'वृहत् तन्त्र सार' में उक्त षड् दर्शनों के साथ ही 'चार्वाक-दर्शन' और 'जिनेन्द्र-दर्शन' का क्रमशः 'भूपुर' और 'अष्ट दल-पत्र' में पूजन का विधान मिलता है।

इनमें से चार्वाक, बौद्ध और जैन वेद-वाह्य 'नास्तिक दर्शन' हैं। वैदिक-मतावलम्बी शैव एवं वैष्णव आदि दर्शनों के साथ 'बौद्ध' आदि वेद-वाह्य दर्शनों के समाहार से यह संकेत दिया गया है कि भगवती श्री 'श्रीविद्या' सर्व-दर्शन मयी हैं।

तर्पणानि पुनर्दद्यात्त्रिवारं तत्त्वमुद्रया।
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु तत्त्वमुद्रेयमीरिता ॥१३५॥

हे देवि ! 'दर्शनों' का पूजन करने के बाद 'तत्त्वमुद्रा' से भगवती का तीन बार 'मूल-मन्त्र' से तर्पण करना चाहिए। अंगूठा और अनामिका को मिला देने से 'तत्त्व-मुद्रा' बनती है ॥१३५॥

पुष्पं समर्पयेद्देवि मुद्रया ज्ञानसंज्ञया।
अङ्गुष्ठतर्जनीयोगाज्ज्ञानमुद्रा प्रतिष्ठिता ॥१३६॥
सर्वोपचारैराराध्य मुद्राः संदर्शयेत्क्रमात्।
अथाङ्गावरणं कुर्याच्छ्रीविद्यामनुसम्भवम् ॥१३७॥

हे देवि ! ज्ञान मुद्रा से भगवती को पुष्प समर्पित करे। अंगूठा और तर्जनी के अग्र-भागों को परस्पर जोड़ने से 'ज्ञान-मुद्रा' बनती हैं। सभी उपचारों से भगवती का पूजन करके मुद्रायें प्रदर्शित करे। इसके बाद अंग-पूजन करे ॥१३६-१३७॥

अग्नीशासुरवायव्यमध्यदिक्ष्वङ्गपूजनम् ।
मायालक्ष्मीमयं बीजयुग्मं पूर्वक्रमेण तु ॥१३८॥
कथितं योजयेद्देवि त्रयं वा परमेश्वरि।
संपुटक्रमयोगेन चाथवा वीरवन्दिते ॥१३९॥
संयोज्य पूजयेत्सर्वाः क्रमादेव वरानने।

हे परमेश्वरि ! आग्नेय, ईशान, नैऋत्य, वायव्य, मध्य (पूर्व) और सभी दिशाओं में हृदय-आदि षड् अंगों का पूजन करना चाहिये। षडङ्ग पूजन के लिये षडङ्ग-मन्त्रों के आदि में माया (ह्रीं) और लक्ष्मी बीज (श्रीं) अथवा बीज-त्रय (ऐं ह्रीं श्रीं) की योजना करनी चाहिये, अथवा षडङ्ग मन्त्रों को इनसे सम्पुटित कर लेना चाहिए।

नव आवरण-पूजन

त्रैलोक्यमोहने चक्रे प्रकटा योगिनीर्यजेत् ॥१४०॥
चतुरस्त्रे चतुर्द्वारि शोभिते सिद्धिदायकाः।
अणिमां पश्चिमद्वारे दक्षभागे प्रपूजयेत् ॥१४१॥
लघिमामुत्तरद्वारे दक्षभागे प्रपूजयेत्।
पूर्वद्वारे तु महिमामुत्तरे पूजयेत्प्रिये ॥१४२॥
ईशित्वसिद्धिंर्देवेशि दक्षिणद्वारि पूर्ववत्।
वशित्वसिद्धिं वायव्ये तेनैव क्रमयोगतः ॥१४३॥
इच्छासिद्धिं पूर्वभागे नैर्ऋत्ये च प्रपूजयेत्।
प्राप्तिसिद्धिः सर्वकामा सिद्धिश्च परमेश्वरि ॥१४४॥
अधोर्ध्वक्रमरूपेण ज्ञातव्ये सुरसुन्दरि।

त्रैलोक्य मोहन चक्र में प्रकट योगिनियों की पूजा करें। चतुर्द्वार युक्त चतुरस्त्र की प्रथम रेखा में पश्चिम द्वार के दक्ष भाग में अणिमा की, उत्तर-द्वार के दक्ष भाग में लघिमा की, पूर्व द्वार के उत्तर-भाग में महिमा की, दक्षिण द्वार पर ईशित्व सिद्धि की, वायव्य में वशित्व सिद्धि की, नैऋत्य में इच्छा सिद्धि की तथा ऊर्ध्व एवं अधो भाग में क्रम से प्राप्ति-सिद्धि एवं सर्व-कामा सिद्धि की पूजा करनी चाहिए ॥१४०-१४४॥

विमर्श—षडङ्ग पूजन के बाद यहाँ से आवरण-पूजन का क्रम प्रारम्भ होता है। पद्धति के अनुसार पूजन प्रारम्भ करने के पूर्व देवता से एतदर्थ अनुमति ले लेनी चाहिए। यथा—

ॐ सन्विन्मये परे देवि! परामृत रस-प्रिये!
अनुज्ञां त्रिपुरे देहि, परिवारार्चनाय मे ॥

श्री 'श्रीचक्र' पर आवरण-पूजा 'भूपुर' से प्रारम्भ होती है। 'भूपुर' में तीन रेखायें हैं। प्रथम रेखा पर, अणिमा आदि सिद्धियों का, द्वितीय रेखा पर ब्राह्मी आदि अष्ट मातृकाओं का और तीसरी रेखा पर सर्व-संक्षोभिणी आदि १० (दस) मुद्राओं का पूजन किया जाता है। इन साढ़े पाँच श्लोकों में भूपुर की प्रथम रेखा पर अणिमा आदि दश-सिद्धियों के पूजन की दिशायें बताई गई हैं। तदनुसार पश्चिम द्वार में 'अणिमा' सिद्धि की पूजा की जानी चाहिए। श्री 'नित्याषोडषिकार्णव' के प्रथम-विश्राम में कहा गया है—'अणिमां पश्चिम द्वारे लघिमामपि उत्तरे' (श्लोक संख्या-१६६)

उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए श्री भास्कर-राय ने श्री 'ज्ञानार्णव' के 'उत्तराशामुखो देवि' आदि श्लोक-चतुष्टय (द्रष्टव्य-दशम पटल, श्लोक संख्या ९९ से १०२) उद्धृत करते हुए श्री 'गुप्तार्णव-तन्त्र' (?) का यह श्लोक भी उद्धृत किया है—

यदाशाभिमुखो मन्त्री त्रिपुरां परिपूजयेत्।
देवी पश्चात् तदा प्राची, प्रतीची त्रिपुराःपुरः ॥

दिशा-क्रम की व्याख्या करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया है—'ततश्च देव्याः पुरतोऽणिमा सिद्धिः। देवी दक्षिण भागे लघिमा। अनयोर्मध्य कोणे वशित्वेत्या-द्याकारक एक रूप एव नियमो ज्ञेयः।

'देवी के सामने (भूपुर की प्रथम-रेखा पर) 'अणिमा' और उनके दाहिने ओर 'लघिमा' और इन दोनों के मध्य में 'वशित्व' की पूजा करनी चाहिए।

पूज्यपाद करपात्रजी स्वामी ने 'श्रीविद्या-रत्नाकर' (पृ० १६८) में रेखा-चित्र की सहायता से भूपुर की प्रथम रेखा पर देवी के सामने 'अणिमा' सिद्धि की पूजा का निर्देश दिया है।

तदनुसार देवी के सम्मुखवर्ती पश्चिम द्वार पर अणिमा का, देवी के दक्षिणवर्ती उत्तर द्वार पर लघिमा का, देवी के पृष्ठ वर्ती पूर्व द्वार पर महिमा का और देवी के वामवर्ती दक्षिण द्वार पर 'ईशित्व' सिद्धि का पूजन—क्रम प्राप्त होता है। अणिमा और लघिमा के मध्य वायव्यकोण में 'वशित्व सिद्धि' और ईशित्व सिद्धि एवं अणिमा-सिद्धि के मध्य वर्ती नैॠत्य कोण में 'इच्छा सिद्धि' का पूजन स्थान है। चक्र के अध: और ऊर्ध्व भाग में क्रम से 'प्राप्त-सिद्धि' और 'सर्वकामा सिद्धि' का पूजन विधान है।

अन्य सभी ग्रन्थों में 'वशित्व-सिद्धि' के बाद और 'इच्छा सिद्धि के पूर्व दो और सिद्धियों का पूजन-विधान है। ये हैं—प्राकाम्य सिद्धि (ईशान में) और भुक्ति सिद्धि (अग्निकोण) में। श्री ज्ञानार्णव के मुद्रित संस्करण में इनका उल्लेख नहीं है। पूजन-क्रम की पूर्णता के लिये यथा-स्थान (वशित्व एवं इच्छा के मध्य में) इनका समाहार कर लेना चाहिए।

ब्राह्मी माहेश्वरी चैन्द्री कौमारी वैष्णवी तथा ॥१४५॥
वाराही च तथा षष्ठी चामुण्डा सप्त मातरः।
अष्टमी तु महालक्ष्मीः पश्चिमादिक्रमेण हि ॥१४६॥
वामभागे तु संपूज्या वायव्यादि च पूर्ववत्।

भूपुर की मध्यवर्ती मध्य रेखा पर पश्चिम से प्रारम्भ करके ब्राह्मी, माहेश्वरी, ऐन्द्री और कौमारी इन चार मातृकाओं का क्रमश: पश्चिम, उत्तर, पूर्व एवं दक्षिण में तथा वैष्णवी, वाराही, चामुण्डा एवं महालक्ष्मी का क्रमश: वायव्य, ईशान, आग्नेय एवं नैॠत्य कोण में पूजन करें ॥१४५-१४६॥

संक्षोभद्रावणाकर्षवश्योन्मादमहाङ्कुशाः ॥१४७॥
खेचरीबीजयोन्याख्यास्त्रिखण्डां च प्रपूजयेत्।

भूपुर की अन्तिम तृतीय रेखा पर संक्षोभिणी, द्राविणी, आकर्षिणी, वशङ्करी, उन्मादिनी, महाङ्कुशा, खेचरी, बीज, योनि और त्रिखण्डा-मुद्राओं का 'पूर्ववत्' अर्थात् प्रथम-रेखा में बताये गये क्रम से पूजन करें ॥१४७-१४८॥

विमर्श—मुद्रा के नाम के पूर्व उसका बीज और मुद्रा के नाम के बाद 'मुद्रा शक्ति-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नम:' की योजना करके देवी के सम्मुखवर्ती पश्चिम द्वार से प्रारम्भ करके उनके नाम के सामने बताई गई दिशाओं-विदिशाओं में मुद्राओं का पूजन करें ॥१४८-१४९॥

द्रां सर्व संक्षोभिणी मुद्रा श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः (पश्चिम) द्रीं द्राविणीमुद्रा. (दक्षिण) क्लीं सर्वाकर्षिणी मुद्रा (पूर्व) ब्लूं सर्व वशङ्करी मुद्रा. (उत्तर) सः सर्वोन्मादिनी मुद्रा. (वायव्य) क्रों सर्व महाङ्कुशा मुद्रा. (ईशान) हस्ख्फ्रें सर्वखेचरी मुद्रा (आग्नेय) ह्सौः सर्वबीज मुद्रा (नैऋत्य) ऐं सर्वयोनिमुद्रा. (अधः) तथा 'हस्रैं' हस्क्लरीं ह्स्सौः त्रिखण्डा मुद्रा. (ऊर्ध्व भागे)

एताः संपूज्य चक्रेशीं त्रिपुरां पूजयेत्पराम् ॥१४८॥
अणिमासिद्धिपुरतः सर्वकार्यार्थसाधिकाम् ।
सर्वसंक्षोभिणीं मुद्रां दर्शयेत्कमलानने ॥१४९॥

इनकी पूजा करने के बाद 'अणिमा' सिद्धि के पूजन-बिन्दु के सामने सर्व-कार्यार्थ-साधिका चक्रेश्वरी 'त्रिपुरा' का पूजन करना चाहिए एवं सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा दिखानी चाहिये ॥१४९॥

विमर्श—पद्धति के अनुसार चक्रेश्वरी 'त्रिपुरा' का अर्चन करने के बाद उनके दक्ष पार्श्व में संक्षोभिणी मुद्रा' और वाम-पार्श्व में 'अणिमा-सिद्धि' का पूजन करते हुए आवरण-अर्चन पूर्ण करना चाहिए ।

द्वितीय आवरणः षोडशार-चक्र अर्चन

सर्वाशापूरकं चक्रं गुप्तयोगिन्यधिष्ठितम् ।
षोडशारं ततो देवि पूजयेत्कार्यसिद्धये ॥१५०॥

ईश्वर कहते हैं—हे देवि ! सोलह कमल दल वाला (षोडशार) सर्वाशा-पूरक चक्र 'गुप्त-योगिनियों' का अधिष्ठान है । अभीष्ट सिद्धिके लिये साधक को इस चक्र में इन 'गुप्त-योगिनियो' का पूजन करना चाहिए ॥१५०॥

कामाकर्षिणिकां देवि बुध्याद्याकर्षिणिकां तथा ।
अहंकाराकर्षिणीं च शब्दाकर्षणरूपिणीम् ॥१५१॥
स्पर्शाकर्षिणिरूपां च रूपाकर्षिणिरूपिणीम् ।
रसाकर्षकरीं चैव गन्धाकर्षणकारिणीम् ॥१५२॥
चित्ताकर्षिणिकां तद्वद्धैर्याकर्षिणिकां प्रिये ।
नामाकर्षिणिकां चैव बीणाकर्षिणिकां तथा ॥१५३॥
अमृताकर्षिणीं चैव बीजाकर्षिणिकां प्रिये ।
शरीराकर्षिणीं चैव आत्माकर्षिणरूपिणीम् ॥१५४॥

'सर्वाशा-पूरक चक्र' में अधिष्ठित गुप्त-योगिनियों के नाम हैं—(१) कामाकर्षिणी, (२) बुध्याकर्षिणी, (३) अहंकाराकर्षिणी, (४) शब्दाकर्षिणी,

(५) स्पर्शाकर्षिणी, (६) रूपाकर्षिणी, (७) रसाकर्षिणी, (८) गन्धाकर्षिणी, (९) चित्ताकर्षिणी, (१०) धैर्याकर्षिणी, (११) नामाकर्षिणी, (१२) वीणाकर्षिणी, (१३) अमृताकर्षिणी, (१४) बीजाकर्षिणी, (१५) शरीराकर्षिणी और (१६) आत्माकर्षिणी ॥१५१-१५४॥

विमर्श—अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित 'गुप्त-योगिनियों' के नाम और उनके क्रम में भिन्नता है। यथा—'नित्याषोडशिकार्णव' (प्रथम विश्राम-श्लोक १७४-१७५ में' (१०) धैर्याकर्षिणी के बाद बताये गये नाम और क्रम इस प्रकार हैं—

(११) स्मृत्याकर्षिणी, (१२) नामाकर्षिणी, (१३) बीजाकर्षिणी, (१४) आत्माकर्षिणी, (१५) अमृताकर्षिणी और (१६) शरीराकर्षिणी।

'श्री विद्यार्णव' और 'वृहत् तन्त्रसार' में ये ही नाम और यही क्रम हैं। 'मन्त्र-महोदधि' में ये नाम हैं परन्तु क्रम भिन्न हैं।

निष्कर्ष यह है कि किसी अन्य ग्रन्थ में बीणाकर्षिणी (१२) का नाम नहीं है, और उपर्युक्त श्लोकों में 'स्मृत्याकर्षियाी' का नामोल्लेख नहीं है।

पश्चिमादिविलोमेन षोडशारे स्वरान्विताः।
एता नित्याः कलाः पूज्याः स्त्रवत्पीयूषमण्डलाः ॥१५५॥

ये 'योगिनियाँ' नित्या-कला रूपा हैं, अमृत-वर्षिणी हैं। इनमें से प्रत्येक के नाम के आगे 'अ-आ'आदि एक-एक स्वर और नाग के अन्त में 'नित्या-कला' की योजना करके सोलह कमल दलों पर प्श्चिम से प्रारम्भ करके विलोम क्रम से इनकी पूजा करनी चाहिए ॥१५६॥ यथा—

ऐं ह्रीं श्रीं अं कामाकर्षिणी नित्याकला श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

चक्रेश्वरीं यजेद्देवीं त्रिपुरेशीं समृद्धिदाम्।
कामाकर्षणरूपायाः पुरतः पूजयेत्प्रिये ॥१५६॥
सर्वविद्राविणीं मुद्रा दर्शयित्वा निवेदयेत् ॥१५७॥

हे देवि ! 'कामाकर्षिणी' के सामने इस चक्र की 'चक्रेश्वरी' भगवती 'त्रिपुरेश्वरी' का पूजन करके 'सर्व-विद्राविणी-मुद्रा' दिखाते हुए आवरण-पूजा परम-भट्टारिका श्री ललिता महात्रिपुरसुन्दरी को समर्पित करें ॥१५७-१५८॥

विमर्श—'पद्धति' के अनुसार चक्रेश्वरी 'त्रिपुरेशी' का अर्चन करने के बाद उनके दक्षिण-भाग में 'सर्व-विद्राविणी-मुद्रा और वाम-भाग में 'लघिमा-सिद्धि' का पूजन करें। तत्पश्चात् आवरण-पूजा समाप्त करें।

सर्वं संक्षोभण चक्रः तृतीयावरणार्चन

सर्वसंक्षोभणे चक्रे यजेद्गुप्ततराभिधाः ॥१५८॥

हे प्रिये ! तदनन्तर 'सर्व-संक्षोभण चक्र' (अष्ट-दल-कमल) में 'गुप्ततर-योगिनियों' का अर्चन करना चाहिए ॥१५८॥

अनङ्गकुसुमां प्राच्यां कवर्गेण प्रपूजयेत् ।
दक्षिणे च चवर्गेण तथा चानङ्गमेखलाम् ॥१५९॥
अनङ्गमदनां पश्चात्टवर्गेण प्रपूजयेत् ।
तवर्गेणोत्तरे पश्चादनङ्गमदनातुराम् ॥१६०॥
अनङ्गरेखामाग्नेये पवर्गेण प्रपूजयेत् ।
राक्षसेऽनङ्गवेगां तु यवर्गेण प्रपूजयेत् ॥१६१॥
वायव्ये तु शवर्गेण तथाऽनङ्गाङ्कुशां यजेत् ।
ईशान्ये लक्षवर्गेण पूज्याऽनङ्गादिमालिनी ॥१६२॥

पूजन-विधान—'क' वर्ग (कं खं गं घं ङं) के साथ 'अनङ्गकुसुमा' का पूर्व में, 'च' वर्ग (चं छं जं झं ञं) के साथ 'अनङ्गमेखला' का दक्षिण में, 'ट' वर्ग (टं, ठं ड ढं णं) के साथ 'अनङ्ग-मदना' का पश्चिम में, 'त' वर्ग (तं थं दं धं नं) के साथ 'अनङ्ग-मदनातुरा' का उत्तर में अर्चन-तर्पण करें। 'प' वर्ग (पं फं बं भं मं) के साथ 'अनङ्ग रेखा' का 'अग्नि-कोण' में, 'य' वर्ग (यं रं लं वं) पूर्वक 'अनङ्ग वेगा' का 'नैऋत्य' में, 'श' वर्ग (शं षं सं हं) पूर्वक 'अनङ्गकुशा' का 'वायव्य' में और 'लं क्षं' पूर्वक 'अनङ्गमालिनी' का 'ईशान' में पूजन करें ॥१५९-१६२॥

चक्रेश्वरीं यजेद्देवीं ततस्त्रिपुरसुन्दरीम् ।
अनङ्गकुसुमाग्रे च सर्वसाम्राज्यदायिनीम् ॥१६३॥
सर्वाकर्षणमुद्रां च दर्शयेत्सुरवन्दिते ।

'अनङ्ग-कुसुमा' के आगे (सम्मुख) चक्रेश्वरी 'त्रिपुरसुन्दरी' का पूजन-तर्पण करके 'सर्वाकर्षिणी मुद्रा' दिखाते हुए आवरण-पूजा पूर्ण करें ॥१६३-१६४॥

विमर्श—'पद्धति' के अनुसार चक्रेश्वरी 'त्रिपुर-सुन्दरी' का 'पूजन-तर्पण' करने के बाद उनके दक्षिण-भाग में 'सर्वा-कर्षिणी मुद्रा' और 'वाम-भाग' में 'महिमा-सिद्धि'का पूजन करें। इस प्रकार आवरण-पूजा पूर्ण कर पूजन-फल भगवती को समर्पित करें।

सर्व-सौभाग्यदायक चक्रः चतुर्थावरणअर्चन

चक्रपूजां निवेद्याथ चतुर्थं चक्रमर्चयेत् ॥१६४॥
सर्वसंक्षोभिणी शक्तिः सर्वविद्राविणी तथा ।

सर्वाकर्षिणिका शक्तिः सर्वाह्लादनकारिणी ॥१६५॥
सर्वसंम्मोहिनी शक्तिः सर्वस्तम्भनकारिणी ।
सर्वजृम्भिणिका शक्तिः सर्ववशंकरी तथा ॥१६६॥
सर्वार्थरञ्जिनी शक्तिर्नवमी परमेश्वरी ।
सर्वोन्मादनिका शक्तिः शक्तिः सर्वार्थसाधिका ॥१६७॥
सर्वसंपत्तिपूर्णा च सर्वमन्त्रमयी तथा ।
चतुर्दशारशक्तिस्तु सर्वद्वंद्वक्षयंकरी ॥१६८॥
सर्वसौभाग्यदे चक्रे पश्चिमादिविलोमतः ।
वाममार्गेण देवेशि संपूज्याः सर्वसिद्धिदाः ॥१६९॥

हे सुरवन्दिते ! तृतीय चक्र का पूजन-तर्पण करने के बाद चतुर्दश (१४) 'कोण' युक्त 'सर्व-सौभाग्य-दायक' चक्र में पश्चिम से प्रारम्भ कर वामावर्त-क्रम से 'सर्व-संक्षोभिणी' आदि 'चतुर्दश-शक्तियों' का अर्चन करें ।

सर्व-सिद्धियाँ प्रदान करने वाली इन शक्तियों के नाम हैं—(१) सर्व संक्षोभिणी, (२) सर्व विद्राविणी, (३) सर्वाकर्षणी, (४) सर्वाह्लादिनी, (५) सर्वसम्मोहिनी, (६) सर्वजृम्भिणी, (८) सर्व वशङ्करी, (९) सर्वार्थरञ्जिनी, (१०) सर्वोन्मादिनी, (११) सर्वार्थसाधिका, (१२) सर्वसम्पत्तिपूरिणी, (१३) सर्वमन्त्रमयी और (१४) सर्वद्वन्द्वक्षयङ्करी । पूजन के समय इनके नाम के बाद 'शक्ति' की योजना कर लेनी चाहिए ॥१६४-१६९॥

सर्वसंक्षोभिणी शक्तिः पुरतः पूजयेत्ततः ।
चक्रेश्वरी सिद्धिदात्रीं परां त्रिपुरवासिनीम् ॥१७०॥
वश्यमुद्रां प्रदर्श्याथ निवेद्य तदनन्तरम् ।

सर्व संक्षोभिणी के सामने सिद्धिदात्री चक्रेश्वरी 'त्रिपुर वासिनी' का पूजन-तर्पण करके' सर्ववशंकरी मुद्रा' दिखाते हुए आवरण-पूजा पूर्ण करें ॥१७०॥

विमर्श—इन योगिनियों को 'सम्प्रदाय-योगिनी' कहते हैं । चक्रेश्वरी 'त्रिपुर-वासिनी' के पूजन के बाद उनके दक्ष-भाग में 'सर्ववशङ्करीमुद्रा' और वाम-भाग में 'ईशित्व-सिद्धि' का पूर्ववत् अर्चन करें ।

सर्वार्थ साधक चक्रः पञ्चमावरणार्चन–

सर्वार्थसाधके चक्रे दशारे कुलयोगिनीः ॥१७१॥
पूजयेत्सर्वकार्यार्थसिद्धिदाः पञ्चमे क्रमात् ।
सर्वसिद्धिप्रदा देवी सर्वसंपत्प्रदा तथा ॥१७२॥

सर्वप्रियंकरी देवी सर्वमङ्गलकारिणी ।
सर्वकामप्रपूर्णा च सर्वदुःखप्रमोचनी ॥१७३॥
सर्वमृत्युप्रशमनी सर्वविघ्ननिवारिणी ।
सर्वाङ्गसुन्दरी देवी सर्वसौभाग्यदायिनी ॥१७४॥
पश्चिमादिविलोमेन दशारे पूजयेदिमाः ।

हे देवि ! पञ्चम-आवरण के क्रम में सर्वार्थ-साधक नामक 'बहिर्दशार' में पश्चिम से प्रारम्भ कर वामावर्त क्रम से 'सर्वसिद्धिप्रदा' आदि दस (१०) 'कुल-योगिनियों' का पूजन-तर्पण करना चाहिए । सभी कामनाओं और अर्थों की सिद्धि-प्रदान करने वाली 'कुल योगिनी' हैं—(१) सर्वसिद्धिप्रदा, (२) सर्वसम्पत्प्रदा, (३) सर्वप्रियंकरी, (४) सर्वमंगलकारिणी, (५) सर्वकाम प्रपूर्णा, (६) सर्वदुःखप्रमोचिनी, (७) सर्व मृत्यु-प्रशमनी, (८) सर्वविघ्ननिवारिणी, (९) सर्वाङ्ग-सुन्दरी और (१०) सर्व सौभाग्यदायिनी ॥१७१-१७४॥

सर्वसिद्धिप्रदा देवि पुरतश्चक्रनायिकाम् ॥१७५॥
सर्वसिद्धिप्रदां देवि पूजयेत्त्रित्पुराश्रियम् ।
सर्वोन्मादनमुद्रां च दर्शयित्वा निवेद्य च ॥१७६॥

इस चक्र की चक्रेश्वरी भगवती 'त्रिपुरा श्री' हैं । 'सर्व-सिद्धि प्रदा' के सामने चक्रेश्वरी 'त्रिपुराश्री' का पूजन-तर्पण करके 'सर्वोन्मादिनी मुद्रा दिखाए और 'चक्र-पूजा' का फल भगवती को समर्पित करे ॥१७५-१७६॥

विमर्श—'पद्धति' के अनुसार 'चक्रेश्वरी-त्रिपुराश्री' के दक्ष-भाग में 'सर्वोन्मादिनी मुद्रा' और वाम-भाग में 'वशित्व-सिद्धि' की पूजा करें ।

सर्वरक्षा कर चक्रः षष्ठावरणार्चन–

सर्वरक्षाकरे चक्रे निगर्भा योगिनीर्यजेत् ।
सर्वज्ञा सर्वशक्तिश्च सर्वैश्वर्यप्रदा ततः ॥१७७॥
सर्वज्ञानमयी देवी सर्वव्याधिविनाशिनी ।
सर्वाधारस्वरूपा च सर्वपापहरा तथा ॥१७८॥
सर्वानन्दमयी देवी सर्वरक्षास्वरूपिणी ।
सर्वेप्सितार्थफलदा देव्यः सर्वसमृद्धिदाः ॥१७९॥
पश्चिमादिविलोमेन पूजयेत्पङ्क्तियोनिके ।

इसके बाद 'सर्व रक्षाकर-चक्र' (अन्तर्दशार) में 'सर्वज्ञा' आदि 'निगर्भा-योगिनी' वृन्द का पश्चिम से प्रारम्भ कर वाम-क्रम से पूजन-तर्पण करना चाहिये । सर्व-समृद्धि-देने वाली 'कुल-योगिनियों' के शुभ-नाम हैं—(१) सर्वज्ञा, (२) सर्व-

शक्ति, (३) सर्वैश्वर्यप्रदा, (४) सर्व ज्ञानमयी, (५) सर्व-व्याधि-नाशिनी, (६) सर्वाधार स्वरूपा, (७) सर्वपाप हरा, (८) सर्वानन्दमयी, (९) सर्वरक्षा स्वरूपिणी और (१०) सर्वेप्सितफलदा ॥१७७-१७९॥

सर्वज्ञापुरतो देवि चक्रेशीं मालिनीं यजेत् ॥१८०॥
महाङ्कुशां महामुद्रां दर्शयित्वा निवेद्य च ।
मध्यचक्रे महेशानि योगिनीः पूजयेत्प्रिये ॥१८१॥

इस 'चक्र' की चक्रेश्वरी भगवती 'त्रिपुरा-मालिनी' हैं । 'सर्वज्ञा के सामने' 'चक्रेश्वरी-त्रिपुरा मालिनी' का पूजन करके 'महाङ्कुशा' मुद्रा दिखाकर 'चक्र-पूजा' का फल भगवती ललिता को समर्पित करें ॥१८०-१८१॥

विमर्श—'चक्रेश्वरी' के दक्षिण भाग में 'महाङ्कुशा-महामुद्रा' का और वाम-भाग में 'प्राकाम्य-सिद्धि' का पूर्ववत् अर्चन करना चाहिए ।

सर्वरोग हर चक्रः सप्तमावरणार्चन–

सर्वरोगहरे चक्रे वसुकोणे सुरेश्वरि ।
रहस्ययोगिनीर्देवि वशिन्याद्यास्तु सिद्धिदाः ॥१८२॥
पश्चिमादिविलोमेन पूर्वोक्ताः पूजयेत्क्रमात् ।
वशिनीपुरतः पूज्या सिद्धाम्बा चक्रनायिका ॥१८३॥
खेचरीं दर्शयेन्मुद्रां निवेद्यानन्तरं ततः ।

हे सुरेश्वरि ! 'सर्व रोग हर चक्र' नामक अष्टार-चक्र में पश्चिमादि विलोम-क्रम से 'रहस्य-योगिनी' संज्ञक 'वशिनी' आदि अष्ट-वाग्देवताओं का पूजन करें । 'वशिनी' के सामने चक्रेश्वरी सिद्धाम्बा (त्रिपुरा-सिद्धा) का पूजन करके 'खेचरी-मुद्रा' प्रदर्शन पूर्वक चक्र पूजा का फल भगवती ललिता-महात्रिपुर-सुन्दरी को पूर्ववत् समर्पित करे ॥१८२-१८४॥

विमर्श—इस चक्र में 'रहस्य-योगिनी' संज्ञक 'वशिनी' आदि जिन आठ वाग्देवताओं की पूजा का विधान है, वे हैं (१) वशिनी, (२) कामेश्वरी, (३) मोदिनी, (४) विमला, (५) अरुणा, (६) जयिनी, (७) सर्वेश्वरी और (८) कौलिनी । 'वाग्देवता-न्यास विधान (पटल १४ के श्लोक ४६ से ५६) में इनके जो मन्त्र बताये गये हैं, उन्हीं मन्त्रों से यहाँ उनका पूजन होता है ।

वाग्देवताओं का पूजन-तर्पण करने के बाद 'वशिनी' के सामने चक्रेश्वरी 'सिद्धाम्बा' (त्रिपुरा-सिद्धा) का पूजन करें । तदनन्तर 'चक्रेश्वरी' के दक्षिण-भाग में 'खेचरी' मुद्रा का और 'वाम-भाग' में 'मुक्ति-सिद्धि' का पूजन करने की पद्धति है ।

सर्वसिद्धिप्रदचक्र : अष्टमावरणार्चन

सर्वसिद्धिप्रदे चक्रे त्रिकोणे सर्वकामदे ॥१८४॥
परापररहस्याख्ययोगिनीः परिपूजयेत् ।

'सर्व सिद्धि प्रद' नामक 'त्रिकोण' चक्र में 'परापररहस्य' संज्ञक योगिनियों का पूजन करना चाहिए ॥१८४-१८५॥

विमर्श—(१) रुद्रशक्ति 'कामेश्वरी' (२) विष्णुशक्ति-'वज्रेश्वरी' (वैष्णवी) और ब्रह्मात्मिका-शक्ति—'भगमालिनी'—तीन 'परापरा रहस्य-योगिनी' है ।

इस 'त्रिकोण चक्र' में 'त्रिकोण' के अन्दर-परापररहस्य योगिनी त्रय का पूजन-तर्पण किया जाता है । इनका पूजन करने के पूर्व कामेश्वर और कामेश्वरी के बाण, धनुष, पाश और अंकुश का त्रिकोण के बाहर पूजन-तर्पण का विधान है । अगले पाँच श्लोकों में आयुध-पूजन की विधि-बताई गई है—

पञ्च बाणान्समुच्चार्य कामकामेश्वरीमयान् ॥१८५॥
जम्भनाख्यान्महेशानि पूजयेद्बाणदेवताम् ।
धमात्मकं कामचापं द्वितीयं तु थमात्मकम् ॥१८६॥
कामेश्वर्या मोहनाख्यां पूजयेच्चापदेवताम् ।
द्वितीयं भुवनेशानीपाशयुग्मं वशंकरम् ॥१८७॥
कामेशस्य च कामेश्यास्त्रैलोक्याकर्षणं प्रिये ।
अङ्कुशाख्यं करोमात्मबीजं स्तम्भनसंज्ञकम् ॥१८८॥
कामेशस्य च कामेश्या अङ्कुशं पूजयेत्प्रिये ।
षडङ्गावरणाद्वाह्ये समीपे क्रमतो यजेत् ॥१८९॥
पश्चिमादिक्रमेणैव चतुर्दिक्षु प्रपूजयेत् ।

'षडङ्गावरणात् वाह्ये' अर्थात् 'मूल-त्रिकोण' के बाहर पश्चिम-आदि क्रम से प्रारम्भ करके चारों दिशाओं में (अर्थात् पश्चिम से दक्षिण तक) क्रम से (१) बाण, (२) धनुष, (३) पाश और (४) अंकुश का पूजन करें । यथा—

(१) बाण—पञ्च-बाण बीजों का उल्लेख करते हुए कामेश्वर कामेश्वरी मय 'जृम्भन' बाणों का पश्चिम में पूजन करें ।

(२) धनुष—पञ्च बाण बीजों के साथ 'धं' और 'थं' की योजना करके कामेश्वर-कामेश्वरी के 'मोहन' नामक धनुष का 'उत्तर' में पूजन करें ।

(३) पाश—पञ्च बाण बीजों के साथ 'भुवनेशानी' (ह्रीं) की योजना करके कामेश्वर-कामेश्वरी के 'सर्ववशङ्कर' 'पाश' का 'पूर्व' में पूजन करें ।

(४) अंकुश—पञ्च बाण बीजों के साथ 'क्रों' की योजना करके कामेश्वर-कामेश्वरी के सर्वस्तम्भकारी 'अंकुश' का दक्षिणमें पूजन करें ।

विमर्श—'पद्धति' के अनुसार 'पञ्च बाण बीजों' के बाद प्रत्येक आयुध-पूजन मन्त्र में 'यं रं लं वं सं' की योजना भी करनी चाहिए । यथा—

'द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः यं रं लं वं सं धं थं सर्व-सम्मोहनाय कामेश्वर-कामेश्वरी चापाय नमः' आदि ।

त्रिकोण के बाहर चारों दिशाओं में 'बाण' आदि आयुधों का पूजन करने के बाद 'त्रिकोण' के तीनों कोणों में 'परापर रहस्य-योगिनी' वृन्द का पूजन करना चाहिए । यथा—

कामेश्वरीं रुद्रशक्तिमाद्यकूटेन चाग्रतः ॥१९०॥
द्वितीयेन च कूटेन कामाख्येन च वैष्णवीम् ।
दक्षकोणे समभ्यर्च्य तृतीयेन च पूजयेत् ॥१९१॥
भगमालां ब्रह्मशक्तिमुत्तरे विश्वमातृकाम् ।
चक्रेश्वरीमम्बिकाख्यां कामेशीपुरतो यजेत् ॥१९२॥
बीजमुद्रामुपास्याथ चक्रपूजां निवेदयेत् ।

(१) कामेश्वरी—त्रिकोण के अग्र-कोण में मूल-मन्त्र के प्रथम-कूट (यथा-कएईलह्रीं) से रुद्र-शक्ति 'कामेश्वरी' का पूजन करें ।

(२) वैष्णवी (वज्रेश्वरी)—त्रिकोण के दक्षिण-कोण में मूल-मन्त्र के काम-कूट (यथा-हसकहलह्रीं) से विष्णु-शक्ति (वैष्णवी-वज्रेश्वरी) का अर्चन करें ।

(३) भग-मालिनी—त्रिकोण के 'वाम-कोण' में मूल-मन्त्र के तृतीय कूट (यथा-सकलह्रीं) से ब्रह्मा-शक्ति 'भगमालिनी' का पूजन तर्पण करें ।

कामेश्वरी के सामने इस चक्र की स्वामिनी 'त्रिपुराम्बा' का पूजन-तर्पण करके 'बीज' मुद्रा दिखाकर चक्र पूजा का फल भगवती ललिता-महात्रिपुर सुन्दरी को समर्पित करे ॥१९०-१९३॥

विमर्श—परापर रहस्य योगिनी 'कामेश्वरी' और 'भग-मालिनी' 'कामेश्वरी नित्या' और 'भग-मालिनी' नित्या से भिन्न हैं । इनका ध्यान इस प्रकार है—

'कामेश्वरी' का ध्यान है

कामेश्वरी शुक्ल-वर्णा, शुक्लमाल्यानुलेपना ।
मुक्ताफल स्फुरद् भूषा नानाभरण-भूषिता ।
पुस्तकं चाक्षसूत्रं च वरदं चाभयं तथा ।

भगमालिनी—

सद्यः सन्तप्त हेमाभा भगमाला सुशोभना।
अनर्घ रत्न घटित भूषणा भुवनेश्वरी।
पाशांकुशा ज्ञानमुद्रा, वरदान कराम्बुजा।

चक्रेश्वरी 'त्रिपुराम्बा' का पूजन-तर्पण करने के बाद चक्रेश्वरी के दक्षिण भाग में 'बीज' मुद्रा और वाम-भाग में 'इच्छा-सिद्धि' का पूजन तर्पण करें।

सर्वानन्दमय चक्रः नवमावरणार्चन

सर्वानन्दमये चक्रराजे बैन्दवसंज्ञके ॥१९३॥
ब्रह्मरूपे चित्स्वरूपे संविद्वेद्ये शृणु प्रिये।
परापररहस्याख्यां योगिनीं त्रिपुरां यजेत् ॥१९४॥
कूटत्रयं समुच्चार्य सर्वविद्यास्वरूपकम्।
समस्तदेवतारूपं सर्ववस्तुमयं यजेत् ॥१९५॥

सर्व विद्या स्वरूप, सर्वदेवता रूप, सर्ववस्तुमय कूट-त्रय (पूरे मन्त्र का) का उच्चारण करते हुए ब्रह्म-रूप, चित्स्वरूप, संविद् वेद्य 'सर्वानन्दमय बैदव-चक्र' में परापर रहस्य योगिनी भगवती ललिता महा-त्रिपुर सुन्दरी का पूजन-तर्पण करें ॥१९३-१९५॥

चक्रेशीमपि तामेव महात्रिपुरसुन्दरीम्।
श्रीविद्यां षोडशार्णां च भुक्तिमुक्तिफलप्रदाम् ॥१९६॥
समस्तचक्रचक्रेशीं सर्वागमनमस्कृताम्।
सर्वाम्नायेश्वरीं विद्यालंकृतां ब्रह्मरूपिणीम् ॥१९७॥
उपचारैः समभ्यर्च्य गन्धपुष्पाक्षतादिभिः।
तर्पणानि पुनर्दद्यात्त्रिवारं मूलविद्यया ॥१९८॥

इस चक्र की स्वामिनी स्वयं महात्रिपुर सुन्दरी हैं। षोडशाक्षरा, भुक्ति मुक्ति फलप्रदा, समस्त चक्र चक्रेशी, सर्वागम-नमस्कृता, सर्व आम्नाय-ईश्वरी, विद्यालंकृता, ब्रह्मरूपिणी श्री महा-त्रिपुर-सुन्दरी का गन्ध-पुष्प-अक्षत आदि विविध उपचारों से विधिवत् पूजन करके 'मूल-मन्त्र' से तीन बार तर्पण करें।

विमर्श—पद्धति के अनुसार महात्रिपुर सुन्दरी के सामने चक्रेश्वरी के रूप में पञ्चदशी (ललिता) का पूजन तर्पण करके उनके दक्ष-भाग में 'योनि' मुद्रा का और वाम-भाग में 'प्राप्ति-सिद्धि' का पूजन-तर्पण करें।

योनिमुद्रां प्रदर्श्याथ मुद्राः संदर्शयेत्क्रमात्।
वनस्पतिरसोत्पन्नैः पवित्रै रम्यगन्धिभिः ॥१९९॥

दशाङ्गाद्यैर्धूपवर्यैर्धूपयेत्परमेश्वरीम् ।
कस्तूरीकुङ्कुमं देवि गुग्गुलं शालसंभवम् ॥२००॥
चन्दनागरुकर्पूरसिताज्यमधुसंयुतम् ।
धूपयेद्देशिको नित्यं सर्वसौभाग्यसिद्धये ॥२०१॥

तर्पण करने के बाद प्रथम योनि मुद्रा और फिर क्रम से पूर्वोक्त मुद्रायें दिखाए । हे देवि ! इसके बाद सर्व-सौभाग्य-सिद्धि के लिये 'देशिक' (साधक) कस्तूरी, कुंकुम, गुग्गुल, शालि-सम्भव (शाल-वृक्ष की गोंद), चन्दन, अगरु, कपूर, मिश्री, घृत और शहद को मिलाकर बनाया गया पवित्र-गन्ध वाला दशांग-धूप भगवती को प्रदान करे ॥१९९-२०१॥

धूपमन्त्रेण देवेशि त्रैलोक्यस्यापि दुर्लभम् ।
अभितो वेदिकाचक्रं दीपमाला घृतप्लुताः ॥२०२॥
कर्पूररचिताश्चापि तैलपूर्णास्तु वा यजेत् ।
धूपदीपौ निवेद्याथ तर्पयेत्पूर्ववत्प्रिये ॥२०३॥

हे देवेशि ! भगवती को यह 'धूप' धूप-मन्त्र से समर्पित करना चाहिए । धूप-समर्पण के बाद वेदिका-चक्र के चारों ओर घी के अथवा कपूर के अथवा तेल के दीपक रखकर भगवती को दीप-माला प्रदान करे । धूप-दीप प्रदान करने के बाद फिर से पूर्ववत् मूल-मन्त्र से तीन बार तर्पण करे ॥२०२-२०३॥

आरार्तिकविधिं कुर्यात्पूर्ववद्देववन्दिते ।
अन्यदारार्तिकं वक्ष्ये सर्वकाममपूरकम् ॥२०४॥

हे देव-वन्दिते ! तर्पण करने के बाद पूर्वोक्त विधि (पटल ५, श्लोक-६ से १६) से भगवती की आरती उतारे । 'नीराजन' की एक अन्य विधि बता रहा हूँ जो सभी कामनाओं की पूर्ण करने वाली हैं ॥२०४॥

स्वर्णादिनिर्मिते पात्रे मध्ये चक्रं लिखेद्बुधः ।
तण्डुलोल्लासितं कृत्वा नवधा कारयेत्ततः ॥२०५॥

स्वर्ण आदि की थाली में 'श्री चक्र' बनाये । उस थाली को शुद्ध-ताण्डुल (चावल) से परिपूर्ण करे ॥२०५॥

नव गोलांश्चन्द्ररूपान्विरच्य तदनन्तरम् ।
शर्करागर्भभरितान्मण्डकान्युग्मरूपकान् ॥२०६॥
विरच्य घटिकाः कार्या योजयित्वा तु सप्तकम् ।
सप्तसप्तप्रकारेण घटिका नव योजयेत् ॥२०७॥

अष्टकोणेषु संस्थाप्य गोलकांश्चोपरि क्षिपेत्।
चणमुद्रा विकीर्याथ दीपकान्घृतपाचितान् ॥२०८॥
मुष्टिकाकृतिमुष्टिश्च स्थापयेत्तत्र तत्र तु।
दीपान्प्रज्वाल्य पश्चात्तु पञ्चरत्नैः प्रपूजयेत् ॥२०९॥
पञ्चसिंहासनगता विद्यास्तत्र प्रपूजयेत्।

उस पर मध्य में एक और उसके चतुर्दिक आठ चन्द्राकार गोल (वृत्त) बनाये। इस प्रकार वह ताण्डुल-राशि नौ-भागों में विभक्त हो जायेगी। सात प्रकार के अनाज के आटे में शक्कर मिलाकर कर युग्म-रूप की (गोल-आकार के) नौ 'घटिका' (कलश के आकार के बहुत छोटे पात्र) बनाये। उन्हें उक्त नौ-गोलों में स्थापित कर, उनमें चने का दाल (बेसन) भर दे। उन पर घी से भरे हुए दीपक रखे। 'घटिका' पर स्थापित 'दीपक' से उनका रूप मुट्ठी पर स्थापित मुट्ठी के समान दिखेगा। इन दीपों को प्रज्वलित करके पञ्च रत्न मन्त्रों (पटल ५) से उनकी पूजा करके, दीपों पर पञ्च-सिंहासन विद्याओं का अर्चन करे ॥२०६-२१०॥

विमर्श—उपर्युक्त श्लोक स्पष्ट नहीं है।

आमस्तकं समुद्धृत्य नववारं पुनः पुनः ॥२१०॥
नवावरणवद्देवि परिभ्राम्य पुनः पुनः।
उत्तीर्य स्थापयेत्पश्चाद्दीपमालामयं महः ॥२११॥
नेत्रयोः सुस्थिरं ध्यायेदारार्तिकविधिः प्रिये।

हे प्रिये! उस थाल को दोनों हाथों में लेकर मस्तक तक उठाते हुए भगवती के समक्ष नव-आवरणों की भावना करते हुए नौ (९) बार घुमाये। नेत्रों को दीप-शिखा पर स्थिर रखे। बाद में इस थाली को दीपकों के साथ ही पहिले से स्थापित दीप-माला के पास रख दे।

विमर्श—आरती करते समय शंख-घण्टा आदि मंगल-सूचक वाद्य बजाये जाते हैं। नीराजन-स्तुति गाई जाती है। आरती के बाद पुनः आचमन कराने का विधान है।

नैवेद्यं षड्रसोपेतं सितापूपादिसंयुतम् ॥२१२॥
शर्करापूरभरितमण्डकैः पायसान्वितम्।
मुक्ताकर्पूरधवलं शुद्धौदनसुपूरितम् ॥२१३॥
घृतकर्पूरशोभाढ्यं सम्पूर्णघृतमण्डितम्।
नानाव्यञ्जनशोभाढ्यं वटकैः कुङ्कुमप्रभैः ॥२१४॥
माषान्नभरितं नानारसपानविराजितम्।

घृतक्षीरेण भरितं चतुर्मुद्राविराजितम् ॥२१५॥
संकल्प्य परमेशान्यै नित्यहोमविधिं चरेत्।
मूलेन प्राणसहिता आहुतीः पञ्च होमयेत् ॥२१६॥
षडाहुतीः षडङ्गानां नित्यहोमः प्रकीर्तितः ।

हे प्रिये ! इसके बाद शक्कर मिश्रित आटा और दूध से बने हुए पुआ (मालपुआ) सफेद चावल का भात, उडद के बने लाल रंग के बड़े तथा घी एवं शक्कर से बने हुए विविध प्रकार के भक्ष्य, लेह्य, चोष्य-पेय व्यञ्जनों से समन्वित नैवेद्य भगवती को समर्पित करें। नैवेद्य-समर्पण के बाद 'नित्य-होम' की क्रिया सम्पादित करे। मूल-मन्त्र सहित पञ्च-प्राण आहुति एवं षडङ्गों को ६ आहुति प्रदान करना ही नित्य-होम है ॥२१२-२१७॥

पञ्च बलि

हे प्रिये ! इसके बाद साधक अपने आसन पर बैठ जाये। भूमि पर घुटने टेककर जिस ओर से सांस चल रही हो, उस ओर के हाथ से अपने बायीं ओर एक बहुत बड़ा चतुरस्र-मण्डल बनाकर उसके मध्य में एक त्रिकोण बनाये। 'ऐं व्यापक-मण्डलाय नमः' इस मन्त्र से त्रिकोण के मध्य में मण्डल का गन्ध-पुष्प-अक्षत से पूजन करे। इस 'मण्डल' के ईशान, आग्नेय, नैर्ऋत्य एवं वायव्य कोण में इसी प्रकार के चार मण्डल बनाकर पूर्ववत् उनकी पूजा करे। विदिशाओं में बनाये गये चारों मण्डलों पर पहिले बताई गई विधि (पटल ५ श्लोक २७ से ४४) से बटुक, योगिनी, क्षेत्रपाल को बलि प्रदान करे ॥२१७-२२३॥

उपविश्याऽऽसने रम्ये वामभागे ततः परम् ॥२१७॥
बहत्करोर्ध्वपुटतः साधको भूमिजानुकः ।
मण्डलं चतुरस्त्रं तु तन्मध्ये विलिखेत्प्रिये ॥२१८॥
त्रिकोणमध्ये व्योमाख्यं मण्डलं पूजयेत्ततः ।
व्यापकान्ते मण्डलाय हृदन्तो वाग्भवं परम् ॥२१९॥
मुखे कृत्वा पूजनीयं मण्डलं मनुना प्रिये।
एतन्मडलमभ्यर्च्य मण्डलानां चतुष्टयम् ॥२२०॥
ईशानवह्निनैर्ऋत्यवायुकोणेषु पूर्ववत्।
मण्डलानि निधायाथ पूर्ववत्पूजयेत्प्रिये ॥२२१॥
पूर्ववद्बलिदानं च दद्यात्सर्वसमृद्धये।
बटुकाय महेशानि योगिनीभ्यश्च वल्लभे ॥२२२॥
क्षेत्रपालगणेशाभ्यां पूर्ववद्बलिमृत्सुजेत्।
वामभागे कृतस्याथ मण्डलस्योपरि क्षिपेत् ॥२२३॥

आधारं पूजयेत्तत्र पात्रं चान्नोदकान्वितम्।
सकारणं मन्त्रयित्वा सर्वभूतबलिं हरेत्॥२२४॥
षोडशार्णेन मनुना त्रिवारं वीरवन्दिते।
तारं च भुवनेशानि सर्वविघ्नपदं ततः॥२२५॥
कृद्भ्यश्च सर्वभूतेभ्यो हुकारं वह्निवल्लभाम्।
समुच्चरन् बलिं दद्यान्मुद्रया तत्त्वसंज्ञया॥२२६॥

बटुक आदि को बलि प्रदान करने के बाद 'सर्व-भूतों' को बलि प्रदान करे। इसके लिये वह बीच वाले 'मण्डल' पर 'आधार' (तिपाई आदि) स्थापित करके उसकी पूजा करे। अन्न (व्यञ्जन) जल और 'कारणयुक्त' बलि-पात्र उक्त आधार पर स्थापित करे। १६ अक्षरों के निम्न-लिखित मन्त्र को तीन बार पढ़कर 'तत्त्व-मुद्रा' से 'सर्व-भूत' को बलि प्रदान करे।

बलि-मन्त्र—'ॐ ह्रीं सर्वविघ्न कृद्भ्यः सर्व-भूतेभ्यः हुं स्वाहा'

विमर्श—तन्त्र की सांकेतिक भाषा में विविधत् संस्कार किये गये 'मद्य' (सुरा) को 'कारण' कहते हैं।

बलिपञ्चकमाख्यातं सर्वरक्षाकरं सताम्।
एकत्र वा पञ्च बलीन्दद्याद्व्यापकमण्डले॥२२७॥
वामभागे स्थितो देवि सर्वविघ्नहरो भवेत्।

यह 'बलि-पञ्चक' है, जो सज्जनों की सर्व-विधि रक्षा करता है। यह 'पञ्च बलि' एक ही व्यापक-मण्डल में अथवा अलग-अलग पाँच मण्डल बना कर दी जा सकती है। वाम-भाग में दी गई यह बलि साधक की सभी विघ्नों से रक्षा करती है॥२२७॥

चक्रमभ्यर्च्य सकलं विधिवत्परमेश्वरि॥२२८॥
श्रीगुरोः कृपया देवि सर्वज्ञः सर्वतत्त्ववित्।

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे उमामहेश्वरसंवादे
श्रीविद्यायजनविधिर्नाम षोडशः पटलः॥१६॥

हे परमेश्वरि! इस तरह श्री 'श्रीचक्र' का विधिवत् अर्चन करके 'श्री गुरु' की कृपा से सर्वज्ञ और सर्वतत्त्व वित् (सभी तत्त्वों को जानने वाला) हो जाता है॥२२८॥

श्री ज्ञानार्णव-तन्त्र के श्रीविद्या यजन विधि नामक
षोडश-पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई॥१६॥

❋

अथ सप्तदशः पटलः

श्री विद्या प्रयोग विधानम्

श्रीदेव्युवाच

देवदेव महादेव अश्रुतार्थं महेश्वर ।
षोडशाक्षरविद्यायाः श्रीचक्रविधिमुत्तमम् ॥१॥
जपादिकं च यत्सर्वमेकैकाक्षरसाधनम् ।
कथयस्व महेशान यद्यहं तव वल्लभा ॥२॥

श्री देवी ने कहा—हे देव-देव ! महादेव ! श्री षोडशाक्षरी विद्या के 'श्रीचक्र' के पूजन का विधान मैंने आपके श्रीमुख से सुना । यदि मैं आपकी वल्लभा हूँ तो इसके एक-एक अक्षर का विधान और जप आदि का निरूपण कीजिये ॥१-२॥

ईश्वर उवाच

शृणु सर्वांगसुभगे श्रीविद्याविधिमुत्तमम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण कर्ता हर्ता स्वयं विभुः ॥३॥

ईश्वर ने कहा—हे सर्वाङ्ग सुन्दरि ! श्रीविद्या की प्रयोग-विधि सुनिये, जिसको जान लेने पर साधक स्वयं कर्ता-हर्ता और विभु बन जाता है ॥३॥

अनेन विधिना यत्र श्रीचक्रं क्रमसंयुतम् ।
पूज्यते तत्र सकलं वशी कुर्यान्न संशयः ॥४॥
नगरं वशमायाति देशमण्डलमद्रिजे ।
योषितः सकला वश्या ज्वलत्कामाग्निपीडिताः ॥५॥

हे हिमजे ! पार्वति ! इस क्रम से अर्थात् इस विधि से श्री 'श्रीचक्र' की जो व्यक्ति पूजा करता है, वह सबको वश में कर लेता है । सारा नगर, मण्डल और देश उसके वश में आ जाते हैं । सभी स्त्रियाँ उस पर अनुरक्त हो जाती हैं ॥४-५॥

माला-विधान

मन्त्रों के प्रयोग-क्रम में विविध-द्रव्यों से निर्मित-मालायें विशेष-विशेष प्रयोजनों में अधिक लाभदायक होती हैं । किस कार्य के लिये कौन सी माला श्रेष्ठ है, इसका निरूपण करते हुए 'श्री ईश्वर' कहते हैं—

विद्याविमूढहृदयाः साधकन्यस्तमानसाः ।
तद्दर्शनेन देवेशि जायन्ते सर्वयोषितः ॥६॥
अक्षमाला समाश्रित्य मातृकावर्णरूपिणीम् ।

अक्ष-माला—मातृका-वर्ण रूपिणी 'अक्ष माला' से (श्री-श्रीविद्या का) जप करने वाले साधक को देखकर सभी स्त्रियाँ महाविद्या के प्रभाव से उस साधक पर अनुरक्त और वशीभूत हो जाती हैं ॥६-७॥

अथ मुक्ताफलमयी वाङ्मोक्षफलदायिनी ॥७॥
सर्वसिद्धप्रदा नित्यं सर्वराजवशंकरी ।
यथा मुक्ताफलमयी तथा स्फटिकनिर्मिता ॥८॥

मुक्ता-माला—मोती की माला वाक् सिद्धि और सर्व मुक्ति दायिनी है । जो फल मुक्ता-माला का है, वही फल स्फटिक-माला का है ॥७-८॥

रुद्राक्षमालिका मोक्षे सर्वसंपत्समृद्धिदा ।
प्रवालमाला वश्ये तु सर्वकामार्थसाधिका ॥९॥

रुद्राक्ष-माला—मोक्ष प्राप्ति के लिये रुद्राक्ष-माला प्रशस्त है । रुद्राक्ष-माला सभी प्रकार की सम्पत्ति एवं समृद्धि-दायिनी हैं । 'वशीकरण' के लिये प्रवाल (मूंगा) माला-प्रशस्त है ॥९॥

विमर्श—रुद्राक्ष-माला से दिन में शक्ति-मन्त्र का जप नहीं किया जाता । इस माला से केवल रात में शक्ति-के किसी रूप के मन्त्र का जप प्रशस्त है ।

माणिक्यमाला फलदा साम्राज्यफलदायिनी ।
पुत्रजीवकमाला तु विद्यालक्ष्मीप्रदा सताम् ॥१०॥

माणिक्य-माला—साम्राज्य प्राप्ति के लिये माणिक्य-माला और विद्या एवं लक्ष्मी के लिये 'पुत्रजीवक' की माला प्रशस्त है ॥१०॥

पद्माक्षमालया लक्ष्मीर्जायते महती परा ।
रक्तचन्दनमाला तु सर्वभोगप्रदायिनी ॥११॥

पद्माक्ष-माला—पद्माक्ष (कमल गट्टा) माला से जप करने से महती और श्रेष्ठ लक्ष्मी प्राप्त होती है । रक्त-चन्दन की माला सभी सांसारिक सुख भोग प्रदान करने वाली है ॥११॥

विभिन्न प्रयोजनों के लिये माला-विधान का निरूपण करने के बाद अगले ६ श्लोकों में पुरश्चरण के समय साधक के समक्ष प्रलोभनों के रूप में आने वाले विघ्नों का संकेत दिया गया है । यथा—

अक्षमालां प्रपूज्याथ चन्दनेन विलेपिताम्।
समाश्रित्य जपेद्विद्यां लक्षमात्रं यदा बुधः ॥१२॥
योषितो भ्रमयन्त्येव मनस्तस्य सुनिश्चलम्।

अक्ष-माला (जप-माला) को रक्त (लाल) चन्दन से चर्चित कर उसकी पूजा करने के बाद जब साधक (उस माला से) 'मन्त्र' का एक लाख जप पूरा कर लेता है, मद-उन्मत्त कामिनियाँ अपनी काम चेष्टाओं से उसके (साधक के) निश्चल मन को विक्षुब्ध करने लगती हैं ॥१२॥

तदा द्वितीयलक्षं तु प्रजपेत्साधकोत्तमः ॥१३॥
पातालतलनागेन्द्रकन्यकाः क्षोभयन्ति तम्।
तासां कटाक्षजालैस्तु न मोहं याति साधकः ॥१४॥

यदि साधक काम-विह्वला नारियों के आकर्षण में नहीं फँस कर मन्त्र का और एक लाख जप पूर्ण कर लेता है, तो पाताल-लोक की अपूर्व सुन्दरी नाग-कन्यायें साधक को अपने कटाक्ष-जाल में फंसाने की चेष्टायें करती हैं ॥१३-१४॥

तदा लक्षत्रयं कुर्यात्साधकः स्थिरमानसः।
तृतीयलक्षे संप्राप्ते द्रावयन्ति सुराङ्गनाः ॥१५॥
अभिमानेन सौन्दर्यात्सौभाग्यमदकारिणः।
साधकं द्रावयन्तेव ततश्चासौ मनस्थिरः ॥१६॥

नाग-कन्याओं के कटाक्ष-जाल से बच कर जब साधक तीसरे लाख का जप-प्रारम्भ करता है, अपने स्वर्गिक सौन्दर्य के अभिमान में डूबी हुई देव-कन्यायें अपने सौन्दर्य से साधक के स्थिर-मन को चञ्चल करने के लिये बेताब हो जाती हैं ॥१५-१६॥

तदा लक्षत्रयं साधु सर्वपापनिकृन्तनम्।
एवं लक्षत्रयजपेद्व्रतस्थः स्वस्थमानसः ॥१७॥
संक्षोभयति भूर्लोकस्वर्लोकतलवासिनः।
पुरुषा योषितो वश्याश्चराचरमपि प्रिये ॥१८॥

फिर भी यदि दृढ़-चित्त साधक मन्त्र का तीन लाख जप पूरा कर लेता है तो उसके सारे पाप-जाल कट जाते हैं। अपने तपोद्भूत तेज से वह भूलोक, पाताल-लोक, स्वर्ग लोक अर्थात् तीनों लोकों के निवासियों को विक्षुब्ध कर देता है और संसार के सभी स्त्री-पुरुष उसके वश-वर्ती हो जाते हैं ॥१७-१८॥

विमर्श—उपर्युक्त १७ वें श्लोक से यह ज्ञात होता है कि तीन-लाख जप करने से मन्त्र का 'पुरश्चरण' होता है। पुरश्चरण से मन्त्र-सिद्ध हो जाने पर तीनों लोकों के निवासी साधक के वशीभूत हो जाते है। पूर्ववर्ती श्लोकों (१२ से १६) में भी

बताया गया है कि जैसे जैसे मन्त्र-जप बढ़ता जाता है, क्रमशः भू-लोक, पाताल लोक और स्वर्ग लोक की नारियाँ साधक के प्रति आकर्षित होकर उसके समीप मंडराने लगती हैं। दूसरे शब्दों में मन्त्र-जप प्रारम्भ करते ही साधक के व्यक्तित्व में आकर्षण एवं वशीकरण की अद्‌भुत क्षमता का विकास होने लगता है और तीन लाख जप पूर्ण होते ही साधक तीनों लोकों को अपने वश में कर लेता है परन्तु इसमें एक 'अन्तर' है, एक 'रहस्य' है। तीन लाख जप रूप 'पुरश्चरण' पूर्ण होने के पूर्व भू-आदि लोकों की प्रमदाओं द्वारा साधक के समीप काम-चेष्टा करना, वस्तुतः 'मन्त्र-सिद्धि' नहीं, अपितु 'मन्त्र-सिद्धि' के मार्ग में आने वाला 'विघ्न' स्वरूप हैं। साधक को साधना-पथ से डिगाने के लिये 'प्रलोभन' हैं। यदि इन विघ्न-स्वरूप 'प्रलोभनों' में साधक फंस गया तो वह दीन और दुनिया दोनों से हाथ धो बैठता है। इसीलिये इन श्लोकों में बार-बार मन की स्थिरता और निश्चलता पर जोर दिया गया है।

पुरश्चरण काल में आने वाले प्रलोभन रूप विघ्नों का संकेत पूर्ण निरूपण करने के बाद आकर्षण और वशीकरण के प्रयोग बताये गये हैं। यथा—

श्रीविद्या प्रयोग-विधान

गोरोचनादिभिर्द्रव्यैश्चक्रराजं समालिखेत्।
अतीव सुन्दरं रम्यं तन्मध्ये प्रतिमां वराम्॥१९॥
ज्वलन्तीं नामसहितां महाबीजविदर्भिताम्।
चिन्तयेत्तु ततो देवि योजनानां सहस्रतः॥२०॥
अदृष्टपूर्वा देवेशि श्रुतमात्राऽपि दुर्लभा।
राजकन्याऽथ वा चार्वी भयलज्जाविवर्जिता॥२१॥
आयाति साधकं सम्यग्मन्त्रमूढा सती प्रिये।

अदृष्टपूर्वा राजकन्या आदि को मोहित और आकर्षित करने के लिये साधक गोराचन आदि द्रव्यों से श्री 'श्रीचक्र' लिखे। उसके मध्य में उन्हीं द्रव्यों से अभूतपूर्व एवं अत्यन्त सुन्दर रमणी का चित्र बनाये। उस चित्र को अभीप्सित राजकन्या के नाम को मन्त्र के बीजों से विदर्भित करते हुए घेर दे। उस चित्र में अभीप्सित राज-कन्या आदि का ध्यान करते हुए जप करें। ऐसा करने से वह अदृष्ट-पूर्वा राज कन्या भी जो सैकड़ों योजना दूर रहती है, भय और लज्जा का परित्याग करके साधक के समक्ष उपस्थित हो जाती है॥१९-२१॥

चक्रमध्यगतो भूत्वा साधकश्चिन्तयेद्यदा॥२२॥
उद्यत्सूर्यसहस्राभमात्मानमरुणं तथा।
साध्यमप्यरुणीभूतं कृत्वा मन्त्रं जपेद्बुधः॥२३॥

अनेन क्रमयोगेण स्वयं कन्दर्परूपवान् ।
सर्वसौन्दर्यसुभगः कामिनीवल्लभो भवेत् ॥२४॥

गोरोचन आदि उत्तम द्रव्यों से श्री 'श्रीयन्त्र' की रचना करके साधक यथा-विधि उक्त श्री 'श्रीयन्त्र' के मध्य में बैठ जाये और यह भावना करे कि वह उदीयमान हजारों सूर्यों के समान 'अरुण' वर्ण का हो गया है, और अभीप्सित नारी भी उसके (साधक के) अरुण-वर्ण से अरुणा हो गई है । इस प्रकार 'ध्यान' करते हुए साधक 'मन्त्र' का जप करता रहे । इस विधि से प्रयोग करने से साधक साक्षात् कामदेव के समान स्वरूप वान् होकर सभी स्त्रियों का प्रिय बन जाता है ॥२२-२४॥

सर्वलोकेषु सुभगः सर्वलोकवंशकरः ।
सर्वरक्तोपचारैस्तु मुद्रासनद्धविग्रहः ॥२५॥
चक्रं प्रपूरयेद्यस्तु यस्य नाम विदर्भितम् ।
स भवेद्दासवद्देवि धनाढ्यो वाऽपि भूपतिः ॥२६॥

वह सभी लोकों में भाग्यवान् और सबको वश में करने वाला हो जाता है । यथा वांछित मुद्रायें दिखाता हुआ जो साधक लाल-रंग के उपचारों से भगवती का पूजन करता है और जिस साध्य-व्यक्ति के नाम को विदर्भित कर श्री 'श्रीचक्र' पर लिखता है वह साध्य व्यक्ति, चाहे वह धनाढ्य हो अथवा राजा, साधक का दास के समान वशवर्ती हो जाता है ॥२५-२६॥

चक्रमध्यगतं कुर्यान्नाम यस्यास्तु योषितः ।
अदृष्टाया महेशानि योनिमुद्राधरो बुधः ॥२७॥
हठादानयते शीघ्रं यक्षिणीं राजकन्यकाम् ।
नागकन्यासाप्सरसं खेचरीं वा सुराङ्गनाम् ॥२८॥
विद्याधरीं दिव्यरूपामृषिकन्यां रिपुस्त्रियम् ।
मदनोद्भवसंतापां स्फुरज्जघनमण्डलाम् ॥२९॥
कामबाणप्रभिन्नान्तःकरणां लोलचक्षुषाम् ।

हे महेशानि ! बुद्धिमान् साधक योनि मुद्रा धारण करके 'चक्र' के मध्य में जिस अदृष्ट स्त्री का नाम लिखे तो वह अदृष्ट स्त्री, चाहे यक्षिणी हो, चाहे राज-कन्या, नाग-कन्या हो अथवा अप्सरा, खेचरी हो या देव-कन्या, विद्याधरी हो अथवा ऋषि कन्या अथवा शत्रु पक्ष की ही स्त्री क्यों न हो, काम पीड़िता होकर साधक के समीप खिंची चली आती है ॥२७-३०॥

महाकामकलाध्यानयोगात्तु सुरवन्दिते ॥३०॥
क्षोभयेत्स्वर्गभूर्लोकपातालतलयोषितः ।

महाकामकला का ध्यान करते हुए प्रयोग करने से स्वर्ग लोक, पृथ्वीलोक और पाताल लोक की सभी स्त्रियाँ क्षुब्ध (बेचैन) हो जाती हैं ।।३१।।

रोचनाभागमेकं तु भागमेकं तु कुङ्कुमम् ।।३१।।
अथ भागद्वयं देवि चन्दनं मर्दयेत्समम् ।
एकत्र तिलकं कुर्यात् त्रैलोक्यवशकारिणम् ।।३२।।

वशीकरण-तिलक—एक भाग रोचना (गौरोचन), एक भाग कुंकुम और दो भाग चन्दन लेकर साधक इन्हें घिस कर मिला ले। यह अभूतपूर्व तिलक द्रव्य है ।।३१-३२।।

अष्टोत्तरशतावृत्त्या मन्त्रयित्वा वशं नयेत् ।
राजानं नगरं ग्रामं तेन यद्यत्प्रदृश्यते ।।३३।।
मन्त्रिणा परमेशानि तत्सर्वं तस्य वश्यगम् ।

उपर्युक्त तिलक-द्रव्य को मूल-मन्त्र से १०८ बार अभिमन्त्रित करके उससे तिलक करे। इस तिलक को जो कोई देखेगा, वह साधक के वशीभूत हो जायेगा। इस तिलक के प्रभाव से राजे, महाराजे, पूरा गोत्र, पूरा शहर साधक के वशीभूत हो जाते हैं ।।३३-३४।।

ताम्बूलं धूपमुदकं पत्रं पुष्पं फलं दधि ।।३४।।
दुग्धं घृतं चूर्णमन्नं वस्त्रं कर्पूरमेव च ।
कस्तूरी घुसृणं चैलां लवङ्गं जातिपत्रकम् ।।३५।।
फलं वा वस्तु यद्यत्तु सकलं परमेश्वरि ।
शतमष्टोत्तरं जप्त्वा यस्मै कस्मै प्रयच्छति ।।३६।।
स वश्यो जायते देवि नात्र कार्या विचारणा ।
स्त्रियस्तु सकला वश्या दासीभूता भवन्ति हि ।।३७।।
जगत्कर्षणमेतत्तु कथितं नान्यथा भवेत् ।

आकर्षण—हे परमेश्वरि ! मन्त्र-सिद्ध साधक 'मूल-मन्त्र' से १०८ बार अभिमन्त्रित दूध, दही, घी, पानी, पान, अन्न, वस्त्र, कपूर, कस्तूरी, इलायची, लौंग, जायफल, लाल-चन्दन, फल, फूल, आदि जो कोई भी वस्तु, जिस किसी को दे देगा, वह व्यक्ति चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, साधक के वशीभूत हो जायेगा। यह प्रयोग समस्त जगत् को आकर्षित करने वाला है। यह 'अमोघ' प्रयोग है ।।३४-३८।।

रहस्यस्थानके मन्त्री लिखेद्रोचनया भुवि ।।३८।।
चारुशृङ्गारवेषाढ्यां सर्वाभरणभूषिताम् ।
प्रतिमां सुन्दरां गीतां विलिख्य सुमनोहराम् ।।३९।।

तद्भालकण्ठहृन्नाभिजन्ममण्डलयोजिताम् ।
जन्मनाममहाविद्यामङ्कुशान्तर्विदर्भिताम् ॥४०॥
सर्वसंधिषु देहस्य मदनाक्षरमालिखेत् ।
लीनं दाडिमपुष्पाभं चिन्तयेद्देहसंधिषु ॥४१॥
तदाशाभिमुखो भूत्वा स्वयं देवीस्वरूपकः ।
मुद्रां तु क्षोभिणीं बद्ध्वा मन्त्रमष्टशतं जपेत् ॥४२॥
नियोज्य मदनागारे चन्द्रसूर्यकलात्मके ।
ततो विकलसर्वाङ्गीं कामबाणैः प्रपीडिताम् ॥४३॥
अनन्यमानसां प्रेमभ्रमणानां मदालसाम् ।
एवमाकर्षयेन्नारीं योजनानां शतादपि ॥४४॥

किसी एकान्त स्थान में पृथ्वी पर गोरोचन से सभी शृंगारों से परिपूर्ण, सर्वाभरण भूषिता, सुन्दर-नारी का चित्र बनाये। उस चित्र के भाल (मस्तक) कण्ठ, हृदय, नाभि, जन्म-मण्डल पर महाविद्या (मन्त्र) के एक-एक अक्षर और अंकुश (क्रों) से विदर्भित करके उसका जन्म-नाम लिखे। शरीर की सभी सन्धियों में मदन बीज (क्लीं) लिखे और यह भावना करे कि दाडिम-पुष्प के समान अरुणाभ 'क्लीं' बीज उसके शरीर की सभी सन्धियों में लीन हो गया है। स्वयं में देवी स्वरूप की भावना करते हुए उस चित्र की ओर मुहँ करके 'क्षोभिणी' मुद्रा बाँध कर मन्त्र का १०८ बार जप करे। यह भावना करे कि इस प्रयोग से अभीष्ट-स्त्री काम-बाणों से पीडित हो गई है, विकल हो गई है। उसे इस तरह विकल और बेताब समझते हुए उसके 'मदनागार' से स्वयं को 'योजित' करने की भावना करे। इस प्रयोग से मन्त्र-सिद्ध साधक सैकड़ों योजन दूर रहने वाली रमणी को भी आकृष्ट कर सकता है ॥३८-४४॥

मातृकां विलिखेच्चक्रबाह्यतः सकलां प्रिये ।
भूर्जपत्रे स्वर्णपत्रे रौप्यपत्रेऽथ ताम्रजे ॥४५॥
अवध्यः सर्वजन्तूनां व्याघ्रादीनां विशेषतः ।
तथैव मातृकायुक्तस्वसंज्ञाचक्रमण्डितः ॥४६॥
कर्पूरकुङ्कुमाद्यैस्तु अजरामरतां लभेत् ।

भोज-पत्र पर, अथवा सोने, चान्दी या ताँबे के पत्र पर 'श्रीयन्त्र' यन्त्र लिखे। उसको चारों ओर से 'मातृकाओं' से वेष्टित कर दे। उस 'यन्त्र' को धारण करने से मन्त्र-सिद्ध साधक सभी प्राणियों विशेष कर व्याघ्र आदि हिंसक प्राणियों के लिये अवध्य हो जाता है। इसी प्रकार 'श्रीचक्र' को मातृका युक्त स्व-नाम से वेष्टित करने से साधक अजर-अमर (अर्थात् प्रदीर्घ आयु) हो जाता है। एतदर्थ द्रव्य हैं—कपूर और कुंकुम ॥४५-४७॥

अनेन विधिना देवि रोचनागरुकुङ्कुमैः ॥४७॥
विलिखंश्चक्रयोगेण साध्यनाम वरानने ।
विदर्भितं स्वनाम्ना तु यस्मिन्कस्मिन्न स्थितम् ॥४८॥
स्थावरं जङ्गमं चापि सकलं जनमण्डलम् ।
वशी कुर्यान्महेशानि पादाक्रान्तं न संशयः ॥४९॥

हे देवि ! इसी प्रकार रोचन, अगरु और कुंकुम से अपने नाम से साध्य के नाम को विदर्भित करके चक्र-योग से लिखकर स्थापित कर देने से स्थावर-जङ्गम तथा जन-मण्डल वशीभूत हो जाता है ॥४७-४९॥

महात्रिपुरसुन्दर्याः कामकूटेन भास्वता ।
एकमेकमवष्टभ्य साध्यनामाक्षराणि च ॥५०॥
बहिरप्यखिलैर्वर्णैर्मातृकायाः प्रवेष्टयेत् ।
हेममध्यगतं कुर्याच्छिखायां वामके भुजे ॥५१॥
धारयेद्यत्र कुत्रापि त्रैलोक्यवशकारकम् ।
राजेन्द्रमपि देवेशि दासभूतं करोति हि ॥५२॥
राजानो वाजिनः सर्पा गजा दुष्टा मदोत्कटाः ।
व्याघ्राः केसरिणो मत्ता वश्यास्तस्य भवन्ति हि ॥५३॥

भगवती महा त्रिपुर सुन्दरी के पञ्चदशी मन्त्र के कामराज-कूट के एक-एक अक्षर से साध्य नाम के एक-एक अक्षर को सम्पुट-क्रम से लिखे अर्थात् कामराज कूट का एक वर्ण, उसके बाद साध्य के नाम का एक अक्षर, फिर कामराज कूट का दूसरा-वर्ण, साध्य नाम का दूसरा अक्षर आदि । फिर इसे समस्त मातृकाओं से वेष्टित कर दे । इस 'यन्त्र' को सोने की ताबीज में भरकर बायीं भुजा, अथवा शिखा आदि में धारण करने से राजे-महाराजे ही नहीं अडियल घोड़े, मदमस्त हाथी, व्याघ्र, सिंह और सर्प आदि भी वश में हो जाते हैं ॥५०-५३॥

पूर्वक्रमेण नगरनाम संदर्भ्य शैलजे ।
मध्ये चतुष्पथे वाऽपि चतुर्दिक्षु निधापयेत् ॥५४॥
महाक्षोभो योषितां तु जयानां महतामपि ।
तथैव सर्वदुष्टानां पुरस्थानां च जायते ॥५५॥

हे शैलजे ! उपर्युक्त विधि से किसी नगर के नाम को विदर्भित करके लिखे और उसे नगर के मध्य में अथवा नगर के चारों ओर (दिशाओं में) भूमि में दबा दे तो उस नगर में रहने वाले सभी स्त्री-पुरुष, सभी छोटे-बड़े मन्त्र-सिद्ध साधक के आकर्षण में विक्षुब्ध हो जाते हैं ॥५४-५५॥

एतन्मध्यगतां पृथ्वीं सशैलवनगह्वराम् ।
ज्वलन्तीं सर्वराजेन्द्रमण्डितां सागराम्बराम् ॥५६॥
मासषट्कं चिन्तयेद्य साक्षात्कामोपमो भवेत् ।
कटाक्षक्षेपमात्रेण नार्यस्तस्य वशाः प्रिये ॥५७॥

हे प्रिये ! जो साधक सभी पर्वतों, वनों, गह्वरों सहित सागराम्बरा एवं राजेन्द्र मण्डिता पृथ्वी का चक्र-मध्य में निरंतर ६ महीनों तक ध्यान करता है, वह कामदेव के समान सुन्दर हो जाता है । उसके कटाक्षाक्षेप मात्र से नारियाँ उसके वश में आ जाती है ॥५६-५७॥

राजानो ब्राह्मणा वैश्याः शूद्राश्च पशवो जगत् ।
दृष्टा त्वाकर्षयेद्देवि त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥५८॥

राजा, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, पशु, आदि समस्त जगत् उसे देखकर आकृष्ट हो जाते हैं ॥५८॥

सपत्नान्नाशयेद्दृष्ट्वा नात्र कार्या विचारणा ।
भूतप्रेतपिशाचांश्च ज्वरांश्चातुर्थिकादिकान् ॥५९॥
शूलगूल्मादिरोगांश्च दृष्ट्वा नाशयते क्षणात् ।
एतत्सिन्दूरसुभगं रात्रौ संपूजितं प्रिये ॥६०॥
योजनानां शताद्वाऽपि सम्यगाकर्षयेत्स्त्रियम् ।
यदा दिक्षु विदिक्ष्वेवं दिविष्ठानपि सुन्दरि ॥६१॥
वशमानयते शीघ्रं सपुत्रपशुबान्धवान् ।

उसके देखने मात्र से उसके शत्रु समाप्त हो जाते हैं, भूत-प्रेत, पिशाच भाग जाते हैं, चातुर्थिक आदि ज्वर (तिजारी, चौथिया आदि बुखार) समाप्त हो जाते हैं । शूल और गुल्म आदि रोगों का शमन हो जाता है । रात के समय श्री 'श्रीचक्रार्चन' का सिन्दूर सैकड़ों योजन दूर रहने वाली स्त्रियों को भी आकृष्ट कर लेता है ॥५९-६१॥

भूर्जपत्रे समालिख्य रोचनागरुकुङ्कुमैः ॥६२॥
तन्मध्ये नगरे देशं मण्डलं खण्डमेव च ।
नाम्ना विदर्भितं स्वस्य पूजयित्वा यथाविधि ॥६३॥
भूमिमध्यगतं कृत्वा त्रैलोक्यं वशमानयेत् ।
अथ वा धारयेत्कण्ठे शिखायां बाहुमूलके ॥६४॥
यत्र कुत्र स्थितं भद्र क्षोभयेन्नगरं महत् ।

भोज-पत्र पर गोरोचन, अगरु तथा कुंकुम से 'श्रीचक्र' बनाये । उसके मध्य में अपने नाम से 'विदर्भित' नगर-देश या मण्डल का नाम लिखे । उसकी विधिवत्

पूजा करके उसे भूमि में गाड दे अथवा कण्ठ, शिखा या बाहूमुल में धारण करे। इससे उस नगर में साधक के लिये दीवानागी छा जाती है ।।६२-६४।।

अर्कक्षीरेण संयुक्तं धत्तूरकरसं तथा ।।६५।।
रोचनाकुङ्कुमे चैव लाक्षालक्तकसंयुतम् ।
कस्तुरीचन्द्रसंयुक्तमेकीकृत्य ततः परम् ।।६६।।
चक्रमेतत्समालिख्य यस्य नाम्ना महेश्वरि ।
तस्य व्याघ्रगजव्याधिरिपुसर्पभयादिकम् ।।६७।।
चोरग्रहजलारिष्टशाकिनीडाकिनीभयम् ।
भयं न विद्यते देवि परमन्त्राभिचारजम् ।।६८।।
नित्यं संधारयेद्देवि कालमृत्युं विनाशयेत् ।।६९।।

मदार और धतूरे का रस, रोचन, अगरु, कुंकुम, लाक्षारस, अलक्तक, कस्तूरी, चन्दन, कपूर को समरस करके स्याही बनायें। इस स्याही से जिस व्यक्ति के नाम से यह 'चक्र' लिखा जायेगा उसे बाघ, हाथी, सर्प आदि से, डाकिनी-शाकिनी आदि दुष्ट योनियों से, शत्रु के द्वारा किये गये या कराये गये अभिचार से (मारण आदि प्रयोग) चोर, जल एवं अन्य अरिष्टों से कोई भय नहीं होगा क्योंकि यह यन्त्र 'अकाल मृत्य' का ही नाश कर देता है ।।६५-६९।।

अथवा मध्यगां देवीं त्रिकोणोभयमध्यगाम् ।
अथ स्वनामसंयुक्तां रोचनाकुङ्कुमाङ्किताम् ।।७०।।
निधापयेच्च सप्ताहाद्दासवत्किंकरो भवेत् ।
पीतद्रव्यैः समालिख्य पीतपुष्पैः समर्चयेत् ।।७१।।
पूर्वाशाभिमुखो भूत्वा स्तम्भयेत्सर्ववादिनः ।
सहस्रवदनो देवि मूढो भवति तत्क्षणात् ।।७२।।
नाम्ना यस्य स वाग्मी हि पाषाण इव जायते ।

त्रिकोण द्वय के मध्य में स्थिता (पूजिता) देवी के नाम (नामाक्षरों) को अपने नाम (नामाक्षरों) के साथ संयुक्त करके गोरोचन और कुंकुम से लिखे और (विधिवत् पूजन के बाद) उसे भूमि में गाड दे तो साध्य व्यक्ति सप्ताह भर में दास के समान वशवर्ती हो जाता है।

टिप्पणी—यह प्रयोग स्पष्ट नहीं है।

स्तम्भन-प्रयोग—पूर्वाभिमुख होकर पीत द्रव्यों से श्री 'श्रीचक्र' बना कर पीत-पुष्पों से उसकी अर्चना करने से सभी प्रतिवादी (विरोधी) स्तम्भित हो जाते हैं। स्रहस्र-वदन शेष नाग भी मूढ हो जाते हैं। प्रतिवादी चाहे जितना भी वाचाल हो, इस प्रयोग के फलस्वरूप पत्थर की तरह मूक हो जाता है ।।७०-७३।।

चक्रं विलिख्य देवेशि महानीलीरसेन तु ॥७३॥
नाम संयोज्य विधिवद्दक्षिणाभिमुखो बुधः ।
वह्नौ दग्ध्वा महेशानि मारणं वैरिणां प्रिये ॥७४॥

मारण—हे देवेशि ! दक्षिणामुख होकर महानीली के रस से श्री 'श्रीचक्र' अंकित करे । उस पर यथा-विधि शत्रु का नाम संयोजित करे । उसके बाद आग में जला दे । हे महेशानि ! यह 'शत्रु-मारण प्रयोग' है ॥७३-७४॥

महिषाश्वपुरीषाभ्यां सम्यगाधृष्य शैलजे ।
गोमूत्रेण च संलिख्य नामसंदर्भ्य पूर्ववत् ॥७५॥
क्षिप्त्वाऽऽरनालमध्यस्थं विद्वेषणकरं भवेत् ।

विद्वेषण—भैंसा और घोड़े का पुरीष (मल) लेकर उन्हें अच्छी तरह मिलाये । गो-मूत्र में उन्हें घोले । पूर्ववत् साध्य (शत्रु) का नाम 'श्रीचक्र' में लिखकर आरनाल (कांजी) में डाल दे । यह शत्रु विद्वेषण प्रयोग है ॥७५-७६॥

कृत्वा रोचनया नाम काकपक्षस्य मध्यगम् ॥७६॥
लम्बमानं तदाकाशे शत्रूच्चाटनकारकम् ।

उच्चाटन—कौवे के पंख पर साध्य नाम सहित 'श्रीचक्र' लिखकर उसे हवा में लटका दे । उससे शत्रु का उच्चाटन होता है ॥७६-७७॥

महानीलीरोचनाभ्यां दुग्धलाक्षारसेन हि ॥७७॥
विलिख्य धारयेन्मन्त्री सर्ववर्णान्वशं नयेत् ।

वशीकरण—महानीली, गोरोचन, दूध और लाक्षारस से 'श्रीचक्र' अंकित कर उसे धारण करने से सभी वर्णों के मनुष्य वश में आ जाते हैं ॥७७॥

अनेनैव विधानेन स्थापयेद्वारिमध्यगम् ॥७८॥
तेनोदकेन संस्नातः पीतं तत्सर्ववश्यकृत् ।
सौभाग्यं जायते तेन पानीयेन न संशयः ॥७९॥

सौभाग्य कर प्रयोग—इसी विधान (उपर्युक्त विधान) से 'श्रीचक्र' अंकित करके उसे जल में डाल दे । इस जल को पीने और उससे स्नान करने से सौभाग्य-वृद्धि होती है ॥७८-७९॥

एतन्मध्यगतां पृथ्वीं नगरीं वा सुलोचने ।
सप्ताहात्क्षोभयेत्सम्यग्ज्वलमानां विचिन्तयेत् ॥८०॥

नगर-क्षोभण—किसी नगर अथवा भू-भाग विशेष को 'श्री-चक्र' के मध्य में सात दिनों तक प्रज्वलित रूप में ध्यान करने से वह नगर या क्षेत्र विक्षुब्ध हो उठता है ॥८०॥

अथ वक्ष्ये महेशानि महापातकनाशनम् ।
शिवां संपूजयेद्देवि सुगन्धैः कुसुमैः प्रिये ॥८१॥

पाप-नाशन—हे महेशानि ! सुगन्धित पुष्पों से भगवती 'शिवा' का भक्ति पूर्वक अर्चन करने से पापी से पापी व्यक्ति भी तत्क्षण ही सभी पापों से मुक्त हो जाता है ॥८१॥

महापातकयुक्तात्मा तत्क्षणात्पापहा भवेत् ।
शमीदूर्वाङ्कुराश्वत्थपलाशैरथ वाऽर्कजैः ॥८२॥
मासेन हन्ति कलुषं सप्तजन्मकृतं नरः ।

शमी, दुर्वाङ्कुर, पीपल, पलाश अथवा मदार की समिधा से नित्य प्रति हवन करने से मास-मात्र में बड़े से बड़ा पाप कट जाता है ॥८२-८३॥

पूर्वाशाभिमुखो भूत्वा पीतद्रव्यैः समर्चयेत् ॥८३॥
पीतस्थाने समालिख्य स्तम्भयेत्सर्ववादिनः ।
उत्तराशामुखो भूत्वा सिन्दूररजसा लिखेत् ॥८४॥
पूजयेद्विधिवद्विद्वान्सर्वलोकं वशं नयेत् ।
पश्चिमाभिमुखो भूत्वा चन्दनेन समालिखेत् ॥८५॥
सम्पूज्य विधिवद्विद्वान्सर्वयोषिन्मनो हरेत् ।
वल्लभो जायते देवि दासीमिव वशं नयेत् ॥८६॥
यमाशाभिमुखो भूत्वा चक्रे कृष्णं यदाऽर्चयेत् ।
यस्य नामाङ्कितं तस्य मन्त्रहानिः प्रजायते ॥८७॥

स्तम्भन—पूर्वाभिमुख होकर किसी पीत-स्थान में श्री 'श्रीचक्र' में भगवती का पीत-द्रव्यों से अर्चन करने से सभी विरोधियों का स्तम्भन होता है ।

लोक-वशीकरण—उत्तराभिमुख होकर सिन्दूर-रज से 'श्री-श्री चक्र' बनाकर विधिवत् अर्चन करने से सभी लोकों का वशीकरण होता है ।

स्त्री-वशीकरण—पश्चिमाभिमुख होकर चन्दन से 'श्री श्रीचक्र' अंकित करके विधिवत् पूजन करने से सभी स्त्रियों का आकर्षण होता है ।

पर-मन्त्र-हानि—दक्षिणाभिमुख होकर श्री श्रीचक्र में 'श्री कृष्ण का पूजन करने से उस व्यक्ति के मन्त्र की हानि होती है, जिसका नाम 'यन्त्र' पर लिखा गया है ॥८३-८७॥

अग्निराक्षसवायव्यशंभुकोणेषु पूजितम् ।
पूर्ववत्परमेशानि क्रमेण परिपूजितम् ॥८८॥

स्तम्भविद्वेषणव्याधिशत्रूच्चाटकरं भवेत्।
रोचनालिखितं चक्रं क्षीरमध्ये क्षिपेद्बुधः ।।८९।।
सर्ववश्यकरं देवि भवत्येव न संशयः।
गोमूत्रमध्यगं सम्यक्शत्रूच्चाटकरं भवेत् ।।९०।।
तैलस्थं चक्रराजं तद्विद्वेषणकरं भवेत्।
ज्वलज्ज्वलनमध्यस्थं शत्रुनाशकरं भवेत् ।।९१।।

हे परमेशानि ! अग्निकोण, नैऋत्य कोण, वायव्य-कोण, और ईशान-कोण की ओर मुख करके पूर्वोक्त क्रम-विधि से अर्चन करने से क्रमशः शत्रुओं का स्तम्भन, विद्वेषण, व्याधि और उच्चाटन होता है।

गोरोचन से श्री 'श्रीचक्र' लिखकर उसे दूध में स्थापित करने से सभी लोगों का वशीकरण होता है।

यदि उसी यन्त्र को 'गो-मूत्र' में स्थापित किया जाये तो शत्रुओं का उच्चाटन हो जाता है।

श्री 'श्रीचक्र' को तेल में स्थापित करने से शत्रुओं में विद्वेषण होता है।

यदि इसे जलती हुई आग में डाल दिया जाये तो शत्रुओं का नाश हो जाता है ।।८८-९१।।

यदेकान्ते चतुर्मार्गे सिन्दूररजसा लिखेत्।
सर्वबाह्यतः आरभ्य यावन्मध्यं महेश्वरि ।।९२।।
अकारादिक्षकारान्तां मातृकां तत्र विन्यसेत्।
पूजयेद्रात्रिसमये कुलाचारक्रमेण तु ।।९३।।
साधकः खेचरो देवि जायते नात्र संशयः।
गिरावेकतरौ तद्वदर्चयेत्कुलमार्गतः ।।९४।।
अजरामरतां लब्ध्वा सुखी भवति मान्त्रिकः।

किसी एकान्त चौराहे में भूमि पर सिन्दूर-रज से श्री 'श्रीचक्र' अंकित करें। उस चक्र पर बाहर से प्रारम्भ करके चक्र के मध्य तक 'अ'कारादि-'क्ष' करान्त मातृकाओं का न्यास करे। रात्रि के समय 'कुलाचार-क्रम' से नित्य उसकी पूजा करे। उससे साधक को **आकाश-गमन** की सिद्धि मिलती है।

पर्वत की चोटी पर किसी वृक्ष के नीचे इसी प्रकार कुलाचार-क्रम से श्री 'श्रीयन्त्र' का अर्चन करने से मन्त्र-साधक अजर-अमर होकर सुख प्राप्त करता है ।।९२-९४।।

श्मशाने पूजयेच्चक्रं महाभूतदिने बुधः ॥९५॥
पूर्वक्रमेण विधिवत्साधकः स्थिरमानसः ।
खड्गसिद्धिं च मनःसिद्धिं च गुटिकामपि ॥९६॥
पादुकां वेतालसिद्धिं च मनःसिद्धिं च धातुदाम् ।
महाविवरसिद्धिं च यक्षिणीचेटकोद्भवाम् ॥९७॥
सर्वं तल्लभते मन्त्री नात्र कार्या विचारणा ।

बुद्धिमान् साधक श्मशान में स्थिर-चित्त होकर (भय एवं आशंका मुक्त होकर) पूर्वोक्त 'कुलाचार-क्रम' से चतुर्दशी की रात को श्री 'श्रीचक्र' का पूजन करे तो निस्सन्देह उसे खड्ग-सिद्धि, मनः सिद्धि, गुटिका सिद्धि, पादुका-सिद्धि, धातु-सिद्धि, महा-विवर-सिद्धि, यक्षिणी एवं चेटक-सिद्धि प्राप्त होती हैं ॥९५-९८॥

विमर्श—'कुलाचार-क्रम' अर्थात् कौलिक-विधि से मद्य आदि पञ्च मकारों से पूजन । खड्ग-आदि सिद्धियाँ प्रवृत्ति-मार्गी साधकों द्वारा अभीष्ट-विशिष्ट-सिद्धियाँ है ।

अथ वक्ष्ये महेशानि श्रीविद्यापूजनं महत् ॥९८॥
ब्रह्महत्यादिदोषाणां पुरश्चरणमुत्तमम् ।
रक्तपद्मैर्महेशानि पूजयेच्चक्रमुत्तमम् ॥९९॥
समस्तरश्मिसहितं नित्याम्नायपुरस्कृतम् ।
कुलाचारक्रमाद्देवि कर्पूरक्षोदमण्डितम् ॥१००॥
मासमात्रेण देवेशि महापातककोटयः ।
जन्मान्तरकृता सर्वा नाशयेन्नात्र संशयः ॥१०१॥

हे महेशानि ! ब्रह्म हत्या इत्यादि घोर पापों के शमन के लिये श्री 'श्रीविद्या' के दिव्य-पूजन की विधि बता रहा हूँ । हे महेशानि ! कपूर के चूर्णो से अंकित श्री 'श्रीचक्र' का सभी रश्मियों और नित्या मण्डल सहित 'कुलाचार-क्रम' से रक्त (लाल) कमलों से एक मास तक पूजन करने से जन्म-जन्मान्तर में किये गये करोड़ों महा-पातकों का नाश हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥९८-१०१॥

विमर्श—'रश्मि' और सभी 'आवरण-देवता' एवं 'नित्या' अर्थात् 'कामेश्वरी' आदि 'नित्यायें' ।

लक्ष्मीस्तस्य गृहे रम्या सुस्थिरा सुरवन्दिते ।
जपापुष्पैर्महेशानि पूर्ववत्पूजयेच्छिवाम् ॥१०२॥
मासमात्रं क्रमेणैव पूर्ववत्परमेश्वरि ।
ब्रह्महत्यादिपापांश्च पूर्वजन्मकृतान्प्रिये ॥१०३॥

नाशयेन्नात्र संदेहो धनवाञ्जायते बुधः ।
केतकैस्तरुणैः पत्रैः पूर्ववत्पूजयेत्प्रिये ॥१०४॥
उपपातकसंघांश्च मासमात्रेण नाशयेत् ।
सौभाग्यमतुलं तस्य जायते नात्र संशयः ॥१०५॥

हे शिवे ! पूर्वोक्त विधि (अर्थात् कुलाचार-क्रम) से भगवती महा-त्रिपुर-सुन्दरी का एक-मास तक जपा-पुष्पों से पूजन करने से पूर्व जन्मों में किये गये ब्रह्म-हत्या आदि घोर पाप कट जाते हैं। साधक के घर में लक्ष्मी का निवास हो जाता है। वह धनवान् हो जाता हैं।

केतकी के ताजे और क्षति रहित पत्रों से पूजन करने से उप-पातक समूह मात्र एक माह में समाप्त हो जाते हैं और साधक को अतुलनीय सौभाग्य प्राप्त होता है ॥१०२-१०५॥

शतपत्रैर्मनोरम्यैः पूजयेन्मासमात्रकम् ।
पूर्ववत्परमेशानि पूर्व पापं विनाशयेत् ॥१०६॥
चम्पकैः सुमनोरम्यैः पूर्ववत्पूजयेच्छिवाम् ।
मासमात्रेण हन्त्येव पातकाञ्शतजन्मजान् ॥१०७॥
सौभाग्यवान्भवेन्मन्त्री त्रिपुरायाः प्रसादतः ।
श्वेतपद्मैर्महेशानि महद्भिः पूजयेत्पराम् ॥१०८॥
पूर्ववन्नाशयेत्पापं विंशज्जन्मभवं प्रिये ।
मासमात्रेण सकलं मोक्षस्तस्य करे स्थितः ॥१०९॥
बन्धूककुसुमैर्देवि मासमात्रं प्रपूजयेत् ।
त्रैलोक्यं वशगं तस्य पूर्वपापं दहेद्बुधः ॥११०॥

हे परमेशानि ! पूर्वोक्त विधि से एक मास तक शत-पत्रों से पूजन करने से पूर्व-जन्म के पाप कट जाते हैं।

चम्पक पुष्पों से एक मास तक पूजा करने से सैकड़ों जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं और मन्त्र-साधक भगवती त्रिपुरा की कृपा से सौभाग्यवान् हो जाता है।

श्वेत-कमलों से एक मास तक पूजा करने से पिछले बीस जन्मों के पाप कट जाते हैं और साधक मोक्ष-प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।

हे देवि ! बन्धूक (दुपहरिया) के फूलों से एक मास तक पूजा करने से सभी पुराने पाप नष्ट हो जाते हैं और तीनों लोक इस साधक के वश में आ जाते हैं ॥१०६-११०॥

बिल्वपत्रैश्च जलजैः सहैव परिपूजयेत्।
पूर्ववत्परमेशानि मासमात्रं प्रसन्नधीः ॥१११॥
समृद्धिमान्भवेद्देवि सर्वपापहरः सदा।
मल्लिकामालतीजातीकुन्दैश्च शतपत्रकैः ॥११२॥
श्वेतोत्पलैर्मिश्रितैस्तु पूजयेन्मासमात्रकम्।
कुलाचारक्रमेणैव पातकं शतजन्मजम् ॥११३॥
ब्रह्महत्यादिजनितं नाशयेन्नात्र संशयः।
मुक्तिस्तस्य करे देवि वाचा जीवसमो भवेत् ॥११४॥

हे परमेशानि ! एक मास तक पूर्वोक्त-विधि से बिल्व-पत्र और कमलों से की गई भगवती त्रिपुरा की पूजा सभी पापों का हरण करने वाली और साधक को समृद्धि प्रदान करने वाली है ।

मल्लिका, मालती, जाती, कुन्द, शतपत्र और श्वेत कमलों को मिलाकर (अर्थात् इन सभी पुष्पों से) कुलाचार-क्रम से एक मास तक पूजा करने से शत-शतजन्मों के ब्रह्म-हत्या आदि पाप नष्ट हो जाते हैं । ऐसा साधक कहने भर के लिये 'जीव' होता है । वस्तुतः 'मुक्ति' तो उसके हाथ में आ जाती है ॥१११-११४॥

अगस्त्यबाणबन्धूकजपारक्तोत्पलैः प्रिये।
पूर्वक्रमेण सम्पूज्य मासमात्रं प्रसन्नधीः ॥११५॥
पातकं नाशयेन्मन्त्री साक्षात्कामसमो भवेत्।
चम्पकैः पाटलैर्देवि बकुलैर्नागकैसरैः ॥११६॥
कह्लारैः सिन्दुरै रम्यैः पूर्ववत्पूजयेत्क्रमात्।
सौभाग्यमतुलं तस्य मासमात्रेण जायते ॥११७॥
पापं विनाशयेद्देवि यदि जन्मसहस्रजम् ॥११८॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे श्रीविद्याप्रयोगविधिर्नाम

सप्तदशः पटलः ॥१७॥

हे प्रिये ! अगस्त्य, बाण, बन्धूक, जपा, रक्तोत्पल पुष्पों से 'कुलाचार' की विधि से एक मास तक प्रसन्नतापूर्वक भगवती त्रिपुरा का पूजन करने से साधक के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। वह कामदेव के समान सुन्दर और आकर्षक हो जाता है।

पूर्वोक्त कुलाचार-विधि से चम्पक, पाटल, बकुल, नागकेसर कल्हार, सिन्दूर (सिन्धुवार) के पुष्पों से एक मास पर्यन्त क्रम-क्रम से अर्चन करने से साधक को अतुलनीय सौभाग्य की प्राप्ति होती है, और उसके हजारों जन्मों के पाप समाप्त हो जाते हैं ॥११५-११८॥

श्री ज्ञानार्णव-नित्या-तन्त्र के 'श्रीविद्या प्रयोग-विधि' नामक
सप्तदश पटल की 'सुदर्शना'-व्याख्या पूर्ण हुई ॥१७॥

❋

अथाष्टादशः पटलः

श्रीविद्या स्वर्ण रत्न पूजा विधि-विवरण

ईश्वर उवाच

रत्नपूजाविधानं तु कथयामि तवानघे।
पुष्पाणि रचयेद्देवि माणिक्यरचितानि हि ॥१॥

ईश्वर ने कहा—हे अनघे ! अब मैं आपसे रत्न-पूजा का विधान कहता हूँ। हे देवि ! इस विधान के अन्तर्गत भगवती त्रिपुरा को माणिक्य (अर्थात् विविध प्रकार के रत्नों) युक्त स्वर्ण-निर्मित पुष्प समर्पित करने चाहिए ॥१॥

विमर्श—पिछले सत्रहवें पटल में मालिका, पाटल, शतपत्र, श्वेत, कमल, रक्त-कमल आदि विभिन्न प्राकृतिक पुष्पों से भगवती-त्रिपुरा के अर्चन का विधान और इन पुष्पों से पूजन की फल-श्रुति का निरूपण किया गया है। इस पटल में विभिन्न रत्नों से युक्त स्वर्ण-निर्मित पुष्पों से भगवती के अर्चन का विधान और पूजा-फल का निरूपण किया जा रहा है।

तैस्तु पूजा प्रकर्तव्या चक्रराजस्य पूर्ववत्।
नानापुष्पैः सुगन्धैश्च कर्पूरक्षोदचन्दनैः ॥२॥
एकविंशतिरात्रेण विंशतिं धरणीभुजाम्।
दासीभूतां करोत्येव महारोगांश्च नाशयेत् ॥३॥

हे देवि ! विभिन्न प्रकार के सुगन्धित पुष्पों, चन्दन और कर्पूर-चूर्ण के साथ उनसे (रत्न-जटित स्वर्ण पुष्पों से) श्री 'श्रीचक्र' का अर्चन किया जाना चाहिए। २१ (इक्कीस) रात तक कुलाचार-विधि से उक्त पुष्पों से अर्चन करने से महारोगों (असाध्य-रोगों) का शमन होता है और बीस राजे साधक के वशवर्ती हो जाते हैं ॥२-३॥

सूर्यवत्कान्तिमान्मन्त्री जायते नात्र संशयः।
मुक्तारत्नैश्च रचयेत्स्वर्णपुष्पाणि सुन्दरि ॥४॥
तैस्तु पूजा प्रकर्तव्या नानापुष्पैश्च पूर्ववत्।
एकविंशतिरात्रेण राजपत्नयो वशाः प्रिये ॥५॥

हे सुन्दरि ! रत्न-जटित पुष्पों से पूजा करने से साधक सूर्य के समान कान्तिवान् और तेजस्वी हो जाते है। हे प्रिये ! मुक्ता (मोतीं) जड़ित स्वर्ण-पुष्पों से २१ रात तक पूजा करने से राज-पत्नियाँ साधक के वश में आ जाती हैं ॥४-५॥

कलाकान्तियुतो देवि जायते सुभगः क्षितौ।
प्रवालघटितैः स्वर्णपुष्पैस्तु बहुभिर्यजेत् ॥६॥
पूर्ववत्परमेशानि कुलाचारक्रमेण तु।
पुष्पैश्च विविधैर्देवि त्रिःसप्ताहात्सुरेश्वरि ॥७॥
क्रूरास्तस्य वशाः सर्वे वैरिवर्गान्विनाशयेत्।
तथा मरकतक्षिप्तस्वर्णपुष्पैस्तु पूजयेत् ॥८॥
एकविंशतिरात्रेण नानापुष्पैः क्रमं यजेत्।
विबुधास्तस्य वरदा वैरी नश्यति नान्यथा ॥९॥

मुक्ता जड़ित स्वर्ण पुष्पों से पूजा करने से साधक पृथ्वी में कला कान्ति युक्त हो जाता है। हे परमेशानि ! कुलाचार-विधि से पूजन करते हुए प्रवाल (मूँगा) घटित स्वर्ण-पुष्प समर्पित करने से २१ दिनों में सभी क्रूर एवं दुष्ट प्राणी साधक के वशवर्ती हो जाते हैं, उसके शत्रुओं का नाश हो जाता है। इसी प्रकार विभिन्न सुगन्धित पुष्पों के साथ मरकत (पन्ना) घटित स्वर्ण पुष्पों से २१ रात तक पूजा करने से सभी देवता साधक को वरदान देते हैं और साधक के शत्रु समाप्त हो जाते हैं ॥६-९॥

पुष्परागमहरत्नघटितः स्वर्णनिर्मितैः।
कुसुमैः पूजयेच्चक्रं त्रिःसप्ताहात्सुरेश्वरि ॥१०॥
सुरास्तस्य वशा देवि बृहस्पतिसमो भवेत्।
सुवर्णरचितैः पुष्पैर्वज्रकेयूरराजितैः ॥११॥
एकविंशतिरात्रेण मोहयेज्गतीमिमाम्।
दैवदैत्या वशास्तस्य जायन्ते नात्र संशयः ॥१२॥

हे सुरेश्वरि ! २१ रात तक पुष्पराग (पुखराज) घटित स्वर्ण पुष्पों से पूजा करने से साधक देव-गुरु बृहस्पति के समान विद्वान् हो जाता है और सभी देवता उसके वश में आ जाते हैं। २१ रात तक हीरा जड़ा स्वर्ण निर्मित केयूर (बाजूबन्द) समर्पित करने से सभी देवता और दैत्य साधक के वशवर्ती (अर्थात् आज्ञाकारी) हो जाते हैं एवं तीनों लोक उससे मोहित हो जाते हैं ॥१०-१२॥

इन्द्रनीलमयैः स्वर्णपुष्पश्चक्रं समर्चयेत्।
एकविंशतिरात्रेण तथा नीलैश्च नीरजैः ॥१३॥
वैरिणो नाशमायान्ति शेषा वश्या भवन्ति हि।

इन्द्र नील मणि (नीलम) जड़े हुए स्वर्ण-निर्मित पुष्पों और नील-कमलों से २१ रात तक अर्चन करने से साधक के शत्रुओं का नाश हो जाता है तथा शेष जन (तटस्थ-व्यक्ति) वशवर्ती हो जाते हैं ॥१३-१४॥

गोमेदेघटितैः पुष्पैः सुवर्णस्य यजेद्बुधः ॥१४॥
किंशुकैश्च कुसुमैश्च पूर्ववत्परमेश्वरि ।
सप्ताहाद्वैरिणो वश्या घातस्तेषु प्रजायते ॥१५॥

गोमेद जटित स्वर्ण-पुष्पों और किंशुक-कुसुमों (पलाश के फूल, टेसू-फूल) से ७ रात तक विधिवत् पूजन करने से सभी शत्रु वशवर्ती हो जाते है ॥१५॥

त्रिःसप्ताहान्महापापसंचयं नाशयेत्प्रिये ।
क्रव्यादजीवा वश्या हि भवन्त्येव न संशयः ॥१६॥

वैदूर्य जटित स्वर्ण पुष्पों और चम्पक पुष्पों से कुलाचार क्रम से पूजा करने से 'क्रव्यादजीवाः' अर्थात् हिंसक प्राणी वशवर्ती हो जाते हैं । साधक क्षण मात्र में तीनों लोकों को स्तम्भित करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है ॥१६॥

वैदूर्यघटितैः स्वर्णपुष्पैरभ्यर्चयेत्क्रमम् ।
चम्पकादिभिरभ्यर्च्य त्रैलोक्यं स्तम्भयेत्क्षणात् ॥१७॥
एकविंशतिभिर्वारैः सर्वपापहरो भवेत् ।
पुष्पैः पर्युषितैर्देवि नार्चयेत्स्वर्णजैरपि ॥१८॥
निर्माल्यभूतैः कुसुमैरुच्छिष्टैः परमेश्वरि ।

वैदूर्य मणि जड़ित स्वर्ण पुष्पों से २१ दिनों तक श्री 'श्रीचक्र' का अर्चन करने से स्तम्भन की उपर्युक्त शक्ति प्राप्त होती है । हे देवि ! पर्युषित अर्थात् बासी पुष्पों से पूजा नहीं करनी चाहिए, भले ही वे स्वर्ण निर्मित पुष्प ही क्यों न हों । उच्छिष्ट (जूठे) तथा निर्माल्य-भूत पुष्पों से भगवती की पूजा नहीं करनी चाहिए ॥१७-१८॥

विमर्श—'उच्छिष्ट' और 'निर्माल्यभूत' पुष्पों का अर्थ है वे पुष्प जो पूजा में प्रयुक्त हो चुके हैं ।

नवरत्नमयैः स्वर्णपुष्पैर्यदि शिवां यजेत् ॥१९॥
तदा देवा मनुष्याश्च पन्नगा राक्षसादयः ।
सर्वे वश्या भवन्त्येव त्रिःसप्ताहान्न संशयः ॥२०॥
जन्मकोटिभवं पापं नाशयेन्नात्र संशयः ।

नवरत्नों से युक्त स्वर्ण निर्मित पुष्पों से शिवा (त्रिपुरा) की पूजा करने से देवता, मनुष्य, पन्नग (नाग) और राक्षस आदि तीन सप्ताह में ही वश में आ जाते हैं। साथ ही कोटि जन्मों के पापों का संहार हो जाता है ॥१९-२१॥

स्वर्णरत्नमयैः पुष्पैनवरत्नैः प्रपूजयेत् ॥२१॥
तदाऽश्वमेधदशकं कृतं भवति शैलजे।

हे शैलजे ! स्वर्णरत्न मय नव-रत्न पुष्पों से भगवती का अर्चन करने से दश-अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है ॥२१-२२॥

स्वर्णरत्नादिपूर्णत्वं यदा नास्ति तदा शृणु ॥२२॥
तैरेव पुष्पैः पूजा तु कर्तव्या साधकोत्तमः।
यद्यत्पुष्पं यत्र यत्र दत्तं तत्तत्सुरेश्वरि ॥२३॥
तत्र तत्र प्रदातव्यं न दातव्यं यथेच्छया।
अलंकारस्वरूपेण पूजयेच्चक्रनायकम् ॥२४॥
केवलं स्वर्णपुष्पैस्तु त्रैलोक्यं स्तम्भयेच्छिवे।
मासमात्रेण पापानि सप्तजन्मभवान्यपि ॥२५॥
नाशयेन्मोहयेत्सर्वां समुद्रवलयां धराम् ॥२६॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे श्रीविद्यास्वर्णरत्नपूजाविधिविवरणं नामाष्टदशकः पटलः ।।१८।।

हे सुरेश्वरि ! यदि स्वर्ण रत्न आदि की पूर्ण संख्या नहीं हो अर्थात् यथेष्ट संख्या में ये उपलब्ध नहीं हो तो उतने ही पुष्पों से (जो उपलब्ध हैं) भगवती का अर्चन करना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ जो पुष्प निर्दिष्ट हैं, वे ही पुष्प चढ़ाये जाने चाहिए अपनी इच्छा से कोई भी फूल अन्यत्र नहीं चढ़ाना चाहिए। हे शिवे ! अलंकार स्वरूप स्वर्ण पुष्पों से एक महीने तक पूजन से करने सात जन्मों के पाप कट जाते हैं और साधक तीनों लोकों का स्तम्भन करने में समर्थ हो जाता है। वह समुद्र वलया पृथ्वी को मोहित कर लेता है ॥२२-२६॥

श्री ज्ञानार्णव नित्या तन्त्र में 'श्रीविद्या स्वर्ण रत्न-पूजा-विधि-विवरण' नामक अष्टादश पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥१८॥

अथैकोनविंशः पटलः

त्रिपुरा बीज त्रय साधन विधान

श्रीदेव्युवाच

> **त्रिपुरा परमा शक्तिस्त्रैलोक्यवशकारिणी ।**
> **एतस्याः परमानन्दसाधनं कथय प्रभो ॥१॥**
> **बीजत्रयस्य देवेश यद्यहं तव वल्लभा ।**

श्री देवी ने कहा—हे प्रभु ! भगवती त्रिपुरा ही तीनों लोकों को वश में करने वाली परमा अर्थात् सर्वोच्च शक्ति हैं । हे देवेश ! यदि मैं आपकी वल्लभा हूँ अर्थात् यदि आप मुझे अपनी प्रिया मानते हैं तो उनके (त्रिपुरा-विद्या के) बीज-त्रय के परमानन्द-साधन का विधान बताइये ॥१-२॥

विमर्श—'त्रैलोक्य वशकारिणी शक्ति' का अर्थ है तीनों लोकों का नियन्त्रण करने वाली सर्वोच्च नियामक शक्ति । उपनिषदों में 'ब्रह्म' का निरूपण करते हुए कहा गया है—उसके ही भय से सूर्य और चन्द्र उदय एवं अस्त होते हैं । उसके ही भय से वायु चलती है । आदि-आदि । इस तरह भगवती त्रिपुरा ब्रह्म रूपिणी-ब्रह्म शक्ति हैं । त्रिपुरा-महाविद्या के वाग्भव, कामराज और शक्ति—ये तीन कूट या तीन बीज हैं । पिछले पटल में त्रिपुरा महाविद्या के समग्र मन्त्र (विद्या) के पुरश्चरण और साधन का विधान बताया गया है । श्री देवी ने त्रिपुरा महाविद्या के एक-एक कूट या बीज की साधना अलग-अलग करने का विधान जानने की जिज्ञासा की है ।

ईश्वर उवाच

> **एषा विद्या वरारोहे पारम्पर्यक्रमागता ॥२॥**
> **भवबन्धं घातयन्ती संस्मृता पापहारिणी ।**
> **जपान्मृत्युंजयेशानि ध्याता सर्वार्थसाधिका ॥३॥**
> **दुःखदौर्भाग्यदारिद्र्यभयघ्नी पूजिता भवेत् ।**
> **विघ्नौघशमनी चैव हवनान्नात्र संशयः ॥४॥**

ईश्वर ने कहा—हे वरारोहे ! यह त्रिपुरा विद्या संसार के बन्धन को काटने वाली है । इसका स्मरण करने से सारे पाप कट जाते हैं । हे ईशानि ! त्रिपुरा-विद्या के जप से मृत्यु पर विजय प्राप्त होता है । ध्यान करने से सभी लौकिक एवं पारलौकिक

कामनायें पूरी होती हैं। त्रिपुरा-महाविद्या की पूजा करने से दुःख, दौर्भाग्य, दरिद्रता एवं सभी प्रकार के भय का नाश हो जाता है। हवन करने से सभी विघ्न-बाधायें समाप्त हो जाती है। इतनी महिमा शालिनी त्रिपुरा विद्या परम्परा अर्थात् गुरु-परम्परा से प्राप्त होती है ॥२-४॥

विमर्श—'पारम्पर्यक्रमागता' यह 'त्रिपुरा महाविद्या' पराम्परा के क्रम से प्राप्त होती है। इसका आशाय यह है कि ऋषि परम्परा से चल रही है। गुरु-शिष्य परम्परा से इसका प्रचार-प्रसार हो रहा है। यह प्रकट-विद्या नहीं-अपितु कुल-वधू की तरह 'गुप्ता' है—'गुप्ता-कुलवधूरिव'। अतः गुरु-परम्परा में 'दीक्षा' लेने और 'गुरुपदिष्ट-विधि' से साधना करने पर ही फलवती होती है।

पृथग्बीजत्रयस्याहं साधनं कथयामि ते।

ईश्वर कहते हैं—हे प्रिये ! आपकी जिज्ञासा के समाधान के लिये भगवती त्रिपुरा के तीन बीजों का अलग-अलग साधन विधान बता रहा हूँ।

वाग्भव बीज साधन विधान–

शुभ्राम्बरपरीधानो गन्धकर्पूरमण्डनः ॥५॥
मुक्ताफलस्फुरद्रूपभूषणः शुभ्रमाल्यधृत्।
शुभ्रमन्दिरसंविष्टो ब्रह्मचर्यसमन्वितः ॥६॥
पूजयेच्छुभ्रकुसुमैर्नैवेद्यमपि सूज्ज्वलम्।
पायसं घृतसंपन्नं तथाऽमृतफलौदनम् ॥७॥
घृतमोदकसम्पन्नं नानाशुभ्रान्नपूरितम्।
नैवेद्यं दर्शयेद्देव्यै वागीश्वर्यै सुरेश्वरि ॥८॥
उपचारैः सुशुभ्रैश्च साधयेन्मोक्षवाङ्मयम्।
वाग्भवाख्यां जपेद्विद्यां वागीशीं संस्मरन्बुधः ॥९॥

वाग्भव-बीज की साधना में पूजा के उपचार, पुष्प, साधक की वेशभूषा इत्यादि शुभ्र (श्वेत) वर्ण के होने चाहिए। यहाँ तक कि पूजा-मण्डप की दीवारें भी श्वेत रंग की प्रशस्त हैं।

वाग्बीज का साधक शुभ्र-वर्ण के वस्त्र पहिने, श्वेत कपूर का लेप लगाये, मोतियों की माला, श्वेत पुष्पों के हार धारण कर भगवती के श्वेत-मन्दिर में साधना करे। पुष्प श्वेत दर्ण के समर्पित करे। पायस, ओदन (भात) घी के बने लड्डू और मीठे फल भगवती को निवेदित करे। इस प्रकार शुभ्र-उपचारों से मोक्ष प्रदान करने वाली भगवती शुभ्र-वर्णा भगवती का ध्यान करके 'वाग्भवबीज' (ऐं) का जप करें ॥५-९॥

कर्पूरधवलां शुभ्रपुष्पाभरणभूषिताम् ।
अत्यन्तशुभ्रवसनां वज्रमौक्तिकभूषणाम् ॥१०॥
मुक्ताफलामलमणिजपमालालसत्कराम् ।
पुस्तकं वरदानं च दधतीमभयप्रदाम् ॥११॥
एवं ध्यायेन्महेशानि सर्वविद्याधिपो भवेत् ।
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं स्रवत्पीयूषवार्षिणीम् ॥१२॥

भगवती का ध्यान—कपूर के समान धवल (शुभ्र-श्वेत) वर्णा, शुभ्र पुष्पों और शुभ्र आभूषणों से विभूषित, हीरे और मोतियों की मालाओं से अलंकृता, चारों हाथों में क्रमश: मोतियों की जप माला, पुस्तक, वर और अभय धारण करने वाली शुभ्र-वसना भगवती का ध्यान करना चाहिए। हे महेशानि ! मूलाधार से ब्रह्म रन्ध्र पर्यन्त अमृत की वर्षा करने वाली भगवती का ध्यान करने से साधक सभी विद्याओं का अधिपति बन जाता है ॥१०-१२॥

तस्माज्ज्योतिर्मयीं ध्यायेज्जिह्वां दीपस्वरूपिणीम् ।
पाषाणेन समो वाऽपि मूर्खो जीवसमो भवेत् ॥१३॥

अतएव ज्योतिर्मयी एवं दीपस्वरूपिणी वागीश्वरी का ध्यान करना चाहिए। उनका ध्यान करने से पत्थर के समान जड़-बुद्धि व्यक्ति भी देव-गुरु बृहस्पति के समान विद्वान् हो जाता है ॥१३॥

कामराज बीज साधना–

अथ कामकलाशक्तिसाधकः परमेश्वरि ।
रक्तलंकारसुभगो रक्तगन्धानुलेपनः ॥१४॥
रक्तावस्त्रावृत्तः सम्यङ्मध्ये कामकलात्मना ।
रक्तपुष्पैश्च विविधैः कुङ्कुमादिभिरर्चयेत् ॥१५॥

कामराज बीज (क्लीं) की साधना करने वाले साधक के वस्त्र, पुष्प-माला, आदि रक्त वर्ण के होने चाहिए और उसे रक्त-पुष्प-कुंकुम आदि रक्त-वर्ण वाले उपचारों से भगवती का अर्चन करना चाहिए ॥१४-१५॥

मूलादिब्रह्मपर्यन्तं स्फुरद्दीपस्वरूपिणीम् ।
बन्धूककुसुमाकारकान्तिभूषणभूषिताम् ॥१६॥
इक्षुकोदण्डपुष्पेषुवरदाभयलसत्कराम् ।
तदीयकायसिन्दूरभरितं भुवनत्रयम् ॥१७॥
चिन्तयेत्परमेशानि त्रैलोक्यं मोहयेत्क्षणात् ।
राजानो वशमायान्ति पन्नगा राक्षसाः सुराः ॥१८॥

मूलाधार से ब्रह्म-रन्ध्र पर्यन्त ज़ाज्वल्यमान् दीप के समान स्वरूप वाली, बन्धूक पुष्प की कान्तिवाली, गन्ने का धनुष, पुष्प के बाण एवं वर तथा अभय-मुद्रा धारण करने वाली भगवती का ध्यान करने से क्षण-भर में ही सारा संसार मोहित हो जाता है। सभी राजे-महाराजे, देवता, राक्षस और पन्नग (नाग) आदि वशवर्ती हो जाते हैं ॥१६-१८॥

कन्दर्प इव देवेशि योषितां मानहारकः।
मनश्चिन्तितयोषित्तु दासीव वशगा भवेत् ॥१९॥

हे देवेशि! कामेश्वरी का इस प्रकार ध्यान करने वाला साधक मनोवांछित स्त्री को क्षण-भर में दासी बना लेता है और उस कामदेव स्वरूप साधक के सामने सभी रूप-गर्विताओं का मान-मर्दन हो जाता है ॥१९॥

चलच्चलेन्दुसंकाशां तरुणारुणविग्रहाम्।
चिन्तयेद्योषितां योनौ क्षोभयेत्सुरसुन्दरीः ॥२०॥
किं पुनर्मानुषीर्देवि त्रैलोक्यमपि मोहयेत्।

स्त्री की योनि में अरुण वर्ण वाली, यौवन सम्पन्ना तथा चन्द्रमा के समान चलायमान भगवती का ध्यान करके रम्भा और उर्वशी जैसी अप्सराओं को भी क्षुब्ध किया जा सकता है, तो सामान्य मानुषी की बात ही क्या है ॥२०-२१॥

विमर्श—यह अत्यन्त्य गुह्य एवं कठिन प्रयोग है। उच्चाधिकार प्राप्त इन्द्रियजित् साधक ही इसके पात्र हैं ॥२०-२१॥

एषैव चिन्तिता देवी सिन्दूराभा हृदि क्षणात् ॥२१॥
आकर्षयेत्तदा शीघ्रं रम्भां वाऽपि तिलोत्तमाम्।

सिन्दूरवर्ण वाली भगवती कामेश्वरी का ध्यान करने से क्षण-मात्र में ही रम्भा और तिलोत्तमा का भी आकर्षण किया जा सकता है ॥२२॥

रक्तवर्णां स्त्रियं ध्यात्वा तदीयसहसत्तमः (?) ॥२२॥
तस्या मूर्ध्नि स्मरेद्बीजान्स्रवत्पीयषूवर्षिणीम्।
ध्यायन्संमोहयेद्देवि मदनोत्तप्तमानसाम् ॥२३॥

मनो-अभिलषित स्त्री का रक्त-वर्णा के रूप में ध्यान करते हुए यह भावना करें कि भगवती कामेश्वरीं 'क्लीं' बीज से उसके मस्तक पर अमृत की वर्षा कर रही हैं। इस विधि से साधक उसके हृदय में काम-भाव उत्पन्न करके उसे मोहित कर लेता है ॥२३॥

क्षणमात्रेण देवेशि त्रैलोक्यं वशमानयेत्।
एतत्कामकलाध्यानात्पञ्च कामा वरानने ॥२४॥

मोहयन्ति जगत्सर्वं प्रयोगं शृणु पार्वति ।
पूर्वोक्तकामा देवेशि ज्ञातव्याः पञ्चसंज्ञकाः ॥२५॥

हे देवेशि ! काम-कला का ध्यान करने से काम, मन्मथ, कन्दर्प, मकरध्वज और मीनकेतु संज्ञक पञ्च-कामदेव समस्त जगत को क्षण मात्र में मोहित कर लेते हैं। यह 'त्रैलोक्य-मोहन' प्रयोग है। उसकी विधि इस प्रकार है ॥२४-२५॥

विदर्भ्याद्येन कामेन मन्मथान्तर्गतं कुरु ।
कन्दर्पसंपुटं कृत्वा कोणगर्भगतं ततः ॥२६॥
मकरध्वजसंज्ञं तु सर्वमेतद्वरानने ।
मीनकेतुगतं कुर्यान्मोहयेज्जगतीमिमाम् ॥२७॥
त्रैलोक्यमोहनं नाम योगोऽयं परिकीर्तितः ।
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि शक्तिबीजस्य साधनम् ॥२८॥

साध्य व्यक्ति के नाम को प्रथम-काम बीज (ह्रीं) से विदर्भित करे। इसे द्वितीय काम (मन्मथ) के बीज (क्लीं) के अन्तर्गत करें। तदनन्तर इसको ('ह्रीं' को) षट्कोणता-आपन्न तृतीय काम (कन्दर्प) के बीज (ऐं) के गर्भ में सम्पुटित करें। षट्कोण रूप प्राप्त कन्दर्प बीज के प्रत्येक कोण में चतुर्थ-काम (मकर-ध्वज) का बीज (ब्लूं) लिखें। फिर इसे 'पाँचवें काम (मीन-केतु) के बीज (स्त्रीं) से वेष्टित कर दें। यह त्रैलोक्य मोहन नामक प्रयोग है। अब शक्ति-बीज का साधन-विधान सुनिये ॥२६-२८॥

शक्ति-बीज साधन

सृष्टिसंहारपर्यन्तं शरीरे चिन्तयेत्पराम् ।
स्त्रवत्पीयूषधाराभिर्वर्षन्तीं विषहारिणीम् ॥२९॥
हेमप्रभाभासमानां विद्युन्निकरसुप्रभाम् ।
स्फुरच्चन्द्रकलापूर्णकलशं वरदाभयौ ॥३०॥
ज्ञानमुद्रां च दधतीं साक्षादमृतरूपिणीम् ।
ध्यायन्विषं हरेन्मन्त्री नानाकारव्यवस्थितम् ॥३१॥

शक्ति बीज की साधना करने वाले साधक को तपाये हुए सोने के वर्ण वाली और विद्युत् समूह के समान चमकीली एवं चारों हाथों में चन्द्र कला के समान देदीप्य मान कलश-वर-अभय एवं ज्ञान-मुद्रा धारण करने वाली, साक्षात् अमृत स्वरूपा भगवती का ध्यान करते हुए यह भावना करनी चाहिए कि वे (भगवती) उसके (साधक के) शरीर पर सिर से पैर तक अमृत की वर्षा कर रही हैं। उनका इस तरह ध्यान करके मन्त्रज्ञ-साधक समस्त विषों के प्रभाव को समाप्त कर सकता है ॥२९-३१॥

एतस्याः स्मरणाद्देवि नीलकण्ठत्वमागतः ।
अहं मृत्युंजयो भूत्वा विचरामि जले स्थले ॥३२॥
वैनतेयसमो मन्त्री विषभारसहस्त्रनुत् ।
भूतप्रेतपिशाचांश्च नाशयेद्रोगसंचयम् ॥३३॥
चातुर्थिकज्वरान्सर्वानपस्मारांश्च नाशयेत् ।

हे देवि ! इनका ही ध्यान करने से प्राप्त सामर्थ्य के प्रभाव से हलाहल विष का पान करने के बावजूद मैं जल-थल में मृत्युञ्जय होकर विचरण करता हूँ और 'नील-कण्ठ' के विरुद से विख्यात हूँ।

इस तरह ध्यान करने वाला अर्थात् 'शक्ति-बीज' का साधक वैनतेय (गरुड़) के समान सहस्त्र-भार विषों के प्रभाव को दूर करने वाला होता है । भूत-प्रेत-पिशाच और रोग समूहों का नाश करने में सक्षम होता है । वह तिजारी और चौथिया आदि ज्वरों और अपस्मार (हिस्टीरिया) आदि महारोगों का भी नाश कर देता है ॥३२-३४॥

अथ त्रिकूटा संपूर्णा महात्रिपुरसुन्दरी ॥३४॥
चिन्तिता साधकस्याऽऽशु त्रैलोक्यवशकारिणी ।
क्रमेण नाभिहृद्वक्त्रमण्डलस्थाऽरुणप्रभा ॥३५॥
पद्मरागमणिस्वच्छा चिन्तनात्सुरवन्दिते ।
तस्याष्टगुणमैश्वर्यं सौभाग्यं च प्रजायते ॥३६॥

त्रैलोक्य वशकारिणी त्रिकूटा भगवती महा त्रिपुर सुन्दरी का क्रमशः नाभि, हृदय और मुख-मण्डल में अरुण-वर्ण, पद्मराग मणि तथा स्फटिक मणि के समान ध्यान करने से साधक को अष्ट गुण ऐश्वर्य और सौभाग्य की प्राप्ति होती है ॥३४-३६॥

तन्नाम संस्मरन्मन्त्री योगिनीनां भवेत्प्रियः ।
मातृचक्रं तस्य काये तेन सार्धं सुखी भवेत् ॥३७॥

उनके नाम का स्मरण करने से साधक योगिनियों का प्रिय हो जाता है । उसके शरीर में मातृ-चक्र जागृत होकर स्थित हो जाता है और इसके प्रभाव से उसे सभी सुखों की प्राप्ति होती है ॥३७॥

पुत्रवान्देवदेवेशि मन्त्री ध्यानान्न संशयः ।
यदा चक्रस्थिता पूर्णा खेचरी सिद्धिदायिनी ॥३८॥
चतुःषष्टिर्यतः कोट्यो योगिनीनां महौजसाम् ।
चक्रमेतत्समाराध्य संस्थिता वीरवन्दिते ॥३९॥

हे देवदेवेशि ! भगवती का ध्यान करने मात्र से साधक निस्सन्देह सन्ततिवान्, पुत्रवान् हो जाता है अर्थात् भगवती त्रिपुरा का साधक कभी निस्संतान नहीं होता। हे वीरवन्दिते ! इस श्री 'श्रीचक्र' में सिद्धिदायिनी खेचरी महाशक्ति स्थित है जिनका समाराधन करके महान् ओज सम्पन्न ६४ करोड़ योगिनियाँ भी उसमें स्थित हो गई हैं ।।३८-३९।।

आदौ संबन्धिनि पदे बीजाष्टकं बहिः ।
कलां ध्यात्वाऽङ्गनासङ्गे कामराज इवापरः ।।४०।।

श्री चक्र के सर्वप्रथम निर्मित 'नव-योनि चक्र' के मध्य त्रिकोण के मध्य में (बिन्दु स्थान में) काम-कला और शेष आठ त्रिकोणों में वशिनी आदि वाग्देवताओं के बीजों का ध्यान करने से साधक दूसरे कामदेव के समान सुन्दर बन जाता है ।।४०।।

पाशाङ्कुशधनुर्बाणैर्मादनैर्मोहयेत्प्रिये ।
त्रैलोक्यसुन्दरीं देवीं किं पुनर्मर्त्ययोषितः ।।४१।।

पाश-अंकुश, धनुष और बाण-शिव-दम्पत्ति के आयुध हैं। इस श्लोकों में इन आयुधों की साधना-विधि बताई गई है।

मदन = अर्थात् कामेश्वर शिव। मदन सम्बन्धी-मादन। मादन अर्थात् पञ्च काम बीजों (ह्रीं-क्लीं-ऐं-ब्लूं-स्त्रीं) से पाश-अंकुश आदि शिव-आयुधों की साधना करने से सामान्य मानव की तो बात ही क्या, स्वयं त्रैलोक्य सुन्दरी भी मोहित हो जाती है ।।४१।।

तथैव शक्तिसंबन्धशस्त्रैस्तन्मयविग्रहः ।
सिद्धगन्धर्वदेवांश्च वशी कुर्यान्न [illegible]यः ।।४२।।

इसी प्रकार तन्मय होकर पञ्च बाण-बीजों ([illegible]ं-[illegible]ं-क्लीं-ब्लूं-स:) से शक्ति-आयुधों की साधना करने से सिद्धों-गन्धर्वों और देवताओं को वशीभूत किया जा सकता है ।।४२।।

विमर्श—इन श्लोकों का फलितार्थ यह है कि शैव-आयुधों की साधना से स्त्रियाँ और शाक्त-आयुध मन्त्रों की साधना से पुरुष-वर्ग वशीभूत होता है। आयुध साधना के लिये आयुध-मन्त्र के आदि में शक्ति बाण बीज और उनके बाद शिव बाण बीजों की योजना करनी चाहिए। इन आयुधों की साधना करने से दिव्य-साधकों को क्या-क्या सिद्धियाँ मिलीं, उसका निरूपण अगले दो श्लोकों में किया गया है।

एतामाराध्य देवेशि कामः सौभाग्यसुन्दरः ।
हरिश्च परमेशानि त्रिपुरासाधनात्प्रिये ।।४३।।

त्रैलोक्यमोहनो भूत्वा स्थितिकर्ताऽभवत्सदा ।
एतत्समाराधनेन ब्रह्मा सृष्टिकरोऽभवत् ।।४४।।
चन्द्रसूर्यौ वरारोहे सृष्टिसंहारकारकौ ।।४५।।

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे त्रिपुराबीजत्रयसाधन-
विधिर्नामैकोनविंशः पटलः ।।१९।।

हे देवेशि ! भगवती त्रिपुरा के पाश-अंकुश-धनुष-बाण' इन चार-आयुधों की समाराधना करके भगवान् कामदेव सर्वाङ्ग सुन्दर बन जाये। हे प्रिये ! इनकी आराधना से भगवान् विष्णु तीनों लोकों को मोहित कर ब्रह्माण्ड के स्थिति कर्ता हो गये। उनकी ही आराधना करके ब्रह्मा जी सृष्टि-कर्त्ता बन गये और इनकी ही कृपा से चन्द्रमा और सूर्य सृष्टि-संहार-कारक बन गये ।।४३-४४।।

श्री ज्ञानार्णव नित्या तन्त्र में 'त्रिपुराबीजत्रयसाधनविधि' नामक
उन्नीसवें पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ।।१९।।

अथ विंशः पटलः

श्रीत्रिपुरा जप-होम विधान

श्रीदेव्युवाच

जपहोमविधिं ब्रूहि येन विघ्नं विनाशयेत्।
साधकानां हिताय त्वं वद शंकर सुव्रत ॥१॥

श्री देवी ने कहा—हे शंकर ! हे सुव्रत ! अब आप साधकों के हित के लिये भगवती त्रिपुरा के उस उत्तम जप और होम विधि का निरूपण कीजिये, जिससे समस्त विघ्नों का नाश हो जाता है ॥१॥

विमर्श—'जप' अर्थात् मन्त्र का जप और 'होम' अर्थात् मन्त्र उच्चारण पूर्वक इष्ट-देवता के लिये हव्य-वाह अग्नि में हवन-सामग्री का आहुति-प्रदान रूप उत्सर्ग 'कर्म-काण्ड' के भाग हैं। यद्यपि इष्ट-देवता के प्रति साधक की अनन्य-निष्ठा और भक्ति ही फलदायिनी होती है, परन्तु साधना में कर्म-काण्ड की विहित विधि का उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि विधि का उल्लंघन करने से अथवा विधि का त्याग कर देने से साधना का फल नहीं मिलता। अतः कर्म-काण्ड की विधि का ज्ञान और तदनुसार 'साधना' करना अनिवार्य है।

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि जपहोमविधिं प्रिये।
चक्रं समर्चयेद्देवि सकलं नियतव्रतः ॥२॥

ईश्वर ने कहा—हे देवि ! हे प्रिये ! अब मैं जप-होम का विधान बता रहा हूँ, उसे ध्यान से सुनिये ! हे प्रिये ! साधक को नियत-व्रत होकर अर्थात् व्रत की दीक्षा लेकर संकल्प पूर्वक सकल-चक्र अर्थात् सम्पूर्ण श्री 'श्रीचक्र' का अर्चन करना चाहिए। सम्पूर्ण चक्र का अर्थ है—भगवती के पूजन सहित चक्र के समस्त आवरणों में विराजित भगवती की रश्मि रूप चक्र-देवताओं का अर्चन और तर्पण ॥२॥

बाह्यं मध्यगतं वाऽपि मध्यं वा चक्रमर्चयेत्।
उपचारैः समाराध्य सहस्रं प्रजपेच्छुचिः ॥३॥

यदि जप का संकल्प लेकर साधना करने वाला साधक नित्य-प्रति समग्र-चक्र की पूजा करने में असमर्थ है तो उसे समस्त उपचारों से मध्य-चक्र की पूजा करनी चाहिए और अर्चन के बाद मन्त्र का एक हजार जप करना चाहिए ॥३॥

तदग्रे संस्थितो मन्त्री तदनन्तफलं भवेत्।
ध्यात्वाऽथ वा चक्रराजमत्र पूजासमन्वितम्॥४॥
जपारम्भं सुधीः कुर्यान्महापातकहा भवेत्।
निगदेनोपांशुना वा मानसेनाथ वा जपेत्॥५॥

यदि मन्त्र-साधक पूजा किये गये चक्र के सामने भगवती का ध्यान करते हुए निगद-उपांशु अथवा मानस विधि से जप करता है तो उसके बड़े से बड़े पाप कट जाते हैं॥४-५॥

मन्त्र जप की विधियाँ–

निगदः परमेशानि स्पष्टवाचा निगद्यते।
अव्यक्तस्तु स्फुरद्वक्त्र उपांशुः परिकीर्तितः॥६॥
मानसस्तु वरारोहे चिन्तनाक्षररूपवान्।

हे परमेशानि ! जो जप स्पष्ट वाणी में किया जाता है, उसे 'निगद-जप' कहते हैं। जिस जप में मुख (अर्थात् ओष्ठ और जीभ) हिलता रहे परन्तु वाणी अव्यक्त (अस्पष्ट) हो, वह 'उपांशु' जप है। हे वरानने ! जिस जप में न तो ओंठ हिलें और न मन्त्र का अस्पष्ट उच्चारण भी सुनाई दे, अपितु मन्त्र का मन में ही चिन्तन चलता रहे, वह 'मानस' जप है॥६-७॥

निगदेन तु यज्जप्तं लक्षमात्रं वरानने॥७॥
उपांशुस्मरणेनैव तुल्यं भवति शैलजे।
उपांशु लक्षमात्रं तु यज्जप्तं कमलेक्षणे॥८॥
मानसोच्चारणात्तुल्यमेकेन परमेश्वरि।

हे शैलजे ! निगद-स्वरूप से मन्त्र का एक लाख जप करने का जो फल है वह 'उपांशु' स्वरूप से मन्त्र का एक बार जप करने के फल के समतुल्य है। 'उपांशु' विधि से मन्त्र का एक लाख बार जप करने का जो फल है, वह 'मानस' स्वरूप से 'मन्त्र' का एक बार जप करने के फल के बराबर है॥८-९॥

मन्त्र जप के विविध-फल–

मुद्रासंनद्धदेहः सम्पूर्वोक्तध्यानयोगतः॥९॥
लक्षमात्रं जपेद्यस्तु महापापैः प्रमुच्यते।

लक्षद्वयेन पापानि सप्तजन्मभवान्यपि ॥१०॥
महापातकमुख्यानि नाशयेन्नात्र संशयः ।

यथा विहित आसन में बैठकर यथा-निर्दिष्ट मुद्रा-प्रदर्शनपूर्वक और भगवती त्रिपुरा का यथा-निरूपित ध्यान करते हुए इष्ट-मन्त्र का एक लाख जप करने से महापापों से छुटकारा मिल जाता है । दो लाख जप करने से सात जन्मों के पाप कट जाते हैं और साधक महापातकों से मुक्त हो जाता है ॥१०-११॥

ततो लक्षत्रयं जप्त्वा यस्तु मन्त्रं कुलेश्वरि ॥११॥
महापातककोटीस्तु नाशयेन्नात्र संशयः ।
चतुर्लक्षं जपेद्देवि स हि वागीश्वरो भवेत् ॥१२॥

हे कुलेश्वरि ! मन्त्र का तीन लाख जप करने से करोड़ों महापातक नष्ट हो जाते हैं । चार लाख जप करने से साधक वागीश्वर बन जाता है ॥१२॥

कुबेर इव देवेशि पञ्चलक्षान्न संशयः ।
षड्लक्षजपमात्रेण महाविद्याधरो भवेत् ॥१३॥

हे देवेशि ! इष्ट-मन्त्र का पाँच लाख जप करने से साधक कुबेर के समान सम्पन्न और छै लाख जप करने से महाविद्याधर हो जाता है ॥१३॥

सप्तलक्षजपान्मन्त्री खेचरीमेलको भवेत् ।
अष्टलक्षजपान्मन्त्री देवपूज्यो भवेन्नरः ॥१४॥
अणिमाद्यष्टसिद्धीनां नायको भवति प्रिये ।
वशगास्तस्य राजनो योषितस्तु विशेषतः ॥१५॥

सात लाख जप करने से साधक को खेचरी-सिद्धि मिलती है । आठ लाख जप करने से साधक देव पूज्य हो जाता है । उसे अणिमा आदि अष्ट-सिद्धियाँ मिल जाती है । सभी राजे-महाराजे उसके वश में आ जाते हैं । स्त्रियाँ तो विशेष रूप से उसकी वशवर्तिनी हो जाती हैं ॥१४-१५॥

नवलक्षप्रमाणम् **तु जपेत्त्रिपुरसुन्दरीम् ।**
रुद्रमूर्तिः स्वयं कर्ता हर्ता साक्षान्न संशयः ॥१६॥
सर्ववन्द्यः सदा सर्वस्वस्थः सौभाग्यभाग्भवेत् ।

हे देवि ! भगवती त्रिपुर-सुन्दरी के मन्त्र का ९ (नौ) लाख जप करने से साधक स्वयं रुद्र-स्वरूप होकर कर्ता-धर्ता, सर्व-वन्द्य, पूर्ण स्वस्थ एवं सर्वसौभाग्य युक्त हो जाता है ॥१६-१७॥

जप करने के प्रशस्त-स्थान

यत्र वा कुत्रचिद्भागे लिङ्गं यत्पश्चिमामुखम् ॥१७॥
स्वयंभूबाणलिङ्गं वा वृषशून्यं जलस्थितम् ।
पश्चिमायतनं चापि इतरद्वाऽपि सुव्रते ॥१८॥

जिस मन्दिर में पश्चिमाभिमुख शिव-लिङ्ग स्थापित हो, अथवा स्वयम्भूलिङ्ग अथवा बाणलिङ्ग प्रतिष्ठित हो, जल का प्रवाह हो, अथवा पश्चिमआयतन अथवा अन्य आयतन वाला वृषशून्य शिवालय 'जप' करने के लिये प्रशस्त हैं ॥१८॥

शक्तिक्षेत्रेषु गङ्गायां नद्यां पर्वतमस्तके ।
पवित्रे सुस्थले देवि जपेद्विद्यां प्रसन्नधीः ॥१९॥
तत्र स्थित्वा जपेल्लक्षं साक्षाद्देवीस्वरूपकः ।
ततो भवति विद्येयं त्रैलोक्यवशकारिणी ॥२०॥

हे देवि ! सभी शक्ति क्षेत्रों में, भगवती भागीरथी गंगा के तट पर, पर्वत-शिखर पर अथवा अन्य सुपवित्र-स्थान में देवी-स्वरूप होकर प्रसन्नतापूर्वक अर्थात् भय, चिन्ता, आशंका मुक्त होकर तद्गत चित्त होकर एक लाख जप करने से यह विद्या त्रैलोक्य वशकारिणी होती है ॥१९-२०॥

एवं जपेद्यथाशक्ति होमकर्म समारभेत् ।
किंशुकैर्हवनं कुर्याद्दशांशेन वरानने ॥२१॥
कुसुम्भकुसुमैर्देवि मधुत्रयविमिश्रितैः ।
विधिनोक्तप्रकारेण विघ्नौघं नाशयेत्क्षणात् ॥२२॥
सर्वकामप्रदा राज्यभुक्तिमुक्तिफलप्रदा ।
कुण्डं विरच्य विधिवत्सर्वलक्षणलक्षितम् ॥२३॥

ऐसे प्रशस्त स्थानों में यथा-शक्ति मन्त्र जप करने के बाद सर्वलक्षण युक्त कुण्ड का निर्माण करके हवन करना चाहिए। हे वरानने ! जप के बाद जप-संख्या का दशांश पलाश-पुष्पों से हवन करना चाहिए।

अथवा त्रिमधु (घृत, शर्करा एवं मधु) मिश्रित कुसुम्भ-कुसुमों से विधि-पूर्वक होम करने से विघ्नों के समूह नष्ट हो जाते हैं। सभी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। यथा अभिलषित राज्य-सुख और मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥२१-२३॥

विविध-कुण्डों का फल

योनिकुण्डं वाक्प्रदं स्यादाकृष्टिकरणं भगम्।
लक्ष्मीप्रदं वर्तुलं स्याच्चन्द्रार्धे हि त्रयं भवेत्॥२४॥

अब विविध-आकार वाले कुण्डों में हवन करने के पृथक्-पृथक् फलों का निरूपण किया जा रहा है। यथा—

योनि-कुण्ड में हवन करने से वाक् सिद्धि मिलती है।

भगाकार कुण्ड में हवन करने से आकर्षण-शक्ति की प्राप्ति होती है।

लक्ष्मी प्राप्ति के लिये वर्तुल (गोल) कुण्ड प्रशस्त है। अर्ध चन्द्र के आकार वाला कुण्ड उपर्युक्त तीनों प्रकार के फल देता है॥२४॥

नवत्रिकोणकुण्डं तु खेचरीसिद्धिदायकम्।
चतुरस्रं शान्तिलक्ष्मीपुष्टिवृद्ध्यम्बुकारणम्॥२५॥
षडस्रं सर्वसंपत्तिधनसौभाग्यवर्धनम्।
पद्माङ्कं सर्वसंपत्तिकारणं सुरवन्दिते॥२६॥

नवत्रिकोण कुण्ड में हवन करने से खेचरी सिद्धि मिलती है। चतुरस्र कुण्ड शांति-कर्म, पुष्टि-कर्म, लक्ष्मी-वृद्धि एवं अम्बु-वृष्टि के लिये प्रशस्त हैं। षडस्र (६ कोणों वाला) कुण्ड में हवन करने से धन-सम्पत्ति और सौभाग्य की वृद्धि होती है। पद्म के आकार का कुण्ड सर्व-सम्पत्ति दायक हैं॥२५-२६॥

अष्टपत्रं वरारोहे समीहितफलप्रदम्।
एतानि सर्वकार्याणि चतुरस्रे भवन्ति हि॥२७॥

हे वरारोहे! अष्ट-पत्र कुण्ड अभिलषित फल प्रदान करने वाला है। चतुरस्र (चौकोर) कुण्ड में हवन करने से ये सभी कार्य अर्थात् मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं॥२७॥

विमर्श—विभिन्न विभिन्न प्रयोजनों की सिद्धि के लिये विविध-विविध आकार के कुण्ड प्रशस्त हैं। यद्यपि चौकार-कुण्ड को सभी प्रयोजनों के लिये विहित बताया गया है—मगर यह सामान्य उक्ति है। विशिष्ट कामना की सिद्धि के लिये यथा विहित आकार के कुण्ड में हवन करना अधिक प्रशस्त एवं समीचीन है।

चतुरस्र कुण्ड का निर्माण-विधान

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि चतुरस्रस्य लक्षणम्।
चतुरस्रं समं हस्तमात्रं विरचयेत्सुधीः॥२८॥

हे देवि ! अब मैं चतुरस्र (चौकोर) कुण्ड का लक्षण बता रहा हूँ । बुद्धिमान् साधक को मेखला सहित चतुरस्र कुण्ड का निर्माण करना चाहिए जो एक हाथ लम्बा और एक हाथ चौड़ा होना चाहिए ।।२८।।

मेखलासहितं देवि शृणु लक्षणमुत्तमम् ।
पञ्चदशाङ्गुलं खातं रमणींय यथा भवेत् ।।२९।।

चतुरस्र कुण्ड का खात (गहराई) पन्द्रह अंगुल होना चाहिए । इस कुण्ड को सुन्दर दिखना चाहिए अर्थात् मेखला युक्त यह कुण्ड बेडौल नहीं बनाना चाहिए ।।२९।।

कण्ठदेशेऽङ्गुलं त्यक्त्वा नवाङ्गुलसमुन्नता ।
षडङ्गुलप्रविस्तारा मेखला प्रथमा भवेत् ।।३०।।
द्वितीया मेखला देवि चतुरङ्गुलविस्तरा ।
सप्ताङ्गुलोच्चा कर्तव्या तृतीया मेखला ततः ।।३१।।
पञ्चाङ्गुलोच्चा देवेशि विस्तारे द्व्यङ्गङ्गुला भवेत् ।
वेदाग्निपक्षविस्तारा कर्तव्या मेखला प्रिये ।।३२।।

अब कुण्ड पर मेखला-निर्माण की विधि बता रहे हैं । कुण्ड के कण्ठ-देश में एक-एक-अंगुल भूमि-भाग छोड़कर 'मेखला' बनानी चाहिए । पहिली मेखला नौ (९) अंगुल ऊँची और ६ छै (६) अंगुल चौड़ी होनी चाहिए । दूसरी मेखला सात (७) अंगुल ऊँची एवं चार (४) अंगुल चौड़ी तथा तीसरी मेखला पाँच (५) अंगुल ऊँची एवं दो (२) अंगुल चौड़ी बनानी चाहिए विकल्पतः प्रथम द्वितीय और तृतीय मेखला की चौड़ाई क्रमशः ४ अंगुल, ३ अंगुल और ३ अंगुल रखनी चाहिए ।।३०-३२।।

कर्तव्यमथ वा खातं द्वादशाङ्गुलसंमितम् ।
द्वादशाष्टतदर्धैस्तु मेखला देवि कारयेत् ।।३३।।
चतुरङ्गुलमायामो तथा चैवोच्चता भवेत् ।
कुण्डस्य पश्चिमे भागे योनिं कुर्यात्सुलक्षणम् ।।३४।।

चतुरस्र कुण्ड का दूसरा नाप बता रहे हैं । हे देवि ! इसके अनुसार कुण्ड का खात (गहराई) बारह अंगुल हो । इस कुण्ड पर क्रमशः बारह (१२), आठ (८) और चार (४) अंगुल चौड़ी मेखला बनायें । एक मेखला पक्ष में चार (४) अंगुल चौड़ी और चार (४) अंगुल ऊँची मेखला बनानी चाहिए । मेखला बनाने के बाद कुण्ड की पश्चिम दिशा में सुलक्षणा 'योनि' बनानी चाहिए ।।३३-३४।।

द्वादशाङ्गुलदीर्घां तु तथाऽष्टाङ्गुलविस्तराम्।
अश्वत्थपर्णरूपां तु त्रिकोणां वा विचक्षणः ॥३५॥

योनि की लम्बाई बारह (१२) अंगुल और चौड़ाई आठ (८) अंगुल होती है। यह योनि या तो पीपल के पत्ते के आकार की अथवा त्रिकोणाकार बनाई जानी चाहिए ॥३५॥

अथ चैकतमे पक्षे शृणु वक्ष्ये हि लक्षणम्।
अष्टादशाङ्गुलं खातं कुण्डं कुर्याद्विचक्षणः ॥३६॥
चतुरङ्गुलविस्तारा षडङ्गुलसमुन्नता।
मेखला पूर्ववत्कार्या योनिश्चापि तथा भवेत् ॥३७॥

अब एक अन्य मत (नाप) के अनुसार कुण्ड का लक्षण बता रहा हूँ। कुण्ड का खात (गहराई) अठारह (१८) अंगुल हो। उस पर चार अंगुल चौड़ी और छै (६) अंगुल ऊँची मेखला बनाकर पूर्वोक्त नाप एवं आकार की योनि बनानी चाहिए ॥३६-३७॥

चतुर्विंशाङ्गुलं कुण्डं त्रिकोणं परितः पृथक्।
खातं तु पूर्ववत्कुर्यात्कण्ठे हित्वाऽङ्गुलं तथा ॥३८॥
पूर्ववन्मेखलाः कार्या एकाऽपि च तथा भवेत्।
योनिस्तद्वन्महेशानि त्रिकोणं परिकीर्तितम् ॥३९॥

इसके (चतुरस्र-कुण्ड) अतिरिक्त त्रिकोणाकार कुण्ड बनाना चाहिए। इस कुण्ड की प्रत्येक भुजा चौबीस (२४) अंगुल की हो। खात (गहराई) पूर्ववत् होनी चाहिए। कुण्ड के कण्ठ-प्रदेश में एक-एक अंगुल भूमि भाग छोड़कर पूर्ववत् मेखला बनानी चाहिए। इस कुण्ड में केवल एक मेखला होती है। योनि भी उपर्युक्त आकार एवं नाप की बनानी चाहिए ॥३८-३९॥

चतुरस्रेण कुण्डेन समं कुण्डं यथा भवेत्।
तथा परिमितं कुर्यात्त्रिकोणादिकमद्रिजे ॥४०॥

चतुरस्र (चौकार) कुण्ड चारों ओर बराबर होना चाहिए अर्थात् चौकोर कुण्ड वर्गाकार होता है, आयताकार नहीं। हे अद्रिजे ! त्रिकोण कुण्ड चौकोर कुण्ड से छोटा बनाना चाहिए ॥४०॥

योनिकुण्डं योनिरूपं भगाङ्कं भगरूपकम्।
कुर्यात्त्रिकोणवद्देवि चतुरस्रस्य संख्यया ॥४१॥

चतुर्हस्तमितं सूत्रं वर्तुलाकृति योजयेत् ।
वर्तुलं रचयेत्तेन खननं पूर्ववद्भवेत् ॥४२॥

हे देवि ! योनि कुण्ड योनि के आकार का, भग-कुण्ड भग के आकार का, और त्रिकोण कुण्ड त्रिकोणकाार बनाना चाहिये । चतुरस्त्र कुण्ड चारों ओर से नापने पर चार-हाथ का होना चाहिए अर्थात् उसकी प्रत्येक भुजा एक-एक हाथ लम्बी बनानी चाहिए । वर्तुल (गोल) कुण्ड सूत्र की सहायता से गोलाकार बनाया जाये । उसकी गहराई (खात) पूर्ववत् होती है ॥४१-४२॥

मेखला पूर्ववद्योनिस्तथैव परिकीर्तिता ।
अर्धचन्द्रं तु कुण्डं हि परिवेषक्रमेण च ॥४३॥
चतुर्हस्तमितं कुर्यादर्धचन्द्रं तथा भवेत् ।
मेखला योनिसहिता पूर्ववत्परमेश्वरि ॥४४॥

उपर्युक्त कुण्डों पर बनाई जाने वाली मेखला और योनि का नाप पूर्ववत् रखना चाहिए ।

अर्धचन्द्र कुण्ड गोले की आकृति में चार हाथ का इस तरह बनाना चाहिए कि वह अर्ध-चन्द्र के समान दिखाई दे । योनि और मेखला का नाप पूर्ववत् हैं ॥४३-४४॥

नवत्रिकोणकुण्डं तु कथयामि वरानने ।
मध्यचक्रेण सदृशं कुण्डं कुर्याद्विचक्षणः ॥४५॥
मध्यत्रिकोणं देवेशि त्रिकोणमिव पूर्ववत् ।
मेखलारहितं तेन नवकोणं यथा भवेत् ॥४६॥

हे वरानने ! अब 'नव-त्रिकोण कुण्ड' के निर्माण की विधि बता रहा हूँ विचक्षण साधक मध्य-चक्र के सदृश्य कुण्ड का निर्माण करे । फिर मध्य-त्रिकोण को पूर्ववत् त्रिकोण के समान इस प्रकार मेखला-रहित बताये कि नव-त्रिकोण बन जाये ॥४५-४६॥

संधिभेदक्रमेणैव ततः कोणाष्टकं भवेत् ।
खनेत्तत्तत्प्रकारेण गणितेन यथाक्रमम् ॥४७॥
मेखलाः पूर्वत्कार्यास्त्यक्त्वा कण्ठेऽङ्गुलं क्रमात् ।
योनिस्तथैव रचयेत्सर्वसौभाग्यवर्धनी ॥४८॥

ऐसा करने से सन्धि-भेद के क्रम से और आठ कोण बन जायेंगे । इसके बाद गणित के क्रम से अर्थात् नाप-नाप कर कुण्ड खोदना चाहिए । इस नव-त्रिकोण कुण्ड

पर कण्ठ स्थान से एक अंगुल भूमि भाग छोड़कर पूर्ववत् मेखला और सर्व-सौभाग्य-वर्धिनी योनि का निर्माण करना चाहिए ।।४७-४८।।

अष्टपत्रं महेशानि कमलाकृति संभवेत् ।
चतुरस्रस्य मानेन यथा चाष्टदलं भवेत् ।।४९।।
एकत्र खननं चास्य कुर्यान्नेत्रसुखप्रदम् ।
मेखला पूर्ववत्कार्या पद्माकृतिसुखावहा ।।५०।।
योनिस्तथैव देवेशि कुर्यात्सर्वसमृद्धये ।
एवं विरच्य कुण्डं हि होमं कुर्याद्विचक्षणः ।।५१।।

हे महेशानि ! अष्ट पत्र कुण्ड कमल के आकार का होता है । इसका माप चौकोर-कुण्ड के समान होता है । चतुरस्र को इस प्रकार विभाजित करना चाहिए कि वह अष्ट दल कमल के समान दिखाई दे । इस कुण्ड में केवल एक ही स्थान में खनन करना चाहिए । मेखला का मान चतुरस्र कुण्ड की मेखला के बराबर रखा जाता है, परन्तु मेखला की आकृति कमल के समान होती है । इस कुण्ड पर भी पूर्ववत् 'योनि' का निर्माण करना चाहिए । हे देवेशि ! विचक्षण साधक को चाहिए कि वह इस तरह कुण्ड का निर्माण करके उसमें हवन करे ।।४९-५१।।

कूर्म-चक्र और दीप-स्थान

दीपस्थानं समाश्रित्य कुण्डस्य रचना भवेत् ।
वर्तुलं रचयेद्देवि कूर्माकृति सुलोचने ।।५२।।

हे सुलोचने ! सर्व-प्रथम दीप-स्थान का विचार करके 'कुण्ड' का निर्माण किया जाना चाहिए । दीप-स्थान के निर्धारण के लिये कूर्म-चक्र बनाना चाहिए । यह चक्र कूर्म (कछुवें) के आकार का बनाया जाता है ।।५२।।

तन्मध्ये नव कोष्ठानि कृत्वा वर्णान्समालिखेत् ।
मध्यकोष्ठे क्षेत्रनाम ततोऽन्यत्र समालिखेत् ।।५३।।

उस कूर्माकृति के मध्य में नौ (९) कोष्ठक बनाकर उनमें वर्णों को लिखे । मध्य-भाग में क्षेत्र का नाम लिखकर अन्यत्र वर्णों को लिखना चाहिए ।।५३।।

स्वरयुग्मं क्रमेणैव दिक्षु चाष्टसु योजयेत् ।
अवर्गः कथितो देवि कवर्गादिकसप्तमम् ।।५४।।
पूर्वादिक्रमतो देवि कुबेरान्तं ततो लिखेत् ।
लक्षवर्णौ शंभुकोणे विलिखेत्कूर्मसंज्ञके ।।५५।।

आठों दिशाओं में प्रत्येक कोष्ठक में दो दो के क्रम से अकारादि १६ स्वर-वर्ण लिखे। फिर पूर्व से प्रारम्भ करके उत्तर कोष्ठक पर्यन्त सात कोष्ठकों में 'क' वर्ग आदि सप्त-वर्ग (प्रत्येक कोष्ठ में एक वर्ग) लिखे। 'ळ'कार और 'क्ष'कार को ईशान-कोण वर्ती कोष्ठक में लिखना चाहिए ॥५४-५५॥

यस्मिन्कोष्ठे क्षेत्रनाम तन्मुखं विद्धि पार्वति।
मुखस्य पार्श्वयोः पाणियुग्मं जानीहि पार्वति ॥५६॥
ततः पार्श्वद्वयं कुक्षिस्थानं हि सुरवन्दिते।
ततः पादद्वयं विद्धि चान्ते पुच्छं प्रकीर्तितम् ॥५७॥

हे पार्वति ! जिस कोष्ठक में क्षेत्र का नाम (नाम का प्रथम-वर्ण) आता हैं उसे कूर्म का मुख समझना चाहिए। मुख के दोनों ओर हाथ, उसके बगल में कुक्षि-स्थान, इनके बाद (नीचे की ओर) पैर और अन्त भाग को पूँछ समझना चाहिए ॥५६-५७॥

मुखे कार्याणि सिध्यन्ति मनोरथशतानि हि।
करस्थाने महाक्लेशः सर्वकार्यविनाशकृत् ॥५८॥
उदरे दुःखमधिकं पादयोर्हानिरुच्यते।
पुच्छे तु धनहानिश्च जायते नान्यथा भवेत् ॥५९॥

मुख-स्थान पर बैठकर साधना करने से सभी कार्य सिद्ध होते हैं। जिस भाग में कछुवे के हाथ का भाग पड़ता है, वहाँ साधना करने से महाक्लेश होता है जिससे सभी कार्य बिगड़ जाते हैं। उदर स्थान में बैठकर साधना करने से बहुत दुःख, पैरों में हानि और पुच्छ स्थान में बैठकर जप या हवन करने से धन-हानि होती हैं ॥५८-५९॥

दीपस्थानं मया प्रोक्तं त्रिषु लोकेषु दुर्लभम्।
दीपस्थानं पुरे पश्येद्ग्रामे वा विषयेऽपि वा ॥६०॥
यत्र कुत्रापि वा पश्येत्कार्यसिद्धिर्भवेत्प्रिये।
क्षेत्राधिपस्य नाम्ना हि दीपस्थानं विचारयेत् ॥६१॥

हे देवि ! मैंने आपसे दीप-स्थान के निर्धारण की विधि बताई जो तीनों लोकों में दुर्लभ है। नगर या ग्राम में साधना करने के समय दीप-स्थान का अनिवार्यतः विचार किया जाना चाहिए। जिस कोष्ठक में क्षेत्र (ग्राम या नगर) का नाम (नाम का प्रथम-अक्षर) पड़ता है, उसको दीप-स्थान कहते हैं ॥६०-६१॥

दीपस्थाने जपं कुर्याद्धोमं च फलदं सदा।
कुण्डं सुलक्षणं कुर्यादीशाने मण्डपस्य च ॥६२॥

इस दीप स्थान पर ही सदैव जप या होम करना चाहिए। ऐसा करने से ही साधना सफल होती है। कुण्ड का निर्माण याग-मण्डप के ईशान-भाग में किया जाना चाहिए ॥६२॥

विमर्श—ग्रन्थान्तर के अनुसार वन या पर्वत-शिखर में अथवा गंगा-तट पर साधना करते समय कूर्म-चक्र का विचार नहीं किया जाता।

स्थण्डिल-विधान

अङ्गुष्ठपर्वमात्रोच्चं वालुकामण्डलं कुरु।
गोमयेन च संलिप्तभूम्यां सुस्थलरूपकम् ॥६३॥

बालू (रेत) से अंगूठे के बराबर ऊँचाई वाला मण्डल बनाकर उसे गोमय (गोबर) के लीप लेना चाहिए ॥६३॥

विमर्श—कुण्ड बनाने के लिये पर्याप्त स्थान न हो अथवा यथा शास्त्रोक्त विधि एवं प्रमाण से कुण्ड का निर्माण करने में असमर्थ होने पर हवन करने के लिये 'स्थण्डिल' बनाने का शास्त्र-अनुमोदित विकल्प है। यथा-विधि कुण्ड का निर्माण न होने पर अशास्त्रीय-कुण्ड में हवन करने से अत्यन्त हानि होती है। अतः कतिपय-ग्रन्थों में कुण्ड के बजाय 'स्थण्डिल' पर हवन करने को प्राथमिकता दी गई है। उपर्युक्त श्लोक में 'स्थण्डिल' बनाने की विधि बताई गई है। यह स्थण्डिल चौकोर कुण्ड के समान एक-एक हाथ लम्बा-चौड़ा बनाया जाता है।

हवन-विधि

तत्र चोल्लेखनं कुर्यात्त्रिरेखाः पश्चिमाः क्रमात्।
पूर्वाग्रे विलिखेत्पश्चात्तिस्रो रेखाः प्रदक्षिणाः ॥६४॥
उत्तरान्तास्ततो देवि लेखनीं तत्र संक्षिपेत्।
प्रोक्षणं च ततः कृत्वा सिन्दूरेण ततः परम् ॥६५॥

बालू से बनाई गई उक्त स्थण्डिल (वेदी) पर पूर्व से पश्चिम तीन (समानान्तर) रेखायें खीचें। इसके बाद दक्षिण से उत्तर की ओर तीन रेखायें खींच कर लेखनी को वही स्थापित कर दे। इसके बाद लेखनी का प्रोक्षण करे ॥६४-६५॥

कुङ्कुमेनाथ वा देवि कर्पूररजसाऽथ वा।
चूर्णेन वा हरिद्राया धान्यपिष्टेन वा प्रिये ॥६६॥

त्रिकोणं चैव षट्कोणं वसुपत्रं समालिखेत् ।
चतुरस्त्रं चतुर्द्वारमेवं मण्डलमालिखेत् ।।६७।।

हे देवि ! उस पर सिन्दूर, कुंकुम, कपूर या हल्दी के चूर्ण अथवा चावल के आटे से त्रिकोण, षट्कोण, अष्ट दल कमल और चतुर्द्वार युक्त चतुरस्त्र मण्डल बनाना चाहिए ।।६६-६७।।

मध्ये पुष्पं विनिक्षिप्य त्रिपुरेश्या वरानने ।
ततः स्रुवादिपात्राणां पवित्रीकरणं यजेत् ।।६८।।

इस मण्डल के मध्य त्रिकोण में भगवती त्रिपुरेशी को पुष्प समर्पित करके, हे वरानने ! स्रुवा आदि पात्रों का पवित्रीकरण करना चाहिए ।।६८।।

इध्मदूर्वाश्च दर्भाश्च द्विधा कृत्वा वरानने ।
आज्यस्थालीं चरुस्थालीं स्थापयेद्युग्मभेदतः ।।६९।।

इसके बाद समिधा, दूर्वा, दर्भ (कुश) को अलग-अलग दो भागों में विभक्त कर आज्य-स्थाली (घृत-पात्र) और चरु-स्थाली (चरु बनाने का बर्तन) को अलग-अलग स्थापित करे ।।६९।।

स्रुवं स्रुचं ततः पश्चात्प्रणीतां प्रोक्षणीं क्रमात् ।
द्वंद्वशः परमेशानि स्थापयाधोमुखानि च ।।७०।।

तत्पश्चात् स्रुव और स्रुचा एवं प्रणीता और प्रोक्षणी पात्रों को दो-दो कर अलग-अलग अधोमुख स्थापित करें ।।७०।।

अर्घ्यपात्रस्थमुदकं गृहीत्वा प्रोक्षणीं यजेत् ।
त्रिधा चोत्पवनं कृत्वा प्रोक्षयेत्तेन वारिणा ।।७१।।
तानि सर्वाणि पात्राणि पवित्रीकरणं भवेत् ।
उन्मुखानि ततः कृत्वा बालया चाभिमन्त्रयेत् ।।७२।।

पहिले अर्घ्य-पात्र का जल लेकर प्रोक्षणी का पवित्रीकरण करे । तीन बार उत्पवन (ऊपर उठाते हुए) करते हुए उस जल से पूर्व स्थापित सभी यज्ञीय-पात्रों का पवित्रीकरण करे । फिर प्रोक्षणी को अपने सामने रखकर उसे बाला के मन्त्र से अभिमन्त्रित करे ।।७१-७२।।

परिस्तीर्य च दूर्वाभिः कुण्डस्य परितः प्रिये ।
पूर्वाग्रमुत्तराग्रं च परिस्तरणमुच्यते ।।७३।।
स्रुवं गृहीत्वा वामेन करेण सुमुखं ततः ।
दर्भाङ्कुरेण तद्वक्त्रं पश्चिमात्पूर्वदिशतः ।।७४।।

त्रिवारं परिमृज्याथाधस्तत्करणमानयेत् ।
उपरिष्टात्ततो देवि यावद्वक्त्रं तु मन्त्रयेत् ॥७५॥
बालयाऽथ वरारोहे पवित्राणि भवन्ति हि ।
मूलविद्यां समुचर्य कुण्डाय नम आलिखेत् ॥७६॥
अनेन मनुना देवि कुण्डं संपूजयेत्सुधीः ।

इसके बाद कुण्ड (या स्थण्डिल) के चारों ओर दूर्वा को पूर्वाग्र और उत्तराग्र क्रम से विखेरते हुए स्थापित कर दे । इसे परिस्तरण कहते हैं । फिर सुन्दर मुख वाले स्रुवा को बायें हाथ में पकड़ कर दर्भांकुर से पश्चिम से पूर्व (अर्थात् पीछे से आगे मुख की ओर) पर्यन्त तीन बार उसके मुख का परिमार्जन करे । उसके बाद उसे नीचे की ओर लटका कर ऊपर से नीचे की ओर मुख पर्यन्त उसको बाला के मन्त्र से अभिमन्त्रित करे । इसके बाद 'मूल-मन्त्र' का उच्चारण करते हुए 'कुण्डाय नमः' का उच्चारण करते हुए कुण्ड का पूजन करे ॥७३-७७॥

विमर्श—'मूल-मन्त्र' अमुक देवतायाः कुण्डाय नमः'

कामेश्वरीं कुण्डमध्ये सकामामृतुसंयुताम् ॥७७॥
समावाह्य च सम्पूज्य तद्गर्भे वह्नि मानयेत् ।
मूलविद्यानेत्रमन्त्रार्णद्वयेन विलोकयेत् ॥७८॥
अस्त्रमन्त्रेण संरक्ष्य संपुटस्थं ततः परम् ।
भ्रामयेत्कुण्डपरितस्त्रिधा दक्षिणतः क्रमात् ॥७९॥
संपुटाग्निखण्डं तु हुंफडन्तेन संत्यजेत् ।
कव्यादंशं कोणभागे राक्षसे वीरवन्दिते ॥८०॥

हे देवि ! इसके बाद ऋतुमती सकामा कामेश्वरी का कुण्ड के मध्य-भाग में आवाहन कर उनके गर्भ में अग्नि की स्थापना करनी चाहिए । इसकी विधि इस प्रकार है । 'मूल-मन्त्र' के साथ नेत्र-मन्त्र (वौषट्) की योजना करके अग्नि का अवलोकन करें । अस्त्र मन्त्र (फट्) से अग्नि की संरक्षा करें । अग्नि को एक सम्पुट में स्थापित करके उसे हाथों में लेकर प्रदक्षिणा क्रम से कुण्ड के ऊपर तीन बार घुमायें । सम्पुटस्थ (मिट्टी के करवा अथवा कांसे की थाली में रखी हुई) अग्नि का कुछ भाग 'क्रव्यादंश' समझकर नैर्ऋत्य कोण में फेंक दे ॥७७-८०॥

विमर्श—'हव्यवाह' और 'क्रव्यवाह' अग्नि के ये दो रूप या भेद हैं । 'हव्यवाह' अग्नि का वह रूप है जो यजमान द्वारा देवता के लिये समर्पित 'हवि' को

देवता तक पहुँचाता हैं। 'कव्यवाह' अग्नि का वह रूप है जो कच्चे-मांस को जलाती है। यह श्मसान-अग्नि है। हवन-कर्म के लिये 'कव्यवाह' ग्राह्य नहीं है। अत: भौतिक अग्नि से 'कव्यवाह' अग्नि को पृथक कर राक्षस आदि की दिशा (नैऋत्य) में फेंक दिया जाता है।

कवचेन च संपूज्य जानुभ्यामवनिं गतः।
कुण्डमध्ये प्रतिष्ठाप्य कामबीजं च वह्नि च ॥८१॥
मूर्तये नम आलिख्य मनुना पूजयेच्छिवाम्।
नाभिमण्डलदेशस्थवहन्नाडीपुटक्रमात् ॥८२॥
ज्ञानाग्निं वाह्यवह्निं च एकीकृत्य प्रपूजयेत्।
मूलविद्यां समुच्चार्य आंसोहमिति चोच्चरेत् ॥८३॥
वह्निचैतन्यमुच्चार्य ङेन्तं हृन्मन्त्रसंयुतम्।
अनेन मनुना गर्भे कामेश्वर्या विचिन्तयेत् ॥८४॥

कवच-मन्त्र (हुं) से अग्नि की पूजा करके धरती पर घुटना टेक कर बैंठे। दोनों हाथों में सम्पुट को उठा कर अग्नि को कुण्ड के मध्य में स्थापित कर दे। इसके बाद 'क्लीं वह्निमूर्तये नम:' से 'शिवा' की पूजा करें। नाभि-मण्डल में रहने वाली अग्नि (ज्ञान-अग्नि) को जिस नांडी से श्वास चल रहा है, उस नथुने से भावना पूर्वक बाहर लाकर उसे वाह्य-अग्नि (कुण्ड में स्थापित अग्नि) से संयोजित करें। ज्ञान-अग्नि और वाह्य-अग्नि को कुण्ड में परस्पर संयोजित करने के बाद गन्धाक्षत से उसकी पूजा करें। 'मूल-मन्त्र' के बाद 'आं सोऽहं' के बाद 'वह्नि चैतन्याय नम:' की योजना करके इस मन्त्र से कामेश्वरी के गर्भ में वह्नि का चैतन्य रूप में चिन्तन करें ॥८१-८४॥

वह्नेर्देहे षडङ्गानि योजयेत्सुरवन्दिते।
सहस्रार्चिः स्वस्तिपूर्ण उत्तिष्ठ पुरुषस्तथा ॥८५॥
धूमव्यापी सप्तजिह्वो धनुर्धर उदाहृतः।
चतुर्थ्यन्तान्षडङ्गेषु योजयेत्कमलेक्षणे ॥८६॥

हे सुरवन्दिते ! इसके बाद अपनी देह में वह्नि का षडङ्ग-न्यास करें। एतदर्थ अग्नि के ६ नामों यथा (१) सहस्रार्चि, (२) स्वस्तिपूर्ण, (३) उत्तिष्ठ पुरुष, (४) धूम्रव्यापिन, (५) सप्तजिह्वा, (६) धनुर्धर के चतुर्थ्यन्त रूपों के साथ षडङ्ग-न्यास के जातियों की योजना करके 'न्यास' मन्त्र बनाये और उन मन्त्रों से षडङ्ग-न्यास करे ॥८५-८६॥

विमर्श—न्यास मन्त्रों का स्वरूप है—(१) सहस्त्रार्चिषे-हृदयाय नमः, (२) स्वस्तिपूर्णाय शिरसे स्वाहा, (३) उत्तिष्ठ पुरुषाय-शिखायै वषट्, (४) धूमव्यापिने कवचाय हुं, (५) सप्तजिह्वाय नेत्र-त्रयाय वौषट्, (६) धनुर्धराय-अस्त्राय फट्।

तारं वैश्वानरप्रान्ते जातवेद इहाऽऽवह।
लोहिताक्ष ततः सर्वकर्माणीति च साधय ॥८७॥
वह्निजायान्वितो मन्त्रो वह्निं सम्यक्समर्चयेत्।
ध्यायेद्वह्निं हेमवर्णं शक्तिस्वस्तिकधारिणम् ॥८८॥
वरदायकशोभाढ्यं सुवर्णवरभूषणम्।
एवमग्निं समभ्यर्च्य तन्मुखे कमलेक्षणे ॥८९॥
षट्कोणं चिन्तयेत्तत्र सप्त जिह्वाः समर्चयेत्।

इसके बाद अग्नि का पूजन करे। तार (ॐ) के बाद 'वैश्वानर' फिर 'जातवेद''इहावह' 'लोहिताक्ष' 'सर्व कर्माणि साधय' वह्नि जाया (स्वाहा) की योजना करने से अग्नि-पूजन का मन्त्र बनता है—ॐ वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय स्वाहा। इस मन्त्र से अग्नि का पूजन करने के बाद अग्नि का ध्यान करे—

श्री अग्निदेव हेम वर्ण के हैं। चतुर्भुज अग्नि देव के दो हाथों में शक्ति और स्वस्तिक और दो हाथों में 'वर'एवं 'अभय' मुद्रायें हैं। वे स्वर्ण के विविध आभूषण धारण किये हुए हैं।

अग्नि का इस प्रकार ध्यान-पूजन करने के बाद उनके मुख में षट्कोण की कल्पना करके उसमें उनकी सप्त (सात) जिह्वाओं का पूजन करना चाहिए ॥८७-९०॥

वह्निवायुं वामकर्णं भूषितं नादबिन्दुना ॥९०॥
अनेन योजयेद्देवि क्रमेण रसनाः प्रिये।
यकारादिसकारान्ता जिह्वाः सप्त भवन्ति हि ॥९१॥

'य'कारादि-'स'करान्त वर्णों के साथ वह्नि (र) वायु (य) वाम-वर्ण (उ) सहित नाद-बिन्दु की योजना करने से अग्नि की 'हिरण्या' आदि सात जिह्वाओं के 'बीज' निष्पन्न होते हैं। यथा—

(१) य्य्रूं, (२) र्य्रूं, (३) ल्य्रूं, (४) ब्य्रूं, (५) श्य्रूं, (६) ष्य्रूं, और (७) स्य्रूं

पद्मरागतप्तहेमवर्णा हि सुरवन्दिते।
हिरण्याख्याः शंभुकोणे पूजयेत्सुरवन्दिते ॥९२॥
वैदूर्याभा सुवर्णा तु कनकाख्या ततः परम्।

पूर्वकोणे समभ्यर्च्य पूजयेद्रुद्रलोहिताम् ॥९३॥
उद्यदादित्यसंकाशां रक्ताख्यां वह्निकोणके ।
नीलां नीलप्रभां देवि कृष्णाख्यां राक्षसे यजेत् ॥९४॥
श्वेतां मुक्ताप्रभां देवि शुभ्राख्यां पश्चिमे यजेत् ।
धूमिनीं पद्मरागाभां वायौ रक्ततरां यजेत् ॥९५॥
करालीं चन्द्रकोट्याभां बहुरूपां तु मध्यगाम् ।
दक्षिणोत्तरभागस्थां पूजयेत्सर्वसिद्धिदाम् ॥९६॥
क्रमेण जिह्वाबीजान्ते नामानि परिपूजयेत् ।

हे सुरवन्दिते ! पद्मराग-तप्त हेमवर्णा हिरण्या नामक जिह्वा की ईशान कोण में पूजा करें। वैदूर्य के समान कान्तिवाली 'कनका' की पूर्व दिशा में, रुद्र के समान लोहित वर्ण उदीयमान सूर्य के समान आभा वाली 'रक्ता' की अग्नि-कोण में, नीला नीलप्रभा कृष्णा की नैर्ऋत्य में, मोती के समान शुभ्र-आभा वाली 'शुभ्रा' की पश्चिम में, पद्मराग के समान आभा वाली धूमिनी की 'वायव्य' में, और करोड़ों चन्द्रमा की आभा वाली 'बहुरूपा' की मध्य में पूजा करें ॥९२-९६॥

'जिह्वा' के बीज-वर्ण के अन्त में जिह्वा के चतुर्थी अन्तवाले नाम के साथ 'नमः' की योजना करने से उनका पूजन-मन्त्र निष्पन्न होता है।

(१) य्रूं हिरण्यायै नमः ईशाने ।
(२) ख्रूं कनकायै नमः पूर्वे ।
(३) ल्रूं रक्तायै नमः आग्नेये ।
(४) व्रूं कृष्णायै नमः नैर्ऋत्ये ।
(५) श्रूं शुभ्रायै नमः पश्चिमे ।
(६) ष्रूं धूमिन्यै वायव्ये ।
(७) स्रूं बहुरूपायै नमः मध्ये ।

अग्निर्हुतवाहनेऽथ हुताशनेऽथ वर्त्मने ॥९७॥
देवमुखः सप्तजिह्वो वैश्वानरो जातवेदाः ।
क्रमेण पूजयेतत्र अष्टौ नामान्यनुक्रमात् ॥९८॥

इसके बाद (१) अग्नि, (२) हुत वाहन, (३) हुताशन, (४) कृष्णवर्त्मन्, (५) देवमुख, (६) सप्तजिह्व, (७) वैश्वानर और (८) जातवेदस् इन आठ नामों से अग्निदेव की पूजा करें। यथा—

(१) अग्नये नमः, (२) हुतवाहनाय नमः, (३) हुताशनाय नमः, (४) कृष्णवर्त्मने नमः, (५) देवमुखाय नमः, (६) सप्तजिह्वाय नमः, (७) वैश्वानराय नमः और (८) जातवेदसे नमः ।

एवमग्निं तु सम्पूज्य कामेशीगर्भसम्भवम् ।
दर्भकङ्कणमादाय करबन्धं सुलोचने ॥९९॥
मूलमन्त्रेण बाणेन चतुर्थेन च होमयेत् ।
गर्भाधानं विधायेत्थं सीमन्तोन्नयनादिकम् ॥१००॥
कामेशीगर्भजातस्य वह्नेश्चौलादिसत्क्रियाः ।
मूलमन्त्रेण संचिन्त्य बाह्यचक्रं समर्चयेत् ॥१०१॥

इस प्रकार कामेश्वरी के गर्भसम्भव अग्नि की पूजा करने के बाद मूल मन्त्र और चतुर्थ बाण बीज के साथ दर्भ का बना कंकण और करबन्ध समर्पित करना चाहिए । इस प्रकार 'गर्भाधान' संस्कार करने के बाद सीमान्तोन्नयन आदि तथा चूडाकरण आदि संस्कार सम्पन्न करें । तत् पश्चात् 'मूल-मन्त्र' का उच्चारण करते हुए ध्यान पूर्वक वाह्य चक्र की पूजा करनी चाहिए ॥९९-१०१॥

षट्कोणेषु षडङ्गानि वसुकोणेषु मातरः ।
लोकपालांश्च भूबिम्बे वह्निं प्रौढं विचिन्तयेत् ॥१०२॥
ब्रह्माणं दक्षिणेऽभ्यर्च्य घृतस्थालीं प्रपूजयेत् ।
वह्निं संपूज्य विधिवत्तन्मुखे शैलसम्भवे ॥१०३॥
चक्रराजं समावाह्य सर्वरश्मिसमन्वितम् ।
सर्वसिंहासनैः सेव्यमुपचारैः समर्चयेत् ॥१०४॥

षट्-कोणों में षडंगों की, अष्ट-दलों में ब्राह्मी आदि अष्ट मातृकाओं की और 'भू-पुर में उनके आयुध सहित इन्द्र आदि लोक पालों की पूजा करें । फिर अग्नि की प्रौढ़ावस्था का ध्यान करें । इसके बाद कुण्ड के दक्षिण में 'ब्रह्मा' की पूजा करने के पश्चात् 'घृतस्थाली' की अर्चना करें । हे शैलसम्भवे ! इस प्रकार अग्निदेव का विधिवत् पूजन कर उनके मुख में सर्व रश्मि समन्वित, सर्वसिंहासनों के द्वारा सेवित श्री 'श्रीचक्र' का आवाहन करके सभी उपचारों से उनका पूजन करें ॥१०२-१०४॥

धूपं विस्तारयेत्सम्यक्कुण्डमण्डपपूरितम् ।
दीपं च दर्शयेन्मन्त्री ततो दीपान्बहु प्रिये ॥१०५॥
मालाकारेण संवेष्ट्य मेखलात्रयमद्रिजे ।
विस्तार्य चरुकं पश्चात्सर्वदिक्षु सुखाप्तये ॥१०६॥

हे देवि ! कुण्ड और मण्डप को पूर्ण कर देने वाला धूप करना चाहिए। इसके बाद दीप-दिखाये ! हे प्रिये ! माला के आकार में दीप स्थापित कर तीनों मेंखलाओं को वेष्टित करे। इसके बाद सभी दिशाओं में सुख प्राप्ति के लिये 'चरु' को विस्तृत रूप से स्थापित करे ॥१०५-१०६॥

कामना होम विधान

नित्यहोमं ततः प्रोक्तं कामनाहोममाचरेत्।
मालतीजातिकामल्लीकुसुमैर्मधुमिश्रितैः ॥१०७॥
घृतपूर्णैर्हुनेद्देवि वागीशत्वं प्रजायते।
मूकस्यापि च मूढस्य शिलारूपस्य नान्यथा ॥१०८॥

उपर्युक्त विधि नित्य होम की है। विविध कामनाओं की पूर्ति के लिये विविध द्रव्यों से हवन करना चाहिए। मालती, जातिका और मल्लिका के पुष्पों को घी में डुबोकर और मिश्री मिलाकर होम करने से पत्थर के समान जड़-बुद्धि वाला व्यक्ति भी वागीशत्व प्राप्त कर लेता है।

जपापुष्पैराज्ययुक्तैः करवीरैस्तथाविधैः।
हवनान्मोहयेन्मन्त्री लोकत्रयनिवासिनः ॥१०९॥

घृत युक्त जपा अथवा करवीर पुष्पों से हवन करने से तीनों लोकों के निवासियों को मोहित किया जा सकता है ॥१०९॥

कर्पूरकुङ्कुमे देवि मिश्रं मृगमदेन हि।
हवनान्मदनो देवि मन्त्रिणां विजितो भवेत् ॥११०॥
सौभाग्येन विलासेन सामर्थ्येनापि सुव्रते।
चम्पकैः पाटलैर्हुत्वा श्रियं प्रोल्लसिताम्बराम् ॥१११॥
मन्त्री प्राप्नोति महतीं स्तम्भयेज्जगतीमिमाम्।

हे देवि ! कस्तूरी मिश्रित कपूर और कुंकुम के होम से साधक सौभाग्य, विलास और सामर्थ्य में कामदेव को भी जीत लेता है अर्थात् वह सौभाग्य आदि सभी विषयों में कामदेव से भी बड़ा हो जाता है। घी में डुबोये गये चम्पक और पाटल (गुलाब) के फूलों के होम से उत्तम वस्त्र और आभूषणों से भूषित महती-श्री की प्राप्ति होती है और साधक सारे जगत् को स्तम्भित कर देता है ॥११०-१११॥

श्रीखण्डं गुग्गुलं चन्द्रमगरुं होमयेत्ततः ॥११२॥
राजनागेन्द्रदेवानां पुरन्ध्रीर्वशमानयेत्।
सर्वलोका वशास्तस्य भवन्त्येव न संशयः ॥११३॥

श्रीखण्ड, चन्दन, गुग्गुल और अगरु-से होम करे तो राज-स्त्रियाँ, नागेन्द्र स्त्रियाँ और देव-स्त्रियाँ साधक के वश में आ जाती हैं। सभी लोक निस्सन्देह उसके वश में आ जाते हैं ॥११२-११३॥

लाक्षाहोमाद्भवेद्राज्यं दारिद्र्यभयपीडितः।
दुर्गोपसर्गशमनं पलत्रिमधुहोमतः ॥११४॥

लाक्षा से होम करने से दरिद्रता समाप्त होती है और राज्य की प्राप्ति होती है। त्रिमधु (शहद-घी और शर्करा) प्लुत मांस से हवन करने से दुर्ग (किला) के सभी उपद्रव शान्त हो जाते हैं ॥११४॥

दूरस्थितानां देवेशि गुरुणा प्रोक्तमार्गतः।
होमं कुर्याद्वशय कामैरन्यथा निष्फलं भवेत् ॥११५॥

हे देवेशि ! दूर में रहने वालों को अपने वश में करने के लिये गुरु-उपदिष्ट विधि से हवन करना चाहिए, अन्यथा कोई फल नहीं होता ॥११५॥

रुधिराक्तेन च्छागस्य मांसेन निशि होमतः।
मधुरत्रययुक्तेन गुरुणोक्तविधानतः ॥११६॥
परराष्ट्रं महादुर्गं समस्तं स्ववशं नयेत्।
महापलेन देवेशि रिपोः सैन्यं विनाशयेत् ॥११७॥

बकरे के रुधिर युक्त ताजा मांस को त्रिमधुर में डुबोकर रात के समय गुरु-उपदिष्ट विधि से हवन करने से महादुर्ग युक्त समस्त परराष्ट्र वशवर्ती हो जाते हैं। हे देवेशिं ! महामांस के होम से शत्रु-सेना का विनाश हो जाता है ॥११६-११७॥

खेचरो जायते रात्रौ कृत्वा होमं चतुष्पथे।
क्षीरं मधु दधि त्वाज्यं पृथग्धुत्वा वरानने ॥११८॥
आयुर्धनमथाऽऽरोग्यं समृद्धिर्जायते नृणाम्।
क्रमेण शैलजे क्षीरमधुभ्यां मृत्युनाशनम् ॥११९॥

रात के समय चौराहे पर हवन करने से खेचरत्व प्राप्त होता है। दूध का हवन करने से आयु, मधु (शहद) का हवन करने से धन, दही का हवन करने से आरोग्य और घृत से हवन करने से समृद्धि की प्राप्ति होती है। हे शैलजे ! दूध और शहद का अलग-अलग क्रमशः होम करने से मृत्यु का नाश हो जाता है ॥११८-११९॥

दधिमाक्षिकहोमेन सौभाग्यं धनमाप्नुयात्।
सितया केवलं होमो वैरिस्तम्भनकारकः ॥१२०॥

होमो दधिमधुक्षीरलाजभिर्वीरवन्दिते ।
रोगहन्ता कालहन्ता मृत्युहन्ता न संशयः ॥१२१॥

दही और शहद के होम से सौभाग्य और धन की प्राप्ति होती है। केवल मिसरी से होम करने से शत्रुओं का स्तम्भन होता है। दही, शहद, दूध और लावा (लाई) के होम से रोग, काल आदि सभी आधि-व्याधि समाप्त हो जाती हैं, दीर्घायु की प्राप्ति होती है ॥१२०-१२१॥

कमलैररुणैर्होमः सम्यक्संपत्तिदायकः ।
रक्तोत्पलैर्जगद्वश्यं राजानो वशगाः क्षणात् ॥१२२॥
नीलोत्पलैर्महादुष्टा वशमायान्ति नान्यथा ।
श्वेतोत्पलैः श्रियं वाचं लभते हवनात्प्रिये ॥१२३॥
श्वेतैश्च ब्रह्मकमलैर्लक्ष्मीं सौभाग्यमाप्नुयात् ।
कल्हार.**हवनान्मन्त्री सौभाग्यं च धनं लभेत् ॥१२४॥**

लाल कमलों के होम से उत्तम सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। रक्त उत्पल के होम से राजाओं सहित जगत् वशीभूत हो जाता है। नील-कमल का हवन करने से सभी दुष्ट एवं विरोधी जन वश में आ जाते हैं। श्वेत-उत्पल का हवन करने से श्री और वाणी (धन-सम्पत्ति-एवं वक्तृत्व शक्ति) प्राप्त होती है। श्वेत-ब्रह्म कमल के होम से लक्ष्मी और सौभाग्य की प्राप्ति होती है। कल्हार पुष्प का हवन करने से भी धन और सौभाग्य मिलता है ॥१२२-१२४॥

विभिन्न वर्णों/प्रजातियों के कमल-पुष्पों से हवन का फल बताने के बाद अगले ८ श्लोकों (१२५ से १३२) में विभिन्न फलों का हवन करने से मिलने वाले फलों का निरूपण किया गया है।

पूर्ण दाडिमहोमेन वशी कुर्यान्महासुरान् ।
मातुलुङ्गफलोद्भूतहोमेन क्षत्रिया वशाः ॥१२५॥
नारङ्गफलहोमेन वैश्या वश्या भवन्ति हि ।
कूष्माण्डफलहोमेन शूद्रा वश्यास्तथाऽपरे ॥१२६॥

पूरे अनार का हवन करने से ब्राह्मण, मातुलुङ्ग के हवन से क्षत्रिय, नारंगी के हवन से वैश्य तथा कूष्माण्ड के हवन से शूद्र एवं अन्य जन वशीभूत होते हैं ॥१२५-१२६॥

द्राक्षाफलैः सिद्धयोऽष्टौ लक्षहोमान्न संशयः ।
कदलीफलहोमेन लक्षमात्रेण भूभृतः ॥१२७॥

वश्यास्तु दशसंख्याका भवन्त्येव न संशयः।
खर्जूरीफलहोमेन लक्षमात्रेण भूभुजः ॥१२८॥
वश्या विंशतिसंख्याका इत्याज्ञा पारमेश्वरी।

अंगूर का एक लाख हवन करने से अष्ट-सिद्धियाँ प्राप्त होती है। केले का एक लाख हवन करने से दस राजे, खजूर का एक लाख हवन करने से बीस राजे, वश में आ जाते हैं ॥१२७-१२९॥

नारिकेलफलैर्होमात्समृद्धिर्जायते प्रिये ॥१२९॥
लक्षमात्रेण मन्त्रज्ञो राजाऽपर इव प्रिये।
पक्वाम्रफलहोमेन लक्षमात्रेण सुन्दरि ॥१३०॥
चतुःसमुद्रपर्यन्तां मेदिनी वशमानयेत्।
पनसस्य फलैर्होमाल्लक्षेण शतभूभुजः ॥१३१॥
वशा भवन्ति देवेशि नात्र कार्या विचारणा।
तिलाज्यहोमाद्देवेशि कार्यसिद्धिर्भवेत्प्रिये ॥१३२॥

नारियल के एक लाख हवन से समृद्धि प्राप्त होती है और मन्त्र-साधक अपर-राजा बन जाता है। पके हुए आमों का एक लाख हवन करने से चारों समुद्र पर्यन्त पृथ्वी वश में आ जाती है। कटहल का एक लाख हवन करने से सैकड़ों राजा वश में आ जाते हैं। हे देवेशि ! तिल और घृत से हवन करने से सभी कार्य सिद्ध होते हैं ॥१२९$\frac{१}{२}$-१३२॥

राजिकालवणाभ्यां तु दुष्टलोकान्वशं नयेत्।
गुग्गुलस्य च होमेन सर्वदुःखानि नाशयेत् ॥१३३॥

राई और नमक के होम से दुष्ट प्राणी वश में आ जाते हैं। गुग्गुल के होम से सभी दुःख दूर हो जाते हैं ॥१३३॥

कुङ्कुमेन हुनेद्देवि त्रैलोक्यं वशमानयेत्।
वैरिणो वशगाः शीघ्रं चन्दनस्यापि होमतः ॥१३४॥
रक्तचन्दनहोमेन वश्या हि पुरुषाः स्त्रियः।
कर्पूरस्य च होमेन वाग्वश्यं जायते नृणाम् ॥१३५॥

हे देवि ! कुंकुम के होम से तीनों लोक और चन्दन के होम से शत्रु-वर्ग, रक्त-चन्दन के होम से स्त्रियाँ एवं पुरुष वश में आ जाते हैं। कपूर के होम से वागीशत्व की प्राप्ति होती है ॥१३४-१३५॥

कस्तूरीहोमतो देवि राजानो राजमन्त्रिणः ।
वश्या भवन्ति सकलाः परिवारयुताः प्रिये ॥१३६॥
तिलतांडुलहोमेन शान्तिर्भवति मन्दिरे ।
शर्करागुडहोमेन सर्वकामार्थ साधकः ॥१३७॥
घृतपायसहोमेन सिता युक्तेन मान्त्रिकः ।
त्रैलोक्यं वशमायाति धान्यसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ॥१३८॥
सोपस्करश्च वटकैरुपसर्गान्विनाशयेत् ॥१३९॥

हे प्रिये ! कस्तूरी के होम से परिवार सहित राजा, राजमन्त्री और सभी लोग वश में हो जाते हैं। तिल और चावल के होम से घर में शान्ति होती है अर्थात् गृह-कलह समाप्त हो जाता है। शर्करा और गुड के होम से सर्व-कार्य सिद्ध होते हैं। मिसरी युक्त घृत और पायस (खीर) के होम से तीनों लोक वश में हो जाते हैं तथा धान्य सिद्धि होती है। व्यञ्जन (मसालेदार) वटक (बड़े) का होम करने से उपद्रव शान्त होते हैं ॥१३६-१३९॥

बन्धूककुसुमैर्होमः सर्वशत्रून्विनाशयेत् ।
जपापुष्पैर्जगद्वश्यं वनपुष्पैश्च मोहनम् ॥१४०॥

बन्धूक पुष्पों के होम से सभी शत्रुओं का नाश होता है। जपा पुष्पों के होम से जगत् का वशीकरण होता है और वन पुष्पों के होम से जगत् का मोहन होता है ॥१४०॥

बकुलस्य हुनेत्पुष्पैः सौभाग्यं जायते महत् ।
दशाङ्गधूपहोमेन सौभाग्यमतुलं भवेत् ॥१४१॥

बकुल पुष्पों के होम से महान् सौभाग्य की प्राप्ति होती है। दशाङ्ग धूप के होम से अतुल सौभाग्य की प्राप्ति होती है ॥१४१॥

जम्बूफलैः स्त्रियो वश्याः कूष्माण्डैर्दैत्यकन्यकाः ।
श्रीफलैरतुलां लक्ष्मीं पत्रैर्वा सुरवन्दिते ॥१४२॥

जामुन के फल के होम से स्त्रियाँ और कुष्माण्ड के होम से दैत्य-कन्यायें वशीभूत होती है। बिल्व (बेल) फल अथवा बेल-पत्रों के होम से अतुलनीय लक्ष्मी की प्राप्ति होती है ॥१४२॥

इक्षुखण्डैः सुखावाप्तिस्तद्रसाद्राजकन्यकाः ।
वश्या भवन्ति देवेशि नारिकेलजलेन वा ॥१४३॥

गन्ने के टुकड़ों का होम करने से सुख प्राप्त होता है। गन्ने के रस अथवा नारियल के जल से होम करने से राज्य कन्यायें वशीभूत होती हैं ॥१४३॥

केवलं घृतहोमेन वरदाः सर्वशक्तयः।
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि मानं हवनसिद्धिदम् ॥१४४॥

केवल घृत का होम करने से सभी शक्तियाँ वरदान प्रदान करती हैं। अब मैं हवनीय द्रव्यों का प्रमाण (मात्रा) बता रहा हूँ। उचित परिमाण में हवनीय द्रव्य की आहुति देने से हवन सिद्धि-प्रदान करता है ॥१४४॥

आहुति-प्रमाण

पुष्पं समग्रं जुहुयात्कमलं वाऽपि पुष्कलम्।
कुसुम्भवनपुष्पाणि यथेष्टानि हुनेत्प्रिये ॥१४५॥
शतसंख्यास्तिला देवि राजिकाः शतसंख्यया।
लाजा मुष्टिप्रमाणास्तु घृतं गद्याणमात्रकम् ॥१४६॥
चुलुकार्धं पयः क्षीरमन्नं ग्रासमितं भवेत्।
स्थूल फलं महेशानि कुष्माण्डं मातुलुङ्गकम् ॥१४७॥
मनःप्रियैश्च खण्डैश्च फलं भवति निश्चयात्।
रम्भाफलं चतुःखण्डैर्लघु चेत्खण्ड्यते न हि ॥१४८॥

हवन करने समय एक आहुति में विभिन्न हवनीय द्रव्यों का प्रमाण या मात्रा इस प्रकार है। पुष्प-पूरा होना चाहिए। कमल पर्याप्त संख्या में। कुसुम्भ और वन-पुष्प यथेष्ट संख्या में। एक आहुति में एक सौ तिल या राई एक सौं, लाई मुट्ठी भर। घृत गद्याण (४१ घुंघची)। दूध, जल और अन्य रस-आधा चुल्लू भर। अनाज-एक ग्रास। कूष्माण्ड या मातुलुङ्ग जैसे बड़े फल-एक ग्रास। यदि केले का आकार छोटा है तो पूरा केला। यदि केला बहुत बड़ा है तो उसके चार टुकड़े किये जा सकते हैं ॥१४५-१४८॥

नारिकेलस्य खण्डं हि रम्भायाः फलवत्प्रिये।
पर्वस्थाने चेक्षुखण्डं मनःसंतोषकारि वा ॥१४९॥
द्राक्षाफलं समग्रं स्यान्नारङ्गं खार्जुरं तथा।
गुग्गुलं क्रमुकार्धं तु कुङ्कुमं च तथा भवेत् ॥१५०॥

नारियल, और रम्भा फल के चार समान टुकड़े, गन्ने का एक पोर, अंगूर, नारंगी, खजूर का फल समूचा। गुग्गुल और कुंकुम की हवनीय मात्रा है आधी सुपारी के बराबर ॥१४९-१५०॥

गुञ्जासमं च कर्पूरं कस्तुरी घुसृणं तथा ।
चन्दनं चागरुं देवि क्रमुकेन समं भवेत् ॥१५१॥

कपूर, कस्तूरी, घुसृण की मात्रा एक घुंघची के बराबर । चन्दन और अगरु की मात्रा एक सुपारी के समान ॥१५१॥

मनःप्रियाणि सर्वाणि फलानि हवने प्रिये ।
लाक्षा गुग्गुलसंख्या स्याद्यद्यद्वस्तु मनोहरम् ॥१५२॥

हे प्रिये ! मन को प्रिय लगाने वाले सभी फलों के हवन का विधान है । लाक्षा और गुग्गुल के प्रमाण की संख्या भी बता दी गई है । इसी प्रकार जो-जो वस्तु मन को प्रिय लगे उसका होम करना चाहिए ॥१५२॥

मनःप्रियाहुतीः कृत्वा होमं कुर्यात्सुलोचने ।
एतदाहुतिमानं ते कथितं सर्वविघ्नहृत् ॥१५३॥

हे सुलोचने ! मन को प्रिय लगने वाली आहुति बनाकर होम करना चाहिए । इन आहुतियों का प्रमाण (मात्रा) बता दिया गया है जो सभी विघ्नों को दूर करने वाला है ॥१५३॥

यथेच्छया वरारोहे श्रीविद्यां परितोषयेत् ।
यथाशक्ति जपं कृत्वा तद्दशांशेन होमयेत् ॥१५४॥

हे वरारोहे ! इच्छानुसार श्रीविद्या को सन्तुष्ट करके यथा शक्ति जप और जप का दशांश हवन करना चाहिए ॥१५४॥

किंशुकैः पापसंघातनाशकैरथ वा प्रिये ।
नानाद्रव्यैः पृथग्भूतैर्मिश्रितैर्वा वरानने ॥१५५॥
यथाशक्त्या तु मिलितैर्होमं कुर्याद्विचक्षणः ।
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि विशेषविधिमुत्तमम् ॥१५६॥

हे प्रिये ! अथवा पलाश-पुष्पों का हवन करे जो समस्त पापों का नाश करने वाला है । हे वरानने ! विभिन्न हवनीय द्रव्यों का पृथक पृथक अथवा उन्हें एक में मिलाकर हवन करना चाहिए । हे देवि ! अब मैं होम की विशेष उत्तम विधि बता रहा हूँ ॥१५५-१५६॥

होम के विशेष विधान

होम के विशेष विधान के अन्तर्गत कुण्ड का विधान, दिशाओं का विधान, नक्षत्र-विधान, वार विधान, समय विधान, आसन विधान आदि बताये गये हैं। सर्वप्रथम **'कुण्ड-विधान'**—

आदौ कुण्डं समुत्पाद्य सर्वलक्षणसंयुतम्।
चतुरस्त्रं तु शोभाढ्यं शतहोमेऽर्धहस्तकम् ॥१५७॥
सहस्त्रे हस्तमात्रं च चतुरस्त्रं द्विहस्तकम्।
द्विहस्तमयुते प्रोक्तं लक्षे हस्तचतुष्टयम् ॥१५८॥

जो भी कुण्ड बनाया जाये, वह सुन्दर और शास्त्र सम्मत लक्षणों से युक्त होना चाहिए। अलग-अलग आहुति संख्या के अनुसार कुण्डों की लम्बाई-चौड़ाई इस प्रकार होनी चाहिए—

शतहोम में आधे हाथ का चौकोर कुण्ड बनाना चाहिए। सहस्त्र होम के लिये एक हाथ का, दस हजार आहुति के लिये दो हाथ का, और एक लाख आहुति के लिये चार हाथ का चौकोर (वर्गाकार) कुण्ड बनान चाहिए ॥१५७-१५८॥

कोटिहोमेऽष्टहस्तं च कृत्वा कुण्डस्य लक्षणम्।
शान्तिके चतुरस्त्रं तु वैश्ये चैवार्धचन्द्रकम् ॥१५९॥
षट्कोणं स्तम्भने चैव मारणे तद्वदेव हि।
आकर्षणे त्रिकोणं च वृत्तमुच्चाटने तथा ॥१६०॥
नानासिद्धिहितार्थाय पद्मकोणं च सिद्धिदम्।

एक करोड़ आहुति के लिये ८ हाथ का चौकोर वर्गाकार कुण्ड बनायें। विभिन्न प्रयोगों के लिये अलग-अलग आकार के कुण्ड बनाने चाहिए। यथा शान्ति-पुष्टि कार्य के लिये चौकोर वर्गाकार, वश्य कर्म के लिये अर्ध-चन्द्रकार, स्तम्भन-प्रयोग में षट्कोण, मारण प्रयोग में भी षट्कोण, आकर्षण प्रयोग में त्रिकोण, उच्चाटन प्रयोग में वृत्ताकार (गोल) कुण्ड बनाना चाहिए। पद्माकार कुण्ड अनेक कार्यो में सिद्धि देने वाला है ॥१५९-१६१॥

उत्तरे शान्तिकं चैव स्तम्भने वारुणीं दिशम् ॥१६१॥
मारणं दक्षिणे चैव पश्चिमे वश्यकर्मणि।
दाहकर्म च आग्नेये विद्वेषो नैर्ऋते तथा ॥१६२॥
उच्चाटने तु वायव्य ईशान्ये (ऐशाने) सर्वसिद्धिदम्।

शान्ति कर्म के लिये उत्तर दिशा, स्तम्भन एवं वशीकरण के लिये पश्चिम दिशा, मारण के लिये दक्षिणा दिशा, दाह-कर्म के लिये अग्निकोण, विद्वेषण के लिये नैऋत्य कोण और उच्चाटन के लिये वायव्य कोण प्रशस्त हैं। ईशान कोण सब प्रकार की सिद्धि प्रदान करता है ॥१६१-१६३॥

कृत्तिका कर्षणे प्रोक्ता भरणी मारणे तथा ॥१६३॥
स्वाती वश्ये तथोच्चाटे ज्येष्ठा स्तम्भनमेव च।
विद्वेषणे शततारं चाभिजित्वं तु शान्तिके ॥१६४॥

आकर्षण के लिये कृत्तिका, मारण-प्रयोग के लिये भरणी, वश्य कर्म के लिये स्वाती, उच्चाटन और स्तम्भन कार्य के लिये ज्येष्ठा नक्षत्र, विद्वेषण के लिये शतभिषा और शान्ति-कर्म के लिये अभिजित् नक्षत्र विहित हैं ॥१६३-१६४॥

वार-विधान

सोमे सर्वाकर्षणं च मारणं मङ्गले तथा।
बुधेन स्तम्भ कार्यं गुरुवारे तु पौष्टिकम् ॥१६५॥
शुक्रे च सर्वकामास्तु भानोरथ (नावथ) शुभानि च।

आकर्षण के लिये सोमवार, मारण के लिये मंगलवार, स्तम्भन के लिये बुधवार, पुष्टि कार्यों के लिये गुरुवार, सर्व कार्यों के लिये शुक्रवार तथा शेष अन्य सभी शुभ कार्यों के लिये रविवार प्रशस्त हैं ॥१६५-१६६॥

समय-विधान

पूर्वाह्ने वश्यकर्माणि मध्यान्हे प्रीतिनाशनम् ॥१६६॥
उच्चाटनं चापराह्ने संध्यायां मारणे तथा।
शान्तिके अर्धरात्रं च पौष्टिकं प्रातरेव हि ॥१६७॥

वश्य कर्म के लिये पूर्वान्ह, वैर-कर्म (विद्वेषण) के लिये मध्याह्न, उच्चाटन के लिये अपराह्न, मारण के लिये संध्या, शान्ति कर्म के लिये मध्य रात्रि और पुष्टि कार्य के लिये प्रातः का समय प्रशस्त है ॥१६६-१६७॥

आसन-विधान

स्तम्भने गजचर्माणि मारणे माहिषं तथा।
मृगचर्म तथोच्चाटे छागलं वश्यकर्मणि ॥१६८॥
विद्वेषे जम्बुकं प्रोक्तं गोचर्मं शान्तिके तथा।
नानासिद्धिहितार्थाय व्याघ्रचर्ममुदाहृतम् ॥१६९॥

स्तम्भन कार्य के लिये गज चर्म का आसन, मारण के लिये महिष (भैंस) चर्म, उच्चाटन के लिये मृग चर्म, वश्य कर्म के लिये बकरे का चर्म, विद्वेषण के लिये शृगाल (सियार) चर्म, शान्ति-कार्य के लिये गो-चर्म तथा नाना सिद्धियों के लिये व्याघ्र चर्म का आसन प्रशस्त हैं ।।१६८-१६९।।

श्वेतं व्याघ्रे भवेच्छान्त्यै पीतं स्तम्भनकारकम् ।
वश्याकर्षणयो रक्तं क्षोभणार्थं प्रियावहम् ।।१७०।।
कृष्णं च मारणे प्रोक्तं धूम्रमुच्चाटनादिके ।

शान्ति-कर्म के लिये श्वेत-व्याघ्र और स्तम्भन के लिये पीत व्याघ्र के चर्म का आसन विहित है । वशीकरण और आकर्षण के लिये रक्त-व्याघ्र के चर्म का, क्षोभण कार्य के लिये यथा रुचिकर वर्ण वाला व्याघ्र, चर्म, मारण के लिये कृष्ण-व्याघ्र और उच्चाटन आदि कार्यों के लिये धूम्र-वर्ण व्याघ्र का चर्मासन विहित है ।।१७०।।

समिधा-विधान

राजवृक्षस्य समिधो होतव्याः स्तम्भकर्मणि ।।१७१।।
महिषीघृतसंयुक्तं सदा वै सिद्धिदायकम् ।
मारणेऽत्यचिरात्होमं समिधै (द्भि) र्दाडिमोद्भवैः ।।१७२।।
अजाघृतेन देवेशि वशयेत्सचराचरम् ।
विद्वेषस्यैव होतव्य(व्या) उन्मत्तसमिधस्तथा ।।१७३।।

स्तम्भन कार्य के लिये भैंस के घी में डुबाई गई राजवृक्ष की लकड़ी से होम करना चाहिए। शत्रु के शीघ्र ही मारण के लिये अनार की लकड़ी से होम करना चाहिए। बकरी के घृत के होम से चराचर जगत् वश में आ जाता है । विद्वेषण के लिये धत्तूरे की लकड़ी से होम करना चाहिए ।।१७१-१७३।।

अतसीतैलसंयुक्ता विद्वेषणमतः परम् ।
सर्वविघ्नसमूहं तु नाशयेन्नात्र संशयः ।।१७४।।

अलसी के तेल में डुबोई गई धतूरे की लकड़ी के होम से विद्वेषण होने के साथ ही सभी विघ्नों का नाश होता है ।।१७४।।

पूर्णाहुतिं ततो देवि पूजयित्वा तु कन्यकाः ।
पूजितं तेन त्रैलोक्यं कन्यका येन पूजिताः ।।१७५।।

हे देवि ! हवन के बाद कन्याओं का पूजन करने के उपरान्त पूर्णाहुति देनी चाहिए। हे प्रिये ! जिसने कन्याओं का पूजन किया, समझो उसने तीनों लोकों का पूजन कर लिया ॥१७५॥

बालया पूजयेद्देवि श्रीविद्यां पूजयेत्ततः ।
पञ्चसिंहासनैर्देवि श्रीविद्यां तत्र पूजयेत् ॥१७६॥

हे देवि ! भगवती बाला सहित 'श्रीविद्या' का पूजन करना चाहिए। पञ्च सिंहासनों के साथ 'श्रीविद्या की पूजा करनी चाहिए अर्थात् श्री बाला-त्रिपुरा के पूजन के बाद पञ्च सिंहासनों के अर्चन के बाद श्री 'श्रीविद्या' का विस्तृत पूजन करना चाहिए ॥१७६॥

सुवासिनीस्ततः पूज्याः श्रीविद्यां तत्र पूजयेत् ।
विप्रान्संतोषयेत्पश्चाच्छ्रीविद्यां तत्र पूजयेत् ॥१७७॥

इसके बाद साधक सुवासिनों का पूजन करें। पश्चात् उन सुवासिनों के साथ श्रीं श्रीविद्या का पूजन करे। फिर ब्राह्मणों का पूजन करके उनके साथ पुनः 'श्रीविद्या' का पूजन करना चाहिए ॥१७७॥

योगिन्यश्च तथा पूज्याः श्रीविद्यां परितोषयेत् ।
दर्शनानि समग्राणि पूजयेद्विविधानि च ॥१७८॥
श्रीविद्यां तोषयेत्तत्र पूर्णाहुतिमथाऽऽचरेत् ॥१७९॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे त्रिपुराजपहोमविधानविवरणं
नाम विंशः पटलः ॥२०॥

इसके बाद योगिनियों तथा सभी दर्शनों का पूजन करके भगवती 'श्रीविद्या' को पूर्णतः संतुष्ट करके कर्म की पूर्णाहुति करे ॥१७८-१७९॥

श्री ज्ञानार्णव-नित्या तन्त्र में श्री त्रिपुरा जप-होम विधान नामक
बीसवें पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥२०॥

❋

अथैकविंशः पटलः

ज्ञान-होम-विधि

ईश्वर उवाच

होमान्तरं प्रवक्ष्यामि येन ब्रह्म सनातनम्।
ज्ञानेन चतुरस्राख्यं कुण्डं संचिन्त्य पूर्ववत् ॥१॥

ईश्वर ने कहा—भगवती त्रिपुरा के प्रीति-सम्पादन के लिये विभिन्न द्रव्यों से नित्य और नैमत्तिक होम (हवन) की विधि का निरूपण पिछले २०वें पटल में किया गया है। अब दूसरे प्रकार के हवन की विधि बताई जा रही है। इस विधि से हवन करने के लिये सर्व-प्रथम ज्ञान-पूर्वक चतुरस्र-कोण का चिन्तन करना चाहिए ॥१॥

आत्मभिश्चतुरस्रं तद्विज्ञेयं वीरवन्दिते।
आत्मानो वेदसंख्या हि ज्ञातव्या देशिकोत्तमैः ॥२॥
येषां विज्ञानमात्रेण पुनर्जन्म न विद्यते।

हे वीरवन्दिते ! देशिक (मन्त्र-साधक) को यह जानना चाहिए कि 'आत्मा' के चार भेद या रूप हैं। उपर्युक्त 'चतुरस्र-कुण्ड' आत्मा के इन चारों रूपों से युक्त या समन्वित है, ऐसा समझना चाहिए ॥२-३॥

विमर्श—आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा—ये 'आत्मा' के चार भेद या प्रकार हैं। ज्ञान-होम विधि, जिसे तन्त्रान्तर में अन्तर्होम कहा गया है, से हवन करने के लिये जिस हवन-कुण्ड का मूलाधार में चिन्तन किया जाता है, वह 'कुण्ड' आत्मा के उपर्युक्त चारों रूपों से समन्वित है। इस मनः परिकल्पित 'कुण्ड' को 'चित्कुण्ड' कहते हैं।

साधारणेन पक्षेण वर्तते सर्वजन्तुषु ॥३॥
स आत्मा परमेशानि प्राणरूपी वरानने।
प्राणस्तु पवनो देवि हृदयस्थानमन्दिरः ॥४॥

'आत्मा' के उपर्युक्त चारों रूपों का सम्यक् रूप से ज्ञान हो जाने पर देशिक का पुनर्जन्म नहीं होता। अब इनमें से प्रथम अर्थात् 'आत्मा' का गुण-धर्म बताते हुए **ईश्वर कहते हैं**—हे वरानने ! यह आत्मा सर्व-साधारण रूप से सभी प्राणियों में विद्यमान है। यह आत्मा प्राण रूपी है, और प्राण पवन-स्वरूप हैं। प्राणों का निवास हृदय में है ॥३ $\frac{1}{2}$-४॥

शरीरं व्याप्य सकलं चरस्याप्यचरस्य च।
हंसस्वरूपी विज्ञेयः श्वासोच्छ्वासविलासवान् ॥५॥
जीव इत्येव नामास्य भ्रान्त्या भासान्न वस्तुतः।
श्वासोच्छ्वासो देहभावाद्भ्रान्तिरेव न संशयः ॥६॥

यह प्राण-रूपी आत्मा समस्त चर और अचर प्राणियों में सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर स्थित रहती हैं। श्वास और उच्छवास इसके विलास हैं। इसे 'हंस-स्वरूपी' समझना चाहिए। यह आत्मा 'वस्तुत:' अपने शुद्ध-रूप में सत् चित्त और आनन्दमय परब्रह्म का अंश है, परन्तु अविद्या रूप भ्रान्ति के कारण 'जीव' के नाम से आभासित होती है। इसी तरह श्वासोच्छवास (सांस लेना और सांस छोड़ना) भी निस्सन्देह देह-भाव के कारण है ॥५-६॥

विमर्श—'अविद्या' जन्य पाशों में फंसकर सदाशिव का अंश-भूत 'आत्मा' जीव की संज्ञा प्राप्त करती है। इन पाशों से मुक्त होकर वह सदाशिव स्वरूप हो जाती है—'पाशबद्ध: स्मृतो जीव: पाशमुक्त: सदाशिव:' जिस तरह 'तुष' (भूसी का छिलका) से मुक्त होकर धान चावल का दाना बन जाता है, उसी तरह कर्म-पाश में बन्धी हुयी 'आत्मा' को इस पाश से मुक्त होते ही 'सदाशिव' रूप की प्राप्ति होती है। इस श्लोक में ईश्वर के कथन का आशय यह है कि साधक को कर्म-पाश मुक्त 'आत्मा' के सदाशिव रूप का चिन्तन करना चाहिए। जहाँ तक श्वासोच्छवास का सम्बन्ध है, सांस लेना और सांस छोड़ना देह का धर्म है, आत्मा का नहीं।

कुलालचक्रभेदेन घटाकाशं यथा घटे।
दृश्यते परमेशानि आकाशं व्याप्य तिष्ठति ॥७॥
घटे भवति भिन्नत्वं नाऽऽकाशे भिन्नता भवेत्।
तथा देहगतो जीवो देहनाशो वरानने ॥८॥
व्याप्य तिष्ठति सर्वत्र तस्मादात्मा परं महत्।
आत्मज्ञानं मया प्रोक्तं द्वितीयस्य शृणु प्रिये ॥९॥

जो आकाश सर्वत्र व्याप्त है, वही आकाश कुम्हार के चाक पर स्थित 'घट' (घड़े) में भी व्याप्त हैं। जब कुम्हार डण्डे से चाक को घुमाता है, घड़े में स्थित आकाश भी घूमता हुआ प्रतीत होता है। जब घड़ा फूट जाता है, उसमें स्थित आकाश नहीं फूटता अपितु घट में स्थित आकाश वाह्य-आकाश में लीन हो जाता है। उसी तरह देह का नाश होने पर आत्मा सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। देह के नाश के फलस्वरूप आत्मा का नाश नहीं होता। यह ज्ञान ही आत्म-ज्ञान है। हे प्रिये ! अब आत्मा के दूसरे भेद या प्रकार 'अन्तरात्मा' का निरूपण सुनिए ॥७-९॥

अन्तरात्मेति किं नाम तच्छृष्णुष्व पदं महत्।
अन्तःशब्देन देवेशि रहस्यं सूक्ष्मरूपकम्॥१०॥
परमाणुस्वरूपेण सर्वं व्याप्य विजृम्भते।
अन्तरङ्गतया तेन चरं वाऽप्यथ वाऽचरम्॥११॥
व्याप्यते सकलं तस्मादन्तरात्मेति गीयते।
स एव हंस आत्मा हि योगिगम्यो यदा भवेत्॥१२॥

'अन्तरात्मा' क्या है ? अब इस महान् पद को सुनिये। 'अन्तः' शब्द का अर्थ है—अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप रहस्य। यह सूक्ष्म स्वरूप रहस्य परमाणु रूप से सर्वत्र व्याप्त है। चराचर प्राणि-जगत् के अन्तरङ्ग में यह विद्यमान है। समस्त प्राणि-जगत् के अन्तरङ्ग में परमाणु रूप से विद्यमान होने के कारण इसे 'अन्तरात्मा' कहते हैं। यही हंस-आत्मा है, जिसे योगिजन ही सम्यक् रूप से समझ सकते हैं॥१०-१२॥

तारचञ्चुर्वरारोहे निगमागमपक्षवान्।
शिवशक्तिपदद्वंदो बिन्दुत्रयविलोचनः॥१३॥
अयं परमहंसस्तु सृष्टिं व्याप्यावतिष्ठति।
तदा भूतानि जायन्ते क्रमेण कमलेक्षणे॥१४॥

वे वरारोहे ! तार (ॐ-प्रणव) ही इस हंस रूपी आत्मा का चोंच है, निगम और आगम इसके पंख हैं, शिव और शक्ति इसके पैर हैं तथा बिन्दु-त्रय (अनुस्वार और विसर्ग) इसके नेत्र-त्रय हैं। यह 'परमहंस' सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। हे कमलेक्षणे ! इस 'अन्तरात्मा' के कारण ही क्रम से भूतों की (प्राणियों की) सृष्टि होती है॥१३-१४॥

आकाशं पवनोऽग्निश्च जलं पृथ्वी वरानने।
पञ्चकस्यास्य देवेशि प्रथमं चित्तमुच्यते॥१५॥
अविद्याख्यसरोमध्ये मोहपङ्कप्रपूरिते।
प्रपञ्चकमले भूतपद्माक्षपरिजृम्भिते॥१६॥
विहारोऽस्यैव हंसस्य सृष्ट्या मायामयो भवेत्।
अयमेव महादेवि निष्प्रपञ्चो यदा भवेत्॥१७॥
संहाररूपी हंसस्तु तदाऽऽत्मानं प्रदर्शयेत्।
पक्षित्वमस्य नात्येव सोऽहमात्मा प्रतिष्ठितः॥१८॥
परमात्मेति जानीहि त्रयमेतदुदाहृतम्।

हे देवेशि ! आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँच महाभूत हैं । इन पाँचों के विकार से 'चित्त' की उत्पत्ति होती है । अविद्या एक गहरा सरोवर है, जिसमें मोह का कीचड़ ही कीचड़ भरा हुआ है । इस दल दल मय सरोवर में उपर्युक्त पाँच-भूतों के मेल से प्रपञ्च-कमल की उत्पत्ति हुई है । सृष्टि के सृजन-काल से ही इस प्रपञ्च-रूपी कमल का स्वाद लेते हुए इस अविद्या-सरोवर में विहार करने से यह (आत्मा) माया में फंसता ही जाता है । जब यह 'हंस' इस प्रपञ्च के प्रति अपने आकर्षण का संहार करके 'निष्प्रपञ्च' हो जाता है, संसार के आकर्षण और प्रलोभन से मुक्त होकर अपने शुद्ध बुद्ध 'सोऽहम्' रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब उसे परमात्मा समझना चाहिए । हे वरानने ! आत्मा के तीन भेद रूपों का निरूपण किया गया ॥१५-१८॥

पक्षपुच्छशिरो देवि आकारप्रतिभासकः ॥१९॥

हे देवि ! यह हंस रूपी आत्मा जब निष्प्रपञ्च होकर अपने शुद्ध बुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, उसका 'पक्षीत्व' समाप्त हो जाता है । पंख, पूँछ और सिर आदि अवयव केवल उसके प्रतिभासक मात्र हैं । वस्तुतः, निर्गुण-निराकार-निष्प्रपञ्च 'सदाशिव' का अंश-स्वरूप 'आत्मा' भी निर्गुण और निराकार हैं ॥१९॥

ज्ञानात्मा कथ्यते भद्रे यः साक्षात्साक्षिरूपकः ।
येनेदं ज्ञायते सर्वं समत्वेन वरानने ॥२०॥
चन्द्रबिम्बं यथा देवि जलक्षीरेषु दृश्यते ।
न लिप्तस्त (सं त) स्य देवेशि नीरक्षीरविभेदतः ॥२१॥
कर्दमे चन्दने बिम्बं न भवेल्लिप्तमद्रिजे ।
सर्वसाक्षी तथा भद्रे ज्ञानात्मा परिकीर्तितः ॥२२॥

हे भद्रे ! अब 'आत्मा'के 'ज्ञानात्मा' रूप का निरूपण सुनिये ! हे वरानने ! आकाश में चमकने वाले चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल में भी पड़ता है, और दूध में भी । चन्दन में भी वह प्रतिबिम्बित होता है और कीचड़ में भी परन्तु वह इनमें कोई भेद नहीं करता । जल, दूध, कीचड़ और चन्दन में प्रतिबिम्ब रूप में रहने मात्र से चन्द्रमा, जल, दूध, चन्दन और कीचड़ आदि में स्वयं को न तो लिप्त करता है, न लिप्त समझता है । वह सर्वथा निर्विकार, निस्संग और तटस्थ रहता है । इसी प्रकार अपने शुद्ध-बुद्ध निस्संग गुण को बरकरार रखते हुए जब आत्मा इस दुनियावी प्रपञ्च में सर्वथा निर्विकार, तटस्थ साक्षी भाव से रहता है, उसे 'ज्ञानात्मा' कहा जाता है ॥२०-२२॥

आत्मान्तरात्मपरमज्ञानात्मानः प्रकीर्तिताः ।
एतद्रूपं हि चित्कुण्डं चतुरस्त्रं वरानने ॥२३॥
आनन्दमेखलारम्यं बिन्दुत्रिवलयाङ्कितम् ।
अर्धमात्रा योनिरूपं ब्रह्मानन्दमयं सदा ॥२४॥

हे वरानने ! ज्ञानमय आन्तरिक हवन के लिये 'मूलाधार' में परिकल्पित यह चतुरस्त्र (चौकोर) कुण्ड आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा से बना हुआ है । आनन्द इसकी मेखला है, यह तीनों बिन्दुओं से विभूषित है और अर्ध-मात्रा इस कुण्ड में निर्मित योनि है ॥२३-२४॥

पराहंतामये सर्वज्ञानदीपविजृम्भिते ।
संविदग्नौ हुनेद्देवि प्रपञ्च हविरुत्कटम् ॥२५॥
शब्दाख्यं मातृकारूपमक्षवर्णविराजितम् ।
अक्षराणि हुतान्यत्र निःशब्दं ब्रह्म जायते ॥२६॥

हे देवि ! इस कुण्ड में सर्व ज्ञान विजृम्भित पराहन्तामय संविद्-अग्नि प्रज्वलित है । इस संविद् अग्नि में प्रपञ्च रूप हवि का हवन करना चाहिए । 'अ'कार से 'क्ष'कार पर्यन्त वर्ण माला में शब्द के नाम से विख्यात अक्षरों की इस 'अन्तर्हवन' में आहुति दे देने से 'निः शब्द ब्रह्म' उत्पन्न होता है ॥२५-२६॥

विमर्श—सच्चिदानन्द स्वरूप 'परब्रह्म' से सृष्टि-उन्मुखी शक्ति', शक्ति से बिन्दु-नाद और इनसे शब्द-ब्रह्म तथा शब्द-ब्रह्म से क्रमिक रूप से सृष्टि के विभिन्न घटक-तत्वों और इनसे सृष्टि की रचना का निरूपण प्रथम पटल में 'किया जा चुका है ।' संहार-क्रम में जब मातृकायें भी 'संविदग्नि' में आहुति स्वरूप समर्पित कर दी जाती हैं तो 'शब्द-ब्रह्म निःशब्द' अर्थात् निष्कल स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ।

पुण्यपापे हविर्देवि कृत्याकृत्ये हविः प्रिये ।
संकल्पश्च विकल्पश्च धर्माधर्मौ हविस्तथा ॥२७॥
जुहुयात्परमेशानि मन्त्राभ्यां विमलानने ।
मूलविद्यां ब्रह्मरूपां ध्यात्वा तु तदनन्तरम् ॥२८॥

हे प्रिये ! पुण्य और पाप, कृत्य और अकृत्य, संकल्प और विकल्प, धर्म और अधर्म—ये सब कुछ इस अन्तर्होम के लिये हवि-स्वरूप हैं, हवनीय-द्रव्य हैं । हे विमलानने ! ब्रह्म-रूप मूल-विद्या का ध्यान करते हुए दो मन्त्रों से इस संविदग्नि में पाप-पुण्य रूप समस्त हवनीय द्रव्यों की आहुति देनी चाहिए ॥२७-२८॥

तदन्ते चोच्चरेत्पश्चाद्ब्रह्मप्राप्त्यै तु देशिकः ।
धर्माधर्महविर्दीप्त आत्माग्नौ मनसा स्रुचा ॥२९॥
सुषुम्नावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तिं जुहोम्यहम् ।
स्वाहान्तेन हुनेद्देवि सकलं निष्कलं जगत् ॥३०॥
अन्तर्होममनुर्देवि सर्वमायानिकृन्तनः ।
प्रकाशाकाशहस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनीस्रुचा ॥३१॥
धर्माधर्मौ कलास्नेहपूर्णवह्नौ जुहोम्यहम् ।
अग्निजायान्वितो मन्त्रो विद्यान्ते कथितस्तव ॥३२॥

हे देवि ! देशिक अर्थात् मन्त्र-साधक को 'तदन्ते' अर्थात् मूल-विद्या (मूल-मन्त्र) के बाद 'धर्माधर्म हविर्दीप्तः आत्माग्नौ मनसा स्रुचा। सुषुम्नावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तिं जुहोम्यहम्'—स्वाहा इस मन्त्र से सकल-निष्कल जगत् का हवन करना चाहिये। यह प्रथम मन्त्र है।

पुनः 'मूल-विद्या' का उच्चारण करते हुए 'प्रकाशाकाश हस्ताभ्यामव-लम्ब्योन्मनी स्रुचा। धर्माधर्म कला स्नेह पूर्णवह्नौ जुहोम्यहम्—स्वाहा'—यह द्वितीय मन्त्र है। हे देवि ! इस मन्त्र से माया-पाश कट जाते हैं ॥२९-३२॥

विमर्श—अन्तर्होम में आहुति प्रदान करने के उपर्युक्त दोनों मन्त्रों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) मूल-मन्त्र (यथा—ऐं क्लीं सौः)

धर्माधर्महविर्दीप्त आत्माग्नौ मनसा स्रुचा ।
सुषुम्नावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तिं जुहोम्यहम् ॥
श्री बाला त्रिपुरायै स्वाहा ।।

(२) मूल-मन्त्र (यथा—ऐं क्लीं सौः)

प्रकाशाकाश हस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनीस्रुचा ।
धर्माधर्मकला स्नेह पूर्णवह्नौ जुहोम्यहम् ॥
श्री बाला त्रिपुरायै स्वाहा ।।

उपर्युक्त मन्त्रों में स्वाहा के पूर्व 'श्री बालात्रिपुरायै' के स्थान पर इष्ट देवता के चतुर्थ्यन्त नाम की योजना कर लेनी चाहिए।

अन्य ग्रन्थों में अन्तर्होम के चार-मन्त्र बताये गये हैं।

निष्प्रपञ्चो यदा देवि जायते मन्त्रवित्तमः।
तदा सच्चिन्मयः साक्षात्केवलं ब्रह्म साधकः ॥३३॥
दश सोऽहं जुहंसोऽपि पीत्वा मृत्युं सुखी भवेत् ॥३४॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे ज्ञानहोमविधिर्नामैकविंशः पटलः ।।२१।।

हे देवि ! संविद् अग्नि में पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, संकल्प-विकल्प, एवं सकल-निष्कल जगत् की आहुति देने के बाद ब्रह्मवेत्ता मन्त्र साधक स्वयं साक्षात् सच्चिन्मय केवल ब्रह्म रूप हो जाता है। वह 'सोऽहम्' इस महावाक्य का दस बार जप करके मृत्य पर विजय प्राप्त करके सुखी हो जाता है ॥३३-३४॥

श्री ज्ञानार्णव नित्या-तन्त्र में 'श्री ज्ञान होम विधि' नामक इक्कीसवें पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हई ॥२१॥

अथ द्वाविंशः पटलः

श्रीविद्या दूती यजनविधिः

ईश्वर उवाच

होमादिकं तु सकलं कुमारीपूजनं विना।
परिपूर्णफलं नैव पूजनात्सफलं भवेत् ॥१॥

ईश्वर ने कहा—हे देवि ! कुमारी-पूजन के बिना होमादिक अर्थात् जप-होम आदि पूर्ण फल नहीं देते । कुमारी पूजन पर ही उनका पूर्ण फल प्राप्त होता है ।

कुमारी-पूजन

कुमारीपूजनाद्देवि पूजाकोटिफलं भवेत्।
पुष्पं कुमार्यै यद्दत्तं तन्मेरुसदृशं भवेत् ॥२॥
कुमारी भोजिता येन त्रैलोक्यं तेनं भोजितम्।
कुमार्यै यज्जलं दत्तं तज्जलं सागरोपमम् ॥३॥
अन्नं तु मीननयने कुलाचलसमं भवेत्।

हे देवि ! कुमारी-पूजन से करोड़ों पूजा का फल मिलता है । कुमारी को दिया गया एक पुष्प मेरु के समान होता है, अर्थात् कुमारी को एक पुष्प समर्पित करने का फल भगवती त्रिपुरा को मेरु-पर्वत के समतुल्य पुष्प-राशि अर्पित करने के समान होता है । जिस साधक ने एक कुमारी को भोजन कराया, समझो उसने तीनों लोकों के सभी प्राणियों को भोजन से तृप्त कर दिया । कुमारी को समर्पित स्वल्प जल का पुण्य सागर के समतुल्य जल-दान के पुण्य के बराबर है । हे मीन नयने ! कुमारी को दिये गये स्वल्प अन्न का फल कुलाचल (कुल-पर्वत) के बराबर अन्न दान के फल के समान है । निष्कर्ष यह है कि कुमारी का पूजन समस्त ब्रह्माण्ड-शक्तियों के पूजन के समतुल्य पुण्यप्रद है ॥२-४॥

एकाब्दात्षोडशाब्दान्ताः कन्यकाः पूजयेच्छुभाः ॥४॥
विवाहरहिताः स्युश्चेदुत्तरोत्तरसिद्धिदाः।
विवाहितास्तु देवेशि बाला एव कुमारिकाः ॥५॥
सुवासिन्यो मदप्रौढाः संशय त्यज सुव्रते।
कुमारीपूजनं देवि कुमारी मनुना भवेत् ॥६॥
मन्त्रभेदेन तेनैव श्रीविद्यां च प्रपूजयेत्।

हे देवेशि ! एक वर्ष से लेकर सोलह वर्ष तक की शुभ-लक्षण सम्पन्न विवाह-रहिता (अन ब्याही) कन्यायें उत्तरोत्तर सिद्धि प्रदान करने वाली हैं। हे सुव्रते ! यदि विवाहित हों तो वे कुमारिकायें सुवासिनी मद-प्रौढा बाला-स्वरूप हैं। कुमारियों का पूजन कुमारी-मन्त्र से करना चाहिए। वय या अवस्था भेद से कुमारियों की विभिन्न-विभिन्न संज्ञायें है और तदनुसार उनके पूजन-मन्त्र हैं। इन्हीं मन्त्रों से श्रीविद्या की पूजा करनी चाहिए ॥४-७॥

नैमित्तिकं प्रवक्ष्यामि येन ब्रह्ममयो बुधः ॥७॥
निर्विकल्पस्य देवेशि नान्यस्य सुरवन्दिते।
सर्वशङ्काविनिर्मुक्तः सर्वज्ञः साधकोत्तमः ॥८॥
दूतीयागविधिं कुर्यात्खेचरो जायते प्रिये।
अर्घ्यपात्रे वह्निसूर्यसोमामृतमये शिवे ॥९॥
सोमामृतं तु जानीहि नानाद्रव्यमयं सदा।
सविकल्पस्य देवेशि वर्णानुक्रमभेदतः ॥१०॥
कथ्यन्ते द्रव्यभेदास्तु क्रमेण वरवर्णिनि।
क्षीराज्यमधुमैरेयद्रव्यभेदा भवन्ति हि ॥११॥

दूतीयाग विधि—कुमारी पूजन की विधि बताने के बाद अब निर्विकल्प साधकों के लिये नैमित्तिक-पूजन की विधि बताई जा रही है। इस विधि से पूजन करके वह ब्रह्म-मय हो जाता है।

हे सुरवन्दिते ! यह नैमित्तिक-पूजा विधि निर्विकल्प साधकों के लिये विहित है। अन्य सामान्य साधकों को इस विधि से पूजन का अधिकार नहीं है। इस विधि से पूजन करने वाले साधक को सभी शंकाओं से मुक्त और सर्वज्ञ अर्थात् पूर्णतः ज्ञान सम्पन्न होना चाहिए। इस विधि का नाम है—'दूती-याग'। इस विधि से पूजन करने से साधक आकाशचारी हो जाता है। हे शिवे ! सर्व प्रथम अग्नि-सूर्य और चन्द्र मय अर्घ्य-पात्र की स्थापना करनी चाहिए। इस अर्घ्य-पात्र को यथा-विहित द्रव्यों से पूरित करना चाहिए। अर्घ्य-पात्र में स्थित द्रव्य को सोमामृत (चन्द्रमा से स्रवित-अमृत) समझना चाहिए। हे देवेशि ! सर्व-शंका निर्मुक्त ज्ञानवान् सविकल्प साधकों के लिये क्षीर (दूध) आज्य (घी), मधु (शहद) और मैरेय वर्ण अनुक्रम के अनुसार अर्घ्य-पात्र में भरे जाने वाले द्रव्य हैं ॥७-११॥

सर्वज्ञत्वे वरारोहे यज्ञे दोषो न विद्यते।
अश्वमेधादियज्ञेषु वाजिहत्या कथं भवेत् ॥१२॥

हे वरारोहे ! विधि और निषेध विषयक सभी शंकाओं से निर्मुक्त सर्व-ज्ञान सम्पन्न साधक के लिये यज्ञ आदि में सामान्यतः निषिद्ध कार्य दोषवह नहीं होते । हत्या करना पाप है, निषिद्ध है तो फिर अश्वमेधआदि यज्ञों में अश्व (अर्थात् पशु) की हत्या (बलि) क्यों की जाती है । इसका कारण यह है कि जो पशु-हत्या अन्यत्र गर्हित, निषिद्ध और पाप-कृत्य है, वही पशु-बलि के रूप में यज्ञ आदि में प्रशस्त है । इसी प्रकार याग-कर्म में मैरेय (मद्य) का प्रयोग पाप नहीं है ॥१२॥

द्रव्यभेदा वरारोहे बहवः सन्ति भेदतः ।
जलं क्षीरं घृतं भद्रे मधु मैरेयमैक्षवम् ॥१३॥
पौष्यं तरुमयं धान्यसंभवं बहुनिर्मितम् ।
सहकारभवं देवि विविधं बहुभेदतः ॥१४॥
मादकं धर्मसंछेदाद्वर्ज्यमासीत्सुलोचने ।
ज्ञानेन संस्कृतं तत्तु महापातकनाशनम् ॥१५॥

हे भद्रे ! जल, क्षीर, मधु, घृत और मैरेय (मद्य) आदि द्रव्य के अनेक भेद हैं । इनमें भी गन्ने के रस, पुष्य, तरु (वृक्षों की छाल आदि) अनाज, तथा सहकार (आम) आदि से बनाये गये मैरेय (मद्य) के भी अनेक भेद हैं । हे सुलोचने ! मादक (नशीला) होने के कारण मैरेय (मद्य) धर्म में विहित नहीं है । सुरा-पान पाप है, परन्तु जब अर्चन के समय यही सुरा मन्त्रों से संस्कृत (संस्कार युक्त) कर ली जाती है, वह सभी प्रकार के पातकों का नाश करने वाली हो जाती है ॥१३-१५॥

विमर्श—'कुलार्णव-तन्त्र' (पञ्चम-उल्लास) के अनुसार पैष्टी, गौड़ी और माध्वी-ये तीन प्रकार की सुरा मुख्य होती हैं । वहीं विविध द्रव्यों से निर्मित बारह प्रकार के मद्यों के नाम और इनके बनाने की विधि भी बताई गई है । सुरा की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—इसके (सुरा के) दर्शन से सभी पापों से मुक्ति मिलती है, मद्य के स्पर्श से करोड़ों तीर्थों का फल मिलता है और इसके पान से चारों प्रकार की मुक्तियाँ (मोक्ष) प्राप्त होती हैं (श्लोक संख्या ३८ एवं ३९) क्योंकि 'इसको पीने से चित्त का शोधन होता है । (श्लोक संख्या-४१)

ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयादिपातकान् ।
नाशयेत्पूजनाद्देवि निर्विकल्पः स मन्त्रवित् ॥१६॥

हे देवि ! ब्रह्म हत्या, सुरापान, सोने (स्वर्ण) की चोरी आदि महापातकों का पूजा से जो नाश कर देता है, वही निर्विकल्प है, मन्त्र वेत्ता है ॥१६॥

विचारयेत्सदा सर्वं सर्वविद्वीरवन्दिते ।
जलं जलचरं विद्धि घटं पूर्णं समानयेत् ॥१७॥

स्थापितं देवि सप्ताहाज्जलं जीवसमन्वितम्।
क्षीरं वै यस्य जीवस्य तस्य मांसं न संशयः ॥१८॥

हे वीरवन्दिते ! सर्व-विद् साधक को सदैव यह विचार करना चाहिए कि सभी जल जलचर युक्त है। हे देवि ! एक घट लेकर उसे जल से भर दे। उस जल में जीव (जलचर जीव) डाल कर एक सप्ताह तक पड़ा रहने दे। सात दिनों में वह जल उक्त जलजीव समन्वित हो जाता है। हे देवि ! उक्त जल में जिस जीव का मांस समन्वित हो जाता है, वह जल उस जीव का क्षीर होता है ॥१७-१८॥

कृशा पुत्रवती नारी वन्ध्या पुष्टा यतः प्रिये।
माकन्दफलजं रम्यं द्रावं सेव्यं द्विजातिभिः ॥१९॥
अमादकत्वाद्देवेशि चैक्षुत्वं सेव्यते बुधैः।
अनामिषं नास्ति किंचित्सर्वं क्षीरादिकं प्रिये ॥२०॥

हे प्रिये ! शिशु को स्तन-पान कराने के कारण पुत्रवती नारी मोटी नहीं होती जबकि बन्ध्या स्त्री हृष्ट-पुष्ट होती है। इससे यह प्रतीत होता है कि क्षीर आदि सभी द्रव्य अनामिष नहीं, अपितु सामिष हैं। हे देवि ! द्विजातियों को आम के रस से निर्मित सुस्वादिष्ट द्रव का सदा पान करना चाहिए। चूँकि गन्ना के रस से निर्मित सुरा अमादक (मादकता-रहित) होती हैं, अतः बुद्धिमान् पुरुष इसका सेवन करते हैं ॥१९-२०॥

वेदशास्त्रपुराणेषु गूढो ज्ञानसमुच्चयः।
शमीवृक्षे यथा वह्निस्तथा तिष्ठति सुन्दरि ॥२१॥
सर्वभूतेषु विज्ञानं ज्ञातव्यं देशिकोत्तमैः।
काष्ठनिर्मथनाद्देवि प्रकटो वह्निरुच्यते ॥२२॥
तत्काष्ठं दह्यते तेन तथा ब्रह्ममयं जगत्।
पापपुण्यविनिर्मुक्तं ज्ञानमेतद्वरानने ॥२३॥

हे सुन्दरि ! जिस तरह शमी के वृक्ष में गुप्त रूप से अग्नि विद्यमान् है, उसी प्रकार से वेद-शास्त्र और पुराण आदि ग्रन्थों में गूढ़-ज्ञान छिपा हुआ है। हे देवि ! सभी प्राणियों में ज्ञान-राशि छिपी हुई है, उत्तम मन्त्र-साधक को यह जानना चाहिए। सूखी हुई लकड़ियों में आग छिपी हुई है। इन लकड़ियों को परस्पर रगड़ने से उनमें तिरोहित अग्नि का प्रकटन होता है और वह सूखी हुई लकड़ियों को जलाकर राख कर देती है। उसी प्रकार ब्रह्ममय जगत् वस्तुतः पाप और पुण्य से रहित है। हे वरानने ! यही ज्ञान है ॥२१-२३॥

किंचिदुल्लासपर्यन्तं ग्राह्यमेतत्सुरेश्वरि।
यज्ञाङ्गं तु यतो लौल्यात्पातकी ब्रह्महा भवेत् ॥२४॥

मादकं वस्तु सकलं वर्जयेत्कनकादिकम् ।
कलञ्जं पातकी तस्माद्ब्रह्म ब्रह्मविदां वरः ॥२५॥

हे सुरेश्वरि ! ज्ञानपूर्वक मन्त्रों से संस्कृत सुरा को ग्रहण करना भगवती त्रिपुरा के अर्चन रूप यज्ञ का एक भाग है। यह 'सुरा' यज्ञ का प्रसाद है। किंचित् उल्लास पर्यन्त इसे ग्रहण करना चाहिए। जो साधक नशा करने की चाहत से इस 'सुरा' का पान करता है, उसे ब्रह्म-हत्या का पाप लगता है। धूतरा आदि नशीली वस्तुओं का सेवन सर्वथा वर्जित है। अतः मादक और विषैली वस्तुओं का सेवन पाप है और ऐसी वस्तुओं का सेवन करने वाला पापी होता है और ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म होता है ॥२४-२५॥

विमर्श—नशे के लिये मद्य-पान करना और नशे में होश हवास खो बैठना ब्रह्म-हत्या और गुरुतल्प गमन के समान पाप है—परन्तु ब्रह्मानन्द प्राप्ति के निमित्त चित्त-शोधन के लिये भगवती को समर्पित सुसंस्कृत 'सुरा' को अर्चन रूप याग के एक आवश्यक अंगभूत कृत्य के रूप में ग्रहण करना प्रशस्त है। नशे की एक विशेषता यह भी है कि जैसे जैसे नशा बढ़ता जाता है, मादक वस्तु के प्रति लालच भी बढ़ती जाती है। अर्चन रूप यज्ञ के एक आवश्यक कृत्य के रूप में सुरा ग्रहण करने का उद्देश्य ब्रह्मानन्द की अनुभूति के लिये चित्त का शोधन है, अतः इसे उतनी ही मात्रा में ग्रहण करना चाहिए जितनी मात्रा से चित्त में आनन्द और उल्लास आ जाये मगर मन पर नियन्त्रण बना रहे। इसीलिये कदम पर यह कठोर निदेश दिया गया है—यथा 'कुलार्णव' में।

यावन्नेन्द्रिय वैकल्यं यावन्नो मुखवैकृतम् ।
तावदेव पिबेन्मद्यमन्यथा पतनं भवेत् ॥ (७/९८)

'किञ्चिदुल्लास पर्यन्तम्'—'कुछ उल्लास होने तक'। कुलार्णव तन्त्र (अष्टम उल्लास) में 'उल्लास' के सात भेद बताये गये हैं। यथा—

(१) आरम्भ, (२) तरुण, (३) यौवन, (४) प्रौढ, (५) प्रौढान्त, (६) उन्मना और (७) उन्मानान्त-उल्लास।

धर्माधर्मपरिज्ञानात्सकलेऽपि पवित्रता ।
विण्मूत्रं स्त्रीरजो वाऽपि नखास्थि सकलं प्रिये ॥२६॥

हे प्रिये ! धर्म और अधर्म का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर पवित्रता और अपवित्रता का परिज्ञान हो जाता है। यह परिज्ञान हो जाने पर विष्ठा, मूत्र, स्त्रीरज, नख और अस्थि आदि यथा—प्रयोजन पवित्र हो जाते हैं ॥२६॥

विचारयेन्मन्त्रवित्तु पवित्राण्येव सुव्रते ।
अन्नं ब्रह्म विजानीयात्तेन यस्य समुद्भवः ॥२७॥
नानाजीवाश्रयं तत्तु पुरीषं केन निन्द्यते ।
नानाविधा हि देवेशि देवताः सलिलस्थिताः ॥२८॥
तेनोदकेन यज्जातं मूत्रं कस्मात्तु दूषयेत् ।
गोमूत्रप्राशनं देवि गोमयस्यापि भक्षणम् ॥२९॥
प्रायश्चित्ते तु कथितं ब्रह्महत्यादिके प्रिये ।
मले मूत्रे कथं दोषो भ्रान्तिरेव न संशयः ॥३०॥

हे सुव्रते ! मन्त्र-वेत्ता साधक यथा-प्रयोजन इस वस्तुओं के प्रति भी पवित्रता का भाव रखे । अन्न तो ब्रह्म है । ब्रह्म-स्वरूप है । विष्ठा इसी अन्न का एक परिवर्तित रूप है । अनाज से ही विष्ठा की उत्पत्ति होती है । फिर उसमें विविध जीव भी पलते हैं । अत: विष्ठा को सर्वथा निन्दनीय कैसे समझा जा सकता है । हे देवि ! जल में अनेक देवताओं का वास है, और इस जल से ही मूत्र की उत्पत्ति होती है । अत: इस जल रूप मूत्र को किस तरह दूषित कहा जा सकता है । तात्पर्य यह है कि मन्त्र-वेत्ता ज्ञानी साधक को विष्ठा और मूत्र सदृश्य अपवित्र समझी जानी वाली वस्तुओं के प्रति भी पवित्रता का भाव, पवित्रता का विचार रखना चाहिए । हे देवि ! ब्रह्म-हत्या जैसे घोर पाप के प्रायश्चित्त के लिये गोमूत्र का प्राशन तथा गोमय (गोबर) का भक्षण आवश्यक है । अत: मल-मूत्र जैसे पदार्थ भी सर्वथा एवं सार्वकालिक रूप से अपवित्र एवं दूषित हैं, यह समझना और मानना निस्सन्देह भ्रान्ति है । यथा समय यथा प्रयोजन ये वस्तुयें भी पवित्र तथा ग्राह्य हैं ॥२७-३०॥

स्त्रीरजः परमेशानि देहस्तेनैव जायते ।
कथं तु दूषणं येन प्राप्यते परमं पदम् ॥३१॥
पुरुषस्य तु यद्वीर्यं बिन्दुरित्यभिधीयते ।
बिन्दुस्तु परमेशानि कायोऽयं शिवरूपकः ॥३२॥
शिवतत्त्वेन चास्थ्यादिदूषणं नास्ति बैन्दवे ।
रेतः पवित्रं देहस्य कारणं केन निन्द्यते ॥३३॥

हे परेशानि ! स्त्री के रज से देह की उत्पत्ति होती है—और देह धर्म-साधन एवं परम-पद प्राप्ति का साधन है, तो फिर स्त्री-रज को सर्वथा दूषित किस तरह कहा जा सकता है । यही बात पुरुष के वीर्य के प्रसंग में भी लागू होती हैं । पुरुष के वीर्य को बिन्दु कहते हैं । इस 'बिन्दु' से शिव-रूप शरीर की उत्पत्ति होती है । इसी शिव-तत्त्व से मनुष्य के शरीर की हड्डियों का निर्माण होता है, तो फिर इस वीर्य को किस

आधार पर दूषित और निन्दित कहा जा सकता है ? रज और वीर्य भी यथा समय यथा प्रयोजन पवित्र हैं ।।३१-३३।।

ज्ञानमार्गोऽयं सकलो निर्विकल्पस्य सुन्दरि ।
सविकल्पो महेशानि पापभाग्जायते नरः ।।३४।।

हे सुन्दरि ! पवित्रता और अपवित्रता, ग्राह्यता एवं अग्राह्यता, करणीयता और अकरणीयता आदि का यह ज्ञान और विचार, विधि एवं निषेध के सूक्ष्म मर्म को समझने वाले निर्विकल्प (निष्काम) साधकों के लिये हैं । विधि और निषेध के तर्क जाल में फंस हुआ और पग पग पर शंकाशील सकाम व्यक्ति के लिये यह ज्ञान नहीं है । यदि ऐसा व्यक्ति इस ज्ञान के रहस्य को समझे बिना मनमानी करेगा तो वह पाप का भागी होगा ।।३४।।

मातृगर्भाद्विनिर्गत्य शिशुरेव न संशयः ।
इन्द्रियाण्यखिलान्यस्य देहस्थान्यपि वल्लभे ।।३५।।
निर्विकारतया तत्र नान्यथा भवति प्रिये ।
भगलिङ्गसमायोगो जन्मकाले भवेत्सदा ।।३६।।
काम्यते सा यदा देवि जायते गुरुतल्पगः ।
अत एव यदा तस्य वासना कुत्सिता भवेत् ।।३७।।

हे वल्लभे ! माता के गर्भ में शिशु रहता है । माता के गर्भ में उसकी परवरिश होती है और माता के योनि-मार्ग से वह गर्भ से बाहर आता है । योनि द्वार के माध्यम से गर्भ से बाहर निकलते समय शिशु के लिङ्ग का मातृ-योनि से स्पर्श होता है । उस समय शिशु सर्वथा निर्विकार होता है, उसकी इन्द्रियाँ भी निर्विकार होती हैं । अत: जन्म के समय मातृ-योनि के स्पर्श का उसे दोष नहीं लगता, परन्तु सज्ञान होने पर कामना के वशीभूत होकर मातृ-योनि का संयोग करता है तो वह गुरु तल्प गमन का घोर पाप करता है । इस घोर पाप और अपराध के लिये वह हर दृष्टि से कठोर दण्ड का भागीदार हो जाता है । इससे यह समझना चाहिए कि दोष कार्य में नहीं अपितु कार्य के पीछे की नीयत में है । वासना और इच्छा पर कार्य का गुण या दोष निर्भर है ।।३५-३७।।

तत्तद्भूषणसंयुक्तमन्यत्सर्वं शुभं भवेत् ।
पवित्रं सकलं भद्रे वासना कलुषा स्मृता ।।३८।।

हे भद्रे ! वासना न रहने पर सभी कार्य प्रशस्त और दोष मुक्त हैं परन्तु यदि वे ही कार्य वासना-मूलक हैं तो वे दूषित और गर्हित माने जाते हैं । अत: कार्य दूषित नहीं है, वासना दूषित है ।।३८।।

वस्तुओं की पवित्रता एवं अपवित्रता तथा कामों की करणीयता और अकरणयीता के सूक्ष्म विचार का 'गुर' बताने के बाद दूती-याग के मूल-प्रसंग पर वापस आकर उसके सम्पादन की विधि प्रारम्भ की जा रही है।

अत एवार्घ्यपात्रस्य प्रतिष्ठानन्तरं ततः।
मञ्चकं गजदन्तस्य हेमरूप्यादिनिर्मितम् ॥३९॥
विशुद्धक्षौमरचितां तूलिकां तत्र योजयेत्।
पुष्पान्विकीर्य तन्मध्ये कर्पूरस्य रजस्तथा ॥४०॥

अर्घ्य पात्र स्थापित करने के बाद हाथी दाँत अथवा स्वर्ण आदि से निर्मित पलंग पर शुद्ध और नरम रूई (कपास) का गद्दा बिछा कर उसके मध्य भाग को पुष्पों से तथा कपूर के बहुत ही महीन चूर्ण से सुसज्जित करे ॥३९-४०॥

मण्डूकादींस्ततो देवि उपर्युपरि शैलजे।
मण्डूकं पूजयेदादौ रुद्रं कालाग्निसंयुतम् ॥४१॥
आधारशक्तिं कूर्मं च तथाऽनन्तं वराहकम्।
पृथिवीं च तथा कन्दं नालं पद्मं तथा दलान् ॥४२॥
केसराणि च संपूज्य कर्णिकां पूजयेत्ततः।
मञ्चकं च समभ्यर्च्य तत्र पादचतुष्टये ॥४३॥

हे शैलजे ! इस पलंग के मध्य भाग में सर्व-प्रथम मण्डूक की पूजा करे। मण्डूक के ऊपर कालाग्नि संयुक्त रुद्र की, उसके ऊपर आधार-शक्ति की, फिर उसके ऊपर-ऊपर के क्रम से कूर्म, अनन्त वराह, पृथ्वी, पृथ्वी के ऊपर (आनन्द) कन्द, उस पर कमल नाल, पदम, पद्मदल, फिर केसर और कर्णिका की पूजा करे ॥४१-४३॥

धर्मं ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च क्रमाद्यजेत्।
अपूर्वान्पूजयेदेतांस्तत्पादानां समीपके ॥४४॥
आत्मान्तरात्मपरज्ञानात्मनः क्रमाद्यजेत्।
मञ्चकाग्रेषु संपूज्य गुणत्रयमथार्चयेत् ॥४५॥

मञ्च पर पीठ देवताओं का पूजन करने के बाद उसके (पलंग) के चारों पैरों में धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य की तथा चारों कोनों में क्रमशः अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य की पूजा करे। आत्मा-अन्तरात्मा, परमात्मा एवं ज्ञानात्मा की क्रमशः पूजा करके पलंग के सामने तीनों गुणों की पूजा करे ॥४४-४५॥

दूतीं सुलक्षणां रम्यां सर्वलक्षणलक्षिताम्।
नानालंकारसुभगां सर्वज्ञां शारदामिव ॥४६॥

पूजयेत्परमेशानि पञ्चकामैः शरैस्तथा ।
बटुकादिंश्चतुर्दिक्षु पूजयेत्सिद्धिहेतवे ॥४७॥

हे देवि ! उसके बाद पञ्च काम और पञ्च बाण बीजों से सर्वाङ्ग सुन्दरी, सर्व लक्षण सम्पन्ना, विविध अलंकारों से विभूषित, शारदा के समान ज्ञानवती 'दूती' की पूजा करनी चाहिए । इसके बाद सिद्धि प्राप्ति के लिये चारों दिशाओं में बटुक आदि (बटुक, भैरव, दुर्गा और क्षेत्रपाल) की पूजा करनी चाहिए ॥४६-४७॥

मातृकां विन्यसेत्तस्या देहे कामशरान्विताम् ।
त्रिकोणं चिन्तयेन्मूर्ध्नि तत्र संपूजयेत्क्रमात् ॥४८॥

इसके बाद काम और बाण बीज के साथ कुल-नायिका के शरीर में मातृका-न्यास करें । उसके भाल में त्रिकोण की भावना करके उस त्रिकोण में कुलाध्यक्ष गणेश आदि की इस प्रकार पूजा करे ॥४८॥

त्रिकोणमध्ये बालाख्यां कामेशीं परिपूजयेत् ।
गणेशं च कुलाध्यक्षं तथा लक्ष्मीं सरस्वतीम् ॥४९॥
त्रिकोणेषु च संपूज्य वसन्तं मदनं प्रिये ।
स्तनयोः पूजयेत्पश्चान्मुखे तस्याः कलाधरम् ॥५०॥

त्रिकोण के मध्य में बाला-कामेश्वरी की और त्रिकोण के तीनों कोणों में कुलाध्यक्ष गणेश, लक्ष्मी और सरस्वती की पूजा करे । तत्पश्चात् उसके दोनों स्तनों पर क्रमशः वसन्त और मदन की तथा मुख पर चन्द्रमा की पूजा करे ॥४९-५०॥

विमर्श—तन्त्रान्तर के अनुसार 'ऐं क्लीं स्त्रीं क्लीं ब्लूं आधार' शक्ति श्रीपादुकां पूजयामि' इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए दूती के ललाट पर सिन्दूर का त्रिकोण-यन्त्र लिखकर उसमें पूजन करना चाहिए ।

दक्षपादादिमूर्धान्तं वामे मूर्धादि सुन्दरि ।
पादान्तं पूजयेत्सर्वाः कला वै कामसोमयोः ॥५१॥

तत्पश्चात् शक्ति के दाएँ पैर से लेकर मस्तक के दायें भाग तक और मस्तक के बाएँ भाग से बाएँ पैर तक 'काम' और 'सोम' की कलाओं का पूजन करना चाहिए ॥५१॥

श्रद्धा प्रीती रतिश्चैव धृतिः कान्तिर्मनोरमा ।
मनोहरा मनोरामा मदनोन्मादिनी प्रिये ॥५२॥
मोहिनी दीपनी चैव शोषणी च वशंकरी ।
रञ्जनी सुभगा देवि षोडशी प्रियदर्शना ॥५३॥

षोडशस्वरसंयुक्ता एताः कामकला यजेत्।
पूषा वशा च सुमना रतिः प्रीतिस्तथा धृतिः ॥५४॥
ऋद्धिः सौम्या मरीचिश्च शैलजे चांशुमालिनी।
अङ्गिराः शशिनी चैव छाया संपूर्णमण्डला ॥५५॥
तथा तुष्ट्यमृते चैव कलाः सोमस्य षोडश।
स्वरैरेव प्रपूज्या हि सर्वकार्यार्थसिद्धिदाः ॥५६॥

(१) श्रद्धा, (२) प्रीति, (३) रति, (४) धृति, (५) कान्ति, (६) मनोरमा, (७) मनोहरा, (८) मनोरामा, (९) मदना, (१०) उन्मादिनी, (११) मोहिनी, (१२) दीपनी, (१३) शोषणी, (१४) वशङ्करी, (१५) रञ्जनी और (१६) प्रियदर्शना—ये काम की १६ कलायें हैं।

(१) पूषा, (२) वशा, (३) सुमना, (४) रति, (५) प्रीति, (६) धृति, (७) ऋद्धि, (८) सौम्या, (९) मरीचि, (१०) अंशुमालिनी, (११) अंगिरा, (१२) शशिनी, (१३) छाया, (१४) सम्पूर्ण मण्डला, (१५) तुष्टि और (१६) अमृता—ये सोम-कलायें हैं।

प्रत्येक कला के नाम के साथ एक-एक स्वर-वर्ण की योजना करके उनका पूजन करना चाहिए। यथा अं श्रद्धायै नमः। अं पूषायै नमः इत्यादि। ये काम-सोम कलायें सर्वार्थ सिद्धिदात्री हैं ॥५२-५६॥

बालाक्रमं मस्तकेऽस्याः संपूज्य तदनन्तरम्।
तस्या मदनगेहं तु पूजयेद्भगमालया ॥५७॥
त्रिकोणं तद्भगं ज्ञात्वा सर्वसिद्धिप्रदाभिधम्।
सर्वानन्दमयं मध्ये चक्रयुग्मं प्रपूजयेत् ॥५८॥
पूर्ववत्क्रमयोगेन (ण) श्रीविद्यां तत्र पूजयेत्।

उसके मस्तक पर बाला का क्रम पूर्वक पूजन करके उसके 'मदन-गेह' का भगमाला के मन्त्र से पूजन करे। सर्व-सिद्धि दायक उसके भग को त्रिकोण स्वरूप समझ कर उसके मध्य में सर्वानन्दमय दो चक्रों का पूजन करके पूर्व क्रम के अनुसार उसमें 'श्रीविद्या' का षोडशोपचार से पूजन करे ॥५७-५९॥

विमर्श—तन्त्रान्तर में बताया गया है कि इस पूजन में आवाहन और जीव-न्यास करने की आवश्यता नहीं है। केवल षोडशोपचार से इष्ट-देवता की पूजा करनी चाहिए। इसी से सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जायेंगी।

धूपादिकं समर्प्याथ स्वलिङ्गे तदनन्तरम् ॥५९॥
तारं च भुवनेशानि महात्रिपुरसुन्दरि ।
नमः शिवाय विद्येयं दशार्णा परिकीर्तिता ॥६०॥
अनया विद्यया देवि स्वलिङ्गे पूजयेच्छिवम् ।
यजेत्तत्पुरुषाघोरसद्योवामेशसंज्ञया ॥६१॥
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
शान्त्यतीता च संपूज्या षडङ्गावरणं यजेत् ॥६२॥
समग्रविद्यामुच्चार्य नन्दिकेशं प्रपूजयेत् ।
मध्ये वृषणयोर्देवि गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ॥६३॥

इसके बाद धूप-आदि समर्पित करते हुए 'ॐ ह्रीं ऐं क्लीं सौः नमः शिवाय' इस दशाक्षरी मन्त्र से अपने लिङ्ग की पूजा करे । तत्पश्चात् तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव और ईशान मन्त्रों से उसकी पूजा करे । फिर निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता-इन कलाओं का पूजन करके षडङ्ग-आवरणों का अर्चन करे । हे देवि ! तदनन्तर समग्र-विद्या का उच्चारण करते हुए अण्ड कोश के मध्य में गन्ध पुष्प अक्षत आदि से नन्दिकेश की पूजा करनी चाहिए ॥५९-६३॥

निवेद्य धूपदीपादि विजितेन्द्रियमानसः ।
सर्वक्षोभिणीं मुद्रां बद्ध्वा योनिं प्रचालयेत् ॥६४॥
क्षोभिण्यां वाऽथ वा देवि गजतुण्डाख्ययाऽथ वा ।
उच्चरन्भगमालां तु द्राविणीबीजमुच्चरेत् ॥६५॥
अक्षुब्धः सन्वरारोहे यावद्रेतः प्रवर्तते ।
रजोमयं रजः साक्षात्संविदेव न संशयः ॥६६॥

इन्द्रिय और मनः पर नियन्त्रण रखते हुए वीर-साधक धूप-दीप आदि समर्पित कर सर्वक्षोभिणी या क्षोभिणी मुद्रा प्रदर्शिव कर गजशुण्ड मुद्रा से कुलागार में लिंग को प्रविष्ट करे । इस समय अक्षुब्ध रहकर भगमाला मन्त्र और द्राविणी बीज (द्रां) का उच्चारण करता रहे ॥६४-६६॥

प्रकृतिः परमेशानि वीर्यं पुरुष उच्यते ।
सर्वं साक्षात्समारस्यं शिवशक्तिमयं ततः ॥६७॥
तयोर्योगो महेशानि योग एव न संशयः ।

हे परमेशानि ! रज प्रकृति है और वीर्य पुरुष है । रज और वीर्य का साक्षात् सामरस्य शिवशक्ति मय है । हे महेशानि ! इन दोनों अर्थात् शिव और शक्ति के सम्मिलन का नाम ही योग है ॥६७-६८॥

सीत्कारो मन्त्ररूपस्तु वचनं स्तवनं भवेत् ॥६८॥
नखदन्तक्षतान्यत्र पुष्पाणि विविधानि च ।
कूजनं गायनं स्तुत्या ताडनं हवनं भवेत् ॥६९॥
आलिङ्गनं तु कस्तूरीघृसृणादिकमद्रिजे ।
मर्दनं तर्पणं विद्धि वीर्यपातो विसर्जनम् ॥७०॥

हे महेशानि ! इस अर्चन में सीत्कार (हर्ष जनित सिसकी) ही मन्त्र स्वरूप है, वचन (प्रेमालाप) ही स्तवन है, नखक्षत और दन्त क्षत आदि विविध प्रकार के पुष्प हैं, कूजन (किलकारी) स्तुतिगान और ताडन ही हवन है। आलिङ्गन ही कस्तूरी-घुसृण आदि सुगन्धित द्रव्य समर्पण है। कुच मर्दन तर्पण है और वीर्यपात विसर्जन है ॥६८-७०॥

कुलद्रव्येण संशोध्य शिवशक्तिमयं प्रिये ।
बीजामृतं परब्रह्मरूपं निक्षिप्य सुन्दरि ॥७१॥
अर्घ्यपात्रामृते त्यक्त्वा निर्विकल्पः सदाऽनघः ।
श्रीविद्याक्रममभ्यर्च्य परब्रह्ममयो भवेत् ॥७२॥

हे सुन्दरि ! उक्त 'कुलद्रव्य' शिव-शक्तिमय बीजामृत है। वह परब्रह्म स्वरूप है। इस कुलद्रव्य का शोधन करके अर्घ्य-पात्र में डाल दे। फिर इस अर्घ्य पात्र के अमृत के द्वारा पूजन करने से साधक निर्विकल्प हो जाता है। इस भाव से श्रीविद्या पूजन के क्रमानुसार साधना करने से साधक परब्रह्म मय हो जाता है ॥७१-७२॥

विमर्श—वृहत् तन्त्रसार में यथा उद्धृत 'कुलार्णव' के अनुसार—आलिङ्गन, चुम्बन, स्तन मर्दन, दर्शन, स्पर्शन, योनि-विकास, लिङ्ग घर्षण, प्रवेश और स्थापन शक्तिपूजा के ये नौ (९) पुष्प हैं।

कुल द्रव्य का शोधन—'श्री क्रम संहिता' में उक्त 'कुल-द्रव्य' के शोधन का मन्त्र है—

'अमृते अमृतोद्भवे अमृत वर्षिणि देवि ! शुक्रं शापं प्रमोचय प्रमोचय, अमृतं स्रावय स्रावय, अमृतं कुरु कुरु स्वाहा'

इस मन्त्र से 'कुल-द्रव्य' का शोधन हो जाता है। सुगन्धित पुष्प और अक्षत के साथ इस शोधित कुल-द्रव्य को अर्घ्य-जल में मिलाकर उक्त 'कुलागार' में इष्ट देवी की पूजा करनी चाहिए।

विशेष चेतावनी—'कुलामृत' में विशेष निर्देश देते हुए कहा गया है—

पूजा कालं विना नैव पश्येच्छक्तिं दिगम्बराम् ।
पूजां कालं विना नैव, सुधा पेया च साधकैः ॥
आयुषा हीयते स्पृष्ट्वा, पीत्वा च नरकं व्रजेत् ।

पूजा काल को छोडकर कभ्री भी किसी भी समय शक्ति को दिगम्बरा (निर्वस्त्र) न देखे और पूजा-काल को छोड़कर अन्य किसी भी समय सुरा का पान नहीं करे। अन्य समय में सुरा पान करने से नरक में जाना पड़ता है और उसे छूने से आयु-क्षय होता है।

एतत्ते कथितं ज्ञानं सामरस्यं वरानने ।
सविकल्पस्तु देवेशि पापभाग्जायते नरः ॥७३॥
विचिकित्साकरो मन्त्री जायते गुरुतल्पगः ।
अत एव वरारोहे निर्विकल्पः सदा भवेत् ॥७४॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे श्रीविद्यादूतीयजनविधिर्नाम
द्वाविंशः पटलः ।।२२।।

हे वरानने ! पुरुष और प्रकृति के सामरस्य के ज्ञान का हमने आपसे निरूपण किया। हे देवेशि ! इस विषय में सविकल्प (संदिग्ध) होने से मनुष्य पाप का भागी बनता है। जो मन्त्र-साधक इस सम्बन्ध में सन्देह करता है, उसे गुरु तल्प गमन जैसा महापाप लगता है। हे वरारोहे ! अतएव इस समस्त साधना को बिना किसी सन्देह के करना चाहिए ॥७३-७४॥

श्री ज्ञानार्णव नित्या तन्त्र के 'श्रीविद्या दूती यजन विधि' नामक
बाइसवें पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥२२॥

❀

अथ त्रयोविंशः पटलः

श्री ज्ञानदूती यजन-विधि

पटल-प्रस्तावना—तान्त्रिक अर्चन क्रम में जिस तरह 'बहिर्याग' के साथ ही 'अन्तर्याग' (मानस-पूजन), वाह्य-हवन के साथ मानस-हवन की विधि और विधान हैं, उसी तरह दूती याग के दो रूप हैं, दो विधियाँ हैं। पिछले बाइसवें पटल में 'दूतीयाग' की जो विधि बताई गई है, उसे पारिभाषिक-रूप से 'कर्म-दूतीयाग' कहा जाता है। इस पटल में 'ज्ञान-दूती-याग' की विधि बताई जा रही है। यह विधि पूर्णतः ज्ञानमय एवं मानस-पूजन के समान है।

ईश्वर उवाच

दूत्यन्तरं प्रवक्ष्यामि येन ब्रह्म सनातनम्।
प्रणवाख्यं यागगेहं प्रविश्य सुरवन्दिते ॥१॥

ईश्वर ने कहा—'हे सुरवन्दिते ! अब मैं दूती यजन की अन्य विधि बता रहा हूँ। इस यजन-विधि से प्रणव नामक याग-मन्दिर में प्रवेश करके साधक सनातन-ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥१॥

इच्छाज्ञानक्रियाद्रव्यरचितं सुधया युतम्।
अम्बया परमेशानि तत्त्वज्ञानमये शिवे ॥२॥
पर्यङ्के पुरुषार्थैस्तु पादैश्च परिमण्डिते।
आत्मान्तरात्मपरमज्ञानात्माङ्गविभूषिते ॥३॥
तत्पदार्थस्त्वंपदार्थोऽसिपदार्थश्च सुन्दरि।
पदार्थत्रयमेतत्तु ज्ञानसूत्रप्रकाशकम् ॥४॥
एतत्सूत्रमयैः पट्टैर्गुम्फिते ऽम्बरमण्डिते।
सुमनोवाससुभगे परां तत्र प्रपूजयेत् ॥५॥

हे देवि ! इस याग-मन्दिर में इच्छा-ज्ञान और क्रिया रूप द्रव्यों से निर्मित सुधायुक्त अर्ध्य है। वहाँ तत्त्व ज्ञानमय शिव रूप पर्यक (पलंग) है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय उस पलंग के चार पाये हैं। वह पलंग आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा रूप अंगों से विभूषित है। हे सुन्दरि ! 'तत्त्वमसि' यह वेद का महावाक्य है। इसमें 'तत्' 'त्वम्' और 'असि' निर्मित अम्बर (कपड़ा) का उस

याग-मन्दिर में वितान (चन्दोवा) तना हुआ है। सुगन्धित पुष्पों से वह याग-मण्डप महमहा रहा है। इस याग-मण्डप में तत्त्व ज्ञान मय पर्यंक पर भगवती परा की पूजा करनी चाहिए ॥२-५॥

जातिभेदस्तु दूतीनां चतुर्धा वीरवन्दिते।
हस्तिनी शङ्खिनी चैव चित्रिणी पद्मिनी प्रिये ॥६॥
चतुर्विधा हि दूत्यस्तु सुन्दर्यश्चारुलोचनाः।

हे वीर वन्दिते ! हस्तिनी, शङ्खिनी, चित्रिणी और पद्मिनी-दूतियों के ये चार जाति-भेद हैं। ये चारों दूतियाँ अत्यन्त सुन्दर और सुन्दर नेत्रों वाली हैं ॥

वैखरी हस्तिनी ज्ञेया स्थूला यस्माद्वरानने ॥७॥
ययेदं धार्यते सर्वं ब्रह्माण्डपरिमण्डलम्।
वर्गाष्टकेन देवेशि सूते दिग्गजसंचयम्।
तेनेयं करिणी प्रोक्ता मध्यमा शङ्खिनी भवेत् ॥८॥

वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा—ये वाक् (वाणी) के चार रूप हैं। दूतियाँ भी चार हैं—हस्तिनी, शङ्खिनी, चित्रिणी और पद्मिनी है। इनमें से वैखरी वाणी हस्तिनी है। 'वैखरी' वाणी का स्थूलतम रूप है। अपनी स्थूल रूपता के कारण वैखरी वाक् हस्तिनी है। इस 'वैखरी' वाक् ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-मण्डल को धारण कर रखा है। वाणी का यह स्थूलतम रूप जिन वर्णों के संयोजन से अभिव्यक्त होता है, वे समस्त वर्ण 'अ' वर्गादि आठ वर्गों में वर्गीकृत हैं। वैखरी वाणी ने इन आठ वर्गों से आठ दिग् गजों को उत्पन्न क्रिया है, जिन्होंने आठ दिशाओं में स्थित होकर ब्रह्माण्ड के भार को उठा रखा है। इन दिग्गजों को जन्म देने के कारण उसे (वैखरी-वाणी को) करिणी अर्थात् हस्तिनी कहा जाता है ॥७-८॥

शङ्खिनी तु यथा भद्रे विशुद्धा पापवर्जिता।
सर्वदेवप्रिया सा हि शान्तिसौभाग्यशोभिता ॥९॥
तथा वनस्पतिगता मध्यमा वाग्वरानने।

हे भद्रे ! मध्यमा वाक् शंखिनी दूती है। यह विशुद्धा और पापवर्जिता है। यह सभी देवताओं को प्रिय है और शान्ति एवं सौभाग्य से शोभिता है। यह मध्यमा-वाक् वनस्पति गता है अर्थात् इसका निवास वनस्पतियों में है ॥९-१०॥

चित्रिणी वल्लरी देवि महादोष विनाशिनी ॥१०॥
यस्याः फलं वरारोहे शिवशक्तिमयं सदा।
शिवशक्तिमयं देवि प्राणिमात्र जगत्त्रयम् ॥११॥
तेषु सर्वेषु पश्यन्ती जीवेषु परमाश्रया।

बड़े-बड़े दोषों का नाश करने वाली चित्रिणी-दूती वल्लरी (लता) स्वरूपा है। हे वरारोहे ! इस वल्लरी का फल शिव-शक्तिमय है और तीनों लोकों का प्राणि-जगत् भी शिवशक्ति मय है। पश्यन्ती वाक् तीनों लोकों के सम्पूर्ण प्राणि-जगत को आश्रय प्रदान करती हुई प्राणियों के भीतर निवास करती है। पश्यन्ती वाक् चित्रिणी दूती है ॥१०-११॥

परब्रह्मणि संलीना परा वाक्परमेश्वरि ॥१२॥
तां दूतीं तत्र संपूज्य समाधिकुसुमैः शुचिः।
तदङ्गेषु कलाः पूज्याः क्रमेण सुरवन्दिते ॥१३॥

हे परमेश्वरि ! परा-वाक् पर-ब्रह्म में सदा लीन रहती है। शुचिता सम्पन्न साधक उस तत्त्व ज्ञानमय पर्यंक पर समाधि रूपी कुसुमों से उस दूती की पूजा करके उसके अंगों में कलाओं का न्यासपूर्वक अर्चन करे ॥१२-१३॥

पद्मिनी तु परा ज्ञेया हंसस्वच्छविकासिनी।
हंसोदयेन पद्मं हि त्यक्त्वा संकोचमद्रिजे ॥१४॥
विकासयति सौभाग्यं तथा वर्णविलासतः।
परा प्रकाशमायाति पद्मिनीत्वमतो भवेत् ॥१५॥

सूर्य के स्वच्छ और निर्मल प्रकाश से विकास प्राप्त करने वाली पद्मिनी दूती परा-वाणी है। पद्मिनी और परा-वाणी की समरूपता प्रतिपादित करते हुए ईश्वर कहते हैं—हे अद्रिजे ! जिस तरह सूर्य का उदय होने पर पद्मिनी संकोच का त्याग करके खिल उठती है उसी तरह पखब्रह्म में लीन रहने वाली परा-वाणी सृष्टि के उदय-काल में वर्ण-विलास से संसार के सौभाग्य को विकास प्रदान करती है। प्रकाश प्रियता के कारण परा वाणी का पद्मिनीत्व सर्वथा संगत है ॥१४-१५॥

तस्या देहे वरारोहे कलाः पूज्यास्तु षोडश।
चित्कला सत्कला ज्ञानकला संवित्कला तथा ॥१६॥
आत्मनस्तु कला ज्ञेयाश्चतस्रः परमेश्वरि।
विरागता मोक्षकला परमाणुकला तथा ॥१७॥
विद्याकलाचतुष्कं तु विज्ञेयं चान्तरात्मनि।
विद्या संतोषता तृप्तिः परब्रह्मप्रकाशता ॥१८॥
परमात्मकला ज्ञेयाः संलीनाः परवस्तुनि।
लुप्तिः शान्तिकला बोधकला व्याप्तिकला परा ॥१९॥
ज्ञानात्मनः कला ज्ञेयाश्चतस्रः परमेश्वरि।
कलाः षोडश देवेशि श्रीविद्यार्णेषु संस्थिताः ॥२०॥

वे वरारोहे ! उसके शरीर में १६ कलाओं का पूजन करना चाहिए। ये आत्म-चतुष्टय की चित्कला आदि १६ कलायें इस प्रकार हैं। (१) चित्कला, (२) सत्कला, (३) ज्ञानकला और (४) संवित् कला। ये 'आत्मा' की चार कलायें हैं। 'अन्तरात्मा' की चार कलाओं के नाम हैं—(१) विरागता, (२) मोक्ष कला, (३) परमाणु कला और (४) विद्याकला। (१) विद्याकला, (२) संतोषता, (३) तृप्ति और (४) परब्रह्म प्रकाशता—ये 'परमात्मा' की चार कलायें हैं। ज्ञानात्मा की चार कलायें हैं—(१) लुप्ति, (२) शान्ति कला, (३) बोध कला और (४) व्याप्ति कला। हे देवेशि ! श्रीविद्या के वर्णों में ये सभी १६ कलायें संस्थिता हैं ॥१६-२०॥

षोडशार्णा ब्रह्मरूपा कला षोडशरूपिणी।
आत्मा जाग्रत्स्वरूपेण त्रैलोक्यं रचयत्यसौ ॥२१॥
अन्तरात्मा तत्त्वरूपस्तमोरूपश्च मिश्रितः।
अत एव रजोरूपस्तमोरूपः परः शिवः ॥२२॥
परमात्मा हि विज्ञेयो ज्ञानात्मा तुर्यया युतः।
एताः कला वरारोहे तस्या देहे प्रकाशयेत् ॥२३॥

सोलह (१६) अक्षरों वाली षोडश रूपिणी ये कलायें ब्रह्मरूपा हैं। यह जाग्रत्-स्वरूप आत्मा से तीनों लोकों की रचना करती है। अन्तरात्मा सत्व और तमो स्वरूपों का मिश्रित स्वरूप वाला है। रजों रूप और तमो रूप मिश्रित स्वरूप पर-शिव परमात्मा हैं और ज्ञानात्मा तुरीयावस्था से युक्त है। अतएव आत्मा-चतुष्टय की इन १६ कलाओं का उसकी देह में प्रकाश (न्यास पूर्वक अर्चन) करना चाहिए ॥२१-२३॥

तत्पदार्थं तु जानीहि मुखमस्या वरानने।
त्वंपदार्थोऽसिवाक्यार्थः कुचयुग्मं क्रमेण हि ॥२४॥
भोगस्तु परमेशानि नादो ब्रह्ममयो भवेत्।
नादोदितं वरारोहे विश्वं योनिर्न संशयः ॥२५॥

'तत्त्वमसि' (वह तुम हो) वेद का महावाक्य है। इसमें तीन पद हैं—'तत्' 'त्वम्' और 'असि'। हे वरानने ! 'तत्-पदार्थ' उसका मुख एवं 'त्वम् पदार्थ' एवं 'असि-पदार्थ' दोनों का वाक्यार्थ उसके दोनों स्तन हैं। हे परमेशानि ! ब्रह्ममय नाद उसका सम्भोग हैं। 'नाद'से उत्पन्न विश्व उसकी योनि है ॥२४-२५॥

तत्रैव शक्तिं संपूज्य स्वात्मलिङ्गं शिवं यजेत्।
परस्परप्रभावेन (ण) ब्रह्मानन्दरसो भवेत् ॥२६॥
तं रसं मनसा देवि वहन्नाड्यागतं प्रिये।
अर्घ्यामृतेन संयोज्य ततः श्रीचक्रमर्चयेत् ॥२७॥

उस योनि में शक्ति की पूजा करके आत्मलिङ्ग-स्वरूप शिव का यजन करके दोनों का सम्मिलन करने से ब्रह्मानन्द रूप रस उत्पन्न होता है। हे देवि ! उस ब्रह्मानन्द रूपी रस को मन के द्वारा नाडियों में लेकर उसे अर्घ्य पात्र के अमृत से संयुक्त करे। फिर ब्रह्मानन्द रस युक्त अर्घ्यस्थ अमृत से श्रीचक्र का पूजन करना चाहिए ॥२६-२७॥

ब्रह्मानन्दमयं ज्ञानं कथयामि वरानने।
न ब्राह्मणो ब्राह्मणस्तु क्षत्रियः क्षत्रियस्तथा ॥२८॥
वैश्यो न वैश्यः शूद्रो न शूद्रस्त परमेश्वरि।
चाण्डालो नैव चाण्डालः पौल्कसो न च पौल्कसः ॥२९॥

हे वरानने ! अब इस ब्रह्मानन्द मय ज्ञान का महत्व बताता हूँ। ब्रह्मानन्द मय ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद न तो ब्राह्मण ब्राह्मण रहता है, न क्षत्रिय क्षत्रिय रहता है, न तो वैश्य वैश्य रहता है, न शूद्र शूद्र रहता है। चाण्डाल चाण्डाल नहीं रहता और न पौल्कस पौल्कस रहता है। इन सभी वर्णों के लोग वर्ग-धर्म और सामाजिक वर्ण-व्यवस्था से ऊपर उठ कर आत्म तत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाते हैं ॥२८-२९॥

सर्वं समं विजानीयात्परमात्मविनिश्चयात्।
आकाशात्पतित तोयं निम्नमार्गेण गच्छति ॥३०॥
ग्राममध्यगतं सर्वं विष्ठामूत्रादिपूरितम्।
मृतगोश्वानमार्जारखरादिरुधिरान्वितम् ॥३१॥
समस्तमपि देवेशि गङ्गायां मिलितं यथा।
गङ्गामृते तु देवेशि कालुष्यं नैव तिष्ठति ॥३२॥

ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने के बाद वह सब में एक ही परमात्म-तत्त्व का दर्शन करने लगता है। उसकी दृष्टि में न कोई ऊँचा होता है न कोई नीचा रहता है। वह सबको सम दृष्टि से देखने लगता है। आकाश से बरसा हुआ पानी ढ़ाल वाली भूमि पर बहता हुआ जब गाँव में पहुँचता है, गाँव की गालियों की सारी गन्दगी विष्ठा और मूत्र, मरे हुए गाय, कुत्ते, बिल्ली और गधे आदि जानवरों का खून-सब उस जल में मिल जातें हैं। गाँव की गन्दगी मिल जाने के कारण वह पानी अशुद्ध और कलुषित हो जाता है परन्तु जब वहीं पानी गंगा में मिल जाता है, गंगा जल के अमृतत्व के कारण उसकी सारी अशुद्धि, उसकी सम्पूर्ण कलुषिता समाप्त हो जाती हैं, और दह जल भी गंगामृत के समान पावन हो जाता है ॥३०-३२॥

तथा सच्चिन्मये ज्ञाने समता सर्वजन्तुषु।
सर्वद्रवेषु गिरिजे समता नात्र संशयः ॥३३॥

हे गिरिजे ! सच्चिन्मय ज्ञान प्राप्त हो जाने पर साधक को सभी प्राणियों और सभी द्रव्यों में समता ही दिखाई देती है । मिट्टी और सोना-दोनों ही उसके लिये बराबर हो जाते हैं ॥३३॥

यथा सूर्यप्रकाशोऽयं समत्वेन प्रवर्तते ।
उत्तमस्यापि चान्यस्य तमः संहरते क्षणात् ॥३४॥
शोषयन्दुग्धमूत्राणि चन्दनं चैव कर्दमम् ।
अत एव महेशानि मन्त्री सर्वसमो यदा ॥३५॥
सिद्धिस्तदैव विज्ञेया श्रीगुरोः कृपया प्रिये ॥३६॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे ज्ञानदूतीयजनविधिर्नाम त्रयोविंशः पटलः ।।२३।।

जिस तरह सूर्य का प्रकाश संसार की सभी अच्छी और बुरी चीजों पर समान रूप से पड़ता है । चाहे अच्छे मनुष्य का घर हो चाहे बुरे मनुष्य का घर हो, सूर्य का प्रकाश सभी के घरों के अन्धेरे को बिना कोई भेद भाव किये क्षण पर भर में समाप्त कर देता है । चाहे दूध हो, चाहे मूत्र, चाहे चन्दन हो अथवा कीचड सूर्य का प्रकाश बिना किसी भेद भाव के सबका समान रूप से शोषण करता है, उन्हें समान रूप से सुखा डालता है । इसी प्रकार हे महेशानि ! जब मन्त्र-साधक को सभी अच्छे और खराब पदार्थों के प्रति समान-दृष्टि, सम-भाव की प्राप्ति हो जाती है, श्री गुरुदेव की कृपा से उसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥३४-३६॥

श्री ज्ञानार्णव नित्यातन्त्र में 'श्री ज्ञान दूती यजन विधि' नामक तेइसवें पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥२३॥

❃

अथ चतुर्विंशः पटलः

श्री दीक्षा विधान

ईश्वर उवाच–

दीक्षाविधिं प्रवक्ष्यामि येन शिष्यः सुखी भवेत् ।
दीयते सकलं देवि गुरवे प्राणसंयुतम् ॥१॥
धनरत्नसुवर्णादिपट्टवस्त्रसमुच्चयम् ।
क्षयं प्राप्नोति तद्भावान्नानापापसमुच्चयः ॥२॥
तस्माद्दीक्षेति नामास्याः सर्वशास्त्रेषु सुव्रते ।

ईश्वर ने कहा—हे देवि ! अब दीक्षा की विधि बता रहा हूँ, जिससे अर्थात् दीक्षा से शिष्य को सुख प्राप्त होता है । 'दीक्षा' में दो अक्षर हैं—'दी' और 'क्षा' । हे देवि ! गुरुदेव को धन, रत्न, स्वर्ण, वस्त्र आदि सहित प्राण भी समर्पित कर देना चाहिए । इस सर्वस्व-दान अथवा समस्त-समर्पण-भाव के परिणाम स्वरूप नाना प्रकार के पापों का क्षय हो जाता है । इसलिये सभी शास्त्रों में इसे 'दीक्षा' कहा गया है ॥१-३॥

विमर्श—आध्यात्मिक-जीवन के लिये दीक्षा परम आवश्यक हैं । 'दीक्षा' के बिना आध्यात्मिक जीवन का श्रीगणेश असम्भव हैं, क्योंकि 'दीक्षा' प्राप्ति के बिना जो भी जप-अर्चन आदि किये जाते हैं उनका न तो फल मिलता है और न ही अदीक्षित व्यक्ति को मन्त्र जप और देवता-अर्चन का अधिकार होता है, जैसा कि 'मेरु-तन्त्र' और 'योगिनी-तन्त्र' में कहा गया है—

तथा चादीक्षितानां च, मन्त्र-देवार्चनादिषु ।
नाधिकारोऽस्यातः कुर्यादात्मनं मन्त्र संस्कृतम् ॥ मेरु-तन्त्र

अदीक्षित व्यक्ति को मन्त्र-जप और देव-अर्चन आदि का अधिकार नहीं है, अतः स्वयं का मन्त्र-संस्कार कराना अनिवार्य है ।

अदीक्षिताः ये कुर्वन्ति, जप-पूजादिकाः क्रियाः ।
न भवेत्तु फलं तेषां, शिलायां गुप्तबीजवत् ॥ 'योगिनी-तन्त्र'

जिस तरह चट्टान में बीज बोने से फसल नहीं होती, उसी तरह 'मन्त्र-दीक्षा प्राप्त किये जिना जप और पूजा आदि का फल नहीं मिलता ।

'दीक्षा' की इस अनिवार्यता का रहस्य 'दीक्षा' शब्द के दोनों घटक अक्षरों 'दी' और 'क्षा' में समाया हुआ है। इन दोनों अक्षरों की तन्त्र-ग्रन्थों में विविध प्रकार से व्याख्या की गई है। उपर्युक्त श्लोकों में इन दोनों अक्षरों की एक व्याख्या हैं। अन्य तन्त्र-ग्रन्थों में 'दी' और 'क्षा' का अर्थ इस प्रकार बताया गया है—

ददाति शिव-तादात्म्यं क्षिणोति च मल-त्रयम्।
अतो दीक्षेति सम्प्रोक्ता, दीक्षा तत्त्वार्थ-वेदिभिः॥

जो शिव के साथ तादात्म्य प्रदान करती है और तीनों प्रकार के मल दूर करती है उसे 'दीक्षा' कहते हैं—'रुद्रयामल'

दीयते ज्ञानमत्यर्थ क्षीयते पाश-बन्धनम्।
अतो दीक्षेति देवेशि! कथिता तत्त्व-चिन्तकैः॥
मनसा कर्मणा वाचा यत् पापं समुपार्जितम्।
तेषां निःशेषकरणी परमा-ज्ञानदा यतः॥
तस्माद् दीक्षेति लोकेऽस्मिन् गीयते शास्त्र-वेदकैः।

जिससे आत्यन्तिक ज्ञान की प्राप्ति होने के फलस्वरूप आठ प्रकार के पाशों-अर्थात् बन्धनों से मुक्ति मिलती है, हे देवेशि! तत्त्व-चिन्तक उसे 'दीक्षा' कहते हैं। मानसिक-वाचिक और कायिक पापों का नाश कर परम ज्ञान प्रदान करती है, अतः इसे संसार में वेद और शास्त्र 'दीक्षा' कहते हैं। योगिनी तन्त्र

दिव्य भाव प्रदानाच्च क्षालनात् किल्विषस्य च।
दीक्षेति कथिता सद्भिः भव-बन्धन विमोचनी॥
दीयते परमा सिद्धिः क्षीयते पाप-सञ्चयः।
प्राप्यते परमं ज्ञानं तेन दीक्षा इतीरिता॥

जिसके द्वारा साधक अपने सम्पूर्ण पापों का नाश कर दिव्य भाव, परम-सिद्धि तथा परम-ज्ञान प्राप्त करता है, उसे दीक्षा कहते हैं।

आध्यात्मिक जीवन के श्रीगणेश के लिये दिव्य-ज्ञान प्रदायिनी और पाप नाशिनी 'दीक्षा' जितनी अनिवार्य है, उतनी ही अनिवार्य और आवश्यक यह बात भी है—'दीक्षा' 'सद् गुरु' से ही प्राप्त की जाये, जैसा कि 'मेरु-तन्त्र' में कहा गया है—

दीयते ज्ञान-विज्ञानं क्षीयन्ते पाप-सञ्चयः।
तेन दीक्षेति हि प्रोक्ता प्राप्ता चेत् सद् गुरोर्मुखात्॥
असद् गुरुः स्वयं नष्टः कथं तारयते परम्।

'दीक्षा' के दिव्य ज्ञान की प्राप्ति और जन्म जन्मान्तर के पापों से निवृत्ति उसी समय होती है, जब मन्त्र-ग्रहण रूप 'दीक्षा' सद् गुरु के मुख से प्राप्त की जाये। असद् गुरु तो अपने आचरण और कर्मों से स्वयं नष्ट हो जाता है, वह दूसरे को अर्थात् शिष्य को किस तरह भव-सागर के पार लगायेगा।

तन्त्र-ग्रन्थों में 'दीक्षा' देने के अधिकारी ऐसे 'सद्-गुरु' के लक्षणों का विस्तार से निरूपण किया गया है। यथार्थ यह है कि ऐसे सद्गुरु के माध्यम से स्वयं भगवान् शिव ही 'दीक्षा' देते हैं और स्वयं भगवती 'दीक्षा' के रूप में अवतरित होती हैं—

कल्याणि! देशिक कटाक्ष-समाश्रयेण
कारुण्यतो भवसि शाम्भव वेध-दीक्षा

हे कल्याणि! तुम स्वयं अपने भक्त का कल्याण करने के लिये देशिक अर्थात् गुरुदेव के कटाक्ष (कृपा-दृष्टि) का आश्रय लेकर सेवक (शिष्य) के समस्त पाश जाल को काटने वाली 'वेध-दीक्षा' बन जाती हो। यहाँ वेध-दीक्षा उप-लक्षण है।

इतनी महिमा-शालिनी 'दीक्षा' देने वाले शिव-स्वरूप ऐसे गुरुदेव के प्रति ही तन-मन-धन सहित प्रणति पूर्वक समर्पण करने का निदेश इस पटल के प्रथम दो श्लोको में दिया गया है।

तन्त्र-ग्रन्थों में जहाँ दीक्षा देने के अधिकारी 'सद्-गुरु' के लक्षण बताये गये हैं, वहीं दीक्षा प्राप्त करने योग्य सद् शिष्यों और दीक्षा के लिये अयोग्य व्यक्तियों के लक्षणों का भी निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ के अगले पाँच श्लोकों में किया गया है। यथा—

पापिने कृपणायापि शठाय कपटाय च ॥३॥
अदीनायाऽऽचारशून्याय मन्त्रद्वेषपराय च।
निन्दकाय च मूर्खाय तीर्थद्वेषपराय च ॥४॥
भक्तिहीनाय देवेशि न देया मलिनाय च।

हे देवि! पापी, कृपण (कंजूस), शठ, कपटी, अदीन (विनय रहित, उद्धत) आचार-शून्य, मन्त्र-द्वेषी, तीर्थ-द्वेषी, मूर्ख, निन्दक, भक्तिहीन और मलिन व्यक्ति को 'दीक्षा' नहीं देनी चाहिए ॥३-५॥

दानशीलाय भक्ताय साधवे तीर्थचेतसे ॥५॥
सन्मार्गवर्त्तिने चाग्नि देवद्विजरताय च।
सर्वशास्त्रार्थवेदार्थ ज्ञानिने सुव्रताय च ॥६॥
दीक्षा देया वरारोहे अन्यथाऽऽपत्तिभाग्भवेत्।
अथ वक्ष्ये वरारोहे दीक्षाकारणमुत्तमम् ॥७॥

हे वरारोहे ! दानशील, भक्त, साधु-स्वभाव, तीर्थप्रेमी, सद्मार्ग पर चलने वाले अर्थात् आचारवान् अग्नि, देवता और ब्राह्मण के प्रति आदर एवं श्रद्धा रखने वाले, शास्त्रों और वेदों का अर्थ समझने वाले, व्रतशील व्यक्ति को दीक्षा देनी चाहिए अन्यथा दीक्षा देने वाला आपत्ति का भागी होता है । हे देवि ! अब मैं दीक्षा-विधान बता रहा हूँ ।।५ $\frac{1}{2}$ -७।।

मण्डपं वेदिकां कृत्वा पुष्पवैतानमण्डितम् ।
दीपमालावलीरम्यं नानाधूपसुधूपितम् ।।८।।
सिन्दूररङ्गमालाभिर्मण्डितं चित्रचित्रितम् ।
वेदिकायां वरारोहे कुङ्कुमेनाथ वा प्रिये ।।९।।
सिन्दूररजसा वाऽपि विलिखेच्चक्रमुत्तमम् ।
मध्यचक्रं वरारोहे नवकोणविराजितम् ।।१०।।
चतुरस्रं च संलिख्य सुवर्णकलशान्नव ।
रौप्यताम्रादिरचितान्मृत्तिकारचितांश्च वा ।।११।।

हे वरारोहे ! पुष्पों के वितान से आच्छादित मण्डप बनवाकर उसे दीप-मालिका से आलोकित एवं विभिन्न प्रकार के धूपों से सुवासित करे । सिन्दूर आदि विविध रंगों के चूर्णों से उसे मण्डित करे अर्थात् रंगोली बनाये । मण्डप के मध्य में वेदी का निर्माण कर उस पर कुंकुम या सिन्दूर से सुरम्य एवं उत्तम चक्र का रेखन करे । उस चक्र के बीच में नौ (९) कोण युक्त यंत्र और चतुरस्र बनाये । उन नौ कोणों पर स्वर्ण अथवा रजत (चांदी) अथवा ताम्र अथवा मिट्टी के नौ कलश स्थापित करे ।।८-१०।।

जलपूर्णान्विशेषाढ्यान्स्वर्णरत्नप्रपूरितान् ।
फलैः पुष्पैश्च सुभगान्सुगन्धेन च चर्चितान् ।।१२।।

इन कलशों को शुद्ध-शीतल जल से आपूरित करे । प्रत्येक कलश में विशिष्ट द्रव्य स्वर्ण और रत्न डाले । इन कलशों को चन्दन-चर्चित करके पुष्प-मालाओं से अलंकृत करे ।।१२।।

विमर्श—सामान्यत: इन कलशों में (१) शुण्ठी, (२) मिरच, (३) पीपल, (४) हरीतिकी, (५) आमलक, (६) विभीतक-त्वक् (बहेड़े की छाल), (७) इलायची, (८) लौंग, (९) पत्र, (१०) नाग-केशर, (११) कंकोल, (१२) मदयली और (१३) सहदेवी इन तेरह औषधियों के चूर्ण से मिश्रित दूर्वा और यज्ञ-भस्म से युक्त सप्त-मृतिका (१) गजशाला, (२) अश्व शाला, (३) चौराहा, (४) वल्मीक, (५) नदी-संगम, (६) तालाब और (७) गोष्ठ (गऊशाला) की मिट्टी डाली जाती है और कलश के जल को गोरोचन, केशर, कपूर और चन्दन से सुवासित किया जाता

है। प्रत्येक कलश को नवीन रक्त वस्त्र द्वय से वेष्टित करके उन्हें पुष्प-मालाओं से अलंकृत किया जाता है।

वशिन्याद्यष्टकं तत्रवसुकुम्भेषु पूजयेत्।
मध्यकुम्भे वरारोहे श्रीविद्यां परितोषयेत्॥१३॥
क्रमं समस्तमभ्यर्च्य कुमार्याद्यर्चनं यजेत्।
सुवासिनीर्ब्रह्मवृन्दं योगिनो विविधानापि॥१४॥
तदङ्गहवनं कुर्यात्सर्वेषां तृप्तिहेतवे।

आठ त्रिकोणों में स्थापित आठ कलशों में वशिनी आदि आठ वाग् देवताओं का पूजन करके मध्यवर्ती कुम्भ में श्री 'श्रीविद्या' का यथा-वैभव अर्चन करे। इसके बाद क्रमशः कुमारियों, सुवासिनों, ब्राह्मणों और योगियों का पूजन करके इन सबकी तृप्ति के लिये अर्चन का अंग-भूत हवन करे॥१३-१५॥

विमर्श—(१) वशिनी, (२) कामेश्वरी, (३) मोदिनी, (४) विमला, (५) अरुणा, (६) जयिनी, (७) सर्वेश्वरी, और (८) कौलिनी-ये आठ वाग्देवता हैं।

गुरुः शिष्यमुपानीय भक्तिनम्रमकल्मषम्॥१५॥
प्राणानायम्य विधिवच्छुद्धपीठे निवेश्य च।
सुरास्त्वामेत्यादिमन्त्रैश्चिरण्टीभिर्युतः स्वयम्॥१६॥
अभिषिञ्चेच्च तन्मूर्ध्नि तदेतत्कलशोदकैः।
परिधाप्य सुवासोभिश्चन्द्रनादवलेप्य च॥१७॥
वामतः परमेशानि स्वासने पूजिते शुचिम्।
सर्वशृङ्गारवेषाढ्यं शिष्यं तत्र निवेशयेत्॥१८॥

हवन के बाद भक्ति और श्रद्धा से अभिभूत शिष्य को लाकर श्रीगुरुदेव प्राणायाम करके शुद्ध-पीठ पर उसे बिठायें। तदनन्तर कलश-जल से चिरण्टियों के द्वारा शिष्य के मस्तक को 'सुरास्त्वामभिषिञ्चतु' आदि अभिषेक-मन्त्रों से अभिषिक्त करें। शिष्य को सुन्दर-वस्त्र, अलंकार से विभूषित और चन्दन-चर्चित कराकर अपने वाम-भाग में स्थापित शुद्ध-पवित्र आसन पर बिठायें॥१५-१८॥

विमर्श—'चिरण्टी' या 'कूर्च' २१ कुशाओं से बनाया जाता है। 'सुराः त्वाम् अभिषिञ्चतु' आदि अभिषेक-श्लोक अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

षडध्वरूपं श्रीचक्रं तस्य मूर्ध्नि विचिन्तयेत्।
अभावे तु वृहच्छङ्खं जलेनाऽऽपूर्य सुन्दरि॥१९॥
कलास्तत्र समाराध्य देवीं सम्पूज्य सेवयेत्।
स्वदृष्ट्याऽऽलोकयेत्तं तु दृष्ट्या दृष्टिं तु मेलयेत्॥२०॥

आज्ञासंक्रमणं कुर्याद्यावन्निश्चलता भवेत् ।
नैश्चल शांभवो वेद्यः शून्याशून्यविवर्जितः ॥२१॥

हे सुन्दरि ! शिष्य को आसन पर बिठाने के बाद 'गुरुदेव' षडध्व युक्त श्री 'श्रीचक्र' उसके भाल पर रख दें । यदि श्री 'श्रीचक्र' का अभाव हो तो एक बड़ा सा शंख लेकर उसे जल से आपूरित करके उसमें कलाओं की पूजा करके भगवती का अर्चन करे । तत्पश्चात् उस शंख को शिष्य के सिर पर स्थापित करें । फिर शिष्य की आँख से आँख मिलाकर मिलाकर निर्निमेष नयनों से देखते हुए उसके आज्ञा-चक्र का संक्रमण करें । यह निश्चलता शाम्भव है, शून्य और अशून्य से रहित शम्भु-भाव की प्राप्ति का द्योतक है ॥१९-२१॥

विमर्श—श्री 'श्रीचक्र' में 'षडध्व' की विद्यमानता का निरूपण दशम पटल (श्लोक ९५ से९८) में किया गया है । 'षडध्व' मय श्री 'श्रीचक्र' को शिष्य के भाल पर रखनेका उद्देश्य शिष्य का 'षडध्व' शोधन है ।

शून्यं शिवमयं वस्तु पुरुषः परमेश्वरि ।
अशून्यं शक्तिराद्या हि प्रकृतिः परमेश्वरि ॥२२॥

हे परमेश्वरि ! शिव शून्य हैं, पुरुष हैं जबकि प्रकृति शून्य रहित आद्या शक्ति हैं ॥२२॥

विमर्श—शिव पुरुष हैं, शून्य रहित हैं, अतएव वे सर्वत्र एवं सर्वदा निर्विकार हैं, गुणातीत हैं—तीनों गुणों से परे रहते हैं । प्रकृति शून्य रहिता है आद्या है तथापि उसमें ही स्थूलता और पृथुलता के कारण तत्त्व अर्थात् कारकत्व बीज निहित हैं । सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण वस्तुतः सृष्टि उन्मुखी प्रकृति के गुण-धर्म हैं । ब्रह्माण्ड की जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थायें प्रकृति के उपर्युक्त तीनों गुणों के प्रकटन से अभिव्यक्त होती हैं ।

इसी का निरूपण करते हुए आगे कहा गया हैं—

शक्त्याधिक्ये रजःस्थौल्यं संयोगाच्छिवयोर्यदा ।
स्वप्नावस्था तदा ज्ञेया योगः शक्त्यधिकस्ततः ॥२३॥
शक्तिर्जाग्रदिति ख्याता शिवो निश्चलता प्रिये ।
सुषुप्तिरिति मन्त्रज्ञैः कथिता निश्चला यतः ॥२४॥
गुणत्रयं तु कथितं जाग्रत्सत्त्वगुणा प्रिये ।
तमोगुणा सुषुप्तिस्तु शिवे निश्चलरूपिणी ॥२५॥

शिव और शक्ति के समायोग से ब्रह्माण्ड की सृष्टि आदि अवस्थायें व्यक्त होती हैं । हे प्रिये ! शिव और शक्ति की इस समायोग स्थिति में शिव-तत्त्व की अधिकता

अर्थात् प्रबलता से ब्रह्माण्ड की सुषुप्ति अवस्था प्रकट होती है। निश्चेष्टता और गतिहीनता निश्चलता के गुण-धर्म है। शिव निश्चल हैं, स्थाणु हैं। अतएव व्यष्टि और अथवा समष्टि जीवन की निश्चेष्ट और गतिहीन निश्चलता मय स्थिति को सुषुप्ति-अवस्था कहा गया है। यह सुषुप्ति अवस्था तमोमयी हैं, सर्वथा शून्य है।

सक्रियता और गत्यात्मकता शक्ति के अवदान हैं। अतएव ब्रह्माण्ड की स्वप्न और जाग्रत् अवस्थायें शक्ति-तत्त्व के प्रभाव या आधिक्य वश होती हैं। यह ब्रह्माण्ड अपनी संकोचावस्था अथवा सूक्ष्म-रूपता को छोड़ता हुआ क्रमशः स्थूल होता है। यह स्थूलता या पृथुलता रजोगुण का लक्षण है। व्यष्टि और समष्टि जीवन में सुषुप्ति के अन्त तथा जाग्रत् अवस्था के पूर्व स्वप्नावस्था होती है, और यह अवस्था रजोमयी है। इस तरह स्वप्नावस्था और रजोगुण में तादात्म्य है। इसीलिये पहिले की कहा जा चुका है—'सुषुप्यन्ते जागरादौ स्वप्नावस्था रजोमयी' (पटल १३/१९) रजोमयी स्वप्नावस्था के बाद पूर्ण-जाग्रत् अवस्था होती है। शक्ति की प्रबलता से होने वाली यह जाग्रत् अवस्था सतो-गुण मयी है ॥२३-२५॥

शिवाधिक्याद्गुणातीतं वस्तु जानीहि सुन्दरि।
शिवशक्तिसमायोगाच्छिवाधिक्यं यदा भवेत् ॥२६॥
तदा तुर्यां विजानीयात्सर्वबन्धनिकृन्तनीम्।
कलाः षोडश देवेशि आत्मज्ञाने व्यवस्थिताः ॥२७॥

शिव गुणातीत है। अतः हे सुन्दरि ! शिव और शक्ति के समायोग में शिव-तत्त्व के प्रबल या अधिक हो जाने पर 'वस्तु' गुणातीत हो जाता है। यह गुणातीत अवस्था सुषुप्ति अवस्था है। इस अवस्था में जब शिवतत्त्व का आधिक्य होता है, उस समय 'तूर्यावस्था' व्यक्त होती है जो समस्त बन्धनों को काट देती है, समाप्त कर देती है। हे देवेशि ! इसी आत्म-ज्ञान में षोडश-कलायें व्यवस्थित हैं ॥२६-२७॥

श्रीविद्याबीजसंलीनाः शिष्यदेहे प्रकाशयेत्।
चतुर्विधा षोडशार्णा महात्रिपुरसुन्दरी ॥२८॥

हे देवि ! श्री गुरुदेव उपर्युक्त जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति और तूर्या (तुरीया) रूप चार अवस्थाओं की आश्रय-भूता भगवती महा-त्रिपुर सुन्दरी की षोडशाक्षरी 'श्रीविद्या' को शिष्य के देह में प्रकाशित करें ॥२८॥

तद्ध्यानात्तु मनःस्थैर्यमुन्मनीति निगद्यते।
ब्रह्मज्ञाने मनः पक्षी तृष्णाचञ्चुविलक्षितः ॥२९॥

हे देवेशि ! 'तद्-ध्यानात्' अर्थात् जाग्रत् आदि अवस्थाओं की आश्रयभूत षोडश-कला मयी षोडशाक्षरी भगवती 'श्रीविद्या' का ध्यान करने से मन की समस्त चञ्चलता समाप्त हो जाती हैं और मन को स्थिरता प्राप्त हो जाती है। मन की यह स्थिरता 'उन्मनी' अवस्था कही जाती है। इस 'उन्मनी' अवस्था से ही 'ब्रह्म-ज्ञान' प्राप्त होता है, परन्तु इस 'मन' को स्थिर कर पाना और स्थिर रखना बहुत कठिन है ॥२९॥

मन की चञ्चलता के कारणों का निरूपण करते हुए आगे कहा गया है।

संकल्पेन विकल्पेन पक्षाभ्यां चञ्चलः सदा।
मोहमत्सरकामैश्च क्रोधाहंकारदुर्मदैः ॥३०॥
संनद्धपिच्छैःसबलः कृत्याकृत्यपदद्वयः।
संसारवृक्षे देवेशि धनपुत्रादिमूलके ॥३१॥
अविद्याविस्तृते निन्दास्तुतिशाखासुशोभिते।
अभिलाषस्फुरत्पुष्पभरिते पातकादिभिः ॥३२॥
पर्णपूर्णे वरारोहे पापपुण्यफलान्विते।
तत्र शाखाद्वये स्थूले श्रुतदृष्टाभिधः स्थितः ॥३३॥

मन एक पक्षी के समान है। संसार की सभी तृष्णायें इसकी चोंच (चञ्चु) हैं। संकल्प और विकल्प इसके दो पंख अर्थात् डैने हैं, जो उसे सदैव चञ्चल बनाये रखते हैं, स्थिर ही नहीं होने देते। अति-दुर्धर्ष मोह, मत्सर, काम, क्रोध, अहंकार इसके पिच्छ हैं, कृत्य और अकृत्य इसके (मन रूपी पक्षी के) दो पैर हैं। यह मन रूपी पक्षी जिस संसार रूपी वृक्ष पर बैठा हुआ है, वह धन-पुत्र आदि मूलक है-अर्थात् धन एवं पुत्र आदि 'सुख' इसकी जड़ है। अविद्या के कारण यह संसार रूपी वृक्ष पनपता और बढ़ता है। निन्दा और स्तुति इसकी शाखायें हैं, डालियाँ हैं। अभिलाषायें और कामनायें इसके फूल हैं। पातक (पाप) इसके पत्ते हैं। पाप और पुण्य इसके फल हैं। यह मन रूपी पक्षी संसार-वृक्ष की ऐसे दो मोटी शाखाओं के मध्य में बैठा हुआ है—जिन्हें श्रुति (वेद अर्थात् सम्यक् ज्ञान) से ही जाना जा सकता है ॥३०-३३॥

विमर्श—'निवृत्ति' और 'प्रवृत्ति' इस संसार-वृक्ष की दो शाखाएं हैं 'श्रुति' अर्थात् वेद ज्ञान से ही यह जाना जा सकता है कि निवृत्ति और प्रवृत्ति रूपी शाखाएं क्या हैं और किस शाखा का आश्रय लेने पर क्या फल मिलता है, और क्या गति होती है।

पक्षिणं तं समाक्रम्य ज्ञानपाशेन पाशयेत्।
पक्षिखेलारतो नित्यं कटाक्षः श्रीगुरोः प्रिये ॥३४॥

संसार-वृक्ष पर बैठा हुआ यह मनरूपी पक्षी बहुत ही चालाक और चञ्चल है। यह स्थिर रह ही नहीं सकता। यह जब कभी क्षण भर को भी स्थिर हो जाये, फौरन उस पर आक्रमण करके ज्ञान-पाश (जाल) में फँसा लेना चाहिए। मन रूपी पक्षी को ज्ञान-जाल में फंसाने के खेल में वही सफल होता है, जिसे गुरुदेव की कृपा-दृष्टि प्राप्त हो क्योंकि 'गुरुदेव' ही ज्ञान मूर्ति हैं, 'ज्ञान-मूल' है। उनकी ही कृपा शिष्य के लिये ज्ञान के रूप में प्रकट होती है, और वह चञ्चल-पक्षी रूपी 'मन' को फांस लेने में समर्थ होता है ॥३४॥

तेन पक्षद्वयं छिन्नं यदा भवति निश्चयात्।
तदा समुन्मनीभूत् उन्मुखो निश्चयात्प्रिये ॥३५॥

यह मन रूपी पक्षी बहुत ही चञ्चल और सबल है—अतएव जैसे ही यह जाल में फंसे, इसके दोनों पंख काट देने चाहिए। जब संकल्प और विकल्प रूपी इसके दोनों पंख काट दिये जाते हैं, वह स्थिर हो जाता है, उसमें उड़ान भरने की क्षमता शेष नहीं रहती। उसे निश्चयात्मिका बुद्धि प्राप्त हो जाती है, वह स्थिर प्रज्ञ हो जाता है। ऐसा होने पर वह सन्मुखी होकर ब्रह्म की ओर उन्मुख हो जाता है।

'निश्चयात्' अर्थात् शाश्वत् और स्थायी आनन्द प्रदान करने वाला शास्त्र-ज्ञान-वह ज्ञान जो गुरुपदिष्ट होता है।

सर्वसंकल्परहिता कला सप्तदशी भवेत्।
उन्मनी नाम तस्या हि भवपाशनिकृन्तनम् ॥३६॥

संकल्प और विकल्प रूपी दोनों पंख कट जाने पर वह 'सर्वसंकल्प रहित अथवा निर्विकल्प हो जाता है। निर्विकल्प साधक को उन्मनी नामक १७ वीं 'कला' की प्राप्ति होती है जो संसार के सब बन्धनों को काटने वाली है ॥३६॥

उन्मन्या सहितो योगी न योगी नोन्मनी परा।
यथा कर्पूरगो दीपो न दीपो न पुनः शशी ॥३७॥

हे प्रिये ! जिस तरह कर्पूर के दीपक अर्थात् कर्पूर युक्त दीपक को न तो 'दीपक' कहा जा सकता है और न ही शशि (कपूर) कहा जा सकता है, उसी तरह उन्मनी अवस्था प्राप्त योगी न तो योगी होता है, और न उसे प्राप्त वह अवस्था 'उन्मनी' कही जा सकती है।

अत एव महेशानि दृष्ट्या संक्रमणं यजेत्।
तत्त्वमस्यादिवाक्येन पश्चाद्वाच्यं हि योजयेत् ॥३८॥

इसलिए, हे महेशानि ! श्री गुरुदेव ! अपनी निर्निमेष दृष्टि के द्वारा शिष्य के आज्ञा-चक्र का संक्रमण करके उसमें स्थित ब्रह्म रूप 'शिव' भाव को जागत् करके 'तत्त्वमसि' आदि महा वाक्यों के द्वारा उपदेश दें, उसे इन महावाक्यों का अर्थ समझायें ॥३८॥

आदावकथ्यसंयोज्यं स्पर्शेनैव सुलोचने ।
स्पर्शः स्पर्श इवाऽऽभाति श्रीगुरोः करसंभवः ॥३९॥

हे सुलोचने ! श्री गुरुदेव सर्व-प्रथम अपने स्पर्श के द्वारा ही शिष्य में 'अकथ्य' का संयोजन करें। श्री गुरुदेव के कर का स्पर्श पारस-मणि के स्पर्श के सदृश्य होता है ॥३९॥

विमर्श—'अकथ्य-संयोजन' अर्थात् ब्रह्मानन्द की अनुभूति। ब्रह्मानन्द की अनुभूति सर्वथा अकथ्य है, इसे शब्दों से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। यह गूंगे के गुड के समान है। सर्व-प्रथम शिष्य को बिना वाचिक उपदेश के ब्रह्मानन्द की अनुभूति करा देने के बाद ब्रह्म-ज्ञान और आत्म-स्वरूप का वाचिक-ज्ञान ही सच्चा एवं स्थायी ज्ञान होगा।

स्पर्शेन धातवः सद्यो लौहाद्याः सुरवन्दिते ।
सुवर्णतां प्राप्य सर्वे विशिष्टाभरणान्विताः ॥४०॥
करस्पर्शस्तु देवेशि प्रपञ्चमलिनादिकम् ।
लौहत्वं नाशयित्वा हि सुवर्णत्वं करोति हि ॥४१॥

हे सुरवन्दिते ! जिस प्रकार पारस-मणि का स्पर्श पाकर लौह आदि धातुयें अपने लौहत्व का परित्याग करके सुवर्णता प्राप्त कर लेती हैं और स्वर्ण-आभूषण बनकर बहुमूल्य हो जाता हैं, उसी प्रकार श्री गुरुदेव के स्पर्श से प्रपञ्च जन्य मलीनता रूप लौहत्व का परित्याग करके शिष्य सच्चिदानन्द आत्म-स्वरूप सुवर्णता की अनुभूति प्राप्त करता है ॥४०-४१॥

करे पुष्पफलान्कृत्वा ब्रह्मरन्ध्रे करं क्षिपेत् ।
तस्माद्ब्रह्मत्वमेवासीति वाक्यार्थः कराद्भवेत् ॥४२॥
अनिर्वाच्योपदेशोऽयं स्पर्शनाद्ब्रह्मरन्ध्रके ।
ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रारे कर्पूरधवलो गुरुः ॥४३॥
वराभयकरो नित्यो ब्रह्मरूपो सदाऽनघः ।
जागर्ति परमेशानि निजस्थानप्रकाशकः ॥४४॥

हे महेशानि ! जब भी गुरुदेव अपने हाथ में पुष्प और फल लेकर शिष्य के ब्रह्म-रन्ध्र पर अपना हाथ रखते हैं तब उनके कर-स्पर्श से शिष्य को 'ब्रह्म-त्वमेव-असि' (तुम ही ब्रह्म हो) इस महावाक्य के अर्थ की प्रतीति अर्थात् अनुभूति होती है। ब्रह्म-रन्ध्र के स्पर्श से उसे यह अनिर्वाच्य-'उपदेश' प्राप्त होता है। हे परमेशानि ! इस स्पर्श के फलस्वरूप शिष्य के ब्रह्मरन्ध्र वर्ती सहस्त्रार में कर्पूर के समान धवल, वर और अभय मुद्राओं से लसित पाणि, निजस्थान प्रकाशक, सदा सर्वदा निष्पाप एवं सनातन ब्रह्म रूपी गुरु (अर्थात् गुरु-तत्व) जागृत हो जाते हैं ॥४२-४४॥

विमर्श—ब्रह्म-रन्ध में सहस्त्र-दलों वाला 'कमल' है। इसे 'सहस्त्रार' कहते हैं। इस 'सहस्त्रार' के मध्य में द्वादश दल युक्त 'हळ्क्ष' लसित 'त्रिकोण' है। यही 'गुरुदेव' का धाम है। शरीर रूपी लघु-ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत इसी 'त्रिकोण' में 'जगद्-गुरु सदाशिव' निवास करते हैं। 'दीक्षा' के पूर्व यह गुरु-क्षेत्र सुप्त रहता है। 'दीक्षा' के समय मानव-रूप गुरुदेव अपने कर-स्पर्श से इस 'क्षेत्र' को जागृत कर देते हैं एवं नित्य-सनातन जगद् गुरु सदा शिव की कर्पूर-देह-कान्ति से यह 'गुरु-पीठ' जगमगा उठता है। इसीलिये तान्त्रिक-अर्चन क्रम में ब्रह्म-रन्ध्र वर्ती इसी द्वादश-कमल युक्त त्रिकोण में 'गुरु-मण्डल' का पूजन-तर्पण किया जाता है। दीक्षा के पूर्व सुषुप्त-यह 'गुरु-स्थान' जिस मानव-शरीर के माध्यम से जागृत होता है, वह व्यक्ति विशेष भी 'गुरु' पद वाच्य होता है। वस्तुतः भगवान् शिव ही मानव-शरीर के माध्यम से दीक्षार्थी के ब्रह्म-रन्ध्र वर्ती गुरु-स्थान को जागृत एवं आलोकित करते हैं—अतः'गुरुदेव' को 'निज स्थान-प्रकाशक' (अपने स्थान को प्रकाशित करने वाला) कहा गया है।

भ्रू-मध्य वर्ती द्वि-दल कमल का इस गुरु-पीठ से गहरा सम्बन्ध है। इस द्विदल कमल को इसी गुरुपीठ से गुरुदेव की 'आज्ञायें' प्राप्त होती हैं, अतः इस दो दल वाले 'चक्र' को 'आज्ञा-चक्र' कहते हैं। गुरु-पीठ से इस आज्ञा-चक्र के इसी गहन-सम्बन्ध के कारण दीक्षा के समय 'आज्ञा-चक्र' का 'संक्रमण' या भेदन किया जाता है।

षट्-चक्र-विज्ञान

आज्ञा चक्र के भेदन और गुरु-पीठ को आलोकित करने के पश्चात् शिष्य को 'षट्-चक्र-विज्ञान' का उपदेश दिया जाता है। यथा—

पश्चात्षट्चक्रविज्ञानं शिष्याय प्रतिबोधयेत्।
आधारं स्वर्णवर्णं च चतुर्दलसुशोभितम् ॥४५॥
वादिसान्तैश्चतुर्वर्णैस्तप्तहेमसमप्रभैः।
गणेशसहितं विद्धि स्वाधिष्ठानं ततः प्रिये ॥४६॥

इसके बाद (आज्ञा-चक्र भेदन एवं गुरु-पीठ के आलोकन के बाद) शिष्य को षट्-चक्र-विज्ञान का उपदेश देना चाहिए।

मूलाधार-चक्र—'मूलाधार चक्र' स्वर्ण वर्ण का है। इस चक्र में चार दलों वाला कमल है। इनमें से प्रत्येक दल पर तपाये हुए स्वर्ण की क्रान्ति वाले वादिसान्त ('व' 'श' 'ष' और 'स') चार-अक्षर स्थित हैं। इस मूलाधार-चक्र में भगवान् श्री गणेश विराजमान् हैं ॥४५-४६॥

इन्द्रगोपप्रतीकाशं स्फुरद्विद्रुमसंनिभैः।
बादिलान्तैः स्फुरद्वर्णैर्ब्रह्मणा मण्डितं प्रिये ॥४७॥

स्वाधिष्ठान चक्र—हे प्रिये! मूलाधार चक्र के ऊपर छै दल वाला स्वाधिष्ठान चक्र है। यह इन्द्रगोप (बीर बहूटी) के समान रक्त वर्ण है। इसके दलों पर मूंगे के समान वर्ण (रंग) वाले 'ब', 'भ', 'म', 'य' 'र' और 'ल' ये छै अक्षर स्थित हैं। इस चक्र पर श्री ब्रह्मा जी विराजमान् हैं ॥४७॥

नीलवर्णं तृतीयं हि मणिपूरं दशाकरम्।
विद्युत्पुञ्जप्रभावर्णैर्डादिफान्तैश्च मण्डितम् ॥४८॥
गदाधरहरिं प्रौढं चतुर्थं शृणु सुव्रते।

मणिपूरक—स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर दश दल वाला मणिपूरक चक्र है। इसका रंग नीला है। इस चक्र पर गदाधारी श्री विष्णु विराजमान् हैं। इसके दलों पर विद्युत के समान चमकीले 'ड-ढ़-ण-त-थ-द-ध-न-प-फ' ये दश अक्षर अंकित है ॥४८॥

पिङ्गाभं द्वादशारं तु कादिठान्तैः सुलोचने ॥४९॥
विस्फुलिङ्गप्रभैर्वर्णैः शिवेन च युतं प्रिये।

अनाहत-चक्र—हे प्रिये! मणिपूरक चक्र के ऊपर 'अनाहत' चक्र है। इसका रङ्ग पीला है। इस चक्र में शिवजी विराजमान है। इस चक्र में बारह दल वाला कमल है। कमल की पंखुड़ियों पर 'क-ख-ग-घ-ङ-च-छ-ज-झ-ञ-ट-ठ बारह वर्ण अंकित है। ये अक्षर विस्फुलिङ्ग के समान प्रभा वाले हैं ॥४९-५०॥

विशुद्धचक्रं देवेशि धूम्रवर्णं कलास्त्रकम् ॥५०॥
स्वरैर्माणिक्यसंकाशैर्मण्डितं परमेश्वरि।
जीवात्मानऽधिष्ठितं हि तज्जानीहि तदन्ततः ॥५१॥

विशुद्ध-चक्र—अनाहत चक्र के ऊपर धूम्र-वर्ण का विशुद्ध-चक्र है जिस पर 'जीवात्मा' का अधिष्ठान है। इस चक्र में षोडश दल कमल है। इसकी पंखुड़ियों पर माणिक्य के समान चमकदार 'अ' कारादि १६ स्वर-वर्ण अंकित है ॥५०-५१॥

आज्ञाचक्रं महेशानि विद्युत्कोटिसमप्रभम्।
द्विदलं हक्षवर्णाभ्यां शुभ्राभ्यां परिमण्डितम् ॥५२॥

आज्ञा-चक्र—हे महेशानि ! विशुद्ध-चक्र के ऊपर करोड़ों विद्युत् के समान देदीप्यमान आज्ञा-चक्र है। इस चक्र में दो दल हैं जिन पर शुभ्र-वर्ण वाले 'ह' और 'क्ष' ये वर्ण स्थित हैं ॥५२॥

परमात्मस्वरूपाढ्यं नादरूपं हि सप्तमम्।
नादो विलीनो यस्मात्तु तस्माद्ब्रह्म तदुच्यते ॥५३॥

नाद-चक्र—आज्ञा-चक्र के ऊपर परमात्म-स्वरूप वाला सातवाँ नाद चक्र है। चूँकि इस चक्र में 'नाद' का लय हो जाता है, इसलिये इसे ब्रह्म-चक्र भी कहते हैं ॥५३॥

देहेऽक्षराणि देवेशि नाद एवात्र कारणम्।
नादः पवनसंयोगत्कुण्डलिन्या युतो यदा ॥५४॥
प्रसन्नः परमेशानि षट्श्चक्राणां दलेषु सः।
पञ्चाशद्वर्णरूपत्वमाप्तवान् सुरवन्दिते ॥५५॥
अव्यक्तरूपता प्राप्ता उदात्तादिस्वरैः क्रमात्।
एवं सर्वज्ञता तस्मै दद्याच्छिष्याय सद्गुरुः ॥५६॥

हे देवेशि ! देह में उपर्युक्त अक्षरों का कारण 'नाद' है। नाद ही वायु के संयोग से जब कुण्डलिनी से युक्त हो जाता है, वह (नाद) षट् चक्रों के दलों में उदात्त आदि स्वरों के द्वारा पचास (५०) वर्णों का रूप धारण करता है। शरीर में ये अक्षर अव्यक्त रूप से रहते हैं। हे परमेशानि ! सद्गुरु को चाहिए कि वह शिष्य को इन सबकी शिक्षा देकर उसे सर्वज्ञ बनाये ॥५४-५६॥

विमर्श—'उदात्तादि स्वरैः' अर्थात् उदात्त आदि स्वर-भेदों से। उच्चारण-काल की मात्रा के आधार पर 'अ'कार आदि स्वर-वर्ण के ह्रस्व-दीर्घ और प्लुत 'ये तीन भेद होते हैं। उच्चारण हेतु प्रयत्न-प्रेरित वायु का तालु आदि उच्चारण-अवयव के भाग विशेष के साथ स्पर्श के आधार पर इनमें से प्रत्येक ह्रस्व आदि के पुनः तीन भेद होते हैं जिन्हें क्रमशः उदात्त, अनुदात्त और स्वरित कहा जाता है। संस्कृत व्याकरण में उनका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

उच्चैरुदान्तः—तालु आदि उच्चारण स्थानों के ऊर्ध्व भाग में उच्चरित स्वर को 'उद्दात्त' कहते हैं।

नीचैरनुदात्त—इन्हीं तालु आदि उच्चारण-स्थानों के अधो (निचले) भाग में उच्चरित स्वर को 'अनुदात्त', तथा

समाहारः स्वरित—जिसमें उदात्त और अनुदात्त दोनों सम्मिलित हों उस स्वर को स्वरित कहते हैं। इसके पूर्व भाग में उदात्त और अन्तिम भाग में अनुदात्त होता है।

इस तरह ह्रस्व-दीर्घ और प्लुत इन तीन स्वर-भेदों में प्रत्येक के उदात्त-अनुदात्त और स्वरित भेद के कारण प्रत्येक स्वर के नौ (९) भेद हो जाते हैं। यथा—ह्रस्व उदात्त, ह्रस्व अनुदात्त, ह्रस्व स्वरित। उसी तरह दीर्घ उदात्त आदि।

यद्यपि हिन्दी और लौकिक संस्कृत में स्वरों के उदात्त आदि भेद-स्वरूप का विशेष महत्व नहीं है, परन्तु वेद-मन्त्रों के पाठ की शुद्धता का सारा दारोमदार न केवल ह्रस्व आदि स्वर-भेद अपितु इनके उदात्त अनुदात्त और स्वरित भेद के शुद्ध उच्चारण पर निर्भर है। यहाँ तक कि उदात्त आदि स्वर-रूप में कोई भेद या अशुद्धि हो जाने पर न केवल वेद मन्त्र का अर्थ बदल जाता है अपितु इसके फलस्वरूप अनिष्ट भी होता है।

शिष्य को उदात्त आदि स्वर-भेद सहित सम्पूर्ण मातृका-माला की साङ्गोपाङ्ग शिक्षा दिये जाने का प्रयोजन यह है कि मन्त्र-जप में शिष्य से कोई गलती नहीं हो, क्योंकि मन्त्र का अशुद्ध उच्चारण अत्यन्त अनिष्ट कर और भयावह होता है।

शिष्यस्तदा श्रीगुरोस्तु पूजां कुर्यात्सुलक्षणाम्।
रत्नाभरणशोभाढ्यां पट्टवस्त्रधनान्विताम्॥५७॥
गजाश्वसहितां भद्रे महिषीगोसमन्विताम्।
क्षेत्रग्राममहारामरम्यां चेटीशतान्विताम्॥५८॥
सुवर्णरश्मिभरितां कस्तूरीचन्द्रचन्दनाम्।

हे भद्रे! उपदेश प्राप्त करने के पश्चात् शिष्य अपने गुरुदेव की यथा-सामर्थ्य यथा वैभव सुलक्षणा पूजा करे। पूजा करने के बाद अपनी हैसियत के अनुसार उन्हें रत्न, स्वर्ण, रत्न जटित वस्त्र, गज, अश्व, महिषी (भैंस) गाय आदि पशु-धन, क्षेत्र (खेत) ग्राम, बगीचे आदि भूमि-धन, कस्तूरी, चन्दन आदि दिव्य द्रव्य और स्वर्ण आभूषणों से अलंकृत सैकड़ों दासियाँ दान करें॥५७-५९॥

गुरुं संतोष्य विधिवत्प्रसादं तत्त्वसंयुतम् ॥५९॥
गृह्णीयाच्छिष्यवर्यस्तु गुरुस्तस्मादनन्तरम् ।
बालां प्रकाशयेत्कर्णे दक्षिणे च ततः परम् ॥६०॥
पञ्चसिंहासनगता विद्याः पश्चात्प्रकाशयेत् ।
ततो रहस्यं परमं महात्रिपुरसुन्दरीम् ॥६१॥
प्रकाशयेद्दक्षकर्णे परब्रह्ममयीं प्रिये ।
सर्वसौभाग्यजननीं भोगमोक्षफलप्रदाम् ॥६२॥

गुरुदेव को पूजा और उपहार से पूर्णतः संतुष्ट करके शिष्य उनका तत्त्व-संयुक्त प्रसाद विधिवत् ग्रहण करे । तत्पश्चात् गुरुदेव शिष्य के दाहिने कान में बाला-विद्या प्रदान करें । भगवती बाला त्रिपुर सुन्दरी का मन्त्र है—'ऐं क्लीं सौः' । इसके बाद पञ्च-सिंहासन स्थिता सम्पत् प्रदा भैरवी आदि विद्याओं का प्रकाशन (उपदेश) करें । तत्पश्चात् शिष्य के दाहिने कान में महा-त्रिपुर सुन्दरी के मन्त्र का प्रकाशन करें । श्री महा-त्रिपुर सुन्दरी विद्या परब्रह्ममयी, सर्वसौभाग्य जननी तथा भोग एवं मोक्ष प्रदान करने वाली हैं ॥५९-६२॥

श्रीविद्यां षोडशार्णां तु ब्रह्मानन्दस्फुरत्कलाम् ।
न प्रकाशय देवेशि सर्वस्वमिव सुव्रते ॥६३॥

हे सुव्रते ! जिस तरह व्यक्ति अपने सर्वस्व-भूत गुप्त-कोश का प्रकाशन नहीं करता, उसी तरह ब्रह्मानन्द से स्फुरत् कला वाली षोडशाक्षरी 'श्रीविद्या' का प्रकाशन नहीं करना चाहिए ॥६३॥

षोडशाक्षरी 'श्रीविद्या' की गोपनीयता एवं इसके प्रकाशन के निषेधों के कारणों का निरूपण अगले श्लोकों में किया गया है ।

वेदशास्त्रपुराणेषु यामलेष्वपि सुव्रते ।
गुप्ता श्रीषोडशार्णेयं निधानमिव संस्मरेत् ॥६४॥
सहोदराय सर्वस्व प्राणदायापि बन्धवे ।
राज्ञे राज्यप्रदायापि पुत्राय प्राणदाय च ॥६५॥
न देया षोडशार्णेयं देयं सर्वस्वमद्रिजे ।
सुपुत्रदारसहितं शिरो देयं कथंचन ॥६६॥
न देया षोडशार्णा हि प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
गोपितव्या महाविद्या स्वयोनिरिव पार्वति ॥६७॥

हे सुव्रते ! वेदों, शास्त्रों और पुराणों में सभी विद्याओं और समस्त ज्ञान-भण्डार को प्रकाशित कर दिया गया है, परन्तु श्री 'श्रीविद्या' इतनी गुप्त और गोपनीय है कि

ज्ञान-राशि के सर्वोच्च कोश वेद-आदि में भी इसका प्रकाशन न करके उनमें भी इसे गुप्त रखा गया है । अत: सहोदर-भाई को, प्राण समर्पित करने को तत्पर बन्धु को, राज्य प्रदान करने वाले राजा को, पत्नी एवं पुत्र को भी यह गुप्त-विद्या नहीं बतानी चाहिए भले ही इसका प्रकाशन न करने के कारण प्राणों पर संकट ही क्यों न आ गया हो । प्राणों का उत्सर्ग कर देना श्रेयस्कर है मगर श्रीविद्या का प्रकाशन उचित नहीं है । हे पार्वति ! अपनी योनि के समान इसे गुप्त रखना चाहिए ।।६४-६७।।

षोडशाक्षरी श्री 'श्रीविद्या' की गोपनीयता की रक्षा जब प्राणों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है तो इसकी परम्परा बनाये रखने के लिये इसकी दीक्षा किसे दी जाये ? इसकी दीक्षा-पाने की अधिकारी कौन है, इसका निरूपण अगले दो श्लोकों में किया गया है ।

उदके लवणं लीनं यथा भवति शैलजे ।
मनो भवति वै लीनं पादयोः श्रीगुरोः प्रिये ।।६८।।
तदा देया महाविद्या कृपया षोडशाक्षरी ।

हे शैलजे ! पानी में घुलकर नमक अपना स्वरूप छोड़कर पूर्णत: तद् रूप हो जाता है । हे प्रिये ! जिस शिष्य का मन पानी में नमक के समान श्री गुरुदेव के चरण-कमलों के प्रति श्रद्धा और भक्ति में घुलकर तद् रूप हो गया हो, ऐसे ही शिष्य को षोडशाक्षरी श्री 'श्रीविद्या' की दीक्षा कृपा करके देनी चाहिए ।।६८-६९।।

गुरु-चरण-लीन ऐसा शिष्य श्री 'श्रीविद्या' की दीक्षा प्राप्ति का अधिकारी क्यों है, इसका निरूपण अगले श्लोकों में किया गया है ।

अक्षरैः सहिता वाऽपि निरक्षतरया स्थिता ।।६९।।
आकाशे नीलिमा देवि भ्रान्त्या दृष्टोदरे यथा ।
अक्षराणि तथा सन्ति श्रीविद्यायां सुरेश्वरि ।।७०।।
षोडशार्णां ब्रह्मरूपां जानीहि परमेश्वरि ।
यथा रत्नमये दीपे कज्जलं नैव विद्यते ।।७१।।
श्रीविद्यायां तथाऽव्यक्तव्यक्तता वीरवन्दिते ।
न दद्याद्यस्य कस्यापि दद्यात्प्राणप्रियाय च ।।७२।।

हे देवि ! वस्तुतः आकाश का रंग नीला नहीं है, तथापि सूर्य की किरणों के परावर्तन आदि के कारण आकाश के उदर अर्थात् ऊपरी भाग में भ्रान्ति वश नीलिमा दिखाई देती है, उसी तरह श्री श्रीविद्या में, जो वस्तुतः अक्षर-रहिता है, अक्षर प्रतीत

होते हैं । अक्षर-रहिता होने पर भी श्री श्रीविद्या अक्षर युक्त प्रतीत होती है । रत्नमय अर्थात् रत्ननिर्मित दीपक चाहे जितना भी जले, उसमें कलिमा नहीं आती । वह सदैव निष्कलंक रहता है । श्री श्रीविद्या ऐसे ही निष्कलंक रत्ननिर्मित दीपक की तरह निष्कलंक ब्रह्म रूपा है । श्री श्री विद्या में अव्यक्त ब्रह्म व्यक्त हो रहा है । अतएव किसी ऐसे वैसे को श्री 'श्रीविद्या' की दीक्षा नहीं देनी चाहिए ॥६९-७२॥

कृतार्थोऽसि शिशोर्वाक्यं प्रवदेद्देशिकोत्तमः ।

शिष्य को मन्त्र की दीक्षा देने के बाद श्री गुरुदेव शिष्य को यह आशीर्वाद दें— 'हे वत्से ! तुम कृतार्थ हुए' ॥७३॥

षोडशार्णां महाविद्यां न दद्याद्ब्रह्मरूपिणीम् ॥७३॥
एकोच्चारेण देवेशि वाजपेयस्य कोटयः ।
अश्वमेधसहस्रं तु तुलां नाऽऽयाति सर्वदा ॥७४॥
एकोच्चारेण देवेशि प्रादक्षिण्यं भुवो भवेत् ।
धेनूनां कपिलानां हि दत्ता यैः कोटिकोटयः ॥७५॥
एकोच्चारेण देवेशि तुलां नाऽऽयाति सर्वदा ।
अर्धोदये पुण्यतिथौ हेमभारसहस्रकम् ॥७६॥

हे देवेशि ! इस षोडशी महाविद्या का सिर्फ एक बार उच्चारण करने से करोड़ों वाजपेय यज्ञ करने का फल होता है । हजारों अश्वमेध यज्ञों का फल भी इसके एक बार के जप के फल से कम है । श्री 'श्रीविद्या' का एक बार जप करने से पूरी पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने और कोटि-कोटि कपिला-गौ के दान का फल मिलता है । अर्धोदित पुण्य तिथि में सहस्र-भार सोने का दान करने से मिलने वाला पुण्य-फल इस महा मन्त्र के एक बार के जप के फल से कम है ॥७३ $\frac{१}{२}$-७६॥

तुलापुरुषकोट्यस्तु तुलां नाऽऽयान्ति षोडशीम् ।
यदा यद्वर्ण्यते वस्तु तदा सर्वं निरामयम् ॥७७॥
तथा ज्ञेया महाविद्या षोडशार्णा वरानने ।
परमात्मस्वरूपेयं विश्वस्पन्दरूपिणी ॥७८॥

करोड़ों तुला दान भी षोडशी विद्या की तुलना नहीं कर सकते । जिस काल में जिस वस्तु का वर्णन किया जाता है, उस काल में वह वस्तु निरामय अर्थात् निर्दोष रहती है । हे वरानने ! षोडशाक्षरी महाविद्या को भी ठीक इसी प्रकार समझना चाहिए । यह महाविद्या साक्षात् परमात्मा स्वरूप और विश्व स्पन्दन कारिणी है ॥७७-७८॥

श्वासोच्छ्वासतया देवि षट्शतान्येकविंशतिः ।
सहस्राणि दिवा रात्रौ हंसःशब्दजपो भवेत् ॥७९॥

स्पन्दनत्वेन सकलं व्याप्य तिष्ठति सर्वतः ।
आत्मत्वेनाजपा ज्ञेया सूर्यसोमस्वरूपिणी ॥८०॥

हे देवि ! मनुष्य मात्र दिन रात में २१, ६०० बार श्वास लेता और श्वास छोड़ता है । श्वास लेते समय 'हं' और श्वास छोड़ते समय 'सः' शब्द की ध्वनि होती है । इस तरह दिन रात की चौंसठ घड़ियों में लगातार 'हंसः' शब्द का जप चलता रहता है । श्वास-उच्छवास के साथ हृदय भी स्पन्दित होता रहता है । इस स्पन्दन के माध्यम से यह महाविद्या सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करके स्थित है । इसीलिये यह विश्व-स्पन्दन रूपिणी है । यह सूर्य और सोम स्वरूपिणी है । चूँकि 'हंसः' शब्द का जप स्वयं ही अपने आप चलता रहता है, इसलिये इसे 'अजपा' जप कहते हैं ॥७९-८०॥

निरञ्जनस्वरूपा च निराभासस्वरूपिणी ।
अतनुत्वतनुत्वाभ्यां सूक्ष्मत्वेन वरानने ॥८१॥
प्रबोधापादनेनापि मण्डिता वह्निजायया ।
षडङ्गैः शोभितां देवीं हंसेनैव प्रपूजिताम् ॥८२॥
अव्यक्तरूपगायत्रीछन्दोवक्त्रां वरानने ।
साक्षात्परमहंसाभां देवतां परमेश्वरीम् ॥८३॥
श्रीविद्यां व्यापिकां विद्धि परज्योतिःस्वरूपिणीम् ।
आत्मस्वरूपलिङ्गं हि मायागेहगतं प्रिये ॥८४॥

हे वरानने ! यह षोडशाक्षरी महाविद्या निरञ्जन (माया-रहित) स्वरूपा, एवं निराभास स्वरूपिणी हैं । अतनुत्व से और तनुत्व से, सूक्ष्मत्व से, प्रबोधापादन से, वह्नि-जाया स्वाहा से मण्डिता है । षडङ्गों से शोभिता, हंस मन्त्र से प्रपूजिता है । अव्यक्त रूप गायत्री छन्द रूप मुख वाली, परमहंस की आभा से युक्त पर ज्योति स्वरूपिणी परमेश्वरी श्री श्रीविद्या को सर्वत्र व्यापक समझना चाहिए । हे प्रिये ! यह महाविद्या आत्म-स्वरूप का लिङ्ग है जो माया रूपी गेह में आ गया है ॥८१-८४॥

श्रद्धातरङ्गिणीनीरक्षालितं भववन्दनम् ।
सुमनोमण्डितं वाऽपि समाधिकुसुमैर्वरम् ॥८५॥
ज्ञानाङ्गारे प्रपञ्चाख्यं धूपं दीपं च चिन्मयम् ।
अधितिष्ठति सर्वत्र सर्वनैवेद्यमण्डितम् ॥८६॥
निष्प्रपञ्चं निराभासं केवलं ब्रह्मसत्कलाम् ।
षोडशार्णा परा विद्या श्रीविद्येत्यभिधीयते ॥८७॥

यह श्रद्धा रूपी गंगा-जल से प्रक्षालित है, भव-वन्दन रूपी सुमनों और समाधि रूपी श्रेष्ठ कुसुमों से मण्डित है । ज्ञान रूपी अंगार में प्रपञ्च रूपी धूप-दीप से धूपित

है, चिन्मय नैवेद्य से मण्डिता है। यह निष्प्रपञ्च है, निराभास है, ब्रह्म सत्कला से युक्त है, विभु है, सर्वत्र व्याप्त है। सोलह अक्षरों वाली यह पराविद्या श्री 'श्रीविद्या' की संज्ञा से अभिहित की गई है ॥८५-८७॥

दीक्षा-काल

शुक्लपक्षे शुभदिने शुभवारे वरानने।
मन्त्राद्यारम्भणं कुर्याद्ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ॥८८॥

हे वरानने ! शुक्ल पक्ष में शुभ-दिन में अथवा सूर्य या चन्द्र ग्रहण के समय श्री 'श्रीविद्या' का आरम्भ करना चाहिए ॥८८॥

न वारमासदोषा हि ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
पवित्रं सर्वदेवेशि दानमेव शुभे दिने ॥८९॥

हे देवेशि ! चन्द्र और सूर्य ग्रहण के समय वार-मास आदि का दोष नहीं लगता। ग्रहण-काल सदैव प्रशस्त एवं पवित्र है। इस महाविद्या का दान शुभ-दिन में करना चाहिए ॥८९॥

चैत्र वै निष्फलं ज्ञेयं नीरजायतलोचने।
वैशाखे क्षेत्रलाभं च ज्येष्ठे च मरणं ध्रुवम् ॥९०॥
आषाढे बन्धुनाशं च श्रावणे च शतायुषम्।
क्षयो भाद्रपदे मासि आश्विने रत्नसंपदः ॥९१॥
कार्तिके तु भवेल्लक्ष्मीर्मार्गशीर्षे धनं महत्।
पौषे तु संभवेत्क्लेशो माघे संपत्तिरुत्तमा ॥९२॥
फाल्गुने सर्वकार्याणि मासानां फलमीदृशम्।

हे नीरजायत लोचने ! चैत्र मास में ली गई दीक्षा निष्फल होती है। वैशाख में दीक्षा लेने से क्षेत्र-लाभ होता है। ज्येष्ठ मास में दीक्षा लेने से मृत्युरूप अशुभ फल होता है। आषाढ़ में दीक्षा लेने से बन्धु-नाश, होता है जबकि सावन के महीने में दीक्षा लेने से आयु में सैकड़ों वर्षों की वृद्धि होती है। भादों के महीने में दीक्षा लेने से क्षय अर्थात् विनाश होता है। आश्विन (क्वांर) में ली गई दीक्षा से रत्न और सम्पत्ति की प्राप्ति, होती है। कार्तिक में महती लक्ष्मी और मार्गशीर्ष (अगहन) में दीक्षा लेने से बहुत धन प्राप्त होता है। पौष मास में क्लेश होता है जबकि माघ मास में उत्तम सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। फागुन में दीक्षा लेने से सभी कार्यों की सिद्धि होती है। इस प्रकार विभिन्न महीनों में दीक्षा लेने के अलग-फल होते हैं ॥९०-९३॥

नाम करण की विधि

शिष्यस्य प्रथमार्णं हि गृहीत्वा सुन्दरि प्रिये ॥९३॥
नाम संकल्पयेद्देवि मनोज्ञं स्थिरबुद्धये ।
श्रीविद्यां हृदये तस्य न्यसेदव्यक्तरूपिणीम् ॥९४॥

हे सुन्दरि ! शिष्य की बुद्धि की स्थिरता के लिये प्रथम-वर्ण को ग्रहण करके उसका सुन्दर सा नाम रखना चाहिए। हे प्रिये ! इसके बाद अव्यक्त स्वरूपा श्री 'श्रीविद्या' का उसके हृदय में न्यास करना चाहिए ॥९३-९४॥

विमर्श—तन्त्रान्तर में बताई गई विधि के अनुसार 'पूर्णाभिषेक' के बाद शिष्य का नाम करण किया जाता है। अभिषेक के बाद श्री गुरुदेव शिष्य से अपने किसी अंग का स्पर्श करायें। फिर उस अंग से सम्बन्धित मातृका (अक्षर) से प्रारम्भ होने वाला दो या चार अक्षरों वाला 'आनन्द नाथ' युक्त सुन्दर सा नाम शिष्य को प्रदान किया जाता है। अंग से सम्बन्धित मातृका से अभिप्राय उस मातृका से है, जिस मातृका का उस अंग में सृष्टि क्रम मातृकान्यास के अन्तर्गत 'न्यास' किया जाता है। शिष्या के नाम के साथ 'आनन्द-नाथ' के स्थान पर 'देव्यम्बा' की योजना की जाती है।

श्रीविद्याक्षरपङ्क्तिस्तु परब्रह्मणि चिन्मयी ।
उदके लवणं लीनं यथा तिष्ठति पार्वति ॥९५॥
तस्माद्ब्रह्ममयीं विद्धि सर्वशास्त्रेषु योजिताम् ॥९६॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे दीक्षाविधिर्नाम
चतुर्विंशः पटलः ।।२४।।

हे पार्वति ! 'श्री विद्या' की अक्षर-पंक्ति पर-ब्रह्म में चित्स्वरूपा है। जिस तरह जल में घुलकर तद्रूप होकर भी जल में नमक की स्थिति (विद्यमानता) बनी रहती है, उसी प्रकार यह ब्रह्ममयी श्रीविद्या भी सभी शास्त्रों में अप्रकट रूप से विद्यमान हैं ॥९५-९६॥

श्री ज्ञानार्णव-नित्या-तन्त्र में 'दीक्षा विधि' नामक चौबीसवें
पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥२४॥

❋

अथ पञ्चविंशः पटलः

श्रीविद्या पवित्रारोपण विधि

ईश्वर उवाच

पवित्रारोपणं वक्ष्ये साधकानां हिताय च।
वर्षमात्रकृता पूजा सफला भवति ध्रुवम् ॥१॥

ईश्वर ने कहा—'हे ईश्वरि ! साधकों के हित के लिये मैं पवित्रारोपण की विधि बता रहा हूँ। इससे निश्चित रूप से वर्ष भर की पूजा सफल होती है ॥१॥

तस्मात्पवित्रपूजा हि कर्तव्या सिद्धिहेतवे।
आरभ्य मिथुनार्कं हि तुलासंक्रान्तिमासकम् ॥२॥

हे महेशानि ! वर्ष भर की पूजा की सफलता के लिये साधक को यह पवित्र-पूजन अवश्य करना चाहिए। सूर्य की मिथुन-संक्रान्ति से तुला-संक्रान्ति पर्यन्त यह पूजा विहित है ॥२॥

अतिरम्या महापूजा पवित्राणां सुरेश्वरि।
पक्षद्वयेऽपि पूजा स्याच्चतुर्थ्यामष्टमीदिने ॥३॥
नवम्यां वा चतुर्दश्यां पवित्रारोपणं यजेत्।

पूजन की तिथियाँ—उपर्युक्त और मासों में पड़ने वाली दोनों पक्षों की चतुर्थी एवं अष्टमी अथवा नवमी एवं चतुर्दशी तिथियों को पवित्रों की पूजा करनी चाहिए ॥३-४॥

सौवर्णरौप्यताम्राणां सूक्ष्मसूत्राणि कारयेत् ॥४॥
कार्पाससंभवान्येव पट्टसूत्रसमुद्भवम्।
त्रसरीसूत्रसंभूतं पद्म वल्कलसंभवम् ॥५॥
दर्भमुञ्जशणोद्भूतं पवित्राय प्रकल्पयेत्।

पवित्र-निर्माण—सुवर्ण, रजत अथवा ताम्बे के महीन सूत से, कपास या सूत्र, त्रसरी सूत्र, वल्कल (कमल के वल्कल सूत्र) कुशा अथवा मूज के सूत्र से पवित्राओं का निर्माण करना चाहिए ॥४-५॥

प्रणवश्चन्द्रमा वह्निर्ब्रह्मा नागो गुहो रविः ॥६॥
साम्बाख्यः सर्वदेवश्च नवतन्तुषु पूजयेत्।

शिरोमन्त्रेणाभिमन्त्र्य हन्मन्त्रेण ततः परम् ॥७॥
प्रक्षालयेत्ततोऽभ्युक्ष्यास्त्रमन्त्रेण च देशिकः ।
अवरुध्य च नेत्रेण ग्रथितं कवचेन हि ॥८॥

उक्त द्रव्यों में से किसी द्रव्य का सूत लेकर उससे ९ तन्तु बनायें । इन नौ (९) तन्तुओं पर क्रमशः (१) प्रणव, (२) चन्द्रमा, (३) अग्नि, (४) प्रजापिता ब्रह्मा, (५) नाग, (६) गुह, (७) सूर्य, (८) साम्ब और (९) सर्व देवों की पूजा करे । शिरो मन्त्र (स्वाहा) से इन तन्तुओं को अभिमन्त्रित करके हृदय मन्त्र (नमः) से उन्हें अभिमन्त्रित करें । अस्त्र-मन्त्र (फट्) से अभ्युक्षण करके नेत्र-मन्त्र (वौषट्) से अवरुद्ध कर कवच-मन्त्र (हुम्) से उन्हें ग्रथित करे ॥६-८॥

रोचनाकुङ्कुमाभ्यां च रक्तचन्दनचन्दनैः ।
कस्तुरीघुसृणाद्यैश्च कर्पूरैर्न (र्ना) गरैरपि ॥९॥
गैरिकाद्यैर्विचित्रं तत्कारयेत्सुमनोहरम् ।
मूलमन्त्रेण चाभ्युक्ष्य स्थापयेदीशकोणके ॥१०॥

गोरोचन, कुंकुम, लाल चन्दन, मलयागिरि चन्दन, कस्तूरी, कपूर, नागर और गैरिक (गेरू) आदि से रंग कर उन्हें सुन्दर बनायें और मूल-मन्त्र से उन पर जल छिड़क कर ईशान-कोण में स्थापित कर दें ॥९-१०॥

पवित्रवृन्दे सकलं षडङ्गैस्तु पवित्रितम् ।
कृत्वा देवेशि पूर्वस्मिन्दिवसे सद्य एव वा ॥११॥

सभी पवित्रों को षडंग-मन्त्रों से पवित्र करना चाहिए । हे देवेशि ! इतना कार्य या तो पूजा के एक दिन पहिले अथवा उसी दिन पूजा प्रारम्भ करने के पूर्व उसी समय करना चाहिए ॥११॥

अष्टोत्तरशतैः सूत्रैर्नवसूत्रेण कल्पितैः ।
उत्तमं तत्पवित्रं हि तदर्धं मध्यमं स्मृतम् ॥१२॥
तस्याप्यर्धं कनिष्ठं स्यात्त्रिविधं कथितं प्रिये ।

हे देवेशि ! उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ-ये तीन प्रकार के पवित्र-बनाये जाते हैं । १०८ अंगुल सूत्र को नौ (९) सूत्रों में ग्रथित करके बनाया गया 'पवित्र' उत्तम होता है । इसके आधे अर्थात् ५४ अंगुल सूत्र को ९ सूत्रों में ग्रथित करके बनाया गया 'पवित्र' मध्यम एवं इसके भी आधे प्रमाण का पवित्र-कनिष्ठ होता है ॥१२-१३॥

अधिवासनवेलायां यवान्विस्तार्य सुव्रते ॥१३॥
चतुर्भिरासनैस्तत्र पुष्पं निक्षिप्य देशिकः ।
पवित्राणि पवित्राणि पञ्चामृतसमुच्चयैः ॥१४॥

रचितान्यमलैः पञ्चरत्नैः सर्वौषधीगणैः ।
नववस्त्रयुगेनाथ सम्यगाच्छाद्य सुव्रते ॥१५॥

हे सुव्रते ! इनके अधिवासन के समय जौ बिखेरना चाहिए। फिर उन जौ पर चार आसन स्थापित करे। उन आसनों पर पुष्प बिछाकर पवित्रों को स्थापित करे। पञ्चामृत से उन्हें पवित्र करके निर्मल पञ्च-रत्नों और सर्व औषधियों के साथ उन्हें दो नवीन श्वेत वस्त्रों से ऊपर नीचे से अच्छी तरह ढंक देना चाहिए ॥१३-१५॥

देवि कुम्भं प्रतिष्ठाप्य पूर्ण चामीकरादिभिः ।
देवीमावाह्य तत्कुम्भे मूलमन्त्रेण पूजयेत् ॥१६॥

हे देवि ! इसके बाद चामीकर आदि से परिपूर्ण कुम्भ स्थापित करके उस कुम्भ में देवी का आवाहन (प्राण प्रतिष्ठा सहित) करके मूल-मन्त्र से उनका अर्चन करें ॥१६॥

ततः क्रमः समभ्यर्च्य पवित्रार्पणमारभेत् ।
श्रीविद्यया पवित्राणि गुरोर्नाम्ना च देशिकः ॥१७॥
पवित्रं गुरवे दद्यात्सर्वेभ्यस्तदनन्तरम् ।
गुरुभ्यस्त्रिविधेभ्यश्च पवित्राण्यर्पयेत्ततः ॥१८॥

भगवती का पूजन करके क्रम पूर्वक आवरण-देवताओं का पूजन करे। इसके बाद 'श्रीविद्या' से भगवती को 'पवित्र' समर्पित करें। फिर नामोल्लेख पूर्वक श्री गुरुदेव को और उनके बाद गुरु त्रय (परमगुरु, परापर गुरु और परमेष्ठी गुरु) को पवित्र समर्पित करना चाहिए ॥१७-१८॥

तिथिनित्यागणायाथ पवित्रारोपणं यजेत् ।
नवचक्रस्थितायाथ चक्रेशीनवकाय च ॥१९॥
रश्मिवृन्दाय देवेशि प्रत्येकं भावपूर्वकम् ।
पवित्रकं समर्प्याथ गुरुन्संतोषयेत्प्रिये ॥२०॥

इसके बाद तिथि नित्याओं, नौ चक्रों में स्थित सभी नौ चक्रेश्वरियों और रश्मि-देवताओं को पूर्ण श्रद्धा के साथ पवित्रार्पण करके गुरुदेव को संतुष्ट करना चाहिए ॥१९-२०॥

स्वर्णालंकारवस्त्रैश्च नानाधनसमुच्चयैः ।
तत्प्रसादं पवित्रं च धारयेत्तदनन्तरम् ॥२१॥

स्वर्ण, अलंकार, वस्त्र एवं धन प्रदान करके श्री गुरुदेव को सन्तुष्ट कर, साधक उनका (गुरुदेव का) प्रसाद प्राप्त करे और उनके द्वारा प्रदान की गई पवित्रा को स्वयं धारण करे ॥२१॥

तदङ्गहोमं निर्वर्त्य पवित्रेण समर्चयेत्।
कुमारीपूजनं कुर्यात्ततः सुवासिनीगणम् ॥२२॥
योगिन्यो योगिनश्चैव ब्राह्मणा विविधा गणाः।
पूज्या हि परमेशानि यदि (दी) च्छेत्सिद्धिमात्मनः ॥२३॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे श्रीविद्यापवित्रारोपणविधिर्नाम पञ्चविंशः पटलः ।।२५।।

हे परमेशानि ! आत्म-सिद्धि के इच्छुक साधक को इसके बाद पवित्रारोपण यजन का अङ्ग भूत हवन-कर पुनः पवित्रों से अर्चन करना चाहिए। इसके बाद कुमारी-पूजन, सुवासिनी पूजन, योगी, योगिनियों तथा ब्राह्मणों का पूजन करना चाहिए ॥२२-२३॥

श्री ज्ञानार्णव-नित्या तन्त्र में ह्यश्रीविद्यापवित्राकारोपण' विधि नामक पच्चीसवें पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥२५॥

❋

अथ षड्विंश पटलः

श्रीविद्यादमनारोपण विधान

ईश्वर उवाच

दमनारोपणं वक्ष्ये साधकानां हिताय च।
संवत्सरकृता पूजा येन पूर्णा भवेत्प्रिये ॥१॥

ईश्वर ने कहा—'हे प्रिये ! साधकों के हित के लिये दमनारोपण की विधि बता रहा हूँ जिसको करने से साधक को सांवत्सरिक पूजा का फल मिलता है ॥१॥

तपोभङ्गाय मदनो मम शैलभवे यदा।
भस्मीभवत्तदा पत्नी रतिः प्रीतिश्च दुःखिते ॥२॥
तन्नेत्रवारिसंभूता दमनस्य लता भवेत्।
तत्सौरभ्यं च सौभाग्यं महदासीत्सुलोचने ॥३॥

हे शैलपुत्रि ! मेरी तपस्या भंग करने का प्रयास करते समय जब कामदेव जला डाला गया, उसकी दोनों पत्नियाँ रति और प्रीति बहुत दुःखी हुईं और रोने लगीं। उनके आसुओं से दमनक (द्रोण या दौना) लता की उत्पत्ति हुई। हे सुलोचने ! उस लता से चित्त को प्रसन्न कर देने वाला सुगन्ध फैल गया ॥२-३॥

तेन संतुष्टसुहृदा वरो दत्तो मया प्रिये।
रत्यै प्रीत्यै च तस्मात्तु मदनः प्रकटीकृतः ॥४॥
दमनेन च यो मन्त्री वर्षमध्ये न पूजयेत्।
तस्य सांवत्सरी पूजा मदनाय भविष्यति ॥५॥

हे प्रिये ! दमनक की सुगन्ध से मेरा हृदय संतुष्ट हो गया और मैंने रति और प्रीति को वरदान दिया। उस वरदान के प्रभाव से कामदेव पुनः प्रकट हो गये। मैंने कहा—कि जो मन्त्र-साधक वर्ष के मध्य में दमनक (द्रोण-लता) से अपने इष्ट देवता की पूजा नहीं करेगा, उसके द्वारा पूरे वर्ष भर की गई पूजा का सम्पूर्ण फल कामदेव को मिलेगा ॥४-५॥

इति तस्मै वरो दत्तो मयैव सुरवन्दिते।
तस्माद्दमनपूजा हि कर्तव्या वीरवन्दिते ॥६॥
अन्यथा तत्फलं वर्षकृतं कामाय जायते।

हे सुरवन्दिते ! मेरे द्वारा कामदेव को यह वरदान दिया गया है। अतः वर्ष भर की पूजा का फल प्राप्त करने के लिये मन्त्र-साधक को दमनक से अवश्य ही पूजा करनी चाहिए अन्यथा वर्ष भर की पूजा का फल कामदेव को प्राप्त हो जायेगा ॥६-७॥

समूलं दमनं देवि स्थापयेत्पात्रके वरे ॥७॥
दमनं नवधा कुर्यात्पूजयेत्तदनन्तरम्।
आनन्देश्वरबीजेन ततो भिन्ने सुन्दरि ॥८॥
आनन्देश्वरबीजेन नवधा बिन्दुना सह।
नवप्रकारभिन्नाङ्गं दमनं पूजयेत्क्रमात् ॥९॥

हे देवि ! पूजा करने के लिये द्रोण लता (दौना) को जड़ सहित उखाड़ना चाहिए। फिर उसे किसी शुद्ध-पवित्र पात्र में रखना चाहिए। सर्व-प्रथम आनन्देश्वर बीज का उच्चारण करते हुए उस द्रोण लता के नौ (९) भाग करे। नौ भागों में विभक्त दमनक की आनन्देश्वर बीज से एक-एक क्रम से पूजा करनी चाहिए ॥८-९॥

अघोरविद्यया पश्चादभिषिच्य तमेव हि।
पूर्वोक्तया दक्षिणस्यां दिशि सिंहासनोक्तया ॥१०॥
अस्त्रेण रक्षणं कुर्यात्कवचेन ततः परम्।
बद्ध्वा त्रिशूलमुद्रां तु भ्रामयेद्दमनोपरि ॥११॥

इसके बाद दक्षिण-सिंहासन के प्रकरण में बताई गई अघोर-विद्या (अघोर-भैरवी का मन्त्र-पटल ९ श्लोक ६०-६१) से उसका अभिसिञ्चन करे। अस्त्र-मन्त्र (फट्) से उनकी रक्षा करके त्रिशूल-मुद्रा बाँधकर कवच-मन्त्र (हुं) का जप करते हुए, उक्त त्रिशूल मुद्रा को दमनक-राशि पर घुमाये ॥१०-११॥

चैत्रे सितचतुर्दश्यां दमनारोपणं भवेत्।
उद्धरेदस्त्रमन्त्रेण हृदयेन च लेपयेत् ॥१२॥
श्रीखण्डघुसृणेन्द्राद्यैरधिवासं च कारयेत्।
प्रथमे दिवसे कुर्यादधिवासनमुत्तमम् ॥१३॥
सद्योऽधिवासनं वाऽपि वर्षपूर्जासुसिद्धये।

चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को दमनक-पूजा की जानी चाहिए। एतदर्थ अस्त्र-मन्त्र (फट्) का उच्चारण करते हुए उसे जड़ समेत उखाड़ना चाहिए। उसके बाद हृदय-मन्त्र (नमः) का उच्चारण करते हुए उस पर श्रीखण्ड, चन्दन आदि का लेप चढ़ाकर अधिवास करना चाहिए। पूजा के एक दिन पूर्व दमनक को उखाड़कर कर उसे पूजाघर में अधिवास देना उत्तम पक्ष है। वर्ष-पूजा का फल

प्राप्त करने के लिये विकल्पतः पूजा के ऐन पूर्व भी अधिवास दिया जा सकता है ॥१२-१४॥

प्रातःकाले चतुर्दश्यां नित्यार्चानन्तरं ततः ॥१४॥
नवकोणं विरच्याथ सिन्दुरेण महाप्रभम् ।
कलशान्नव संस्थाप्य हेमरत्नादिपूरितान् ॥१५॥
एकं वा कलशं रम्यं स्थापयेद्देशिकोत्तमः ।
दक्षतो मण्डलं कृत्वा कुङ्कुमाद्यैर्विचित्रितम् ॥१६॥
अशोकतरुमाले (लि) ख्य) त्रिकोणं मण्डलं लिखेत् ।

चतुर्दशी की सुबह नित्य की संध्या-पूजा करने के बाद भूमि पर सिन्दूर से नयनाभिराम नव-कोण यन्त्र बनाना चाहिए। इन नौ कोणों पर स्वर्ण और रत्न-पूरित नौ (९) अथवा अभाव में एक ही कलश स्थापित करें। इसके दाहिनी ओर कुंकुम आदि मनोहर-द्रव्यों से एक सुन्दर मण्डल बनाये। अशोक वृक्ष बनाकर त्रिकोण-मण्डल बनाये ॥१४-१७॥

तन्मध्ये पूजयेत्कामं तरुणं चारुणप्रभम् ॥१७॥
रक्तवस्त्रं रक्तभूषं वामदक्षिणयोः प्रिये ।
रतिप्रीतिविशोभाढ्यं पञ्चबाणं धनुर्धरम् ॥१८॥
वसन्तसहितं कामं कदम्बवनमध्यगम् ।
मन्त्रेणानेन तं कामं पूजयेत्सिद्धिहेतवे ॥१९॥

इस त्रिकोण-मण्डल के मध्य में अरुण वर्ण वाले युवावस्था प्राप्त कामदेव की पूजा करनी चाहिए। कामदेव के वस्त्र और आभूषण लाल-रंग के है। उसके बायें रति और दाहिने प्रीति खड़ी हैं। कामदेव के हाथ में धनुष और पाँच बाण हैं। पूजा की सिद्धि के लिये कदम्ब वन स्थित कामदेव की वसन्त के साथ पूजा करनी चाहिए। कामदेव का पूजन मन्त्र है—

वाग्भवं भुवनेशानीं श्रियं कामात्मकेन च ।
कामाय नम आलिख्य विद्येयं नववर्णिनी ॥२०॥

वाग्भव (ऐं) भुवनेशानी (ह्रीं) श्री (श्रीं) काम (क्लीं) के बाद 'कामाय नमः' की योजना करने से कामदेव का नवाक्षरी पूजन मन्त्र निष्पन्न होता है ॥२०॥

मन्त्र-स्वरूप—'ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं कामाय नमः'

कामबीजत्रयं चोक्त्वा रत्यात्मकमुच्चरेत् ।
रत्यै नमश्चाष्टवर्णा रतिविद्या वरानने ॥२१॥
प्रीतिं वदेद्रतिस्थाने प्रीतिमन्त्रोऽष्टवर्णकः ।

तीन (३) काम बीजों के बाद रति के नाम का आद्य अक्षर और उसके बाद 'रत्यै नमः' की योजना करने से 'रति' का पूजन-मन्त्र बनता है। 'रत्यै नमः' के स्थान पर 'प्रीत्यै नमः' की योजना करने से 'प्रीति' का पूजन मन्त्र निष्पन्न होता है। इन दोनों ही मन्त्रों में आठ-आठ वर्ण हैं ॥२१-२२॥

मन्त्र-स्वरूप—क्लीं क्लीं क्लीं रं रत्यै नमः।

क्लीं क्लीं क्लीं प्रीं प्रीत्यै नमः।

रति और प्रीति का ध्यान

गौरश्यामे रतिप्रीती क्रमेण मणिभूषणे ॥२२॥
पद्मताम्बूलहस्ते च रक्तवस्त्रविराजिते।
दिव्याभरणभूषे च पुष्पदामविराजिते ॥२३॥

रति गौर वर्ण की और प्रीति श्याम (साँवले) वर्ण की हैं। दोनों ही देवियाँ रत्नों के आभूषणों से विभूषिता हैं। दोनों के हाथ में लीला कमल और ताम्बूल है। दोनों के वस्त्र लाल (अलक्त) रंग के है। दिव्य-आभूषणों से भूषित दोनों ने पुष्पों की करधनी पहन रखी है ॥२२-२३॥

वामदक्षिणयोर्ध्यात्वा कामस्य तदनन्तरम्।
वसन्तं पूजयेत्पश्चात्कदम्बवनमध्यगम् ॥२४॥

कामदेव के वाम और दक्षिण में क्रमशः रति और प्रीति का वक्ष्यमाण ध्यान करके उनके पूजन-मन्त्रों से दोनों का पूजन करने के बाद कदम्ब-वन में निवास करने वाले वसन्त का ध्यान करके उसका पूजन करें ॥२४॥

वसन्त का ध्यान

गौरवर्णं वामहस्ते सुधापूर्णघटान्वितम्।
दक्षहस्तेन दधतं नानापुष्पसमुच्चयम् ॥२५॥

वसन्त का वर्ण गोरा है। बायें हाथ में सुधा परिपूर्ण क़लश और दाहिने हाथ में विभिन्न पुष्पों का गुच्छा है ॥२५॥

साङ्गं कामं प्रपूज्याथ धूपदीपादि दर्शयेत्।
दमने पूजितः कामः सर्वकार्याणि साधयेत् ॥२६॥

इस प्रकार परिवार-सहित कामदेव की पूजा करके पुनः धूप दीप आदि समर्पित करना चाहिए। द्रोण लता में इस प्रकार कामदेव की पूजा करने से साधक की सभी कामनायें पूर्ण होती है ॥२६॥

तेन सम्यक्प्रपूज्याथ महात्रिपुरसुन्दरीम्।
क्रमं समर्चयेत्सम्यक्कुमारीर्भोजयेद्बुधः ॥२७॥

दमनक खण्डों में कामदेव की इस प्रकार पूजा करने के बाद उस दमनक से भगवती महा त्रिपुर सुन्दरी की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद आवरण पूजा पूर्ण करके कुमारी पूजन एवं कुमारी-भोज करें ॥२७॥

सुवासिनीश्च संपूज्य योगिनीगणमर्चयेत्।
ब्राह्मणान्परिपूज्याथ नानादर्शनमानवान् ॥२८॥
तदङ्गहवनात्पश्चाद्गुरुं रत्नादिभूषणः।
स्वर्णभारसहस्रैश्च दिव्यवस्त्रमनोरमैः ॥२९॥
पूजयित्वा ततो देवि पूर्णाहुतिमथोच्चरेत्।

इसके बाद सुवासिनियों, योगिनियों और विभिन्न दर्शन-शास्त्रों के तत्त्व-वेत्ता ब्राह्मणों का पूजन करें। तत्पश्चात् दमनकारोपण का अङ्ग-भूत हवन करने के बाद रत्न-आदि आभूषणों, सहस्त्र-भार स्वर्ण एवं मनोहर दिव्य वस्त्रों से अपने गुरुदेव की पूजा करनी चाहिए। गुरुदेव की पूजा के अनन्तर पूर्णाहुति करें ॥२९-३०॥

अनेन विधिना देवि दमनारोपणं यजेत् ॥३०॥
तस्य सांवत्सरी पूजा सफला शैलसम्भवे ॥३१॥

इति श्रीमज्ज्ञानार्णवे नित्यातन्त्रे देवीश्वरसंवादे श्रीविद्या-
दमनारोपणविधिर्नाम षड्विंशः पटलः ।।२६।।

समाप्तमिदं ज्ञानार्णवतन्त्रम्।

हे देवि ! हे शैल सम्भवे ! जो मन्त्र-साधक इस प्रकार दमनारोपण-अनुष्ठान करता है, उसकी सांवत्सरी पूजा सफल होती है ॥३०-३१॥

श्री ज्ञानार्णव नित्या तन्त्र के देवी-ईश्वर संवाद में 'श्रीविद्यादमनारोपण विधि'
नाम छब्बीसवें पटल की 'सुदर्शना' व्याख्या पूर्ण हुई ॥२६॥
यह ज्ञानार्णव तंत्र समाप्त होता है।

श्री 'श्रीयन्त्र' का अंकन-विधान

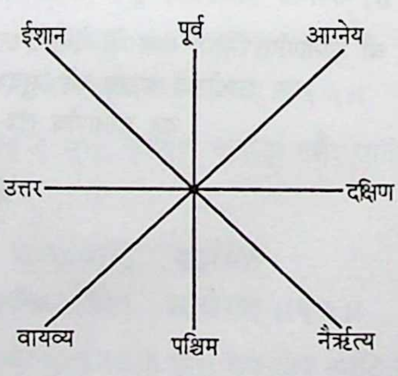
आगम-शास्त्र में श्री 'श्रीयन्त्र' का पूजन बाह्य और आन्तरिक भेद से दो प्रकार का बताया गया है। वाह्य-पूजन के लिये श्री 'श्रीयन्त्र' की रचना यथा-विधि की जानी चाहिए। एतदर्थ योग्य गुरु से 'दीक्षा' लेकर शुभ मुहूर्त में उपासना का श्रीगणेश करना चाहिए, अन्यथा प्रत्यवाय होता है।

कुलाचार, समयाचार, सम्प्रदाय-भेद, आचार्य-भेद से श्री 'श्री यन्त्र' के अंकन की कई विधियाँ ग्रन्थों में बताई गई है। प्रस्तार क्रम से इसके भूपृष्ठ, कूर्मपृष्ठ और मेरु-पृष्ठ ये तीन भेद हैं। इसके साथ ही सृष्टि-क्रम, स्थिति क्रम और संहार-क्रम से इसके अंकन का विधान तन्त्र-ग्रन्थों में बताया गया है। दक्षिणामूर्ति संहिता और ज्ञानार्णव तन्त्र में **सृष्टि-क्रम** से, 'तन्त्र राज तन्त्र' में संहार-क्रम से और 'सुभगोदय' में स्थिति क्रम से इसके अंकन की विधि बताई गई है।

श्री 'श्रीयन्त्र' में ९ चक्र हैं। यथा—बिन्दु, त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, अष्टदल कमल, षोडश दल कमल, और भूपुर। श्री 'श्रीविद्या के साधक को स्वयं अपने हाथों से यथा-विधि इसकी रचना करके पूजा करनी चाहिए। किसी अपरिचित व्यक्ति के द्वारा बताया गया 'यन्त्र' पूर्णतः फलप्रद नहीं होता।

श्री 'श्रीचक्र' या 'श्रीयन्त्र' की रचना-विधि में कतिपय पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। विषय की स्पष्टता के लिए इनका बोध हो जाना आवश्यक है।

(१) दिशा—'यन्त्र' का अंकन करते समय साधक के मुख की ओर अर्थात् 'यन्त्र' के शीर्ष भाग की ओर पूर्व दिशा और इसके नीचे की ओर 'पश्चिम' दिशा होती है। साधक के दाहिने हाथ की ओर दक्षिण तथा बायें भाग हाथ की ओर उत्तर दिशा होती है। ईशान, आग्नेय, नैर्ऋत्य एवं वायव्य कोणों की परिकल्पना तदनुसार कर लेनी चाहिए।



चित्र संख्या-१

(२) तिर्यक् रेखा—ईशान से आग्नेय अथवा वायव्य से नैऋत्य की ओर जो रेखा खींची जाती है, उसे 'तिर्यक्-रेखा' कहा जाता है। इन्हें कहीं कहीं 'पूर्व-रेखा' और 'पश्चिम-रेखा' भी कहते हैं।

(३) पार्श्व-रेखा—'पार्श्व' का अर्थ है—बगल। त्रिकोण के दायें और बायें जो रेखा होती है, उसे 'पार्श्व रेखा' कहते हैं। कहीं-कहीं इनको 'ऊर्ध्व-रेखा' और 'अधो रेखा' भी कहा जाता है।

(४) भेदन—एक रेखा का दूसरी रेखा पर आ जाना 'भेदन' कहलाता है।

(५) सन्धि—जिस बिन्दु पर एक रेखा दूसरी रेखा को काटती है, उसको 'सन्धि' कहते हैं।

(६) मर्म—जिस बिन्दु पर तीन रेखायें मिलती हैं, उसे 'मर्म' कहते हैं।

(७) ग्रन्थि—'मर्म' और 'सन्धि' को 'ग्रन्थि' कहते हैं।

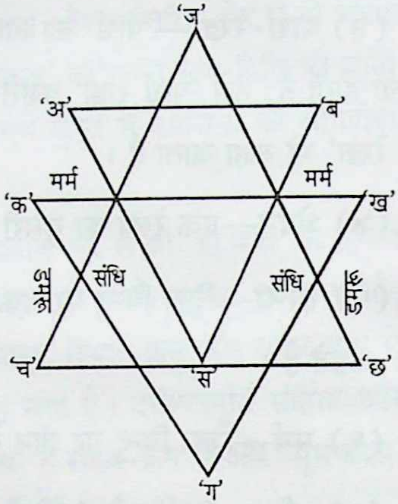
(८) डमरू—उत्तर से दक्षिण और 'दक्षिण' से 'उत्तर' की ओर जाने वाली दो पार्श्व-रेखाओं के 'मध्य-कोण' को 'डमरू' कहते हैं।

(९) शक्ति और शिव त्रिकोण—अधोमुख त्रिकोण (∇) को 'शक्ति-त्रिकोण' तथा उर्ध्व मुख त्रिकोण (Δ) को 'शिव' या 'वह्नि' त्रिकोण कहते हैं।

श्री 'श्री यन्त्र' में एक (१) मूल त्रिकोण सहित क्रम से ८, १०, १० और १४ अर्थात् कुल ४३ त्रिकोण एवं आठ तथा सोलह के क्रम से २४ कमल दल होते हैं। श्री 'श्रीयन्त्र' रचना की शास्त्रीय विधि उपर्युक्त पारिभाषिक शब्दावली का सम्यक् रूप से प्रयोग करते हुए आधुनिक-शैली से स्पष्ट की जा रही है। इसमें 'तिर्यक्' और 'पार्श्व' रेखाओं के 'अ ब' एवं 'क ग' तथा 'शक्ति' एवं शिव-त्रिकोणों के 'अबस' या 'कखग' आदि नाम रचना विधि को सुगम रीति से स्पष्ट किये जाने के लिये परिकल्पित किये गये हैं। इन नामों का कोई शास्त्रीय महत्व नहीं है। एक बात और ! यद्यपि यह बात शास्त्रों में स्पष्ट रूप से नहीं लिखी गई है, उपर्युक्त सभी त्रिकोण 'सम बाहु त्रिभुज' ही होते हैं।

श्री 'श्री यन्त्र' का अंकन सुन्दर और स्वच्छ एवं समतल भूमि पर अथवा किसी सुन्दर और स्वच्छ स्वर्णआदि धातु-पत्र अथवा भोज-पत्र पर यथा विहित द्रव्यों और लेखनी से किया किया जाता है।

बिन्दु-त्रिकोण और अष्टार—श्री 'श्रीयन्त्र' का अंकन करने के लिये सर्वप्रथम 'अधोमुखी' त्रिकोण बनाया जाता है, जिसे 'प्रथम-शक्ति' त्रिकोण कहते हैं। एतदर्थ ईशान-कोण से आग्नेय कोण की ओर रेखा खीचें। (यथा-'अ ब' रेखा)।



चित्र संख्या- २

इस रेखा के कल्पित मध्य-बिन्दु के ठीक नीचे समान-दूरी पर एक अन्य बिन्दु (मान लो 'स') की कल्पना करें। अब इसके बाद उपर्युक्त प्रथम 'तिर्यक्-रेखा' के दोनों सिरों के 'अ' और 'ब' बिन्दुओं से नीचे की ओर एक-एक पार्श्व रेखा खींचकर उन्हें 'स' बिन्दु के साथ जोड़ दें। इस तरह प्रथम शक्ति त्रिकोण 'अबस' बन गया।

इस 'अबस' त्रिकोण पर 'अ-स' एवं 'ब स' रेखा को काटती हुई एक अन्य 'तिर्यक्' रेखा खींचे (मान लो 'क-ख')। 'स' बिन्दु के नीचे समान दूरी पर एक अन्य पश्चिम कोण बिन्दु 'ग' की कल्पना करे। द्वितीय तिर्यक् रेखा 'क-ख' के सिरों के 'क' और 'ख' बिन्दुओं से एक-एक पार्श्व रेखा खींचकर उन्हें 'ग' बिन्दु से जोड़ दें। द्वितीय शक्ति त्रिकोण 'कखग' बन गया।

इसके बाद प्रथम 'शिव' त्रिकोण बनायें। एतदर्थ 'स' बिन्दु का संस्पर्श करती हुई 'च-छ' तिर्यक् रेखा खींचे। 'अ-ब' रेखा के पूर्व में 'स' बिन्दु के सिधान में सामान-दूरी पर 'ज' बिन्दु बनायें। तृतीय तिर्यक् रेखा के सिरों पर बने 'च' और 'छ' बिन्दुओं से एक-एक पार्श्व रेखा खीचें जो 'क ख' एवं 'अ स' तथा 'कख' और 'ब स' रेखाओं की सन्धियों को काटती हुई 'ज' बिन्दु से मिल जायें। इस तरह प्रथम 'शिव-त्रिकोण' (ऊर्ध्व मुखी त्रिकोण) बन गया।

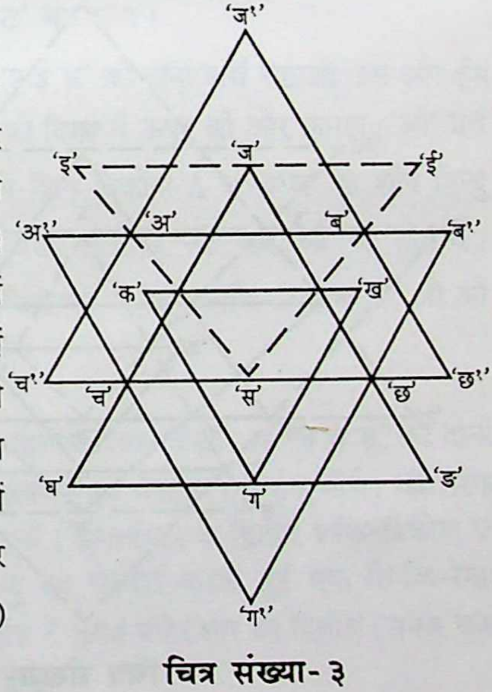
यद्यपि 'यन्त्र' लेखन के क्रम में 'बिन्दु' का उल्लेख नहीं हुआ है तथापि 'पूजा-क्रम' के अनुसार प्रथम शक्ति-त्रिकोण के भेदन से बने 'त्रिकोण' के मध्य में 'बिन्दु' बना देना चाहिए। इसके बाद ही प्रथम 'शिव-त्रिकोण' बनाना चाहिए।

इस प्रकार आठ दिशाओं में आठ त्रिकोण, और मध्य में एक त्रिकोण तथा इसके मध्य में 'बिन्दु' होने से 'बिन्दु-त्रिकोण तथा अष्टार' ये तीन यन्त्र बन गये। इन तीनों यन्त्रों से बना हुआ यह 'चक्र' 'नवयोनि चक्र' के नाम से विख्यात है। इसमें मध्य-वर्ती मूल-त्रिकोण सहित नव-त्रिकोण, छः सन्धियाँ, दो डमरू और दो 'मर्म' हैं।

अन्तर्दशार—'अष्टार चक्र' के दोनों शक्ति-त्रिकोणों और 'शिव-त्रिकोण' के विस्तार से 'अन्तर्दशार-चक्र' की रचना होती है। यथा—

अष्टार के प्रथम शक्ति त्रिकोण की तिर्यक रेखा 'अ ब' को ईशान और आग्नेय कोणों की ओर बढ़ायें। (यथा अ-१ एवं ब-१)। द्वितीय शक्ति त्रिकोण (कखग) के 'ग' कोण के नीचे सिधान में 'ग-१' बिन्दु बनायें। इसके बाद 'अ-१' तथा 'ब-१' से एक-एक पार्श्व रेखा खीचें जो क्रमशः 'च' और 'छ' बिन्दुओं का स्पर्श करती हुई 'ग-१' बिन्दु से जुड़े जायें। इस तरह अन्तर्दशार का प्रथम शक्ति त्रिकोण बना। (∇ $अ_१ ब_१ ग_१$) बन गया।

इसी प्रकार अष्टार के शिव-त्रिकोण ∆चछज के 'ज' कोण के ऊपर एक बिन्दु 'ज१' बनायें। त्रिकोण की तिर्यक रेखा 'च-छ' को लम्बी करें। अब 'ज१' बिन्दु से दो पार्श्व रेखायें खीचें जो ईशान और आग्नेय के दोनों कोणों का स्पर्श करती हुई शिव-त्रिकोण की बढ़ी हुई 'च-छ' तिर्यक रेखा से मिल जाये, जैसा कि चित्र-संख्या- ३ में दिखाया गया है। इस तरह अन्तर्दशार का प्रथम शिव त्रिकोण (च१, छ१, ज१) बन गया।



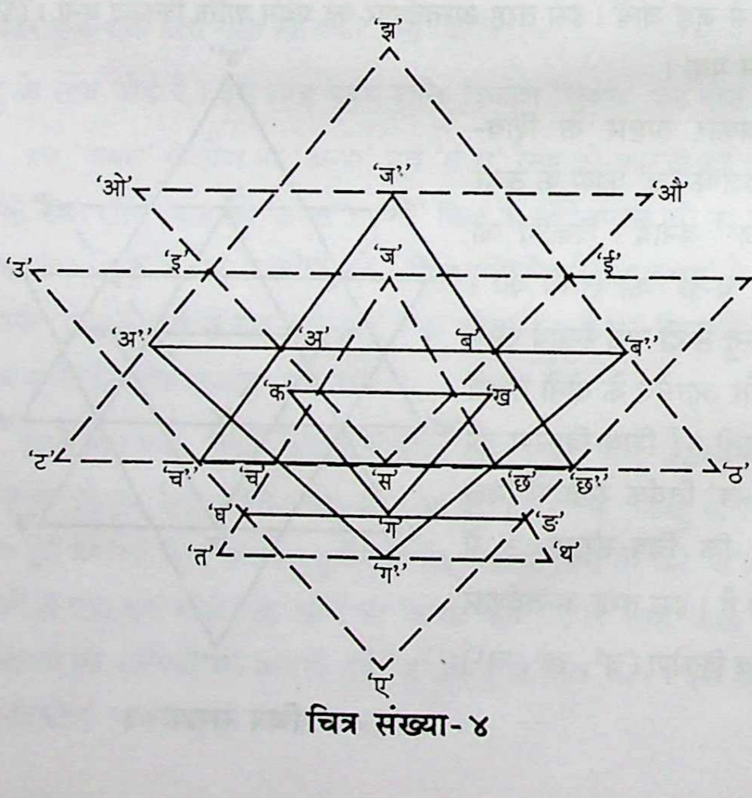
चित्र संख्या- ३

इसके बाद प्रथम शक्ति-त्रिकोण ∇ अबस की दोनों पार्श्व रेखाओं 'अस' और 'बस' को क्रमशः ईशान और आग्नेय कोण की ओर 'इ' एवं 'ई' बिन्दुओं तक बढ़ायें (देखें चित्र)। इसके बाद प्रथम शिव-त्रिकोण (Δ च छ ज) के पूर्व-कोण (अर्थात् ज) का संस्पर्श करती हुई तिर्यक-रेखा खींचकर 'इ' और 'ई' बिन्दुओं को जोड़ दें। इस तरह अन्तर्दशार का द्वितीय शक्ति-त्रिकोण ∇ 'इ स ई' बन जायेगा।

इसी प्रकार अष्टार के द्वितीय शक्ति-त्रिकोण ∇ 'क ख ग' के पश्चिमी कोण (अर्थात 'ग') का संस्पर्श करती हुई एक-तिर्यक रेखा 'घ ड़' खींचें। अब 'घ' बिन्दु को प्रथम-शिव-त्रिकोण (Δ च छ ज) के 'च' बिन्दु से और 'ड़' को 'छ' बिन्दु से जोड़ दें। दूसरा शिव त्रिकोण Δ 'ज घ ड़' बन जायेगा।

इस अन्तर्दशार में क्रमशः तीन-शक्ति-त्रिकोण (यथा ∇ इ ई स ∇ अ[१]ब[१]ग[१] और ∇ अन्तर्वती ∇ क ख ग) और दो शिव-त्रिकोण (च[१]छ[१]ज[१] और ∇ 'ज घ ड़' हैं। इनमें चारों ओर दश छोटे-छोटे कोण हैं, ६ सन्धियाँ, ४ मर्म तथा दो 'डमरू' हैं।

बहिर्दशार–



चित्र संख्या-४

बहिदर्शार चक्र—बहिदर्शार-चक्र का विकास उपर्युक्त अन्तर्दशार चक्र (चित्र संख्या-४) से होता है। यथा—

अन्दर्दशार-चक्र के तृतीय शक्ति कोण (▽ इ ई स) की तिर्यक्-रेखा 'इ-ई' को दोनों ओर क्रमशः 'उ' और 'ऊ' तक बढ़ायें। 'चक्र' के प्रथम शक्ति-त्रिकोण ▽ अ ब स के 'स' के सिधान में एक बिन्दु 'ए' बनायें। अब इसके बाद 'उ' तथा 'ऊ' बिन्दुओं से पार्श्व-रेखायें खीचें जो शिव-त्रिकोण के च१ और छ१ बिन्दुओं को काटती हुई 'ए' बिन्दु से मिल जायें। इस तरह बहिदर्शार का प्रथम (और समग्र चक्र का चतुर्थ) शक्ति-त्रिकोण ▽ 'उ ऊ ए' बन गया।

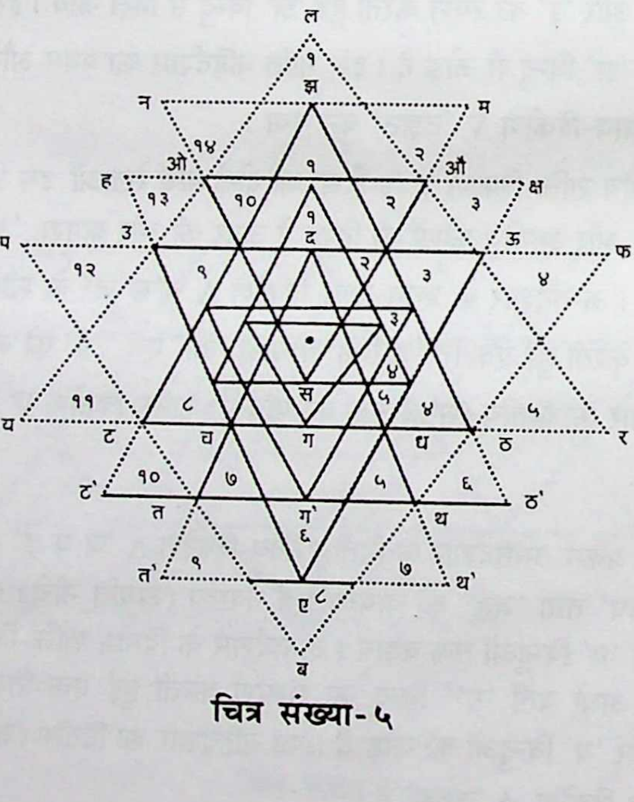
(२) अब बहिदर्शार का प्रथम शिव त्रिकोण बनाना है। एतदर्थ अन्तर्दशार के प्रथम शिव-त्रिकोण Δ च१छ१ज१ के ज१ के सिधान में एक बिन्दु 'झ' बनायें। अब इस त्रिकोण की तिर्यक रेखा च१छ१ को वायव्य और नैऋत्य की ओर क्रमशः 'ट' और 'ठ' बिन्दुओं तक बढ़ायें। अब 'ट' बिन्दु से एक पार्श्व रेखा पूर्व ओर इस तरह खीचें कि वह अ१ और 'इ' का स्पर्श करती हुई 'झ' बिन्दु से मिल जाये। इसी तरह 'ठ' बिन्दु को भी 'झ' बिन्दु से जोड़ दे। इस भाँति बहिर्दशार का प्रथम और समग्र चक्र का तृतीय शिव-त्रिकोण ▽ 'टझठ' बन गया।

(३) इसके बाद तृतीय शक्ति-त्रिकोण ▽ 'इ ई स' की दोनों पार्श्व रेखाओं इस और ईस रेखाओं को ईशान और आग्नेय कोणों की दिशा में ऊपर की ओर क्रमशः 'ओ' एवं 'औ' तक बढ़ायें। अन्तर्दशार के प्रथम-शिव-त्रिकोण Δ च१छ१ज१ के शीर्ष बिन्दु 'ज१' का संस्पर्श करती हुई एक तिर्यक् रेखा खींचकर 'ओ' एवं 'औ' को जोड़ दें। इस तरह बहिर्दशार का द्वितीय (समग्र चक्र का पाँचवाँ) शक्ति-त्रिकोण ▽ 'ओ औ स' बन गया।

(४) इसी प्रकार अन्तर्दशार के द्वितीय शिव-त्रिकोण Δ 'ज घ ड़' की दोनों पार्श्व रेखाओं 'जघ' तथा 'जड़' को वायव्य एवं नैऋत्य (अर्थात् नीचे) की तरफ क्रमशः 'त' और 'थ' बिन्दुओं तक बढ़ायें। अन्तर्दशार के द्वितीय शक्ति-त्रिकोण ▽ अ१ब१ग१ के अधो वर्ती 'ग१' बिन्दु का संस्पर्श करती हुई एक तिर्यक-रेखा खींचकर 'त' और 'थ' बिन्दुओं को जोड़ दें। यह बहिर्दशार का द्वितीय (समग्र चक्र का चतुर्थ) शिव-त्रिकोण Δ 'जतथ' है।

इस तरह बहिर्दशार की निष्पत्ति हुई। इसमें चार शक्ति-त्रिकोण, तीन शिव-त्रिकोण, ६ सन्धि, चार 'मर्म' और दो 'डमरू' हैं। अब चतुर्दशार चक्र बनायें।

चतुर्दशार-चक्र—(१) सर्व प्रथम चतुर्दशार चक्र का प्रथम 'शक्ति-त्रिकोण' ▽ बनायें। एतदर्थ चतुर्थ शक्ति-त्रिकोण ▽ 'उऊए' की तिर्यक-रेखा 'उ-ऊ' को क्रमश: उत्तर एवं दक्षिण की ओर 'प' और 'फ' बिन्दुओं तक बढ़ायें जैसा कि चित्र-संख्या—५ में छिद्र-युक्त रेखाओं के माध्यम से दर्शाया गया है। इस शक्ति-त्रिकोण (अर्थात् 'उ ए ऊ') के 'ए' के सिधान में एक बिन्दु 'ब' बनायें। अब 'प' और 'फ' बिन्दुओं को इस बिन्दु 'ब' से जोड़ दें। 'प' बिन्दु से नीचे की ओर आने पार्श्व-रेखा 'ट' और 'त' कोणों का संस्पर्श करते हुए आगे आकार 'ब' बिन्दु से जुड़ेगी। इसी तरह 'फ' बिन्दु से आने वाली पार्श्व-रेखा 'ठ' और 'थ' का संस्पर्श करते हुए (या काटते हुए) 'ब' बिन्दु से जुड़ेगी। इस तरह चतुर्दशार चक्र का प्रथम शक्ति त्रिकोण ▽ 'प ब फ' बन गया। यह श्री श्री चक्र का पञ्चम शक्ति त्रिकोण है चित्र-संख्या–५।



चित्र संख्या-५

(२) इसके बाद चतुर्दशार-चक्र का प्रथम शिव-त्रिकोण बनायें। एतदर्थ तृतीय शिव-त्रिकोण Δ टठझ की तिर्यक् रेखा 'ट ठ' को वायव्य और नैऋत्य की ओर क्रमशः 'य' एवं 'र' बिन्दुओं तक बढ़ायें। इसी त्रिकोण के पूर्ववर्ती कोण 'झ' के सिधान में बिन्दु 'ल' बनायें। इन 'य' और 'र' बिन्दुओं से एक-एक ऊर्ध्व गामिनी मार्श्व-रेखा इस तरह खींचे जो क्रमशः 'ओ' एवं 'उ' तथा 'ऊ' 'औ' का संस्पर्श करती हुई 'ल' बिन्दु से जुड़ जायें। ये दोनों पार्श्व-रेखायें पञ्चम शक्ति-त्रिकोण ∇ 'पफब' की दोनों पार्श्व-रेखाओं का उत्तर एवं दक्षिण दिशाओं में भेदन करती हैं। इस तरह चतुर्दशार-चक्र का प्रथम शिव-त्रिकोण Δ 'य र ल' बन गया, जो श्री 'श्रीचक्र' का चतुर्थ-शिव-त्रिकोण हैं।

पञ्चम शक्ति-त्रिकोण ∇ 'पफब' और उसका भेदन करते हुए चतुर्थ शिव-त्रिकोण Δ 'यरल' बनाने से चतुर्दशार के ६ छोटे-छोटे त्रिकोण बन गये। यथा-दक्षिण की ओर ∇ ४ और Δ ५ तथा उत्तर की ओर कोण Δ ११ और ∇ १२ पूर्व में Δ १ पश्चिम में ∇ ८। शक्ति-कोण ∇ 'पफब' एवं शिव त्रिकोण Δ 'यरल' के योग से जो षट्कोण बना, वह चतुर्दशार का सम्पादक 'षट्कोण' है। इसके बाद चतुर्दशार के और ८ कोण बनाने हैं। यथा—

(३) इसके बाद चतुर्थ शक्ति-त्रिकोण ∇ 'उएऊ' की पार्श्व-रेखाओं 'उए' तथा 'ऊए' को क्रमशः ईशान और आग्नेय की ओर शक्ति-त्रिकोण 'ओ औ स' की ऊँचाई पर्यन्त क्रमशः 'ह' और 'क्ष' बिन्दुओं तक बढ़ायें। इसके बाद उक्त शक्ति-त्रिकोण ∇ 'ओ औ स' की तिर्यक् रेखा को उत्तर-दक्षिण की ओर बढ़ाकर क्रमशः 'ह' और 'क्ष' बिन्दुओं से जोड़ दें। इससे दोनों ओर दो छोटे-छोटे त्रिकोण (अर्थात् ∇३ और ∇१३) बन गये।

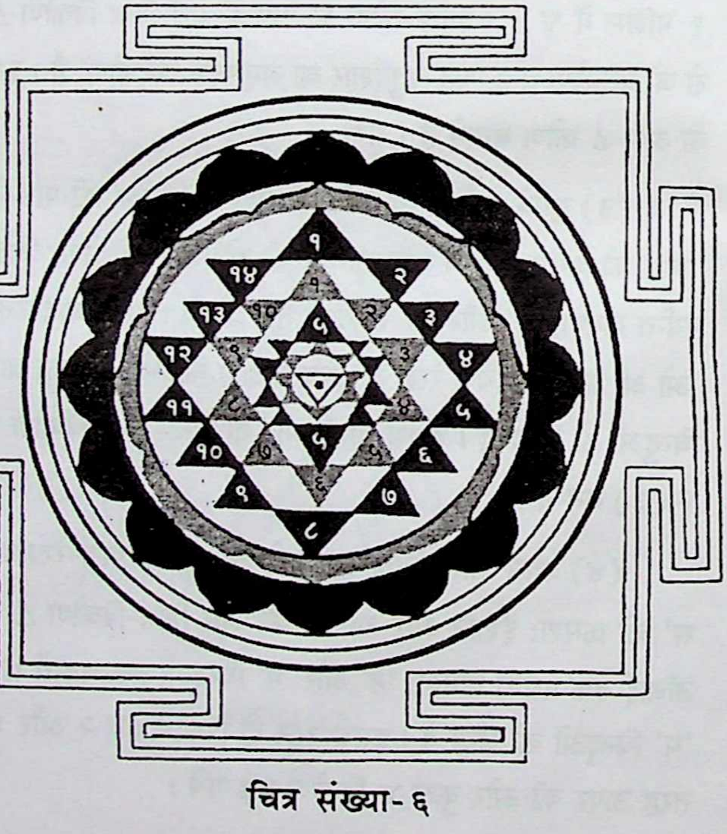
(४) प्रथम शक्ति त्रिकोण ∇ 'ओ औ स' की पार्श्व-रेखाओं 'ओ स' एवं 'औ स' को क्रमशः ईशान और आग्नेय की ओर शिव-त्रिकोण Δ 'ट झ ठ' के झ की ऊँचाई तक पर्यन्त क्रमशः 'न' और 'म' बिन्दुओं तक बढ़ायें। इसके बाद 'न' और 'म' बिन्दुओं को जोड़ दें। इससे और दो त्रिकोण (∇ २ और १४) बढ़ गये। इस तरह ऊपर की ओर कुल ४ त्रिकोण बढ़ गये।

(५) तृतीय शिव-त्रिकोण Δ 'ट झ ठ' की पार्श्व-रेखाओं 'ट झ' तथा 'ठ झ' को क्रमशः ट१ और झ१ तक त्रिकोण ∇ 'क ख ग' के 'ग' तक नीचे की ओर बढ़ायें। 'ग' का संस्पर्श करती हुई एक तिर्यक्-रेखा खींचकर ट१ और ठ१ बिन्दुओं को जोड़ दें। इससे पश्चिम की ओर दो त्रिकोण (त्रिकोण संख्या १० और ६) बन गये।

(६) इसी तरह शिव-त्रिकोण Δ 'त द थ' की दोनों पार्श्व-रेखाओं 'तद' और 'द थ' को नीचे की ओर क्रमशः त१ और थ१ तक बढ़ायें। शक्ति त्रिकोण ∇ 'उ ए ऊ' के 'ए' का संस्पर्श करती हुई एक तिर्यक रेखा खींचकर 'त१' और 'थ१' बिन्दुओं से जोड़ दें। इस तरह दो पार्श्वों में दो और त्रिकोण (त्रिकोण संख्या ९ से ७) बन गये।

इस तरह 'चतुर्दशार' चक्र बन गया। इसमें पाँच शक्ति-त्रिकोण, चार शिव-त्रिकोण, आठ मर्म, ६ सन्धि और दो 'डमरू' हैं। इसमें कुल १४ त्रिकोण हैं।

वृत्त-अष्टदल और षोडश दल कमल



चित्र संख्या-६

चतुर्दशार चक्र बनाने के बाद उसे 'वृत्त' से घेर दें। इस वृत्त को घेरते हुए एक दूसरा वृत्त बनाये। इन दोनों वृत्तों के मध्य में पर्याप्त अन्तर होना चाहिए। दोनों वृत्तों के मध्य में जो स्थान उपलब्ध है, उसे बराबर-बराबर आठ भागों में विभाजित करके अष्ट-दल कमल बना लें। इस बात का ध्यान रखें कि चारों दिशाओं में दलों के मुख या कोण 'भू-पुर' की मध्य द्वार की ओर लें। अष्ट-दल कमल बनाने के बाद षोडश दल कमल बनायें। दोनों वृत्तों के मध्य में जो स्थान है, उसे बराबर-बराबर १६ भागों में विभाजित करके सोलह कमल दल बना लें। यहाँ पर भी चारों दिशाओं में दल के मुख या कोण भूपुर के मध्य द्वार की ओर होने चाहिए।

इसके बाद बाहिरी वृत्त के ऊपर समान दूरी पर तीन और वृत्त एक के ऊपर एक बनायें।

सबसे ऊपर वाले वृत्त से थोड़ा स्थान छोड़कर चारों द्वारों से युक्त तीन रेखाओं द्वारा भू-पुर बनायें। इस तरह श्री 'श्रीचक्र' प्रस्तुत हो जाता है।

यहाँ बताई गई विधि सृष्टि-क्रम से श्री 'श्री चक्र' का लेखन की है जो श्री 'ज्ञानार्णव' में बताई गई है। 'संहार-क्रम' से लेखन की विधि इससे भिन्न है। विस्तार-भय से उसे यहाँ नहीं बताया जा रहा है। एक बात विशेष। यहाँ रेखाओं और कोणों के जो 'अ ब' या 'अ ब स' आदि नाम लिख गये हैं, वे विधि को स्पष्ट करने के लिये हैं। उनका कोई शास्त्रीय महत्व नहीं हैं।